॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

संस्कृत-कवि-दर्शन

(संस्कृत के प्रमुख कवियों का साहित्यिक परिशीलन)

लेखक

डॉ० भोलाशङ्कर व्यास

भू० पू० प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी २२१००१

प्रकाशक—
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),
पोस्ट बाक्स नं० ६९
वाराणसी–२२१००१

चतुर्थ संस्करण १९८३
मूल्य ३५–००

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के० ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन
पोस्ट बाक्स नं० १२९
वाराणसी–२२१००१

मुद्रक—
भोजो मुद्रणालय
वाराणसी

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

4

SAMSKRTA KAVI-DARSANA

(Literary Appreciation of Principal Sanskrit Poets)

By

Dr. Bhola Shankar Vyasa

Professor, Banaras Hindu University

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

पूज्य पिताश्री

को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

इस पुस्तक मे डा० व्यास ने संस्कृत सर्जनात्मक साहित्य की रूपरेखा दी है। संस्कृत साहित्य में रस लेने वाले वाचकों के लिये यह एक बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। समालोचना करते हुए कर्त्ता ने अर्वाचीन और प्राचीन दोनो पद्धतियों का समन्वय किया है। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक से संस्कृत साहित्य का ज्ञान और हिन्दी साहित्य का विकास दोनों ही लक्ष्य सिद्ध होंगे।

राज्यपाल शिविर
उत्तर प्रदेश
अगस्त ११, १९५५

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
(राज्यपाल : उत्तर प्रदेश)
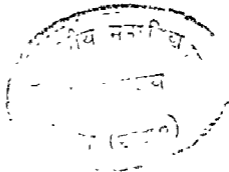
भूमिका

[आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, डी. लिट्.
[अध्यक्ष : हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

मेरे मित्र डा० भोलाशंकर व्यासजी ने संस्कृत के काव्यसाहित्य के परिचय के रूप मे यह पुस्तक लिखी है। पुस्तक गंभीर अध्ययन और मनन के बाद लिखी गई है। इस विषय के प्रामाणिक विद्वानों की रचनाओं से व्यासजी ने सहायता अवश्य ली है, परन्तु अपनी स्वाधीन चेष्टा को ही प्रमुखता दी है। हिन्दी मे यह अपने ढङ्ग का बहुत उत्तम प्रयास है। मेरा विश्वास है कि सहृदय पाठक इस पुस्तक का समुचित आदर व सम्मान करेंगे।

संस्कृत का साहित्य बहुत विशाल है। विण्टरनित्स ने लिखा है कि लिटरेचर (साहित्य) अपने व्यापक अर्थ मे जो कुछ भी सूचित कर सकता है वह संस्कृत मे वर्तमान है। धार्मिक और ऐतिहासिक-परक (सेक्यूलर) रचनाएँ, महाकाव्य, लिरिक, नाटकीय और नीतिसंबन्धी कविता, वर्णनात्मक, अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य—सब कुछ इसमें भरा पड़ा है।

संसार में इतने दीर्घकाल से बनते रहने वाला और इतने विशाल जन-समूह को पीढ़ियों तक आन्दोलित और प्रेरित करने वाला साहित्य शायद दूसरा नही है। हजारों वर्षों से अनेक प्रकार के उत्थान-पतन के भीतर यह साहित्य कभी म्लान नही हुआ; देश के प्रत्येक संकट को झेल कर व अधिकाधिक तेजोदृप्त होकर प्रकट होता गया है। यद्यपि इसके ग्रंथ-रत्न लुप्त हो गए हैं तथापि इसके उपलब्ध ग्रंथों की संख्या इस समय एक लाख से ऊपर है। अपूर्व जीवनी शक्ति और प्रौढ़ विचारधारा की दृष्टि से निस्संदेह संस्कृत का वाङ्मय संसार में बेजोड़ है।

संस्कृत का लेखक—चाहे वह कवि हो, दार्शनिक हो, धर्म-व्यवस्थापक हो या अन्य शास्त्रों का प्रणेता—जब लिखने बैठता है तो बड़े संयम और निष्ठा के साथ लिखता है। वह अपनी शक्ति भर वक्तव्य वस्तु को सर्वोत्तम बनाने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि संस्कृत के समूचे साहित्य में हल्के भाव से किसी बात की चर्चा नही मिलेगी। दीर्घकाल से संस्कृत के कवियो और ग्रन्थकारो ने स्वेच्छा से अनेक बन्धन स्वीकार कर लिए हैं। इन समस्त बन्धनो को स्वीकार कर और उनकी सीमाओं से बँधे रह कर उन्हे स्वानुभूत सत्य को प्रकाशित करने का कार्य करना पड़ा है। इस बात के लिए जिस कठोर सयम और मानसिक अनुशासन की आवश्यकता है वह उनमे पर्याप्त मात्रा में मिलती है। संस्कृत मे लिखी हुई अतुलनीय ग्रन्थ-राशि मे से जितनी भी पुस्तकें हैं उन सब मे इस संयम और अनुशासन का प्रमाण मिल जाता है। अध्ययन को पुराना भारतीय सबसे बडा तप मानता था। सस्कृत के ग्रन्थ उनकी इस मान्यता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। शायद सारे ससार के आधुनिक लेखक व साहित्यकार इस विषय मे सस्कृत के लेखक से कुछ न कुछ सीख सकते हैं।

व्यासजी ने इस विशाल साहित्य के ललित और रसात्मक अंश का परिचय दिया है। पाठक इसमे भी देखेंगे कि सस्कृत के कवि और नाटककार शब्दों और अर्थो के प्रयोग मे कितने सतर्क हैं, पात्रों और घटनाओं की योजना मे कितने सावधान हैं और प्राचीन ऋषियों और आचार्यों द्वारा निर्धारित नियमो के प्रति कितने श्रद्धावान हैं। इन सब बन्धनों के भीतर से कवियों ने जो अपूर्व रस-लोक की सृष्टि की है वह सचमुच अतुलनीय है। मैंने इस साहित्य के संबन्ध मे अन्यत्र लिखा है कि—

'सस्कृत साहित्य को एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से निरन्तर प्रवहमान मानवचिन्तन का विराट स्रोत प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। हम हजारों वर्ष के मनुष्य के साथ सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। कितने सघर्षों के बाद मनुष्य समाज ने यह रूप ग्रहण किया है। विशाल मनु-वाहिनी क्षुधित वृकराजि की भाँति इस महादेश मे आई है, उसका

प्रचण्ड प्रतापानल थोड़े ही दिनों में फेन के बुलबुले के समान विलीन हो गया है। बड़े-बड़े धर्ममत शाश्वत शान्ति का संदेश लेकर आये हैं और मनुष्य की दुर्बलताओं के आवर्त मे न जाने किधर बह गये हैं। दुर्दान्त राजशक्तियाँ मेघघटा की भाँति घुमड़ कर आई है और अचानक आए हुए प्रचण्ड वायु के झोंके से न जाने कहाँ विलीन हो गई है। संस्कृत साहित्य हमें इतिहास की कठोर वास्तविकताओं के सामने खड़ा कर देता है। मनुष्य अन्त तक अजेय है, उसकी प्रगति रुक नही सकती। उतावली वेकार है। सव कुछ आज ही समाप्त नही हो जाता। चार दिन की शक्ति पर अभिमान करना व्यर्थ है।'

मुझे प्रसन्नता है कि व्यासजी ने इस विशाल साहित्य के रसमय अङ्ग का सुन्दर परिचय हिन्दी पाठकों के लिये सुलभ किया है। व्यासजी के लिखने का ढङ्ग सुन्दर और आकर्षक है। उनकी विवेचना पढ़ने से मूल के वारे मे जानने की उत्सुकता वढ़ती है। मेरे विचार से पुराने साहित्य का परिचय देने के कार्य मे मूल के प्रति जिज्ञासा और उत्सुकता जगा देना वहुत उत्तम गुण है; व्यासजी की इस पुस्तक में यह गुण विद्यमान है। आशा है सहृदय पाठक इस पुस्तक को पढ कर मूल रचनाओं के प्रति जिज्ञासु बनेंगे! यदि ऐसा हुआ तभी लेखक का परिश्रम सार्थक होगा।

काशी
१२-८-५५

हजारीप्रसाद द्विवेदी

वक्तव्य

'संस्कृत-कवि-दर्शन' का यह संस्करण भी यथापूर्व प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ में जिन २० कवियों का परिशीलन प्रस्तुत किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य संस्कृत कवियों का परिशीलन प्रस्तुत करने की भी योजना बनाई गई थी, किन्तु इधर अनेकों कार्यों में व्यस्त होने के कारण यह योजना अभी पूरी न हो पाई। जिन विश्वविद्यालयों ने इस ग्रंथ को संस्कृत के पाठ्यक्रम में निर्धारित किया है, मैं उनका आभारी हूँ।

भोलाशंकर व्यास

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक मे सस्कृत साहित्य के प्रमुख कवियों का परिशीलन उपस्थित किया गया है। आरम्भ मे आमुख के द्वारा समस्त संस्कृत साहित्य की सामान्य विशेषताओं की ओर भी संकेत कर दिया गया है। पुस्तक के लिखने मे प्रमुख लक्ष्य तत्तद् कवि की विवेचना ही रही है, जिससे साहित्य के इतिहास से भिन्न सरणि का आश्रय यहाँ लिया गया है तथापि साहित्यिक प्रवृत्तियों और प्रभावो का सकेत करने के लिए इतिहासपरक सरणि को भी कही-कही अपनाना पड़ा है। विवेचना के लिए शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी लेखक ने कही-कही वैयक्तिक विचारों को व्यक्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण समझा है। संस्कृत साहित्य के रसमय अंश को हिन्दी के माध्यम से उपस्थित कर साहित्यरसिकों को संस्कृत कवियो की मूल रचनाओ की ओर उन्मुख करना ही लेखक का प्रमुख लक्ष्य है, किन्तु तत्तत् कवि के परिशीलन में तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियो, दार्शनिक एवं कलात्मक मान्यताओं आदि को उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा गया है। कवियो के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध जनश्रुतियों तथा उनके तिथि-निर्धारण के विषय मे विस्तार से संकेत करना इसलिए अनावश्यक समझा गया है कि इनका परिशीलन से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नही दिखाई पड़ता। कवियों की तिथि के विषय में विस्तार से विभिन्न मतों को न देकर मान्य मत के अनुसार काल निर्धारण का संकेत कर दिया गया है। मुझे आशा है, यह पुस्तक न केवल साहित्यरसिकों के लिए ही, अपितु संस्कृत की उच्च परीक्षाओ के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी होगी।

इस पुस्तक के लिखने मे मैंने डॉ० कीथ, डॉ० डे तथा दासगुप्ता के अमूल्य ग्रन्थो से विशेष रूप से सहायता ली है। इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानो के बहुमूल्य विचारो से भी मै प्रेरित हुआ हूँ। मै इन सब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

भारतीय सस्कृति तथा साहित्य के परम प्रेमी माननीय महामहिम श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, राज्यपाल उत्तर प्रदेश, ने इसका प्राक्कथन लिख कर तथा सस्कृत एव हिन्दी साहित्य के आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने भूमिका लिखकर, अनेकों राजकीय तथा साहित्यिक कार्यो मे व्यस्त रहते हुए भी जो कृपा प्रदर्शित की है, उसकी कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

जन्माष्टमी
२०१२ विक्रम

भोलाशंकर व्यास

विषय-सूची

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम् ।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः ॥

आमुख

साहित्य किसी देश की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा जातीय भावनाओं का प्रतीक होता है। संस्कृत साहित्य भारत का राष्ट्रीय गौरव है। प्रत्येक देश के साहित्य मे उस देश के निजी गुण-दोष प्रतिबिम्बित होते हैं। संस्कृत-साहित्य भारत के गर्वोन्नत भाल की दीप्ति से सक्रान्त जीवन का चित्र है। प्रत्येक देश या राष्ट्र का जीवन उत्थान-पतन की करवटें लेता अतीत से भविष्य की ओर बढ़ता है। भारत के इतिहास मे एक ओर स्वतन्त्रता का विजयघोष, समृद्धि का स्वर्णप्रकाश उद्वेलित है, तो दूसरी ओर पराधीनता की भूमूर्षुता, कायरजन की म्लानवदनता तथा कोरी विलासिता की कालिमा भी पाई जाती है। इतिहास के इन सुनहरे और मलीमस दोनो तरह के चित्रो को साहित्यिक कृतियो में प्रतिफलित देखा जा सकता है। हमे कुत्सित, कृत्रिम काव्यो की अस्वाभाविकता से इसलिये आँख नही मूँदनी चाहिए कि वे हमे ह्रासोन्मुख काल की चेतना का सकेत देती है। वे हमे इस बात की चेतावनी भी देती हैं कि समाज के उदात्त गौरव के लिए इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता नही। हमे कालिदास के काव्य की उदात्तता अपेक्षित है, किन्तु यह सवाल पैदा हो सकता है, कि माघ या श्रीहर्ष के काव्यों का सामाजिक मूल्य क्या है? आज के समाज-वैज्ञानिक दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले मानवतावादी आलोचक माघ या श्रीहर्ष के विपक्ष मे ही निर्णय देंगे। साथ ही आज की रुचि के अनुकूल न तो उनके अलङ्कारो का प्रयोग बन पडेगा, न विविध शास्त्रो का प्रगाढ पाण्डित्य ही। पर, इतना होने पर भी माघ, श्रीहर्ष, मुरारि या त्रिविक्रमभट्ट की कृतियों का अपना महत्त्व अवश्य है, जिसकी सर्वदा उपेक्षा करने से काव्यालोचन के एक पक्ष की अवहेलना होने की आशङ्का है। हमारे सामने दो चित्र हैं, एक रमणीय भावात्मक चित्र, जिसमे प्रेय के साथ श्रेय की उदात्तता भी समवेत है, दूसरा कलात्मक नक्काशी वाला चित्र। पर इस दूसरी चित्रकला में चाहे बाहरी तड़क-भड़क का ही महत्त्व हो, आलोचक को उसकी ओर से आँखें हटा लेना ठीक नहीं। युग की रुचि किसी काल की साहित्यिक रचना को प्रेरणा देती है। माघ, श्रीहर्ष, मुरारि तथा

त्रिविक्रम भट्ट की साहित्यिक कृतियों को यदि हिन्दी के आदिकालीन चरित-साहित्य और रीतिकालीन काव्य की पूर्वपीठिका के रूप मे अध्ययन का विषय बनाया जाय,—जो भारत की मुमूर्षु स्वतन्त्रता, पारस्परिक कलह, तथा विलासिता की ओर ली गई दिलचस्पी का सङ्केत करती हैं,—तो वे समाज-शास्त्रीय तथा साहित्यिक प्रवृत्तियो का निर्देश कर सकती हैं।

किसी भी देश या राष्ट्र के साहित्य को टुकड़ो मे बाँटकर, उन्हे सामाजिक प्रवाह से असपृक्त करके देखना श्रेयस्कर तथा वैज्ञानिक नही। संस्कृत-साहित्य के महान् दाय को अलग रखकर देखना उसके शुद्ध काव्यशास्त्रीय मूल्य को भले ही आंक ले, राष्ट्रीय अर्घ्य का अङ्कन करने मे असफल होगा। लौकिक सस्कृत की 'क्लैसिकल' काव्य परम्परा को न केवल आदि-कवि तथा व्यास के अमर काव्यो मे सम्बद्ध मानना होगा, अपितु उसे आर्य सस्कृति के उप काल मे उदित मन्त्रद्रष्टा ऋषियो की 'सूनृता चन्द्ररथा' वाणी के साथ आदि स्रोत गोमुख से निकलकर आने के समय से लेकर आज की विविध लोकभाषाओं के मुखो के द्वारा जनजीवन के महोदधि मे विलीन होती हुई दशा तक के अखण्ड प्रवाह की एक महत्त्वपूर्ण स्थिति समझना पड़ेगा। त्रिपथगा के प्रवाह की तरह किसी देश की राष्ट्रीय भारती इतनी विस्तीर्ण तथा समृद्ध होती है, कि उसका अध्ययन समग्ररूप मे न कर खडशः करना ही अधिक ठीक होगा। लौकिक सस्कृत की राष्ट्रीय भारती वह सबसे बड़ी कड़ी है, जो प्रागैतिहासिक काल के वैदिक साहित्य से आज के साहित्य की कड़ियों को जोड़ती है। लौकिक सस्कृत का साहित्य जहाँ वैदिक-साहित्य के दाय को लेकर उपस्थित होता है, वहाँ कुछ नई चेतना, नई स्फूर्ति तथा अभिनव सामाजिक स्थिति का सङ्केत देता है और इस दृष्टि से नर्वाचीन भाषाओ के साहित्य का साक्षात् पूर्वज होने के कारण वैदिक साहित्य की अपेक्षा इन्हे उससे कही अधिक दाय प्राप्त हुआ है। वैदिक साहित्य जहाँ दिव्य (अपौरुषेय) साहित्य है, प्राकृतिक देवताओ से सम्बद्ध साहित्य है, वहाँ लौकिक सस्कृत का साहित्य मानवी साहित्य है। वाल्मीकिरामायण को इस प्रवृत्ति का प्रथम आविर्भाव कहा जा सकता है। लौकिक सस्कृत साहित्य मे सूत्रोत्तरकाल (६०० ई० पू०) के बाद की सामाजिक अवस्था का चित्र प्रतिफलित होता है, जो भारत के अत्यधिक समृद्धिशाली युग का लेखा है। लौकिक संस्कृत साहित्य मे समाज का जो निश्चित नैतिक, धार्मिक, पौराणिक और सास्कृतिक 'ढाँचा' पाया जाता है, ठीक उसी रूप मे

वह वैदिक साहित्य मे नही मिलता। जहाँ तक परवर्ती प्राकृत, अपभ्रंश या अर्वाचीन भाषाओं के साहित्य का प्रश्न है, संस्कृत साहित्य के ऋण से वे कभी उऋण नही हो सकते। इन भाषाओं के साहित्य का संस्कृत साहित्य के साथ ऋणी-धनी का सम्बन्ध है। बौद्धो, जैनो या बाद के निर्गुण सन्तों का प्राकृत, अपभ्रंश और देशभाषा का साहित्य पौराणिक ब्राह्मण धर्म की नैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का विरोध लेकर भले ही आया हो, संस्कृत साहित्य के अहसान को नही भुला सकता। हिन्दी साहित्य को अपने पूर्वजो से जो दाय मिला, उसमे सबसे बडा अंग संस्कृत साहित्य का ही है, चाहे वह वीरगाथा-कालीन चरितकाव्यो की परम्परा हो, या सगुण भक्ति की ऐश्वर्यवादी धारा, या माधुर्यवादी रसस्यन्दिनी सरिता या शृंगार सूक्तियों की रीतिकालीन अठखेलियाँ।

आज से लगभग चार हजार साल पहले 'यायावरो' का एक कबीला भारत के सिंहद्वार पर आया। उसने भारतीय नभोमण्डल मे अवतरित होती चिर कुमारी उषा-नर्तकी के अधखुले लावण्य[1] को देखा, उसके हृदय की पाँखें खुल उठी मन की वीणा के तार झनझना उठे, भावों की सरगम ने नया राग छेड़ा, और भारत ने सबसे पहले साहित्य और सङ्गीत को मुखरित कर उस दिव्य सुन्दरी का, उसके अमर्त्य शृंगार का अभिनन्दन किया। वैदिक मन्त्रद्रष्टा का शंसन, हवन और उद्गीथ साहित्यिक वितान का सूत्र डाल चुका था, जिसमे धीरे-धीरे, कई ताने-बाने बुनकर वैदिक साहित्य के स्वर्णिम पट को मूर्त रूप दिया गया। भाव स्वतः साहित्य और सङ्गीत के द्रव मे पिघल पडे थे, मानव की सौन्दर्याभिव्यञ्जक वाणी खुद-ब-खुद कविता बन गई थी, और वैदिक कवि ने आकाशमार्ग मे ज्वलन्त रथ पर जाती दिव्य उषा के बलिष्ठ सैंधवो से यह प्रार्थना की कि वे उसे मानव की भूमि पर अवतारित करें।

उप देवि अमर्त्या विभाहि चन्द्रम्या सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये॥ (ऋ. · मण्डल)

आर्यों के आदिम जीवन मे हाथ बँटाने के लिए अग्नि, वरुण, इन्द्र, मित्र और विष्णु आये। इन्द्र ने आकर उनके शत्रु 'दस्यु' को विजित किया, उसने पिप्रु, शबर, वृत्र, कुत्स, पता नही कितने 'दस्यु' वीरो को[2] हराया। भारत-भूमि

१, अधिपेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्। (ऋ.।१।९२।४)
२. त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथा रन्धयो तिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्तं चिदर्बुदं निक्रमीः पदासनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे॥ (ऋ.।१।१०५१।६)

सिन्धुदेश, ब्रह्मर्षि देश और अन्तर्वेद आर्यों के पैरों के नीचे झुक पडे, और दस्युओं का दर्पोन्मत्त मद भी, जिन्हें आर्यों ने अपनी ओर से अभय दान दे दिया। संस्कृतियों का सङ्गम हुआ, गंगा और यमुना ने मिलकर त्रिवेणी की सृष्टि की, सरस्वती की तरह दोनो ने सम्मिलित अभिनव चेतना को जन्म दिया। विजेताओं ने खानाबदोशी छोडी, पशु-चारण-वृत्ति छोडी वे भी ग्राम और नगरों की सभ्यता की ओर बढ चले। जीवन की स्थिरता के साथ गम्भीर चिन्तन की स्थिरता चल पडी, हृदय के साथ मस्तिष्क भी प्रौढ हुआ और संहिता-काल की भावना उपनिषत्-काल के चिन्तन को जन्म देने लगी। दार्शनिक चिन्तन बढा, वैदिक ऋषि ने जीवन की गति और लक्ष्य को समझना चाहा, वह वेदो की अनेक देवमूर्तियों में एकता ढूँढने लगा, पर उस प्रश्न का उत्तर सुलझा नही, उसके आगे प्रश्नवाचक चिह्न बना रहा। ऋग्वेद के अन्तिम दिनों का कवि चिन्तनशील होकर कह ही उठा 'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?" यह बीज ही उपनिषदों के जनक, गार्गी या याज्ञवल्क्य, पिप्पलाद, दधीचि और नचिकेता के चिन्तन के अनेक शाख वटवृक्ष का रूप लेकर आया। पर मानव इन्हें पाकर रुका नही, वह इस दाय को पाथेय बनाकर चल पडा। वैदिक कवियो का हृदय लेकर, औपनिषदिक चिन्तकों की मेधा लिये।

उस अनन्त पथ पर चलते उसे कई साथी मिले, कई से हिल-मिलकर रास्ता काटा, कई से मुठभेड हुई, और हर एक को कुछ देता, हर एक से कुछ लेता, वह चलता ही रहा, रुका नही। इस बीच उसने कई पोशाकें बदली, उसकी भाषा बदली, व्यवस्था बदली, विचार बदले, पर भाव सर्वतोभावेन वही बने रहे वही आशा-निराशा, सुख दुख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, लोभ-क्रोध। दार्शनिक चिन्तनका, विचार-सरणि का, बाहरी लिबास बदलता रहा, पर आत्मा अक्षुण्ण रही, अभी तक अक्षुण्ण बनी है। यह दूसरी बात है, कि कई ऐसे समय आये, जब वह ऐसी पार्वत्य घाटियाँ पार करने को मजबूर किया गया, जहाँ से वह क्षितिज तक के मैदान पर अनाविल दृष्टि न दौडा सका, पहाडों की कृत्रिम चोटियों ने उसकी दृष्टि की गति रोक दी, उसके भाव वही तक सीमित रह गये, पर इसमें उस बेचारे का क्या दोष ? काश, पर्वतों की यह चहार-दीवारी न होती। पर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसे पर्वत भी पार करने होंगे और उसका लक्ष्य है सारी मानव-जाति को शाश्वत मनोजगत् की झाँकी दिखा

देना, कलाकार की कोमल अँगुलियाँ केवल एक तार छुएँ और वीणा के सारे तार स्पन्दित हो उठें।

वैदिक साहित्य और साहित्यिक (क्लैसिकल) संस्कृत के बाहरी ढाँचे में एक महान् अन्तर है। वैदिक साहित्य जन-भाषा का साहित्य है, दैवी साहित्य है, ग्राम-संस्कृति का साहित्य है, लौकिक संस्कृत साहित्य उच्च वर्ग की साहित्यिक भाषा का साहित्य है, मानवीय साहित्य है, नागरिक संस्कृति का साहित्य है। वैदिक साहित्य का समाज मूलतः दो तरह का समाज है, आर्य और दस्यु, विजेता और विजित, तथा साहित्यिक संस्कृत का समाज निश्चित रूप से वर्णाश्रम-व्यवस्था को लेकर चलने वाला पौराणिक ब्राह्मण समाज है। इतना ही नहीं, लौकिक संस्कृत साहित्य का समाज सामन्तवाद का समाज है, सार्वभौम सम्राटों, राजाओं और सामन्तों का समाज। यद्यपि सामान्तवाद का उदय आदि-कवि तथा व्यास के अमर काव्यों—रामायण तथा महाभारत—में ही हो चला है, फिर भी साहित्यिक संस्कृत के काव्यों में उनकी गणना नहीं की जाती। ये दोनों काव्य वस्तुतः वैदिक साहित्य और साहित्यिक संस्कृत के बीच की कड़ी हैं। यही कारण है, वाल्मीकि व व्यास कवि होते हुए भी ऋषि हैं, और उनके काव्य आर्षकृतियाँ। ये वे कृतियाँ हैं, जिन पर पाणिनि महाराज के धर्मदण्ड का वश नहीं चलता। रामायण तथा महाभारत दोनों ही नागरिक सभ्यता के काव्य हैं तथा प्रकृति में अश्वघोष या कालिदास की अमर कृतियों के विशेष नजदीक हैं।

उत्तर-वैदिक-काल का साहित्य भावुक की अपेक्षा चिन्तनशील अधिक था। उपनिषदों में भावना और चिन्तन का सुन्दर तानाबाना है, पर सूत्र-साहित्य आमूलचूल बुद्धि का साहित्य है। उत्तर वैदिक-काल (१००० ई० पू०–६०० ई० पू०) में ही वर्णाश्रमधर्म के बीज देखे जा सकते हैं। धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र वैदिक समाज के निश्चित 'ढाँचे' का सङ्केत देने लगते हैं। पर इस 'ढाँचे' का खुला विरोध भी उठ रहा था और कुछ दिनों के बाद भगवान् महावीर और भगवान् सुगत ने इस व्यवस्था की धार्मिक और सामाजिक नींव को खोखला घोषित किया था। इस बीच ब्राह्मण संस्कृति तथा यज्ञविरोधी संस्कृति का विरोध चलता रहा, जिसमें निश्चित रूप से ब्राह्मण संस्कृति की ही विजय हुई। ईसा से लगभग दो शती पूर्व ही ब्राह्मण धर्म अपनी

पूरी शक्ति से उठ खड़ा हुआ था, उसने नई चेतना जुटायी, नई व्यवस्था को जन्म दिया। यज्ञो के धूम से फिर दिशायें 'अलकपट्टिका सजाने लगी,' अश्वमेध का घोड़ा सार्वभौम सम्राट् की यशोगाथा के साथ चतुर्दिक् दौड़ पड़ा, स्मृतियों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ, शास्त्रों का चिन्तन चल पड़ा, जीवन के लक्ष्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की विस्तृत मीमांसा होने लगी और ब्राह्मण 'महीदेव' घोषित किया गया, राजा नररूप में स्थित 'महती देवता'। पुराणों ने बुद्ध और महावीर के आगे सिर झुकाया, उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया गया और स्मृतियाँ निश्चित वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था देने लगीं। मनु सम्भवत पुष्यमित्र (दूसरी शती ई० पू०) के समसामयिक थे और उसी के सङ्केत पर मनुस्मृति की रचना हुई थी। यद्यपि सबसे प्राचीन पुराण 'वायुपुराण' की रचना २०० ई० के लगभग मानी जाती है तथापि पुराणों की कथाएँ ईसा से कई सौ साल पहले से ही एकत्रित हो रही थी। पुराणों में एक साथ वैदिक आख्यान, सांस्कृतिक उपाख्यान, ऐतिहासिक कथाओं, रूपकात्मक कहानियों और लोककथाओं का संग्रह है। अश्वघोष से पूर्व निश्चित रूप से पुराणों की कथाएँ जोरशोर पर थीं; महाभारत को, जो अनेक उपाख्यानों का सुन्दर वन है, मूलरूप में ईसा से लगभग ५०० या ६०० वर्ष पूर्व का अवश्य होना चाहिए।

संस्कृत साहित्य रामायण, महाभारत, पुराण और समय समय पर संगृहीत लोककथाओं (बृहत्कथादि) की विरासत लेकर, उपनिषदों व सूत्रों के गम्भीर चिन्तन और स्मृतिकारों के निश्चित सामाजिक दृष्टिकोण का हाथ पकड़ कर हमारे सामने प्रविष्ट होता है। अश्वघोष से लेकर श्रीहर्ष या जयदेव तक हम इस अखण्ड परम्परा का निर्वाह पाते हैं। हर पीढ़ी अपनी नई पीढ़ी के हाथों इस विरासत को छोड़ती गई और हर आने वाली पीढ़ी ने समय की अवस्था के अनुरूप इस विरासत का उपयोग और उपभोग कर इसे अपने उत्तराधिकारियों को दे दिया, ताकि वे भी इसे सहेज कर रखें और भावी पीढ़ियों को देते रहें। यह दूसरी बात है, कि कई पीढ़ियों के गन्दे हाथों ने इस विरासत को गन्दा बना दिया। कालिदास अपने दाय को उज्ज्वल रूप में छोड़ गये, पर उनके उत्तराधिकारी उसकी पालिश को सहेज कर न रख सके। पर फिर भी यह विरासत ऐसी है, जो आदर की दृष्टि से देखने की चीज है, जो उन अनेकों

ज्ञातनामा और अज्ञातनामा पूर्वजो के हाथों गुजरी है, जिन्होंने अपनी चेतना उसमे फूंक दी है और आज भी वह अपनी मूक वाणी से उनके सन्देश सुनाती रहती है।

क्या साहित्यिक संस्कृत कभी जनभाषा थी? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जाना होगा। वैदिकभाषा अपने काल की जनभाषा थी। किन्तु जैसा कि स्पष्ट है, वैदिक संस्कृत की कई विभाषाएँ ऋग्वेद काल की भाषा मे देखी जा सकती हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों की भाषा एक देश या एक काल की नहीं। आरम्भ के मन्त्रो की रचना पजाब मे हुई है, बाद की अन्तर्वेद में। इसी तरह गोत्रमण्डल (२ से ८ तक के मण्डल) की भाषा प्राचीन है, तो प्रथम एव दशम मण्डल की भाषा बाद की। अनार्यों के सम्पर्क से वैदिक भाषा में उच्चारण-सम्बन्धी विकार आये होंगे, यही नहीं, आर्यों की भाषा ने अनार्य भाषाओं से शब्दसम्पत्ति लेकर अपना कोश भरापूरा बनाया, पर उसका ढाँचा, उसका पद विधान (Morphology) वही रहा। इधर वैदिक भाषा की जटिल पदरचना भावो के आदान-प्रदान के उपयुक्त भाषा के रूप मे शिथिल होने लगी। इसी काल मे मन्त्रों की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए प्रातिशाख्यों की रचना हुई। प्रातिशाख्यो ने वैदिक भाषा के उच्चारण तत्त्व पर विशेष ध्यान दिया, पर उसमे पदविज्ञान-सम्बन्धी यथावश्यक सङ्केत भी मिल जाता है। इसी समय वैदिक भाषा का एक ऐसा रूप भी दिखाई पड़ता है, जिसे साहित्यिक संस्कृत के नजदीक माना जा सकता है। कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर उपनिषद् मे ऐसे अनेक मन्त्र भाग हैं, जो महाभारत और रामायण के श्लोको की भाषा के पूर्ववर्ती रूप का सङ्केत करते हैं। इसी काल में पाञ्चाल, ब्रह्मर्षि देश तथा अन्तर्वेद की भाषा, 'उदीच्य' भाषा, को आधार बनाकर एक शुद्ध व्याकरण-सम्मत भाषा का रूप चल पड़ा। यास्क के समय मे ही वैदिक भाषा दुर्बोध हो गई थी। यास्क (८०० ई० पू०) के बाद और पाणिनि (६०० ई० पू०) से पहले कुछ वैयाकरणो ने उदीच्य भाषा को संस्कृत रूप देने का कार्य प्रारम्भ किया होगा। पाणिनि ने स्वय शाकल्य, शाकटायन, स्फोटायन जैसे पूर्व आचार्यों का उल्लेख किया है। विद्वानो ने ऐन्द्र व्याकरण को पाणिनि से भी पूर्व का माना है, किन्तु पाणिनि ही सबसे पहले वैयाकरण थे, जिन्होंने अपने काल की भाषा को 'संस्कृत' रूप देने का वैज्ञानिक भार उठाया और चार हजार सूत्रों की छोटी-सी अष्टाध्यायी मे संस्कृत भाषा को जकड दिया।

संस्कृत भाषा निश्चित रूप से उस काल के बाद कई सदियों तक उच्च, मध्य वर्ग तथा अभिजात वर्ग की भाषा रही है। यद्यपि पाणिनीय संस्कृत भाषा कभी भी जन-भाषा नहीं रही है, तथापि वह ईसा से कई सदियों पूर्व से लेकर बारहवीं सदी तक राज्य-भाषा (State Language) रही है, सामन्तों, ब्राह्मणों, कवियों और दार्शनिकों की भाषा रही है और बारहवीं सदी के बाद भी यह कई स्थानों पर इस पद पर सुशोभित रही। बारहवीं सदी तक संस्कृत शिलालेखों, ताम्रपत्रों, पट्टे-परवानों की ही भाषा न थी, कई राजदरबारों की भाषा भी थी। गुप्त-काल तथा हर्ष के समय इसका प्रयोग दरबार की की बोलचाल की भाषा के रूप में भी होता था और राजमहिषियाँ आदि इसे समझती थीं। बारहवीं सदी के बाद एक ओर देश भाषाओं की बढ़ती साहित्यिक समृद्धि, दूसरी ओर संस्कृत को राज्याश्रय न मिलने और तीसरी ओर भावी साहित्य के केवल रूढ़िवादी होने से, संस्कृत को खदेड़ दिया गया वह एक ओर हटा दी गई। वैसे इसके बाद भी यह दार्शनिकों, वैयाकरणों और प्रबन्धकारों (निर्णयसिन्धु आदि के लेखकों) की भाषा बनी रही, उसमें फिर भी काव्य-रचनाएँ होती रहीं और किसी सीमा तक भारतीय संस्कृति की पुरातनप्रियता ने उसे सुरक्षित रखा, किन्तु उसकी स्थिति वही हो चली थी, जो मध्यकालीन यूरोप में लैटिन की। संस्कृत 'मृत भाषा' है, या नहीं, इस प्रश्न का विधि निषेध-रूप उत्तर देना हम उचित न समझ, केवल इतना ही कहना चाहेंगे, कि संस्कृत जन भाषा न पिछले २६०० वर्षों से रही है, न मानी जा सकती है, पर इतना होते हुए भी संस्कृत भाषा वह फौलादी नींव है, जिस पर भारतीय संस्कृति और साहित्य की अट्टालिका खड़ी होकर आकाश को अपनी गुरुता और महत्ता से चुनौती दे रही है। इस फौलादी नींव को हटाने की चेष्टा करना अट्टालिका के ही लिए घातक सिद्ध होगा।

रामायण तथा महाभारत के रचनाकाल (६०० ई० पू०) के बाद हमने संस्कृत साहित्य का पहला प्रतिनिधि अश्वघोष को माना है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि इससे पूर्व कोई रचना न लिखी गई होगी। किंवदन्तियों का कहना है, पाणिनि ने 'जाम्बवतीपरिणय' और 'पातालविजय' नामक दो काव्य लिखे थे। पाणिनी के नाम से कुछ उदाहरण सुभाषितों में

मिलते है।[1] पर इन सूक्ति पद्यों की शैली निश्चित रूप से इनके इतने पुराने (६०० ई० पू० का) सिद्ध होने मे बाधक है। यद्यपि पाणिनि का नाम अधिक प्रचलित नही है, तथापि इन पद्यों के रचयिता निश्चित रूप से दाक्षीपुत्र वैयाकरण से भिन्न हैं, नाम उनका भी पाणिनि रहा होगा। वररुचि के नाम से भी कुछ सूक्ति पद्य मिलते हैं और 'चतुर्भाणी' मे एक भाण भी वररुचि की रचना माना गया है। भाण तो वार्तिककार वररुचि (या कात्यायन) की रचना नही जान पडती, और 'चतुर्भाणी' के चारों भाणो को ईसा की सातवी सदी से पुराने मानने मे हमे आपत्ति है (साथ ही पद्मप्राभृतक भाण को हम शूद्रक की रचना नही मानते)। यह हो सकता है कि वररुचि ने कोई काव्य लिखा हो, क्योकि पतञ्जलि ने महाभाष्य मे वररुचि के काव्य का सकेत किया है—वाररुचं काव्यम्। पतञ्जलि (२०० ई० पू०)[2] के पहले कुछ कथा साहित्य भी निर्मित हुआ था, इनमे वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी आदि के नाम पतञ्जलि ने लिये हैं। सम्भवतः पतञ्जलि के समय नाटक भी खेले जाते थे। कंसवध तथा बलिबन्धन कदाचित् कोई दृश्यकाव्य रचनाएँ हों। पर अश्वघोष से पूर्व का काव्य साहित्य या नाटक साहित्य आज उपलब्ध नही। यही कारण है, हमने सुवर्णाक्षीपुत्र को ही पहला कवि माना है, दाक्षीपुत्र को नही।

---

१. सूक्तियों मे पाणिनि के नाम से उद्धृत पद्यों मे निम्न पद्य बड़े प्रसिद्ध हैं जो अलङ्कार-ग्रन्थों मे उद्धृत हैं यह तो निश्चित है कि ये पद्य आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोककार) से पुराने हैं। निम्न पद्य बाद के कई आलङ्कारिकों ने उद्धृत किये हैं—दे० रुय्यक का अलङ्कारसर्वस्व तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण।

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥ १॥
ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रमोदयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥ २॥

२. पतञ्जलि शुङ्ग सम्राट् पुष्यमित्र के पुरोहित थे। महाभाष्य में वे स्वयं लिखते हैं—'इह पुष्यमित्रं याजयामः'। पतञ्जलि के ही समय ग्रीक सम्राट् मिनेण्डर (मिलिन्द) ने जिसकी राजधानी उस समय साकल (स्यालकोट) थी, बौद्धों के कहने से मगध पर चढ़ाई की थी। मिनेण्डर के राज्य की सीमा पुष्यमित्र के राज्य की सीमा का स्पर्श करती थी। मिनेण्डर ने माध्यमिका (राजस्थान में चित्तौड़ के पास स्थित नगरी नामक स्थान) और साकेत पर प्रबल आक्रमण किया था—'अरुणद् यवनः साकेतम्।' 'अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्।' (महाभाष्य)

ईसा की पहली सदी से लेकर १२ वीं सदी तक संस्कृत साहित्य की गति-विधि को हमने आगामी पृष्ठों में प्रदर्शित किया है। यद्यपि प्रदर्शन कवियों का है, पर वह कवियों का न होकर काव्यप्रवृत्तियों का समझा जाना चाहिए। यही कारण है, हमने सामाजिक गति के साथ काव्य की प्रवृत्ति का पर्यवेक्षण करने का प्रयत्न किया है। बारहवीं सदी के बाद के साहित्य को हमने अपना दृश्यबिन्दु नहीं बनाया है, किन्तु बारहवीं सदी के बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति का सङ्केत हमने अवश्य दे दिया है। हमारे श्रीहर्ष, मुरारि, त्रिविक्रम और जयदेव बारहवीं सदी के बाद के महाकाव्य, नाटक, गद्यकाव्य (और चम्पू), तथा मुक्तक कविता की प्रवृत्ति का इशारा करते मिलेंगे और सच तो यह है कि श्रीहर्ष के बाद बीसों महाकाव्यों के लिखे जाने पर भी कोई कृति अपना मौलिक व्यक्तित्व लेकर नहीं आती। इसी तरह मुरारि में हमने दृश्यकाव्य का ह्रास बताया है। यद्यपि राजशेखर, बिल्हण, जयदेव (प्रसन्नराघवकार) जैसे कुछ नाटककार मुरारि के बाद, किन्तु हमारे काल (१२०० ई०) में ही हुए हैं पर वे किसी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि नहीं जान पड़ते, अतः हमें उन्हें छोड़ देना पड़ा है। उनका सङ्केत यथास्थान अवश्य मिलेगा। त्रिविक्रम गद्यकाव्य के ह्रासोन्मुख प्रतिनिधि हैं, तो जयदेव मुक्तक कविता के। जयदेव के समकालीन गोवर्धन, धोयी या उमापति को हमने इसलिए नहीं लिया है कि इस प्रवृत्ति का सफल प्रतिनिधित्व जयदेव ही कर पाते हैं। और जयदेव में जो काव्य-परम्परा पाई जाती है, वह हिन्दी तक चली आई है। बारहवीं सदी के बाद मुक्तक कवियों में निःसन्देह एक सफल व्यक्तित्व पैदा हुआ है—जगन्नाथ पण्डितराज। पर हमने इसे नहीं लिया है, तुलना के लिए कुछ सकेत अमरुक के उपसंहार में मिल सकता है।

बारह सौ वर्षों की इस विशाल साहित्यिक निधि में कवियों की वैयक्तिक विशेषताएँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी कई समानताएँ मिलेंगी। वैसे हर कवि अपनी विशिष्ट प्रकृति, अपना खास रूप लेकर आता है, हर एक में उसकी जातीय दिलचस्पियाँ हैं। पर इतना होते हुए भी इन सब में एक-सूत्रता ढूँढी जा सकती है। अश्वघोष इस सूत्र के एक छोर है, श्रीहर्ष और जयदेव दूसरे। इस काल के सभी कवि पौराणिक ब्राह्मण धर्म के प्रतिनिधि हैं। अश्वघोष ब्राह्मण धर्मावलम्बी न होते हुए भी, बौद्ध भदन्त होने पर भी, पौराणिक ब्राह्मण धर्म के प्रति आदर-भाव रखते हैं, इसका संकेत हमने अश्वघोष के परिशीलन में किया है। इस

काल के प्रायः सारे कवि सामन्तवादिता के पोषक हैं, और दरबारी कवि हैं। अश्वघोष सबसे पहले दरबारी कवि हैं, श्रीहर्ष और जयदेव अन्तिम। विशाखदत्त, मुरारि या अमरुक के विषय में हम निश्चित रूप से कह नहीं सकते। भवभूति यद्यपि युवावस्था मे अनादृत रहे, किन्तु अन्तिम दिनों मे कन्नौज के यशोवर्मन् (७५० ई० ल०) के दरबार में थे। यशोवर्मन् के ही समय मे वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' लिखा था।

पर इतना होते हुए भी काव्यप्रवृत्तियों की दृष्टि से, साथ ही तात्कालिक समाज की दृष्टि से भी, इस बारह सौ वर्ष के साहित्य को दो भागों में बाँट देना अधिक वैज्ञानिक होगा। हम हर्षवर्धन या बाण को मध्य मे मानकर इस काल का विभाजन मजे में कर सकते हैं। पहले भाग को हम मोटे तौर पर हर्ष की मृत्यु[१] के तीन साल बाद ६५० ई० तक खीच सकते हैं। इसके बाद के साहित्य को हम दूसरे भाग मे समाविष्ट करते हैं, जिसे १२०० ई० या अधिक से अधिक १२५० ई० तक माना जा सकता है। पर इसमें भी हम १२०० ई० की तिथि ही लेना ठीक समझेंगे। पहले तो इस तिथि मे हमारे इष्ट कवि तथा इष्ट साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समाविष्ट हो जाती हैं, दूसरे जिस तरह ६५० ई० हर्षोत्तर काल के भारत की राजनीतिक अव्यवस्था, सामाजिक दुर्बलता का सङ्केत करती है, वहाँ १२०० ई० उस अव्यवस्था के फलस्वरूप भारतीय हिन्दू साम्राज्य तथा सामन्तवादिता के अन्त का सङ्केत करती है, साथ ही संस्कृत के राजाश्रय के लोप की सूचना देती है। यह तिथि भारत में मुस्लिम राज्य के श्रीगणेश का सङ्केत करने में समर्थ हो सकेगी। इस तरह ईसा की पहली शती से ६५० ई० तक हम संस्कृत साहित्य का विकास काल मानते हैं, जब संस्कृत कवियों को प्रचुर राजाश्रय मिला और उन्होने काव्यों में नई प्रवृत्तियों, नई उद्भावनाओं नई भङ्गिमाओं, का अपूर्व प्रयोग किया। इसी काल ने कालिदास, बाण, अमरुक जैसे कई व्यक्तित्वों को जन्म दिया। इस काल के कवियों ने जहाँ अजन्ता की चित्रकला से मादकभङ्गिमा ली, वहाँ उनकी शैली को उस काल की मूर्तियों में कलात्मक नक्काशी भी प्राप्त हुई। संस्कृत साहित्य में विकास होता रहा, पर हर्षवर्धन के साम्राज्य के साथ वह विकास ठप हो गया। काव्य को पाण्डित्यप्रदर्शन ने धर दबाया, काव्य सामन्ती विला-

१. हर्षवर्धन की मृत्यु ६४७ ई० में हुई थी।

सिता के दर्पण बन गये। संस्कृत साहित्य का गौरव भी फिर भी बना रहा, पर जैसे वह अपनी चढती पर न था, उसकी उतरती के दिन आ रहे थे। यही कारण है कि ६०० ई० से १२०० ई० के साहित्यिक काल को हमने 'ह्रासोन्मुख काल' कहा है। इसी के बाद आज की भाषाओ के साहित्य का आरम्भ हो चला था। हिन्दी की प्रारम्भिक स्थिति के साहित्य को १२०० ई० से तो निश्चितरूप से माना जायगा, वैसे विद्वानो ने इसे इससे भी २००-३०० वर्ष पूर्व खीचने की चेष्टा की है और इस तरह बारह सौ वर्ष की सबसे मोटी कडी यहाँ उस कडी मे गुथी नजर आती है, जिसके दायरे मे हिन्दी की साढे सात वर्ष की साहित्यिक परम्परा आ जाती है।

'क्लैसिकल' संस्कृत साहित्य का इतिहास ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ जुडा हुआ है। पुष्यमित्र और पतञ्जलि (२०० ई० पू०) को इसकी ऊपरी सीमा माना जा सकता है। इस काल से लेकर हर्षवर्धन की मृत्यु तक भारत साम्राज्यवादी ढर्रे की ओर बढा है। मौर्य सबसे पहले सम्राट् थे, और यद्यपि इस काल में हमने मौर्यों को नही लिया है, पर मौर्यों की राजनीतिक व्यवस्था, चाणक्य की 'अर्थशास्त्र' वाली दण्डनीति और कूटनीति आगे आने वाले सम्राटो का आदर्श रही है। प्राचीन भारतीय साम्राज्यवाद की नींव का पत्थर चाणक्य ही है। शुगो के बाद कई छोटे-मोटे राजा मगध के सिंहासन पर बैठे, कनिष्क (१०० ई०) तक कोई भी राजा ऐसा नही हुआ, जो सम्राट् कहा जा सके। कनिष्क के समय मगध पर अत्यधिक दुर्बल शक्तियाँ राज कर रही थी, पर सभवतः मगध स्वतन्त्र था, कनिष्क के अधीन नही। कनिष्क का राज्य मध्य एशिया से लेकर शूरसेन प्रदेश तक फैला हुआ था। मथुरा कनिष्क के ही राज्य की अन्तिम सीमा थी। कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर थी। कनिष्क के काल मे बौद्ध और ब्राह्मण समझौते की ओर बढ रहे थे। महायान सम्प्रदाय का उदय ब्राह्मण धर्म का ही प्रभाव था। कनिष्क का पौत्र वासुदेव तो पौराणिक ब्राह्मण धर्मावलम्बी बन बैठा था। वासुदेव शिवभक्त था। कनिष्क के राज्यकाल मे दर्शन, विज्ञान और साहित्य की उन्नति हुई, उसने स्थापत्य कला और मूर्तिकला को एक नई शैली दी—गान्धार शैली। जो अधिक दिनों तक न चल पाई। चरक का प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ इसी काल मे निबद्ध किया गया था।

कनिष्क के बाद दूसरा साम्राज्य गुप्तो का था, जिससे कवियो, पण्डितो, दार्शनिको और कलाकारो को राजाश्रय मिला। दार्शनिको की मेधा, कवियो की

प्रतिभा, स्थपति की कारीगरी, चितेरे की कूँची और मूर्तिकार की छेनी एक साथ क्रियाशील हो उठी, अभिनव सृष्टि के लिए। दार्शनिकों ने नये प्रबन्ध लिखे, शास्त्रार्थ किये, कवियों ने भावजगत् के चित्र को वाणी की फिल्म पर उतारा, स्थपतियों ने मन्दिरों और कलशों को कलात्मक सृष्टि दी, चित्रकार की तूलिका अपना सारा रंग-रस रेखाओं में भरने लगी, और मूर्तिकार ने एक से एक सुन्दर भावात्मक आकृतियों को कुरेद कर अपनी गहरी सूझ का परिचय दिया। संगीत की मूर्च्छना, और नृत्य में झणझणायित मणिनूपुरों की मधुर ध्वनि ने दिग्दिगन्त को मीठी तान में आप्लावित कर दिया। गुप्त सम्राट् विद्वानों और कलाकारों के आश्रयदाता थे, कला के पारखी थे, स्वयं कलाकार थे। गुप्तों के समय में पाटलिपुत्र और उज्जयिनी विद्या तथा कला के प्रसिद्ध केन्द्र बन बैठे। राजशेखर ने पाटलिपुत्र को शास्त्र-विद्या का तथा उज्जयिनी को काव्य-कला का प्रसिद्ध केन्द्र माना है।[1] गुप्तों के काल में विशेषतः समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य और कुमारगुप्त के समय में (३५०—४५० ई०) कई कवियों ने राजाश्रय प्राप्त किया। हरिषेण, कालिदास—और वत्सभट्टि उस काल के ख्यातनामा कवि हैं। इसी काल में वसुभूति, दिङ्नाग आदि दार्शनिक भी पैदा हुए। याज्ञवल्क्य ने भी अपनी स्मृति की रचना इसी काल में की थी। गुप्तों के साम्राज्य के साथ कला की उन्नति हुई, उसने भावपक्ष और अभिव्यञ्जनापक्ष दोनों को विकसित किया। गुप्तों के साम्राज्य के पिछले दिनों में ही साहित्य कृत्रिमता की ओर बढने लगा, भारवि इसके प्रतिनिधि हैं।

---

१. राजशेखर ने बताया है, कि उज्जयिनी में काव्यकारपरीक्षा और पाटलिपुत्र में शास्त्रकारपरीक्षा होती थी।

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

'इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥'

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

'अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः ॥'

(काव्यमीमांसा १० अध्याय पृ० ५५)

ये दोनों पद्य राजशेखर के न होकर परम्परागत अनुश्रुति के रूप में प्रचलित थे। वैसे इन पद्यों के सभी नामों को सचमुच वहाँ-वहाँ परीक्षित नहीं माना जा सकता, फिर भी उज्जयिनी व पाटलिपुत्र साहित्यिक केन्द्र थे, यह संकेत मिल जाता है।

गुप्तों के बाद कला और साहित्य का केन्द्र पाटलिपुत्र न रहा। वर्धन साम्राज्य के उदय के साथ कन्नौज (कान्यकुब्ज) कवियों का आश्रय बना। बाण, मयूर, मानतुंग, ईशान (भाषाकवि) हर्ष के राजकवि थे। हर्ष के बाद भी कन्नौज ने इस महत्त्व को बनाये रखा। यशोवर्मन् (७५० ई०) ने भवभूति, वाक्पतिराज आदि कवियों को प्रश्रय दिया। इसी समय गुजरात में एक नया राज्य उदित हुआ था। इतिहास के पृष्ठों में वलभी का नाम चमक उठा। ह्रासोन्मुख काल के आरम्भ में वलभी पण्डितों व कवियों का केन्द्र था। भट्टि वलभी के ही राजा के आश्रित थे। माघ का भी सम्बन्ध किसी न किसी रूप में वलभी से अवश्य था। कान्यकुब्ज ह्रासोन्मुख काल के अन्तिम दिनों तक कवियों का केन्द्र बना रहा, पर वलभी का ऐश्वर्य दो सदी से अधिक न रह पाया। इस काल के अन्तिम दिनों में दो केन्द्र और उदित हुए, एक गुजरात के राजाओं की राजधानी पट्टण, दूसरा बंगाल के सेनों की राजधानी लक्ष्मणावती। हेमचन्द्र आदि कई पण्डित व कवि गुजरात के राजाओं के आश्रित थे, जयदेव आदि बंगाल के सेनों के। इस बीच एक और केन्द्र भी विकसित हुआ था—मालव की धारा नगरी। नवसाहसांक सिंधुराज मुञ्ज तथा उसका उत्तराधिकारी भोज स्वयं विद्वान् व कवि थे। धनञ्जय, धनिक, पद्मगुप्त आदि कई कवि विद्वान् ग्यारहवीं सदी में भोज और उसके चाचा के आश्रित थे। धारा इस काल का प्रमुख साहित्यिक केन्द्र था। इस काल के अन्तिम दिनों में पट्टण, काशी (जो गहड़वालों की राजधानी थी), लक्ष्मणावती और धारा कवि के केन्द्र थे, पर भोज की राज्यश्री के साथ उसके बाद ही धारा का ज्वलन्त नक्षत्र अस्त हो चुका था और अन्य तीन केन्द्र भी छिपने के पहले टिमटिमाने लगे थे।

संस्कृत-साहित्य के प्रेरक तत्त्व

संस्कृत भाषा और साहित्य को ठीक उसी तरह पौराणिक ब्राह्मणधर्म का प्रतीक समझा जाता है जैसे पालि भाषा और साहित्य बौद्धधर्म का, अपभ्रंश भाषा और साहित्य जैनधर्म का। इसका अर्थ यह नहीं कि संस्कृत भाषा में बौद्ध अथवा जैन रचनाएँ नहीं हुई। संस्कृत में अनेकों बौद्ध-जैन साहित्यिक, धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। किन्तु संस्कृत साहित्य का मूलस्रोत

पौराणिक ब्राह्मणधर्म में हो रहा है और वह इन्हीं की सम्पत्ति रही है, जिसे बौद्धों और जैनों को अपने मत एवं दर्शन को अभिजातवर्ग पर थोपने के लिए, साथ ही ब्राह्मणधर्म की मान्यताओं का खण्डन करने के लिए चुनना पड़ा। कहना न होगा, अभिजातवर्ग की साहित्यिक भाषा उस काल में संस्कृत ही थी। अतः संस्कृति की दृष्टि से संस्कृत साहित्य की सृष्टि वर्णाश्रमधर्म की संस्कृति है, स्मृतियों की संस्कृति है। यही कारण है हमें स्मृत्यनुमोदित सामाजिक 'पैटर्न' का खाका सामने रखना जरूरी होगा, जो संस्कृत साहित्य का सदा आदर्श रहा है।

(१) स्मृत्यनुमोदित वर्णाश्रम धर्म—हम इस बात का संकेत कर चुके हैं, कि भारत में आने पर आर्यों का आर्येतर संस्कृतियों से संगम हुआ। इस समय आर्यों के समक्ष जाति-मिश्रण की समस्या उपस्थित हुई होगी। वे अपनी जाति को शुद्ध बनाये रखना चाहते थे, कम से कम उसके धर्म और संस्कृति को तो अविकृत देखना चाहते थे। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था इस समस्या का हल था। उन्होंने समाज को चार वर्गों में विभक्त कर दिया, उनके निश्चित कर्त्तव्यों और धर्मों का आलेखन किया; अन्तिम वर्ग में अनार्यों को भी सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई। कई सदियों तक 'अनुलोम' पद्धति का विवाह चलता रहा, पर धीरे-धीरे निम्न जाति की कन्या से विवाह करना भी उच्चकोटि की वैवाहिक प्रथा में न माना गया। केवल निम्न वर्ग की स्त्रियों से ही विवाह नहीं होता था, कई भारतीय सम्राटों के ग्रीक पत्नियाँ तक थीं। किन्तु वर्णाश्रमधर्म के इस कठोर बन्धन के होने पर भी भारतीय समाज में बाह्य तत्त्वों का मिश्रण रुका नहीं। ग्रीक, शक, हूण और गुर्जरों के भारत में आकर सदा के लिए बस जाने पर तथा हिन्दू (ब्राह्मण) धर्म के स्वीकार कर लेने पर उन्हें अपने समाज का अंग मान लिया गया। यही नहीं कि उन्हें समाज में चतुर्थ वर्ग में सम्मिलित किया गया, उनमें कई ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ग में भी सम्मिलित हुए हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि चौबे और शाकद्वीपी ब्राह्मण क्रमशः ग्रीक और शक रहे होंगे। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि आज के क्षत्रियों में अधिकांश गुर्जरों के वंशज हैं। वैश्यों में भी ऐसे मिश्रण देखे जा सकते हैं। लेकिन इतना होते हुए भी हूणों और गुर्जरों के बाद आने वाली जातियों को भारत न पचा सका, इसके कई कारण थे, जिनकी मीमांसा में हमें जाना अनावश्यक है।

ईसा से कई सौ वर्ष पहले से ही वर्णाश्रम व्यवस्था के बीज देखे जा सकते ईसा पूर्व दूसरी सदी से लेकर ईसा की सातवीं आठवीं सदी के बीच यह व्यवस्था दृढ़ बनी, इसके चारों ओर फौलादी दीवार मजबूत की गई, पर इस कृत्रिम झील में ऐसे अनेकों मार्ग थे, जिनमें बाहर के जलस्रोत आकर इस झील की जलराशि को विपुल बनाते रहे, उसमें अभिनव जल को लाते रहे। पर एकदम पता नही कभी, सदा के लिए इन दरवाजों को सीमेंट से पाट दिया गया, बाहर के जलस्रोत इसमें न खप सके, और इधर झील का पानी अभिनव जीवन से शून्य हो बैठा, वह स्थिर (Stereotyped) हो गया। हर्षवर्धन के बाद के साहित्य में इस तरह के चिह्न देखे जा सकते हैं। किन्तु इसके बीज हर्ष से पूर्व के साहित्य में भी मिल जायेंगे। पुष्यमित्र तथा मनु के बाद ही भारतीय समाज एक निश्चित 'ढाँचे' में ढल चुका था, और उस समय उसका लक्ष्य अवैदिक बातों के श्रुतिविरोधी आन्दोलन से समाज की रक्षा करना था।

मनु से पहले ही अनेकों धर्मसूत्रों व गृह्यसूत्रों का पता चलता है। इनमें से कई तो यास्क से भी पहले विद्यमान थे। पर मनु स्मृतिकारों के प्रथम पथप्रदर्शक हैं। मनु पुष्यमित्र (२०० ई० पू०) के समसामयिक थे, किन्तु मनुस्मृति का उपलब्ध रूप सम्भवतः ईसा की दूसरी सदी तक निश्चित स्वरूप को प्राप्त हुआ होगा। मनु के बाद दूसरी प्रसिद्ध स्मृतिकार याज्ञवल्क्य (३००–४०० ई०) हैं, जो गुप्तों के समसामयिक हैं। इनके बाद नारद, विष्णु, वशिष्ठ, भृगु, अत्रि आदि अनेकों ऋषियों के नाम से स्मृतियाँ चल पड़ी हैं। स्मृतियों की संख्या मोटे तौर पर १८ मानी जाती है। स्मृतियों में कई विषयों में मतभेद भी मिलता है जो तत्तत् काल की प्रथा का संकेत कर सकता है। स्मृतियों के प्रणयन ने भारतीय समाज को शास्त्रीय नियमों में जकड़ दिया। पुरातन-प्रियता ने स्मृतियों के द्वारा निर्दिष्ट धर्म का अनुसरण करना आदर्श माना। राजा और प्रजा के लिए धर्मशास्त्र प्रमाण हो गये। ज्यों-ज्यों धर्मशास्त्रों का प्रणयन समाज के निश्चित ढाँचे पर जोर देने लगा, त्यों-त्यों समाज की व्यवहारिक स्वतन्त्रता का ह्रास होने लगा और डा० दासगुप्ता के ये शब्द निःसन्देह ठीक हैं कि 'यह सामाजिक जीवन को निश्चल बनाने का—ममी की तरह स्थिर बनाने का—प्रयत्न था, जिससे समस्त नूतनता, समस्त अभिनव चेतना लुप्त हो गई थी।' फलतः कवि को अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का प्रयोग करने का अवसर न रहा। यदि वह प्रतिभा का स्वतन्त्र प्रयोग कर इस निश्चित ढाँचे को कुछ भी

झकझोरता, तो लोगों में धार्मिक वैरस्य पैदा होता। कवि को जीवन के अभिनव प्रयोगों के प्रदर्शन करने का अवसर नहीं रहा। कालिदास जैसे भावुक 'रोमैंटिक' कवि को भी इन्ही परिस्थितियो मे प्रतिभा का प्रदर्शन करना पड़ा। उनके राजा आदर्श सम्राट् थे स्वयं वर्णाश्रमधर्म के पालन करने वाले और प्रजा रो पालन करने वाले, उनकी प्रजा मनु के द्वारा प्रणीत धर्म की लीक को छोडकर इधर-उधर चलने वाली न थी। रामायण तथा महाभारत का समाज इतना 'स्थिर' समाज न था, साथ ही बाद मे भी भास या शूद्रक (?) जैसे उन कवियों में, जिन पर यह 'सामाजिक पैटर्न' इतना हावी नहीं दिखाई देता, हमें जीवन की यथार्थता के अधिक प्रदर्शन होते हैं। सामाजिक जीवन की कृत्रिमता के साथ ही काव्य भी कृत्रिम बन बैठा। कालिदास का समय वह है जब यह स्वतन्त्रता पूरी तरह समाप्त न हुई थी, पर किसी तरह कृत्रिम वातावरण की सृष्टि हो चुकी थी। कालिदास के 'रघुवंश' व 'शाकुन्तल' का वर्णाश्रम धर्म इसका संकेत दे सकता है। कालिदास के पूर्व प्रेम स्वातन्त्र्य का अवकाश था, गान्धर्व विवाह की प्रथा प्रचलित थी, पर कालिदास के समय में ही गान्धर्व विवाह को कुछ हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था और कालिदास को स्वयं इसका सङ्केत 'शाकुन्तल' में देना पड़ा है। "कालिदास निश्चित रूप से 'रोमैंटिक' कवि थे, किन्तु प्रणय-स्वातन्त्र्य का प्रकाशन स्मृतिकारों के बन्धनों में जकड़ दिया गया था। यही कारण है उन्हे नाटकों और महाकाव्यों में प्रणय का स्मृतिसम्मतरूप ही लेना पड़ा। मालविकाग्निमित्र वाला प्रणय राजप्रासादों में प्रचलित बहुपत्नी प्रथा के अनुकूल है; पर विक्रमोर्वशीय में उन्हें उर्वशी की अप्सरावाली कथा चुननी पड़ी, जिसमें उर्वशी का सामान्यत्व स्मृतिविरोधी न दिखाई पड़े। शकुन्तला को 'क्षत्रपरिग्रहक्षमा' बनाकर कालिदास ने वर्णव्यवस्था पर जैसे मुहर लगा दी है। किन्तु कवि की भावुक वृत्ति सामाजिक 'ढाँचे' की कृत्रिमता से उकता गई, वह उचित परीवाह-मार्ग के लिए तड़प उठी और मुक्तक कविता के स्रोत को पाकर निर्बाध गति से निकल पड़ी। कालिदास का मेघदूत इसी वृत्ति का परिचायक है। मेघदूत में अत्यधिक ऐन्द्रिय चित्रों का प्रदर्शन भी सम्भवतः इसी रेचन-क्रिया का सङ्केत करता है। कवि की स्वयं की भावात्मक स्वच्छन्दता के कारण मुक्तक काव्य फिर भी विशेष मार्मिक बन पड़े और आगे जाकर महाकाव्यों तक ने मुक्तक काव्यों के इस गुण को लेना चाहा,

पर शैली की कृत्रिमता और भावों के बनावटीपनके कारण वे इन चित्रों के साथ ईमानदारी न बरत पाये।

(२) नागरिक जीवन—हम इस बात का संकेत दे चुके है कि संस्कृत साहित्य नागरिक जीवन का साहित्य है। यदि हम प्राचीन भारत के सभ्य नागरिक के जीवन को अपना दृष्टबिन्दु बनायेंगे, तो पता चलेगा कि संस्कृत के काव्यों और नाटकों में उसी जीवन का प्रदर्शन मिलता है। संस्कृत साहित्य का नागरिक अत्यधिक समृद्ध तथा विलासी जीवन व्यतीत करता है। उसका निवासस्थान एक छोटे से तालाब और निष्कुट से सुशोभित है। उसका घर विशाल है। उसका घर विशाल है, वह दो भागों में विभक्त है, अन्तर्भाग स्त्रियों के लिए है। वह कपोत-पालिका, वितर्दिका, हर्म्यपृष्ठ आदि से सम्पन्न है। उसका शयनकक्ष दुग्धफेनधवल शय्या से सुसज्जित है, वह पुष्पमाला, सुगन्धद्रव्य, चन्दन, कर्पूर आदि की सुरभि में आप्लावित है, वहीं एक ओर वीणा टँगी है। वितर्दिका पर कई पिंजड़ों में शुक, सारिका, कपोत, चकोर आदि पक्षी चहचहाते रहते हैं और कभी-कभी पुरकामिनियों के 'मणित' में 'अन्तेवासित्व' प्राप्त किया करते हैं। नागरिक के निवासस्थान की यह झलक मेघदूत के यक्ष के निवासस्थान में, माघ के द्वारिका वर्णन (तृतीय सर्ग) में तथा मृच्छकटिक के चारुदत्त और वसन्तसेना के घरों के वर्णन में देखी जा सकती है, जो कुछ काल्पनिक होते हुए भी उस काल के नागरिक जीवन का सङ्केत देने में समर्थ हैं। नागरिक का जीवन सङ्गीत, साहित्य, चित्रकला, नृत्यकला और प्रकृतिनिरीक्षण की कलात्मकता से समवेत है। मृच्छकटिक का चारुदत्त दरिद्र होने पर भी आज के उच्च-मध्यम वर्ग नागरिक से कहीं अधिक रसिक व विलासी है, वह रेभिल के घर पर सङ्गीतगोष्ठियों में सम्मिलित होता है, स्वयं वीणावादन में कुशल है। स्त्रियाँ सङ्गीत, काव्य, नृत्य तथा चित्र में प्रवीण होती थीं। संस्कृत के विकासकाल का नागरिक समाज कामसूत्र की रचना के पूर्व ही निश्चित साँचे में ढल चुका था। वात्स्यायन के कामसूत्र की तिथि के विषय में निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। सम्भवतः कामसूत्र ईसा की दूसरी शती से पूर्व की रचना है। कालिदास को कामसूत्र का अच्छा ज्ञान था और ह्रासोन्मुख काल के काव्यों के लिए कामसूत्र मुख्य पथप्रदर्शक बन बैठा है।

कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के चतुर्थ अध्याय मे वात्स्यायन ने नागरवृत्त का विस्तार मे उल्लेख किया है। नागरिक के निवासस्थान की उपर्युक्त विशेषाएँ 'नागरिकवृत्तप्रकरण' मे स्पष्टतः निर्दिष्ट हैं।[1] इसी प्रकरण में नागरिक की दैनन्दिन चर्चा का भी सङ्केत मिलता है। प्रातःकाल उठकर वह नित्यकर्म से निवृत्त हो, दतौन स्नान आदि करे, तब धूप, माला आदि से सुसज्जित होकर, दर्पण मे मुख देखकर, ताम्बूल का बीडा लेकर, अन्य कार्य करे। उसे प्रतिदिन स्नान करना चाहिए, हर दूसरे दिन मालिश करे, हर तीसरे दिन फेन का प्रयोग करे, हर चौथे दिन क्षौरकर्म (आयुष्य) करे तथा हर पाँचवे या दसवें दिन प्रत्यायुष्य कर्म करे। पूर्वापराह्न तथा अपराह्न मे भोजन करे। भोजन के बाद शुक, सारिका आदि को खिलाये, या लावक, कुक्कुट, मेष आदि की लडाई देखे, पीठमर्द, विट, विदूषक आदि के साथ हँसी-मजाक करे और दिन मे कुछ विश्राम करे। अपराह्न मे फिर गोष्ठी विचार करे, मित्रो के साथ क्रीडादि या काव्य-शास्त्रविनोद करे। रात्रि मे घर को धूपादि सुगन्धित द्रव्यो से सजाकर शय्या पर अभिसारिकाओ की प्रतीक्षा करे, उनके पास दूतियो को भेजे, या स्वय जाय। उनके आने पर मनोहर आलाप, मण्डनादि से उन्हे परितुष्ट करे।[2] प्रणय-व्यापार मे उसके सहायक सखियाँ, वृद्धस्त्रियाँ, दासियाँ विदूषक आदि होते है।

वात्स्यायन के कामसूत्र से पता चलता है कि नागरिक के लिए वेश्यागमन बुरा नही समझा जाता था। उपर्युक्त अध्याय के ही ३४वें सूत्र से ४८वें सूत्र तक वात्स्यायन ने उसी का सङ्केत किया है। वेश्या-प्रणयी के इस कार्य मे भिक्षुणियाँ, कलाविदग्धा मुण्डाएँ, पुश्चलियाँ, कुट्टनियाँ, (वृद्ध गणिकाएँ) सहायता करती है। संस्कृत के ह्रासोन्मुख काल में एक वेश्या-सम्बन्धी काव्य लिखा गया था। दसवी सदी में काश्मीर के एक कवि दामोदरगुप्त ने 'कुट्टिनीमत' वात्स्यायन के इन्हो सिद्धान्तों को काव्य का व्यावहारिक रूप दिया है।

---

१. तत्र भवनमासन्नोदकं वृक्षवाटिकावद्विभक्तकर्मकक्षं द्विवासगृहं कारयेत्। (१.४.४)
वासे च वासगृहे सुश्लक्ष्णमुभयोपधानं मध्ये विनतं शुक्लोत्तरच्छदं शयनीयं स्यात्, प्रतिशय्यिका च ॥ (१. ४. ५)
नागदन्तावसक्ता वीणा, चित्रफलकं वर्तिकासमुद्गको, यः कश्चित्पुस्तकः कुरण्टक-माला च ॥ (१.४. १०)
तत्र बहिः क्रीडाशकुनिपञ्जराणि। (१.४.१३)—(वात्स्यायनः कामसूत्र)

२. दे० कामसूत्र. (१.४.१६-२६)

वात्स्यायन ने 'काम' को जीवन के लक्ष्यभूत त्रिवर्गों में प्रधान स्थान दिया है और यद्यपि पारदारिक तथा वैशिक कर्म धर्मव्यवस्था की नैतिक दृष्टि से हेय हैं, तथापि वात्स्यायन ने पञ्चम तथा षष्ठ अधिकरण में इनका विस्तार से वर्णन किया है। कहना न होगा कि वात्स्यायन के पारदारिक तथा वैशिक कर्म का प्रकाशन न किया जा सका—जिसका कारण शास्त्रीय बन्धन था—तथापि प्रकरण व भाण में वैशिक कर्म को सम्मिलित किया गया और मुक्तक काव्यों में पारदारिक प्रणय का चित्रण धड़ल्ले से चल पड़ा।[१] इसी प्रवृत्ति का प्रभाव गीतगोविन्दकार जयदेव पर पड़ा है। महाकाव्यों ने भी पारदारिक तथा वैशिक प्रणय को प्रस्तुत के रूप में न लेकर अप्रस्तुत-विधान के लिए लिया, वे प्रकृतिचित्रण में पारदारिक तथा वैशिक प्रणय का अप्रस्तुत-विधान करने लगे, जो माघ तथा श्रीहर्ष में देखा जा सकता है और इसका सङ्केत हमने भृङ्गारी अप्रस्तुत-विधान में किया है, जो तत्तत् कवि के परिशीलन में मिलेगा। आगे जाकर पारदारिक प्रणय की इसी प्रवृत्ति को भक्ति की चाशनी में पाग कर 'माधुर्य' बना दिया गया और कृष्ण-भक्त कवियों के 'माधुर्य रस' को पिघलने का निर्बाध क्षेत्र मिल गया।

वात्स्यायन का प्रभाव यहीं नहीं रुका, कवियों ने उनके सम्प्रयोगिक अधिकरण (दूसरा अधिकार) को भी काव्य का आदर्श बनाया। साम्प्रयोगिक कर्मों का काव्य में कभी व्यङ्ग्यरूप में और कभी-कभी वाच्यरूप में भी प्रयोग होने लगा। कालिदास ने स्वयं साम्प्रयोगिक कर्मों का

---

१. मुक्तक काव्यों में इस प्रवृत्ति का शास्त्रीय स्रोत वात्स्यायन है, किन्तु साहित्यिक स्रोत हाल की सतसई को मानना ठीक होगा। हाल की 'गाहा'-ओं में कई पारदारिक प्रणय के चित्र मिलेंगे—यथा—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुण्हे।
अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो॥

संस्कृत में पारदारिक प्रणय का चित्र इतना चल पड़ा कि कवि स्वयदूतीत्व, चौर्यरतादि का चित्रण खुलेआम करने लगे। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत मुक्तकों की यही विरासत पाई। संस्कृत मुक्तक के पारदारिक प्रणय का एक प्रसिद्ध चित्र यह है:—

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन् गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि तद्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः॥

वर्णन किया है, पर कालिदास उसमें व्यञ्जनावृत्ति का ही प्रयोग अधिक करते हैं। माघ ने इस वृत्ति को इतना बढाया कि उसका शृंगारवर्णन कई जगह साम्प्रयोगिक कर्मभेदो को ध्यान में रख कर किया गया प्रतीत होता है। श्रीहर्ष में ये साम्प्रयोगिक चित्र और अधिक उच्छृङ्खल हो उठे। मुक्तको में अमरुक ने भी खण्डिता, या परोपभोग-चिह्निता के चित्रो के द्वारा इसकी व्यञ्जना की, जिसे जयदेव ने और आगे बढाया। संस्कृत के साम्प्रयोगिक शृङ्गारी काव्यचित्रों का प्रभाव ही हिंदी की रीतिकालीन कविता मे आकर बिहारी या अन्य कवियो की 'झणझणायित किङ्किणी' और 'मूक मञ्जीरो' के द्वारा व्यञ्जित किया जाने लगा।

(३) दार्शनिक चिन्तन —उपनिषद्काल और सूत्रकाल के दार्शनिक का प्रौढ चिन्तन प्रौढतर हुआ। दार्शनिकों ने ऐहिक और पारमार्थिक तत्त्वों का विश्लेषण करना चाहा, भौतिक और आध्यात्मिक पहेलियों को सुलझाना चाहा। दार्शनिक विचारो में प्रथम प्रौढतर विचार कपिल के सांख्यसूत्रो में मिलते हैं। सांख्य दर्शन का चिन्तन सभी भारतीय दर्शनो मे पुराना है। यद्यपि ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व, सम्भवतः ५००–६०० वर्ष पूर्व, अनेक दार्शनिक शाखाप्रशाखायें सूत्ररूपों में चल निकली थीं. पर सांख्यदर्शन ने विशेष मान्यता प्राप्त की थी। सांख्य तथा मीमांसा ये दोनों दर्शन विशेष आदृत हुए, सांख्य भौतिक कार्यकारणवाद की दृष्टि से तथा मीमांसा वैदिक कर्मकाण्डीय पद्धति की दृष्टि से। सांख्य का आरम्भिक चिन्तन वैदिक होते हुए भी अनीश्वरवादी था। पुरुषबहुत्व को मानने पर भी उसने 'परमपुरुष' जैसी सत्ता नहीं मानी थी। सांख्य की ही कार्यकारणवादी सरणि को लेकर एक और दर्शन आया, जिसने साधना के व्यावहारिक पक्ष पर, साथ ही परमपुरुष जैसी अलग सत्ता पर जोर दिया। यह दर्शन योग था। सांख्य तथा योग का तत्त्वज्ञानसम्बन्धी भेद यह नवीन तत्त्व 'ईश्वर' की कल्पना था। यही कारण है, योग को दार्शनिको ने 'सेश्वर सांख्य' भी कहा है। कालिदास के समय तक सांख्य तथा योगदर्शन में ही अभिजात वर्ग की दार्शनिक मान्यता थी। मीमांसा को भी आदर प्राप्त था। माघ पर मीमांसा और सांख्य दोनों का प्रभाव है। इसी बीच बौद्धो का अनीश्वरवादी अवैदिक दर्शन भी पल्लवित हुआ था और नागार्जुन, असग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे व्यक्तियों को पाकर वह

गम्भीर चिन्तन का क्षेत्र बन बैठा था। माघ ने बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों का भी सकेत किया है[१] जो विद्वानो पर बौद्ध चिन्तन का प्रभाव है। आगे जाकर तो बौद्धदर्शन ने वैदिक दर्शन के चरम परिपाक अद्वैतवाद को आविर्भूत करने मे भी हाथ बँटाया है।

ईसा की सातवी तथा आठवी शती ने दो प्रबल व्यक्तियों को पैदा किया, जिन्होने पौराणिक ब्राह्मणधर्म के चिन्तन पक्ष को प्रौढ बनाने मे बहुत बडा काम किया है—कुमारिल भट्ट तथा शङ्कर। कुमारिल मे मीमासाशास्त्र को गम्भीर चिन्तन दिया। उन्होने तन्त्रवार्तिक और श्लोकवार्तिक के द्वारा जैमिनि तथा शबर की दार्शनिक उद्भावनाओ को ठोस चिन्तन दिया और वैदिक कर्मकाण्डीय पद्धति को विशेष प्रौढ भित्ति दी, जिसने अभिजात वर्ग पर गहरा प्रभाव डाला। मीमासको तथा बौद्धो का शास्त्रयुद्ध फिर भी चलता रहा और शङ्कर ने बौद्धो के ही अस्त्र को लेकर तर्क, युक्ति तथा चिन्तन के द्वारा बौद्धो के क्षणिकवाद तथा 'चेतना-प्रवाह' के सिद्धान्त का खण्डन किया। शङ्कर निःसन्देह माध्यमिको के शून्यवाद से प्रभावित थे। माध्यमिको का चतुष्कोटिविनिर्मुक्त 'शून्य' ही शङ्कर के चतुष्कोटिविनिर्मुक्त 'ब्रह्म' की कल्पना को जन्म दे सका। फिर भी शङ्कर ने श्रुतियो तथा उपनिषदो की परम्परागत चिन्तनसम्पत्ति को आधार बनाकर जिस मेधापूर्ण दर्शन की नीव डाली, वह उच्चवर्ग के समाज पर, राजाओ और पण्डितो पर, स्थायी प्रभाव डाल गया। शङ्कर के बाद का संस्कृत साहित्य उनके दार्शनिक चिन्तन से प्रभावित है। श्रीहर्ष पर यह प्रभाव पूरी तरह देखा जा सकता है। वैसे विद्वानों पर बाद में जाकर न्याय-वैशेषिक का प्रभाव पडा, पर वह नही के बराबर है। न्याय की वाद शैली का प्रभाव विशेषत. शास्त्रीय ग्रन्थों पर पडा और साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ भी इस लपेट से न बच सके, पर वह यहाँ अप्रस्तुत विषय है।

विश्व के रहस्यात्मक कार्यकारणवाद से सम्बद्ध क्षेत्र के अतिरिक्त भारतीय दार्शनिक ने राजनीतिक चिन्तन को भी जन्म दिया है और भारत का महान्

---

१. सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम्।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥ (माघ. २. २८.)

राजनीतिज्ञ चाणक्य था। यह दूसरी बात है कि आज का गणतन्त्रवादी चिन्तक चाणक्य के राजनीतिक विचारों से सहमत न हों, पर चाणक्य का महत्त्व उस युग की सामाजिक दशा को देखते हुए कम नहीं है। चाणक्य का राजनीति-चिन्तन ही आगे जाकर शुक्रनीति या कामन्दकीय नीतिसार जैसे राजनीति-ग्रन्थों का आदर्श और भारतीय साम्राज्यवाद की आधारशिला बना। संस्कृत साहित्य के कवियों पर इस तत्वज्ञान और राजनीतिक चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

(४) कलात्मक मान्यता—कलात्मक सृष्टि में कवि या कलाकार दो वस्तुओं को काम में लेते हैं, एक कवि या कलाकार की मनोरागात्मक सामग्री, दूसरा वह ढांचा या 'सांचा' जिसमें गढ़ कर वह अपने दिल के मसाले को भावुक सहृदय के समक्ष रखता है। प्रथम वस्तु कलासृष्टि का उपादान कारण है, दूसरी निमित्त कारण। उपादान कारण के बिना कलासृष्टि का उद्भव ही नहीं हो सकता, किन्तु जैसा सोना होगा, वैसा ही भूषण बन सकेगा, चाहे सांचा कैसा ही हो। भावात्मक उपादान की शुद्धता अशुद्धता भूषण के खरे-खोटेपन को स्पष्ट कर देगी। गहने रोल्डगोल्ड के भी बनते हैं और सांचे की कलात्मकता, नक्काशी की सुन्दरता और पालिश की तड़क-भड़क से बाजी भी मार ले जाते हैं। पर पारखी के हाथ में आने पर वे उसे धोखा नहीं दे सकते। यही कारण है, कुशल कलाकार सोने की शुद्धता के साथ बाहरी ढांचे की मनोहरता भी रखता है, पर नक्काशी की ओर इतना अधिक मोह इसलिए नहीं करता कि अधिक टांका लगाने से कहीं सोने की स्वाभाविकता कलुषित न हो जाय। वह नक्काशी करता है, पर जरूरत के मुताबिक। कवि का सच्चा व्यक्तित्व, सच्ची सफलता व्यङ्ग्य (भाव) तथा अभिव्यञ्जना (कल्पना) के सन्तुलन ही में है। कालिदास की कलात्मक मान्यता यही है। उसे अभिव्यङ्ग्य का खरापन पसन्द है, पर इसका मतलब यह नहीं कि वह अभिव्यञ्जना की अवहेलना करता है। वह अपनी कविता-शकुन्तला के वल्कल को भी इस सलीके से सजाता है कि वह बनारसी साड़ी को भी मात कर दे। कालिदास में रस और अलङ्कार का अपूर्व मणिकाञ्चनसंयोग मिलता है, जो अन्य कवियों में इसी मात्रा में अनुपलब्ध नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है।

कालिदास के समय का कलाशास्त्रीय मत किसी आचार्य में नही मिलता, पर भामह (छठी सदी ई०) का कलाशास्त्रीय मत कालिदास से कुछ प्रभावित जान पड़ता है। भामह काव्य की कृत्रिम शैली को पसन्द नही करता, वह प्रसाद गुण वाली शैली को ओजोमिश्रित शैली से अधिक मान्यता देता है। किन्तु यह भी निश्चित है कि भामह के पूर्व ही कृत्रिम काव्यशैली चल पड़ी थी। भामह ने इन विभिन्न शैलियो का उल्लेख कर उस शैली को काव्य का वास्तविक गुण बताया है, जिसमे समासान्त पदावली न हो, जिसे स्त्री बाल भी समझ सके और जो माधुर्य गुण से समवेत हो—

माधुर्यमभिवाञ्छन्त. प्रसाद च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयासि न पदानि प्रयुञ्जते ॥
केचिदोजोऽभिधित्सन्त. समस्यन्ति बहून्यपि।
श्रव्य नातिसमस्तार्थं काव्य मधुरमिष्यते ॥
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ॥

(भामह काव्यलङ्कार २. १-३)

भामह ने साफ कहा है, श्रव्यकाव्य मधुर, प्रसादयुक्त तथा 'नातिसमस्तार्थ' हो। भामह के द्वारा निर्दिष्ट ऋजु पद्धति पर चलना आगे के कवियो को पसन्द न आया, उन्हे तो माघ के 'वल्गाविभागकुशल' अश्वारोही की तरह काव्य-तुरङ्ग को अनेको वीथियो मे चलाने की सक्षम चतुरता[१] का परिचय देना था। पर भामह ने स्वभावोक्ति की अपेक्षा वक्रोक्ति पर अवश्य जोर दिया था और उसे समस्त अलङ्कारो का मूल माना था।[२] भामह का विशेष जोर शब्दालङ्कार पर न होते हुए भी अर्थालङ्कार पर था, इसे भूलना न होगा। कालिदास के बाद वक्रोक्ति काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य बन बैठी, अभिव्यञ्जनापक्ष की महत्ता अधिक बढी, कहने के ढङ्ग पर जोर दिया जाने लगा और भर्तृमेण्ठ (हयग्रीववध के कवि) के महावत ने वक्रोक्ति के अङ्कुश से कई कवि करियो के

१ निजं मुरो नवसु वीथिषु कश्चिदश्वं वल्गाविभागकुशलो गमयाम्बभूव ॥ (माघ. ५. ६०)

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ (भामह २.३६)

मस्तक को हिलवा दिया।[१] आगे जाकर तो यह वक्रोक्ति कलात्मक कसौटी बन गई और कुन्तक ने अभिव्यङ्ग्य तक को वक्रोक्ति का एक भेद सिद्ध किया।

कलाशास्त्रियों ने दृश्य काव्य में अभिव्यङ्ग को स्थान दिया, किन्तु श्रव्य-काव्य में अभिव्यञ्जनापक्ष पर ही अधिक जोर दिया जाने लगा, अभिव्यङ्ग्य की महत्ता वहाँ गौण रही। ध्वनिवादियों ने ही सर्वप्रथम अभिव्यङ्ग्य तथा अभिव्यञ्जना का सन्तुलन किया। उन्होंने अभिव्यङ्ग्य की सच्चाई और ईमानदारी को ही काव्य का सच्चा लावण्य घोषित किया और अलङ्कार तथा वस्तु के अभिव्यञ्जना पक्ष की सुन्दरता को रस-लावण्य का ही उपस्कार का माना। ध्वनिकार के इस कलाशास्त्रीय सिद्धान्त को आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने ठोस चिन्तन की आधार शिला दी। कवियों पर ध्वनिसम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रभाव जरूर पड़ा, किन्तु कवियों को पाण्डित्यप्रदर्शन ने इतना दबोच लिया था, कि उसको हटाना मुश्किल था। श्रीहर्ष स्वयं ध्वनिवादी सिद्धान्तों से प्रभावित जान पड़ते हैं, पर उनकी विदग्ध कविता-कामिनी ने अपनी उक्तियों के द्वारा अभिनवगुप्त के वास्तविक लावण्य 'रस' की व्यञ्जना कम कराकर अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि की ही व्यञ्जना अधिक कराई है (विजृम्भितं तस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः)। ध्वनिवाद का वह मार्ग जिसमें भावना (रसध्वनि) तथा कल्पना (वस्त्वलङ्कारध्वनि), अभिव्यङ्ग्य और अभिव्यञ्जना का सन्तुलन था, आदर्श ही बना रहा, कवि उसे यथार्थ जीवन का मार्ग न बना पाये। पर इतना होते हुए भी आगे आने वाली पीढ़ी का सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण वही माना गया और हमने भी कवियों के इस परिशीलन में उस मार्ग की उपयोगिता स्वीकार की है।

संस्कृत के काव्यास्वाद पर दो बातें

संस्कृत काव्यों के अध्ययन में कई कठिनाइयाँ ऐसी हैं, जिनका सामना किये बिना संस्कृत काव्यों का वास्तविक आस्वाद नहीं हो सकेगा। अश्वघोष, भास, कालिदास या शूद्रक के अतिरिक्त अन्य कवियों को समझने के लिए संस्कृत भाषा का प्रौढ़ ज्ञान अपेक्षित है। केवल भाषा ही नहीं, पौराणिक

१. वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः॥

कथाएँ, संस्कृत काव्यो मे प्रयुक्त छन्द और अलङ्कार और कभी कभी भारतीय दार्शनिक चिन्तन के आवश्यक ज्ञान के बिना भी आगे बढना कठिन होगा। वेवर को बाण की शैली में एक ऐसा सुन्दर जङ्गल दिखाई पडा था, जहाँ बीच-बीच मे नये शब्दो और समस्त पदो के भीषण हिंसक जन्तु आकर अनधिकारी को 'नो एडमिशन, विदाउट परमिशन' (बिना इजाजत के अन्दर न जाओ) की तर्जना देकर दरवाजे से ही बाहर खदेड़ देते हैं। कभी-कभी तो अभ्यस्त तथा व्युत्पन्न सहृदय को भी टीकाकारो की शरण लिये बिना काम नही चलता। संस्कृत की परिवर्ती कविता उस समय के परिशीलन की चीज नही है, जब दिल भरा हो और दिमाग खाली हो, दिमाग का भरा होना इसके लिए जरूरी हो जाता है। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखी कवि संस्कृत भाषा के पल्लवग्राहियो के लिए रसास्वाद की वस्तु नही रह सके। पर इतना होते हुए भी इस काल के साहित्य मे अपनी कुछ विशेषताएँ अवश्य हैं। अभ्यस्त रसिक को चाहे इनमे भाव की अतीव उदात्त भूमि का दर्शन न हो, सङ्गीत की अपूर्व तान सुनाई पडती है। संस्कृत काव्य का सङ्गीत, यदि उसका पाठ ठीक ढङ्ग से किया जाय तो असंस्कृतज्ञ को भी मनोमुग्ध बनाने मे समर्थ है। संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, हरिणी, शिखरिणी, प्रहर्षिणी, रुचिरा, वियोगिनी जैसे अनेको छन्दो मे स्वन गति की ललितता और सङ्गीत की मधुरता है। माघ, भवभूति, श्रीहर्ष तथा जयदेव के परिशीलन में मैंने इस बिन्दु पर सङ्केत किया है। संस्कृत साहित्य के प्रति मेरे आकर्षण का प्रमुख कारण काव्यो का सङ्गीत ही था। मैंने संस्कृत पद्यो को सङ्गीतात्मक शैली में पढना, अपने कनिष्ठ पितृव्य से सीखा था। मैंने उन्हे प्रत्येक सायकाल कालिदास, माघ, भवभूति और श्रीहर्ष के पद्य पढते सुना है और उस पद्धति से स्वयं भी इन कवियो के सङ्गीत को पकडने का प्रयत्न किया है। पर संस्कृत कवियो का सङ्गीत विशाल है, प्रत्येक कवि का सङ्गीत अपने व्यक्तित्व को लिये है। कालिदास का सङ्गीत मधुर और कोमल है, माघ का गभीर और घोर, भवभूति का कहीं करुण तो कहीं प्रबल और उदात्त, एवं श्रीहर्ष और जयदेव का सङ्गीत एक ओर कुशल गायक के अनवरत अभ्यास (रियाज) का सङ्केत करता है, दूसरी ओर विलासिता मे अधिक सराबोर है। काश, संस्कृत के कवियो के सङ्गीत का मूल्याङ्कन करने का कोई कलाकार साहस कर पाता।

संस्कृत साहित्य के काव्यास्वाद के विषय में दूसरी बात असंस्कृतज्ञ रसिकों के लिए भावानुवाद सम्बन्धी है। वैसे तो किसी भी भाषा के काव्य का अनुवाद अन्य भाषा में ठीक वही भाव और अभिव्यञ्जना लेकर नहीं आ सकता, पर संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में यह बात अधिक लागू होती है। संस्कृत के काव्यों का अनुवाद अन्य भाषाओं में तो करना दूर रहा, हिन्दी में भी करना टेढ़ी खीर है, इसका अनुभव हो सकता है। संस्कृत कविता के भावों को भावानुवाद वाली शैली का आश्रय लेकर स्पष्ट किया जा सकता है किन्तु कविता के लय और संगीतात्मक प्रवाह, पदलालित्य और शब्दसञ्चयन का अनुवाद नहीं किया जा सकता, जो काव्य की प्रभावोत्पादकता में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, और संस्कृत की श्लिष्ट शैली के अनुवाद में भी वास्तविक प्रकृति या तो काव्यानुशीलकों के सामने रखी नहीं जा सकती और यदि रखने का प्रयत्न किया जायगा, तो अनुवाद की भाषा लड़खड़ाने लगेगी। मेरे सामने स्वयं संस्कृत कविता के अनुवाद के समय ये समस्यायें आई हैं।

इन बातों को ध्यान में रखने पर यह संकेत देना आवश्यक होगा कि संस्कृत काव्यों की सच्ची रमणीयता उन्हें मूलरूप में पढ़ने पर ही जानी जा सकेगी, अनुवादादि के द्वारा नहीं क्योंकि डॉ० कीथ के शब्दों में, 'भारत के महान् कवियों ने व्युत्पन्न रसिकों के लिए काव्य निबद्ध किये हैं। वे अपने समय में पाण्डित्य के अधिपति थे, भाषा के प्रयोग में अभ्यस्त थे और (अभिव्यञ्जना की) सूक्ष्मता के द्वारा, प्रभाव की सरलता के द्वारा नहीं; श्रोताओं को अनुरञ्जित करना चाहते थे। उनके पास अत्यधिक रमणीय भाषा-शैली और विविध प्रभावोत्पादक छन्दों पर उनका पूर्ण अधिकार था।'

●

महाकवि अश्वघोष

भगवान सुगत के जनकल्याणकारी विश्वधर्म का प्रचार राजा तथा प्रजा दोनों में हो चुका था। देवानां प्रिय प्रियदर्शी अशोक के द्वारा एक ओर इस धर्म का भारत से बाहर बृहत्तर भारत तथा एशिया में प्रसार किया गया, दूसरी ओर बौद्धधर्म के आधारभूत तथागत के वाक्यों का संरक्षण करने के लिए उसने बौद्ध भिक्षुओं की परिषत् बुलाई, जो इतिहास में तृतीय संगीति के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद हुई दो संगीतियों[1] के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों का पुनः संशोधन व संरक्षण करने की चेष्टा की गई। भगवान् बुद्ध के वचनों तथा उनके जीवन, उपदेश और दर्शन से सम्बद्ध देश-भाषा (मागधी प्राकृत)[2] के बौद्ध साहित्य का संकलन कर उन्हें विनय पिटक, सुत्त-पिटक तथा अभिधम्म-पिटक में संगृहीत किया गया, जो त्रिपिटक के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धधर्म के प्रबल प्रचार में एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व काम करता है, जो किसी भी नये धर्म के अनुयायियों में पाया जाता है। जहाँ तक बौद्ध धर्मानुयायियों के धार्मिक उत्साह का प्रश्न है, इस दृष्टि से बौद्धों के धार्मिक उत्साह की सी मनोवैज्ञानिक प्रकृति हम ईसाई धर्म के अनुयायियों में देखते हैं। जो कार्य ईसाई सन्तों ने भगवान् ईसा के दया, त्याग तथा विश्वप्रेम के सन्देश को जनता तक फैलाने में किया, ठीक वही कार्य उनसे कई शतियों पहले से भगवान् सुगत के त्यागी शिष्य भारत व पूर्व में कर रहे थे। जनता में प्रसार होने पर भी ईसाई तथा बौद्ध धर्म दोनों ही तेजी से तभी बढ़ सके, जब कि उन्हें राजाश्रय प्राप्त हुआ। बौद्धधर्म के प्रसार की गति तीव्रतर तभी हो सकी, जब अशोक ने भगवान् सुगत के पदचिह्नों पर चलना अपना लक्ष्य

---

१. प्रथम संगीति भगवान के निर्वाण के कुछ ही दिनों बाद राजगृह (राजगह) में हुई थी, दूसरी बुद्धनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष पश्चात् वैशाली (वेसाली) में।

२. अशोक के समय तक पालि जैसी कोई भाषा न थी। पालि बाद में बौद्ध साहित्य के टीका ग्रन्थों—अट्ठकथादि—में पल्लवित हुई है, तथा यह मागधी प्राकृत को आधार नहीं बनाती, अपितु शौरसेनी प्राकृत के पुराने रूप के आधार पर बनी थी। पालि का उदय ईसा की दूसरी शती माना जाता है।

बनाया। ठीक इसी तरह ईसाई धर्म के प्रचार में रोमन बादशाह कॉन्स्टेन्टाइन का ईसाई धर्म का अङ्गीकार कर लेना महत्त्वपूर्ण कारण है। ईसाई धर्म की तरह बौद्धधर्म की उन्नति का दूसरा कारण दीनों के प्रति की गई करुणा तथा भ्रातृ-भाव था। बौद्धधर्म ने ब्राह्मण या वैदिक धर्म के आभिजात्य का पर्दाफाश कर, जाति-प्रथा, झूठे धार्मिक पाखण्ड आदि का आलबाल नष्ट कर, सब जातियों को अपनी छाती से लगाना तथा परमसुख व शान्ति देना स्वीकार किया। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म के उत्थान में उस काल की सामाजिक स्थिति भी बहुत कुछ सहायक हुई थी। पर वैदिक धर्म की विरोधिता करने पर भी बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म तथा पौराणिक ब्राह्मण प्रवृत्ति की जड़ें न हिला सका, इसके कई कारण हैं, जिनमें कुछ सामाजिक स्थितियाँ, कुछ पौराणिक धर्म के गुण तथा कुछ बौद्ध धर्म की निजी कमियाँ मानी जा सकती है।

प्रियदर्शी अशोक के बाद बौद्ध धर्म को जो प्रबल राजाश्रय मिला, वह कुशनवंश के प्रसिद्ध राजा कनिष्क का व्यक्तित्व था। कनिष्क ने अशोक के अधूरे काम को पूरा किया, उसने बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं को मध्यएशिया, चीनी तुर्किस्तान, कोरिया तथा चीन भेजा। यही नहीं चीन के साथ स्थापित मैत्री तथा वैवाहिक सम्बन्ध ने भी कनिष्क के इस कार्य में बहुत बड़ी सहायता की। जहाँ अशोक भारत के दक्षिण लङ्का तथा सुन्दर पूर्व ब्रह्मदेश, चम्पा, श्याम, यवद्वीप, सुवर्णद्वीप में बौद्धधर्म का प्रचार करने में अधिक सफल हुआ, वहाँ कनिष्क ने तथागत के जनधर्म को मध्य एशिया में फैलाया तथा चीन में उसके संवर्द्धन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसने बौद्ध भिक्षुओं, पण्डितों व दार्शनिकों की सभा बुलाकर बौद्ध धर्म के धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा को प्रश्रय दिया और अश्वघोष जैसे महान् कवि, दार्शनिक तथा पण्डित के निरीक्षण में भगवान् बुद्ध के वचनों को ठोस दार्शनिक भित्ति देने में सहायता की। अशोक तथा कनिष्क के समय के बीच निश्चय ही ब्राह्मण धर्म बौद्धधर्म को पददलित करने के लिए अनेक प्रयत्न कर चुका होगा। किन्तु बौद्ध भिक्षुओं के पवित्र, त्यागपूर्ण तथा निश्छल चरित्र, बौद्धधर्म का भ्रातृभाव, विश्वप्रेम, करुणा का सिद्धान्त तथा बौद्धभिक्षुओं एवं अनुयायियों का अपने धर्म के प्रचारार्थ किया गया अदम्य उत्साह, बौद्ध धर्म की उन्नति उस समय तक करता ही रहा, जब तक बौद्ध भिक्षुओं का यह उत्साह

समाप्त न हो सका तथा उनका चारित्रिक अधःपतन उनके नैतिक स्तर को न गिरा सका। फलतः इस काल मे एक ओर बौद्ध धर्मानुयायी तथा दूसरी ओर ब्राह्मण पौराणिक धर्म के मानने वाले लोग भी इन दोनों के बीच की गहरी खाई पाटने की चेष्टा मे रहे होंगे। पुराणों मे भगवान् सुगत को विष्णु के २४ अवतारों की तालिका में एक स्थान देना इस प्रवृत्ति का एक पहलू है तथा महायान सम्प्रदाय मे संस्कृत भाषा की प्रतिष्ठापना और ब्राह्मण धर्म की भांति भगवान् बुद्ध की भक्तिमय (साकारोपासनात्मक ?) अर्चना इसी प्रवृत्ति का दूसरा पहलू। महाराज कनिष्क के समय मे हमें इस प्रवृत्ति के बीज फूटते दिखाई देते हैं और इस प्रवृत्ति के अङ्कुरो मे अश्वघोष का दार्शनिक तथा कवि एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है।

अश्वघोष का काल व जीवनवृत्त

संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम कवियों में अश्वघोष उन इने-गिने व्यक्तियों मे से हैं, जिनके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में अधिक मतभेद नहीं। बौद्ध ग्रन्थों ने अश्वघोष के विषय में आवश्यक जानकारी को सुरक्षित रखा है और यही नहीं, अश्वघोष के ग्रन्थों को भी मूल तथा अनुवादरूप में सुरक्षित रखा है। यह दूसरी बात है, कि बौद्ध किंवदन्तियों के कारण कई ग्रन्थ, जो अश्वघोष की रचनाएँ नहीं, अश्वघोष के नाम पर प्रसिद्ध कर दिये गये हों तथा कुछ दूसरे समसामयिक बौद्ध व्यक्तियों को अश्वघोष के साथ घुला-मिला दिया गया हो। पर इतना होने पर भी यह तो निश्चित-सा है कि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। चीन में सुरक्षित परम्परा के अनुसार अश्वघोष महाराज कनिष्क के गुरु थे। कुछ लोगों के मतानुसार अश्वघोष ही महायान सम्प्रदाय तथा माध्यमिक शून्यवाद के मूल प्रवर्तक थे। पर इस विषय में विद्वानों के दो मत हैं। माध्यमिक शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन थे। यह महायान शाखा का दर्शन है। इसलिए कुछ लोगों ने अश्वघोष को महायान सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक मानकर उन्हें माध्यमिक शून्यवाद से भी सम्बद्ध कर दिया है। कुछ विद्वान् अश्वघोष को महायान सम्प्रदाय का अनुयायी मानने को भी तैयार नहीं तथा इनके मतानुसार महायान सम्प्रदाय का उदय अश्वघोष के समय तक न हुआ था तथा अश्वघोष के लगभग १०० वर्ष बाद का है। इस मत के मानने वाले

विद्वान् प्रसिद्ध बौद्धदार्शनिक ग्रन्थ 'महायान-श्रद्धोत्पाद-संग्रह'[१] को अश्वघोष की कृति मानने के लिए तैयार नहीं। इस मत के प्रबल पोषकों में अध्यापक विंटरनित्स तथा तकाकुसु हैं। जब कि इस ग्रन्थ के चीनी अनुवाद के आधार पर आंग्ल अनुवाद के उपस्थापक प्रो० ती० सुजुकी के मतानुसार इस ग्रन्थ के रचयिता अश्वघोष ही थे। इस प्रकार अश्वघोष का महायान सम्प्रदाय के विकास में एक महत्त्वपूर्ण योग रहा है, यह अनुमान अनुचित न होगा तथा इसकी पुष्टि अश्वघोष के काव्यों से भी हो जाती है।

अश्वघोष सुवर्णाक्षी के पुत्र थे तथा इनका जन्मस्थान साकेत (अयोध्या) था। ये आर्य, भदन्त, महापण्डित, महावादिन् तथा महाराज आदि विरुदों से अलकृत थे। सौन्दरानन्द महाकाव्य की पुष्पिका तथा बुद्धचरित के अनुपलब्ध मूल के तिब्बती अनुवाद के आधार पर डॉ० जॉन्स्टन कृत आंग्ल अनुवाद की पुष्पिका से यह स्पष्ट है कि वे साकेतक थे तथा उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था।[२]

अश्वघोष निश्चितरूप से नागार्जुन से प्राचीन हैं तथा नागार्जुन का उल्लेख हमें जगय्यपेटस्तूप के लेख में मिलता है, जो उसके प्रशिष्य के द्वारा उत्कीर्ण कराया गया है। इस स्तूप के लेख की तिथि ईसा की तीसरी शती मानी है तथा इसके आधार पर नागार्जुन की तिथि ईसा की दूसरी शती सिद्ध होती है। अश्वघोष नागार्जुन से लगभग दो पीढ़ी पुराने होंगे तथा इस तरह उनका समय कनिष्क के राज्यकाल के समीप ही आता है। इस आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष कनिष्क के समसामयिक थे तथा उनका काल ईसा की प्रथम शताब्दी है।

अश्वघोष के इस काल के विषय में अन्य अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। प्रथम, ईसा की पाँचवी शती में बुद्धचरित का चीनी अनुवाद हो चुका था, अत इससे पूर्व अश्वघोष का काव्य

१ यह मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसका परमार्थकृत चीनी अनुवाद उपलब्ध है, जिसके आधार पर इसके दो आंग्ल अनुवाद हुए हैं। एक जापानी विद्वान् ती० सुजुकी ने किया है, दूसरा रिचर्ड्ज ने।

२. 'आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य-भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्वादिनः कृतिरियम्'। (सौन्दरानन्द, बिब्लोथिका इंडिका संस्करण १९३९। पृ० १२६)

अत्यधिक लब्धप्रतिष्ठ हो चुका था। दूसरे, बुद्धचरित महाकाव्य का अन्तिम १८वाँ सर्ग अशोक की संगीति का वर्णन करता है। फलतः अश्वघोष अशोक के पश्चाद्भावी थे। तीसरे, अश्वघोष तथा कालिदास की शैलियों की तुलना से पता चलता है कि अश्वघोष की कला कालिदास की कला की भूमि तैयार करती है। सम्भवतः कुछ लोग अश्वघोष को कालिदास का ऋणी मानना चाहे, किन्तु अश्वघोष में उपलब्ध आर्ष प्रयोग, (जो कालिदास में बहुत कम हैं, यों कहिए हैं ही नहीं) तथा अश्वघोष की कला के खुरदरे सौन्दर्य (रफ ब्यूटी) की अपेक्षा कालिदास का अत्यधिक स्निग्ध सौन्दर्य (पोलिश्ड ब्यूटी), अश्वघोष की प्राग्भाविता को पुष्ट करते हैं। चौथे, बौद्धपरम्परा के अनुसार महाकवि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। पाँचवें, अश्वघोषकृत शारिपुत्र-प्रकरण के आधार पर प्रो० ल्यूडर्स ने यह कल्पना की है कि उसकी रचना कनिष्क या हुविष्क के समय हुई थी। छठे, मातृचेट की 'शतपञ्चाशिका' की शैली अश्वघोष की शैली से स्पष्टतः प्रभावित जान पड़ती है। डॉ० जौन्स्टन के मतानुसार मातृचेट कनिष्क का समकालीन था। सम्भवतः अश्वघोष तथा मातृचेट या तो समसामयिक थे, या इनमे एक-आध पीढ़ी का ही अन्तर था।

रचनाएँ

महान् व्यक्तित्वों की पूजा या उनके प्रति आदरभाव प्रत्येक देश की विशेषता रही है। भारत इसके लिए अत्यधिक प्रसिद्ध है और कभी-कभी यह प्रवृत्ति इतनी अत्युक्तिपूर्ण हो जाती है, पुराने ऐतिहासिक व्यक्तित्वों के साथ इतनी किंवदन्तियाँ जोड दी जाती हैं, कि सत्यता का सूर्य इस हिरण्मय पात्र से ढँक जाता है, बाहर की चमाचम भर रहती है, जो दर्शक को केवल अभिभूत कर रह जाती है। कालिदास के ऊपर इसी प्रवृत्ति की इतनी विशिष्ट कृपा हुई, कि विश्व की प्रथम श्रेणी के इस महाकवि की तिथि व जीवनवृत्त पता नहीं कितनी तामसी परतों के नीचे दब गया और वह केवल अनुमान तथा कल्पना का ही विषय रह गया। हर्ष का विषय है, अश्वघोष पर यह कृपा उस हद तक न हुई, पर वे भी इससे बच न पाये। अश्वघोष जैसे महान् दार्शनिक के नाम से कई बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ प्रसिद्ध हो गये, ठीक वैसे ही जैसे कालिदास के नाम से दो कौडी के चमत्कारी चित्रकाव्यों, ज्योतिःशास्त्र के प्रबन्ध आदि को घोषित किया जाने लगा। अश्वघोष की कृतियों का उल्लेख

प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिङ्ग (७ वीं शती) ने किया है, तथा वह परम्परा आज भी चीन में सुरक्षित है। अश्वघोष के नाम से शुद्ध बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में 'महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह,' 'वज्रसूची', 'गण्डीस्तोत्र-गाथा,' तथा 'सूत्रालङ्कार' प्रसिद्ध हैं। पर ये चारों ग्रन्थ विवाद के विषय बने हुए हैं। 'महायान-श्रद्धोत्पादसंग्रह' स्वयं उपलब्ध नहीं है। इसका चीनी अनुवाद तथा उसके आधार पर रचित दो आंग्ल अनुवाद प्राप्य हैं। हम संकेत कर चुके हैं कि एक दल इसे अश्वघोष की कृति मानने से सहमत नहीं, दूसरा दल, जिसके मुख्य प्रतिनिधि प्रो० सुजुकी हैं, इसे निश्चित रूप से अश्वघोष की कृति मानता है। यह शुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। इसके लिखने का कारण तत्काल में प्रचलित बौद्ध भिक्षुओं की दार्शनिक भ्रान्तियों का निराकरण करना है। हीनयानियों की त्रुटियों को देखकर अश्वघोष ने परमार्थ सत्य (तथता) को स्पष्ट करने के लिए इस दार्शनिक ग्रन्थ की रचना संस्कृत में की थी। इसी में सर्वप्रथम शून्यवादी विचारधारा का संकेत मिलता है, जो नागार्जुन की शून्यविवर्तवादी माध्यमिक शाखा का मूलाधार है। दूसरा ग्रन्थ है 'वज्रसूची' (हीरे की सुई), इस ग्रन्थ में ब्राह्मणधर्म के द्वारा मान्य वर्णव्यवस्था तथा जातिभेद की छीछालेदर की गई है। चीनी परम्परा ने इसे अश्वघोष की कृति नहीं माना है, पर किंवदंतियाँ इसे भी अश्वघोष से सम्बद्ध कर देती हैं। वज्रसूची का चीनी अनुवाद जो दसवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ था, इसे धर्मकीर्ति[1] की रचना मानता है, जो ठीक जान पड़ता है। 'गण्डी स्तोत्र-गाथा' २९ छन्दों की छोटी रचना है जिसमें अधिकतर स्रग्धरा छन्द हैं। बहुमत इसे अश्वघोष की रचना नहीं मानता। 'सूत्रालङ्कार' के विषय में भी ऐसा ही मतभेद है। इसका चीनी अनुवाद जो ४०५ ई० में कुमारजीव ने किया था, इसे अश्वघोष की कृति घोषित करता है। प्रो० ल्यूडर्स इस मत के विरोधी हैं तथा इसी ग्रन्थ के मध्य एशिया में प्राप्त हस्त-

---

१. धर्मकीर्ति (छठी शती) प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक तथा दार्शनिक थे। ये विज्ञानवादी थे, तथा इन्होंने न्यायबिन्दु, प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति तथा वादन्याय की रचना की थी। अन्तिम तीन ग्रन्थ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत से खोज निकाल कर प्रकाशित किये हैं। धर्मकीर्ति ब्राह्मणधर्म व्यवस्था के प्रबल विरोधी थे। इस सम्बन्ध में उनका यह पद्य प्रसिद्ध है :—

> वेदप्रमाण्य कस्यचित् कर्तृवादः स्नानेधर्मेच्छा जातिवादावलेपः ।
> सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानांपञ्च लिङ्गानि जाड्ये ॥

लेखों के आधार पर वे इसे अन्य बौद्ध विद्वान् कुमारलात की रचना मानते हैं।

महाकवि अश्वघोष की साहित्यिक रचनाओं की प्रामाणिकता के विषय में यह खींचातानी नहीं है। यह निश्चित है, कि बुद्ध चरित, सौन्दरानन्द तथा शारिपुत्रप्रकरण (शारद्वतीपुत्रप्रकरण) तीनों सुवर्णाक्षी के पुत्र साकेतक महावादी आर्य भदन्त अश्वघोष की कृतियाँ हैं। इनमे प्रथम दो महाकाव्य हैं; तीसरी कृति प्रकरण कोटि का रूपक। शारिपुत्रप्रकरण की खण्डित प्रति की खोज प्रो० ल्यूडर्स ने मध्यएशिया–तुर्फान में की थी। इसी रूपक के साथ दो अन्य खण्डित नाटकों की उपलब्धि भी उन्हीं तालपत्रों में हुई है; जिनमें एक 'प्रबोधचन्द्रोदय' जैसा 'अन्यापदेशी' (एलेगोरिक) नाटक है, जहाँ कीर्ति, धृति आदि भाव मूर्तरूप में आते हैं, दूसरा एक प्रकरण-सा नाटक है, जिसमें लफङ्गे, विट, विदूषक आदि का जमघट है। शारद्वतीपुत्रप्रकरण तथा इस नाटक को डॉ० कीथ ने 'गणिका-रूपक' (हेटेरा ड्रामा) कहा है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये दोनों भी अश्वघोष के ही किन्हीं नाटकों के अंश हैं।

१. बुद्धचरित

यह २८ सर्ग का महाकाव्य है, जिसमे भगवान् बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धान्तों का काव्य के बहाने वर्णन है। धर्मक्षेत्र नामक भारतीय विद्वान् (४१४–२१ ई०) के द्वारा किये गये इस काव्य के चीनी अनुवाद में तथा सातवीं आठवीं शती मे किये गये तिब्बती अनुवाद में इसके २८ सर्ग है। चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने भी काव्य को बृहदाकार बताया है। पर संस्कृत काव्य में केवल १७ सर्ग है, जिनमें अन्तिम चार सर्ग १९वीं शती के प्रारम्भ में अमृतानन्द द्वारा जोड़े गये हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त ग्रन्थ चौदहवें सर्ग के मध्य तक ही रह जाता है। प्रथम सर्ग भी पूरा नहीं मिलता। काव्य के प्रथम पाँच सर्गों में जन्म से लेकर अभिनिष्क्रमण तक की कथा है। इसमें अन्तःपुरविहार (२ सर्ग), संवेगोत्पत्ति (३ सर्ग), स्त्रीनिवारण (४ सर्ग) तथा अभिनिष्क्रमण वाला पञ्चम सर्ग काव्य-कला की दृष्टि से अत्यधिक सुन्दर हैं। छठे तथा सातवें सर्ग में कुमार का तपोवनप्रवेश है, अष्टम में अन्तःपुर का विलाप, नवम में कुमार के अन्वेषण का प्रयत्न, दशम सर्ग में गौतम का मगध, जाना, एकादश में कामनिन्दा, द्वादश में महर्षि अराड के पास शान्ति-प्राप्ति के

लिए जाना, त्रयोदश में मार-पराजय तथा चतुर्दश सर्ग के प्राप्त अंश में बुद्धत्व-प्राप्ति है। इसके बाद का अंश, जो डॉ० जोन्स्टन के आंग्ल अनुवाद से प्राप्त होता है, बुद्ध के शिष्यों, उपदेशों, सिद्धान्तों तथा निर्वाण का वर्णन और अशोक के काल तक सङ्घ की स्थिति का चित्र है।

काव्य की दृष्टि से बुद्धचरित में प्रथम पाँच सर्ग, अष्टम सर्ग तथा त्रयोदश सर्ग के मारविजय का कुछ अंश सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण है। बाकी सारा बुद्धचरित धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थ-सा हो गया है और 'धार्मिक-नीतिवादी' (रिलिजिओ-पेडेगोगिक) अधिक बन गया है। यही कारण है, समग्र रूप में सौन्दरानन्द बुद्धचरित की अपेक्षा अधिक ललित तथा काव्यमय है, यद्यपि वह भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं है। किन्तु, बुद्धचरित में जो काव्य-कौशल मिलता है, वह अश्वघोष के कवित्व का परिचायक निःसन्देह है। अश्वघोष अन्तस् से कवि थे, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

२. सौन्दरानन्द

यह १८ सर्गों का महाकाव्य है। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में प्राप्त दो हस्तलेखों के आधार पर म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका प्रकाशन बिब्लिओथेका इंडिका में कराया है। सौन्दरानन्द में गौतम बुद्ध के विमातृज भाई नन्द तथा उसकी पत्नी सुन्दरी की कथा है। नन्द तथा सुन्दरी एक दूसरे के प्रति उसी तरह आसक्त हैं, जैसे चक्रवाक तथा चक्रवाकी।[१] एक के बिना दूसरे को चैन नहीं। नन्द तथा सुन्दरी के इस प्रेम की आधार-भूमि को लेकर नन्द की प्रव्रज्या का वर्णन कवि का अभीष्ट है। प्रथम तीन सर्गों में शाक्यों की वंशपरम्परा, सिद्धार्थ जन्म, सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण तथा बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद कपिलवस्तु आने का बड़े सरल ढङ्गसे, किन्तु ललित और काव्यमय वर्णन है। बुद्धचरित के पूर्वार्ध की कथा ही यहाँ संक्षेप में कही गई है। चतुर्थ सर्ग में नन्द तथा सुन्दरी के विहार का वर्णन है। विहार करते समय ही कोई दासी नन्द को आकर यह सूचना देती है कि बुद्ध भिक्षा के लिए उसके द्वार पर आये थे, पर भिक्षा न मिलने से चले गये। नन्द दुखी होकर क्षमा माँगने बुद्ध के पास जाना चाहता है। जाने के लिए वह सुन्दरी से विदा लेता है और सुन्दरी

१. स चक्रवाक्येव हि चक्रवाकस्तया समेतः प्रियया प्रियार्हः॥ (सौन्दरा० ४.२)

उसे इस शर्त पर छोडती है कि उसके विशेषक (चन्दनपत्रावली) के सूखने के पहले ही वह लौट आये। पञ्चम सर्ग मे नन्द जाता है, मार्ग में बुद्ध को देखकर प्रणिपात करता है। बुद्ध उसके हाथमे भिक्षापात्र रख देते हैं। वे उसे ले जाकर धर्मदीक्षित कर भिक्षु बना देते हैं। अनिच्छुक नन्द के सिर के बाल घोट दिये जाते हैं और वह बेचारा टपाटप आँसू गिराता रहता है :—

> अथो नतं तस्य मुखं सबाष्पं प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु ।
> वक्राग्रनालं नलिनं तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवाबभासे ॥ (५.५२)

(बालों की विदाई पर उस नन्द का आँसुओं से भरा रुआँसा मुँह इस तरह सुशोभित हुआ, जैसे तालाब मे वर्षा के पानी से भीगा, टेढ़ी नाल वाला कोई कमल हो।) ।

षष्ठ सर्ग में सुन्दरी के विलाप का वर्णन है। सप्तम सर्ग में घर भागने की इच्छा वाले नन्द की चेष्टा, तथा अष्टम सर्ग मे किसी श्रमण के द्वारा नन्द को दी गई शिक्षा का वर्णन है, जो नवें सर्ग तक चलता है। दशम सर्ग मे इसका पता बुद्ध को लगता है तथा बुद्ध नन्द को बुलाकर उसे लेकर योग-विद्या से आकाश मे उड जाते है। वे हिमालय के ऊपर निर्मल आकाश मे, सरोवर में पंखो को फैलाकर तथा एक दूसरे से सटाकर विचरते हुए दो चक्रवाकों से दिखाई देते हैं।[१] बुद्ध हिमालय की तटी में एक पेड पर बैठी कानी बन्दरी को दिखाकर पूछते हैं, 'क्या सुन्दरी इससे अधिक सुन्दर है' नन्द 'हाँ' कहता है। तब वे उसे स्वर्ग की अप्सराएँ दिखाते है, जिन्हे देखकर नन्द सुन्दरी को भूल जाता है तथा उन्हे प्राप्त करने को लालायित हो जाता है। बुद्ध उसे बताते हैं कि उन्हे तपस्या करके प्राप्त किया जा सकता है। द्वादश सर्ग मे कोई भिक्षु उसे उपदेश देता है कि अप्सरा के लिए तपस्या करने से नन्द की खिल्ली उड रही है। नन्द मे ज्ञानोदय होता है। वह बुद्ध के पास जाता है। तेरहवें सर्ग से सोलहवें सर्ग तक बुद्ध का उपदेश तथा आर्य सत्य का वर्णन है। सप्तदश तथा अष्टादश सर्ग मे परम शान्ति के लिए नन्द की तपस्या, मारजय तथा

---

१. काषायवस्त्रौ कनकावदातौ विरेजतुस्तौ नभसि प्रसन्ने ।
अन्योन्यसंश्लिष्टविकीर्णपक्षौ सरः प्रकीर्णाविव चक्रवाकौ ॥ (सौन्दरा० १०.४)

विगतमोहस्थिति का वर्णन है।[१] अन्त में दो पद्यों में कवि ने काव्य के लिखने के कारण का संकेत किया है।

३. शारिपुत्रप्रकरण

शारिपुत्रप्रकरण की खण्डित प्रति (जो प्रो० ल्यूडर्स को तुर्फान में मिले तालपत्रों पर अङ्कित थी) से यह पता चलता है कि यह नौ अङ्कों का प्रकरण था। प्रकरण में मध्यवर्ग के जीवन के साथ लुच्चे, लफंगे, वेश्याएँ, चोर, जुआरी, शराबी आदि लोगों के समाज का चित्रण होता है, जिसका प्रौढ़रूप हमें शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' में उपलब्ध होता है। शारिपुत्रप्रकरण में मौद्गल्यायन तथा शारिपुत्र के बुद्ध के द्वारा शिष्य बनाये जाने की कथा है। इसमें विदूषक का प्रयोग है, जो दूसरे 'गणिका रूपक' में भी है। पर इस प्रकरण की कथा शृङ्गार से शान्त की ओर बहती बतायी गयी है। दूसरा गणिका-रूपक वेश्या, विदूषक, ब्राह्मण (या वैश्य ?) सोमदत्त नामक नायक, राजकुमार, दासी, दास, दुष्ट आदि से युक्त है। दोनों नाटकों में प्राकृत का प्रयोग है, जो डॉ० कीथ के मतानुसार साहित्यिक प्राकृत से पुरानी है।[२] शैली की दृष्टि से शारिपुत्र प्रकरण तथा अन्य रूपकों की शैली बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द की शैली से मिलती है, जो सभी के एक ही कवि के कर्तृत्व का संकेत करती है। उदाहरण के लिए निम्न स्थल ले सकते हैं।

'खे वर्षयम्बुधारं ज्वलति च युगपत् सन्ध्याम्बुद इव॥'
(दूसरा गणिकारूपक)

जिस तरह सांझ का बादल एक ओर पानी बरसाता है तथा दूसरी ओर सन्ध्याकालीन सूर्य की किरणों से प्रदीप्त होकर अग्नि की तरह प्रज्वलित दिखाई देता है, उसी तरह वह तेजस्वी तथा करुणार्द्र था। इसी तरह से सौन्दरानन्द के इस स्थल की शैली तथा उपमा के प्रयोग को मिलाइये।

---

१. इत्यर्हतः परमकारुणिकस्य शास्तुः मूर्ध्ना वचश्च चरणौ च समं गृहीत्वा।
स्वस्थः प्रशान्तहृदयो विनिवृत्तकार्यः पार्श्वान्मुनेः प्रतिययौ विमदः करीव॥
(सौन्दरा० १८.६१)

२. दे० डॉ० कीथ : संस्कृत ड्रामा० पृ० ८८
(१९५४ का लीथोग्राफिक संस्करण)

युगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजंश्च मेघवत् ।
तप्तकनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घनः ॥
(सौन्दरा० ३.२४)

सन्ध्या के द्वारा प्रदीप्त मेघ की भाँति एक साथ अग्नि की तरह जलते हुए (देदीप्यमान), तथा मेघ की तरह जल बरसाते हुए, तपे सोने के समान कान्ति से युक्त वे सिद्धार्थ साँझ के बादल से सुशोभित हो रहे थे ।

अश्वघोष का व्यक्तित्व—कवि या कलाकार अपनी कला की यवनिका के पीछे छिपकर अपने व्यक्तित्व की झलक बताता रहता है। विषयिप्रधान (Subjective) कृतियों में कलाकार का व्यक्तित्व साफ तौर पर सामने आता है, पर विषयप्रधान (Objective) कृतियों में भी कलाकार का व्यक्तित्व, उसकी रुचि, जीवन सम्बन्धी मान्यता आदि का पता लग सकता है। यह दूसरी बात है कि विषयप्रधान काव्यों के कथाप्रवाह के कारण कहीं उसका व्यक्तित्व गौण बना दिखाई देता है, कहीं लुप्त या तिरोहित हो जाता है, किन्तु समग्र कृति के मध्य में उसकी तरलता ढूँढी जा सकती है। बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द से अश्वघोष के व्यक्तित्व, उनकी कलात्मक रुचि तथा सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यता, पाण्डित्य, ब्राह्मणधर्म के प्रति आदरभाव तथा कुछ समन्वयवादिता की झलक, जीवन के विषय में दार्शनिक मान्यता आदि पर आवश्यक प्रकाश पड़ता है। इस व्यक्तित्व को हम इन भागों में विभक्त कर देते हैं :—१. धार्मिक उत्साह, २. पौराणिक ब्राह्मण धर्म के प्रति सहिष्णु प्रवृत्ति, ३. दार्शनिक मान्यता, ४. कलात्मक मान्यता ।

१. धार्मिक उत्साह

बौद्धधर्म की उन्नति के विषय में, हम 'धार्मिक उत्साह' का जिक्र कर चुके हैं। अश्वघोष की रचनाओं में यह धार्मिक उत्साह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भगवान् सुगत के उपदेश को अधिक पाठकों के पास पहुँचाना, विशेषतः उन लोगों के पास, जो देशी भाषा (प्राकृत) में लिखे बौद्ध उपदेशों को कुछ उपेक्षा से देखते थे, अश्वघोष का अभीष्ट है। पर इतना ही नहीं, जैसा कि हम आगे देखेंगे, वे काव्य के माध्यम से इस लक्ष्य की पूर्ति करना चाहते हैं। अश्वघोष के काव्य को देखने से पता चलता है कि अश्वघोष कोरे

पण्डित या दार्शनिक नहीं हैं तथा एक बात में वे अन्य बौद्ध भिक्षुओं से बढ़कर हैं, वह यह कि भगवान् बुद्ध के प्रति अश्वघोष के हृदय में भक्ति की अपूर्व तरलता विद्यमान है। अश्वघोष का धार्मिक उत्साह इस भक्ति के ताने-बाने में गुँथकर इतना भावात्मक हो गया है, कि उनकी रचना में स्वतः काव्यत्व संक्रान्त हो गया है। जहाँ तक धार्मिक उत्साह का प्रश्न है, अश्वघोष में यह उतना ही जान पड़ता है, जितना ईसाई धर्म के लिए इटालियन कवि दान्ते में। यह दूसरी बात है कि काव्य की दृष्टि से दोनों की तुलना करना ठीक न होगा, किन्तु जहाँ तक दोनों के काव्यों की रचना की प्रेरणा का प्रश्न है, मूल में धार्मिक उत्साह ही रहा है। पर अश्वघोष का धार्मिक उत्साह अन्धविश्वास नहीं है, वे ब्राह्मण धर्म के प्रति पूर्ण आदर रखते जान पड़ते हैं, जब कि दान्ते अपने आदरणीय कवि वर्जील को भी इसलिए नरक में चित्रित करते हैं, कि वह भगवान् ईसा के चरणचिह्नों पर नहीं चल सका था।

पौराणिक ब्राह्मण-धर्म के प्रति सहिष्णु

विद्वानों का कहना है कि हीनयान शाखा के बौद्धों में अश्वघोष को पर्याप्त सम्मान न मिल सका। इसका कारण यह बताया जाता है कि अश्वघोष ने एक ओर अपने स्वतन्त्र विचारों को व्यक्त किया, दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म तथा पौराणिक साहित्य के प्रति वे अत्यधिक उन्मुख थे।[१] बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द के देखने से पता चलता है कि अश्वघोष को पौराणिक ब्राह्मण धर्म का गम्भीर ज्ञान था। ऐसा सुना जाता है, कि बौद्धधर्म को स्वीकार करने के पूर्व आर्य भदन्त अश्वघोष जाति से ब्राह्मण थे। बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द में समय समय पर संकेतित पौराणिक आख्यानों, वृत्तों तथा घटनाओं एवं बुद्धचरित के द्वादश सर्ग में निदिष्ट (सांख्य) दार्शनिक सिद्धान्तों (जो श्रीमद्भगवद्गीता के दार्शनिक मत से बहुत मिलते हैं) से अश्वघोष का ब्राह्मण धर्म तथा दर्शन का गम्भीर ज्ञान प्रकट होता है। बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द में पौराणिक उपाख्यानों का संकेत बुद्धचरित के प्रथम सर्ग (पद्य ४१–४५), चतुर्थ सर्ग (७२–८०), सौन्दरानन्द के सप्तम सर्ग (२६–४५) में स्पष्ट के रूप में देखा जा सकता है, वैसे अनेकों पद्यों में राम-कथा, शिव-पार्वती-कथा, स्वर्ग, इन्द्र, देवता, अप्सराएँ आदि की पौराणिक मान्यता के विषय में संकेत मिल

---

१. दासगुप्ता : हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ७८.

सकते हैं। जब छन्दक के साथ, बुद्ध वन को चले गये और बाद में केवल छन्दक व कन्थक (घोड़ा) लौट कर आये, तो सारी प्रजा ने उसी तरह आँसू गिराये, जैसे पहले राम के वन-गमन पर केवल राम के रथ के ही लौटने पर आँसू गिराये थे।

मुमोच वाष्पं पथि नागरो जनः, पुरा रथे दाशरथेरिवागते ॥

(बु० च० ८८)

इसी प्रकार कवि के द्वारा शिवविजय की घटना का संकेत बुद्धचरित के तेरहवें सर्ग के १६ वें पद्य में मिलता है।

शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव।
न चिन्तयत्येष तमेव बाण कि स्यादचित्तो न शरः स एवः ॥ (१३.१६)

'जिस बाण से विद्ध होकर महादेव भी पार्वती के प्रति चञ्चल हो उठे, उसी बाण की वह (सिद्धार्थ) परवाह नहीं कर रहा है ? क्या यही बिना चित्त वाला है, या यह बाण वह नहीं है—कोई दूसरा है ?'

यह निश्चित है, कि अश्वघोष के समय तक पुराणों का वर्तमान रूप पल्लवित हो चुका था, चाहे कलेवर की दृष्टि से नहीं, किन्तु पुराणों में वर्णित विषय व आख्यान पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे। अश्वघोष के कुछ ही दिनों बाद या उसके आसपास की ही रचना वायुपुराण माना जाता है, जो सबसे प्राचीन पुराण है। वैसे रामायण तथा महाभारत अश्वघोष के काल तक इस रूप में आ चुके होंगे।

३. दार्शनिक मान्यता

अश्वघोष की दार्शनिक मान्यता निःसन्देह बौद्ध दर्शन से प्रभावित है। वे स्वयं बौद्ध दार्शनिक थे। बुद्धचरित में तो अश्वघोष का दार्शनिक स्वर कुछ ऊपर भी उठ गया है। बारहवें सर्ग में अश्वघोष ने बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों को बीज रूप में उपन्यस्त किया है। यहीं पहले पूर्वपक्ष के रूप में (सांख्यों के) आस्तिक दर्शन को उपन्यस्त किया है, जिसके प्रति सिद्धार्थ की अभिरुचि नहीं होती। सिद्धार्थ के परमार्थ तथा शान्ति के विषय में पूछने पर मुनि अराड जो उपदेश देते हैं, वह सांख्यों का ही मत है :—

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद ।
पञ्च भूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥[१]

'हे प्रकृति के जानने वाले, पाँचों भूत, अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त को प्रकृति समझो।' पर अश्वघोष इस मत से सहमत नहीं हैं, वे आत्मा को अशरीर 'क्षेत्रज्ञ' मानने को तैयार नहीं, जो प्रकृति (क्षेत्र) का ज्ञाता है। वे कहते हैं कि शरीररहित क्षेत्रज्ञ जाननेवाला (ज्ञ) है या अज्ञ। यदि वह 'ज्ञ' है तो इसके लिए ज्ञेय बचा रहता है और ज्ञेय रहने पर वह मुक्त नहीं है। यदि वह अज्ञ है, आत्मा की कल्पना की कोई जरूरत नहीं ? क्योंकि आत्मा के बिना भी अज्ञान (का अस्तित्व) काठ या दीवार की तरह सिद्ध है ही।[२]

बौद्धदर्शन दुःखवाद के लिए प्रसिद्ध है। बौद्ध दार्शनिक जन्म एवं जीवन दुःख से समवेत मानता है। सौन्दरानन्द के सोलहवें सर्ग के आरम्भ में अश्वघोष ने दुःखवाद के इस सिद्धान्त को बड़ी स्वाभाविक तथा सरल शैली में लौकिक दृष्टान्तों को लेकर समझाया है। पवन सदा आकाश में निवास करता है, अग्नि सदा शमी (खेजड़े) के पेड़ में निवास करती है और जल पृथ्वी के अन्तस्तल में रहता है। ठीक इसी तरह दुःख शरीर और चित्त में सदा रहता है। दुःख का शरीर व चित्त के साथ वही सम्बन्ध है, जो पवनादि का आकाशादि के साथ। जब तक शरीर व चित्त है, मानव दुःख ही पाता रहता है। मानवजीवन में दुःख की इतनी नियत स्थिति है कि, उसे शरीर और चित्त का स्वभाव, उसका अविच्छेद्य धर्म मानना होगा। जिस प्रकार पानी का स्वभाव (धर्म) द्रवत्व है, पृथ्वी तत्त्व का स्वभाव कठिनत्व है, वायु तत्त्व का धर्म चंचलता है तथा अग्नि तत्त्व का गुण उष्ण होना है, ठीक उसी प्रकार संसार में शरीर व चित्त का स्वाभाविक धर्म दुःख है। अतः जब तक शरीर और चित्त है तब तक दुःख रहेगा।

आकाशयोनिः पवनो यथा हि यथा शमीगर्भशयो हुताशः ।
आपो यथान्तर्वसुधाशयाश्च दुःखं तथा चित्तशरीरयोनि ॥

---

१. बु० च० १२. १८, साथ ही १२. २०, तथा परवर्ती पद्य।

२. बु० च० १२. ८१-८२।

अपां द्रवत्वं कठिनत्वमुर्व्या वायोश्चलत्वं ध्रुवमौष्ण्यमग्नेः ।
यथा स्वभावो हि तथा स्वभावो दुःखं शरीरस्य च चेतसश्च ॥
(सौ० १६. ११–१२)

इस दुःखात्मक संसार से छुटकारा पाना ही निर्वाण या मोक्ष है। बौद्धों की निर्वाण या मोक्ष की धारणा सर्वथा नवीन है, उनके मतानुसार निर्वाण की स्थिति में क्लेशक्षय हो जाता है; किन्तु यह क्लेशक्षय नैयायिकों की दुःखाभाव वाली स्थिति की तरह नहीं। नैयायिकों की आत्मा की मोक्षदशा 'शिलात्व-मुक्ति'-सी है पर, बौद्धों के निर्वाण की स्थिति में 'आत्मा निर्वाण की दशा में न पृथ्वी में जाती है, न अन्तरिक्ष में न दिशा में, न किसी विदिशा में, किन्तु क्लेश के क्षय से ठीक उसी तरह केवल शान्ति को प्राप्त होती है, जैसे दीपक निर्वृत्ति की दशा में (बुझने पर) न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न दिशा में, न किसी विदिशा में, अपितु तैल के क्षय के कारण केवल शान्ति को प्राप्त होता है।'[१] मोक्ष या निर्वाण को यहाँ अश्वघोष ने बड़ी सरल भाषा द्वारा दीपक के दृष्टान्त को उपन्यस्त कर समझाया है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा को चेतना-प्रवाह मानते हैं तथा अन्य पदार्थों की भाँति वह भी क्षणिकवाद के सिद्धान्त से आबद्ध है। इसी को स्पष्ट करने के लिए वे 'दीपकलिका-न्याय' या नदीप्रवाहन्याय का आश्रय लेते हैं। दीपक की लौ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, किन्तु प्रतिक्षण परिवर्तित रूप तत्सदृश बना रहने से हमें तादूप्य की भ्रान्ति कराता है। नदी का प्रवाह बहता जाता है, पर हम उसे भ्रान्ति से वही पानी समझ बैठे हैं। जीवन कुछ नहीं चेतना (आत्मा) की परिवर्तनशीलता या प्रवाहमयता है और यही दुःख या क्लेश है। जब तक दीपक जलता रहता है, तब तक दीपक को खुद की तो जलन का अनुभव होता ही रहता है। परम शान्ति तभी होगी, जब आत्मा की क्षणिकता, चेतनाप्रवाह की प्रवहणशीलता शान्त हो जाय और दूसरे शब्दों में 'पुनरपि जननं पुनरपि

---

१. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
(सौन्दरा० १६. २८-२९)

मरण' सदा के लिए मिट जाय। इस दशा मे आत्मा (चेतना) कही नही जाती, कोई दूसरा रगरूप नही बदलती, न प्रस्तरवाली दुःखाभावमय-दशा को ही प्राप्त होती है, अपितु स्वय शान्त हो जाती है। पर यह शान्ति बौद्धो के मतानुसार सर्वथा निषेधात्मक (Negative) स्थिति नही जान पडती। सम्भवत. इसीलिए बाद के माध्यमिक आचार्य नागार्जुन ने 'शून्य' की धारणा को जन्म दिया हो, जो वस्तुत निषेधात्मक स्थिति न होकर (जैसा कि लोग समझ बैठते है), 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त सत्य (परमार्थ या तथता)' है।

निर्वाण का इच्छुक दार्शनिक ससार को काम (मार) का राज्य समझता है उसका जय करने पर ही वह परमशान्ति को प्राप्त हो सकता है। यही कारण है, वह काम को जीतने के लिए बद्धपरिकर रहता है। बुद्धचरित के ग्यारहवें सर्ग और सौन्दरानन्द के सातवें, आठवें तथ नवें सर्ग मे स्थान-स्थान पर काम की निन्दा की गई है, उसकी भ्रान्त्युत्पादक मरीचिका की नि.सारता बताई गई है। सौन्दरानन्द के अष्टम सर्ग मे जगत के जाल से छूटकारा पाये नन्द की फिर से उसमे फँसने की चेष्टा के कारण जनित दयनीय दशा को अन्योक्ति के सुन्दर आलकारिक ढङ्गसे चित्रित किया गया है।

कृपण बत यूथलालसो महतो व्याधभयाद्विनि.सृतः।

प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः॥ (सौन्द० ८.१५)

वडे दुख की बात है कि महान् व्याध के भय से छुटकारा पाया हुआ चञ्चल मृग, झुण्ड की लालसा से युक्त होकर तथा गीतध्वनि से वञ्चित होकर फिर से जाल मे फँसना चाहता है।'

बौद्धधर्म के चार आर्यसत्यो का सकेत सौन्दरानन्द के सोलहवें सर्ग के आरम्भ मे मिलता है।[१]

बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द दोनो मे अश्वघोष का दार्शनिक तथा धार्मिक उत्साह, काव्य का हाथ पकडकर आया है, किन्तु दोनों की शैली मे स्पष्टतः अन्तर दिखाई देता है। बुद्धिचरित के अन्तर्गत उपन्यस्त दार्शनिक सिद्धान्त विशेष पाण्डित्यपूर्ण पारिभाषिक शैली मे निबद्ध हैं, फलत. वहाँ काव्यत्व नष्ट

१ बाधात्मकं दुःख.मिदं प्रसक्तं, दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयम्।
दु.खक्षयो नि.सरणात्मकोऽय, त्राणात्मकोऽयं प्रशमस्य मार्गः॥
(सौ० १६.४ तथा परवर्ती पद्य)

हो जाता है; पर सौन्दरानन्द के लिए यह नहीं कहा जा सकता। सौन्दरानन्द के दार्शनिक स्थलों में भी शैली की सरलता, स्वाभाविकता तथा कोमलता अक्षुण्ण बनी रहती है। बुद्धचरित का दार्शनिक बौद्धिक प्रमाणों व शास्त्रार्थों को लेकर चलता है, सौन्दरानन्द का दार्शनिक लौकिक जीवन से गृहीत युक्तियों को लेकर गूढ दार्शनिक सिद्धान्तों को हलके फुलके ढङ्ग से समझा देता है। पहले काव्य के दार्शनिक स्थल विद्वानों की चीज है, जब कि दूसरे काव्य के दार्शनिक स्थल जनसामान्य तथा रसिक सहृदय की भी चीज हो गये हैं। सम्भवतः अश्वघोष ने बुद्धचरित की रचना के इस दोष को पहचान लिया था और यही कारण है, सौन्दरानन्द में उन्होंने इन सिद्धान्तों को इस तरह उपन्यस्त किया कि 'मोक्षविधि' को वे जनसामान्य (Layman) के लिए सरल ढङ्ग से समझा सकें। अश्वघोष का यह दूसरा प्रयास पूर्णतया सफल हुआ है। सौन्दरानन्द शैली की दृष्टि से भी बुद्धचरित के बाद की रचना सिद्ध होती है।[१] बुद्धचरित का कवि परम शान्ति के मन्दिर तक कभी-कभी रमणीय और अधिकतर शुष्क पार्वत्य प्रदेश से पाठकों को ले जाना चाहता है, सौन्दरानन्द का कवि एक सीधे मार्ग से ले जाता है, जहाँ चाहे कुछ स्थलों पर मार्ग के दोनों किनारे सुरभित कुसुम से लदी पादपावलियाँ न हों, फिर भी मार्ग की सरलता स्वतः पथिक के पैरों को आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करती है।

४. अश्वघोष की कलात्मक मान्यता

काव्य के सम्बन्ध में अश्वघोष की धारणा निश्चित रूप से ठीक वही नहीं जान पड़ती, जो कालिदास की, या भारवि, माघ और श्रीहर्ष की है। कालिदास शुद्ध रसवादी कवि है, भारवि तथा उनके दोनों साथी निश्चित रूप से चमत्कारवादी या कलावादी (अलङ्कारवादी)। अश्वघोष को इन दोनों गवों में नहीं डाला जा सकता, उनका कलात्मक दृष्टिकोण निश्चितरूपेण उपदेशवादी या प्रचारवादी है। वे काव्यानन्द को, रस को, साधन मानते है, कालिदास उसे साध्य मानते हैं। तभी तो अश्वघोष अपने काव्य की रचना का

१. कुछ विद्वान् बुद्धचरित को बाद की रचना मानते हैं। डॉ० कीथ का यही मत है (सं. सा. का इतिहास पृ. २२)। चट्टोपाध्यायजी का भी यही मत है। किन्तु म. म. हरप्रसाद शास्त्री इसे निश्चित रूप से पहली रचना मानते हैं, जो सौन्दरानन्द की शैली की परिपक्वता से स्पष्ट हो जाता है।

एक मात्र लक्ष्य 'शान्ति' मानते हैं तथा बौद्ध धर्म के मोक्षपरक सिद्धान्तों को सामान्यबुद्धि व्यक्तियों के लिए काव्य के बहाने निबद्ध करते हैं। अश्वघोष ने बताया है कि मोक्ष को लक्ष्य मानकर इन सिद्धान्तों को काव्य के व्याज से इसलिए वर्णित किया जा रहा है, कि काव्य सरस होता है, दर्शन या उपदेश कटु। कड़वी औषध शहद में मिला देने पर मीठी हो जाती है, इसी तरह कड़वा उपदेश भी काव्य के आश्रय से मधुर बन जायगा[१]। अश्वघोष के काव्य का लक्ष्य 'रतये' नहीं, 'व्युपशान्तये' है। इस तरह लक्ष्य की दृष्टि से अश्वघोष दान्ते या मिल्टन के नजदीक, या जायसी के समीप आते हैं, पर शैली की दृष्टि से नहीं। शैली की दृष्टि से मिल्टन 'कलावादी' हैं, दान्ते कुछ कुछ अश्वघोष की भाँति हैं। शैली की दृष्टि से अश्वघोष का मत कालिदास के इस मत से मिलता-जुलता है.—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।' यही कारण है कि अश्वघोष की कला उपदेशवादी होने पर भी कोरा नीतिग्रन्थ नहीं बन जाती, जो दयनीय परिणति अतिउपदेशवादी कवियों में देखी जाती है। यह इस बात को पुष्ट करती है, कि अश्वघोष कवि-हृदय अवश्य थे। आंग्ल साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक व कवि मैथ्यू आर्नॉल्ड ने 'उदात्त' काव्यों (Olassics) की परख के लिए एक मापदण्ड उपस्थित किया है। वे काव्य में जीवन का उदात्त दृष्टिकोण देखना पसन्द करते हैं, जो निश्चित रूप से नैतिक मर्यादा तथा मान्यता पर आधृत होगा। इस तरह के काव्य ही साहित्य में स्थायित्व प्राप्त कर सकते हैं तथा 'उदात्त कृतियों' की कोटि में आ सकते हैं। 'उदात्तता' के चिह्न हमें अश्वघोष की कृतियों में निश्चित रूप से दिखाई देते हैं, यह दूसरी बात है कि अश्वघोष का बौद्ध धार्मिक दृष्टिकोण उनकी व्यापक दृष्टि को रोक देता है, जो व्यापक जीवन दृष्टि कालिदास में पाई जाती है, उसका यहाँ अभाव है।

---

[१] इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः,
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसः काव्योपचारात्कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतम्,
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥ (सौन्द० १८, ६३)

अश्वघोष की काव्यप्रतिभा तथा उनके काव्यों का सौन्दर्य

अश्वघोष के पूर्व संस्कृत साहित्य की विशाल काव्य-परम्परा आदिकवि की अमरकृति तथा व्यास के महाभारत के रूप में विद्यमान थी। यही नहीं सम्भवतः इन आर्ष काव्यों के अतिरिक्त लौकिक संस्कृत काव्य-परम्परा भी रही हो।[१] किंवदन्ती है कि पाणिनि ने 'जाम्बवती-परिणय' तथा 'पाताल-विजय' नामक दो महाकाव्यों की रचना की थी तथा कुछ सुभाषित ग्रन्थों में इनके दो-तीन पद्य भी मिलते हैं। पर क्या वे प्रसिद्ध वैयाकरण अष्टाध्यायीकार पाणिनि के ही हैं? सम्भवतः वे दाक्षीपुत्र पाणिनि की रचना नहीं। कालिदास को अश्वघोष से पूर्व (प्रथम शताब्दी ई० पू० मे) माननेवाला विद्वानों का दल अश्वघोष को निश्चित रूप से कालिदास का ऋणी मानता है।[१] पर इस विषय में मेरा निजी मत भिन्न है। कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि अश्वघोष आदिकवि के महाकाव्य से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं। शैली की दृष्टि से भी अश्वघोष की शैली आदिकवि की शैली की तरह सरल व सरस है तथा उन्हीं की तरह अश्वघोष भी अनेक छन्दों का प्रयोग करते हुए भी अनुष्टुप् का प्रयोग अधिक करते हैं, जो कालिदास के दोनों महाकाव्यों मे अश्वघोष जितना ज्यादा प्रयुक्त नहीं हुआ है।

अश्वघोष के काव्यों की कथा बौद्ध अवदानों से गृहीत है तथा उन्होंने कई स्थानों पर कथा में मामूली हेरफेर भी किया जान पड़ता है। बौद्ध ग्रन्थों मे बुद्ध के द्वारा नन्द को प्रदर्शित बंदरी बिना नाक व बिना कान की है, किन्तु अश्वघोष उसे कानी बताते हैं। अश्वघोष के प्रथम महाकाव्य बुद्धचरित मे कथाप्रवाह तथा वर्ण्य विषय दार्शनिक स्थलों में इतर स्थानों पर अक्षुण्ण दिखाई देता है। ठीक यही बात सौन्दरानन्द में है। भारवि, माघ या श्रीहर्ष की भाँति यहाँ कथाप्रवाह कोरे शृङ्गारी वर्णनों या चित्रमत्ता के द्वारा रोका नहीं जाता। कथावस्तु-सविधान की दृष्टि मे अश्वघोष, कालिदास तथा बाद के पतनोन्मुख

---

१. इस मत के लिये दे० Date of Kalidasa—Kshetresa Chandra Chattopadhyaya. (Reprint from the Allh,Uni.Studies Vol. II 1926) जहाँ पृ० ८२ मे १०६ तक प्रो० चट्टोपाध्याय ने कालिदास के प्रति अश्वघोष के ऋण को विस्तार मे प्रदर्शित करने की चेष्टा की है।

महाकाव्यकर्ताओ मे जो भेद है, वह यह है कि कालिदास का वस्तु-सविधान अत्यधिक स्वाभाविक, प्रवाहमय, सरस तथा प्रभावोत्पादक है, कालिदास का कवि न तो अश्वघोप की तरह दार्शनिक सेतु बांधकर ही कथा की सरिता के प्रवाह को यत्र तत्र रोक देता है, न भारवि, माघ या श्रीहर्ष की तरह कथा के इतिवृत्त का छोडकर बीच मे फूले कमल व उनपर उडते भौंरों के देखने मे ही इतना उलझ जाता है, कि दो-दो, तीन-तीन सर्ग तक कथाप्रवाह रुक-सा जाता है। भट्टि मे यह दोप नही है, किन्तु वहाँ व्याकरण के नियमो के प्रदर्शन की रुचि, अलङ्कारों का प्रदर्शन, भाषा-श्लेष की चित्रमत्ता पाठक का ध्यान अपनी ओर खींचकर कथा प्रवाह मे बाधा डाल देती है। जैसा कि स्पष्ट है, दार्शनिक स्थलो से इतर अंश मे अश्वघोप के काव्यो के इतिवृत्त मे निःसन्देह प्रवाह है।

आर्य भदन्त अश्वघोप मूलत. शान्त रस के कवि हैं। बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द मे ही नही, तुर्फान से मिले दो प्रकरणो तथा एक अन्यापदेशी (Allegorical) नाटक के खण्डो से भी यही पुष्ट होता है। पर शान्त रस के रूप मे या विरोधी के रूप मे अश्वघोप ने दोनो काव्यो मे वीर, करुण तथा शृङ्गार रस का निबन्धन किया है। बौद्ध भिक्षु की कृतियाँ होते हुए भी शृङ्गार रस का जो सरस वर्णन बुद्धचरित के तृतीय सर्ग के आरम्भ, चतुर्थ तथा पञ्चम सर्ग मे तथा सौन्दरानन्द के चतुर्थ सर्ग तथा दशम सर्ग मे मिलता है, वह अश्वघोप के कवित्व को प्रतिष्ठापित करने मे अलम् है। यह दूसरी बात है कि भिक्षु अश्वघोप का मन अपने काव्य के नायक सिद्धार्थ की भाँति ही इनमे नही रमता। पर अश्वघोष ने नारी के सौन्दर्य को शान्त वैराग्यशील भिक्षु की निगाह से ही नहीं देखा है। पहले वह उसे सरस लौकिक दृष्टि से देखते हैं, पर जहाँ वे शान्त रस के प्रवाह मे बहते हैं, नारी उनके लिए 'जर्जर-भाण्ड के समान' दूषित, कलुषित एव कुरूप हो जाती है। फिर भी शान्त रस के लिए शृङ्गार की सरसता को सर्वथा न कुचल देना भिक्षु अश्वघोप की सबसे बड़ी ईमानदारी है। शृङ्गार के चित्र सरस, भावमय तथा प्रभावोत्पादक हैं और माघ या श्रीहर्ष की तरह ऐन्द्रिय विलासमय (Voluptuous) नहीं। शृङ्गार के रङ्गीन वर्णनो मे अश्वघोप कालिदास के ही सम्प्रदाय के जान पड़ते हैं

जहाँ सरसता तो है, पर वह कुत्सित ऐन्द्रिय रूप धारण नहीं करती[1] अश्वघोष के शृङ्गार रस के वर्णन से कुछ उदाहरण देना पर्याप्त होगा, जहाँ शृङ्गार रस की तरलता रसिक पाठकों के हृदय को आप्लावित करती रहती है :—

मुहुर्मुहुर्मदव्याजस्रस्तनीलांशुकापरा ।
आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा ॥ (बु० च० ४ ३३)

'नशे के बहाने बार-बार अपने नील अङ्कुश को गिराती हुई, कोई स्त्री, जिसकी करधनी दिखाई देती थी, चमकती बिजली वाली रात के समान सुशोभित हो रही थी ।'

पणवं युवतिर्भुजांसदेशादवविस्रंसितचारुपाशमन्या ।
सविलासरतान्ततान्तमूर्वोर्विवरे कान्तमिवाभिनीय शिश्ये ॥ (बु०च० ५. ५६)

'दूसरी सुन्दरी, जिसके गले की सुन्दर डोरी (हार) कन्धे से गिर गई है, सविलास सुरत के अन्त में थके प्रिय के समान पणव (वाद्ययन्त्र विशेष) को दोनों जाँघों के बीच में दबाकर सो गई ।'

सा तं स्तनोद्वर्तितहारयष्टिरुत्थापयामास निपीड्य दोर्भ्याम् ।
कथं कृतोसीति जहास चोच्चैर्मुखेन साचीकृतकुण्डलेन ॥
(सौन्दरा० ४. १९)

'क्षमा माँगने के लिए पैरों पर गिरते हुए नन्द को, स्तनों के भार से हार को हिलाती हुई (जिसका हार स्तनों के कारण हिल रहा था), सुन्दरी ने दोनों हाथों से आलिङ्गनपाश में आबद्ध कर 'कैसा बनाया है' यह कहकर टेढ़े कुण्डल-वाले मुख से जोर से हँस दिया ।'

शृङ्गार के उद्दीपन के लिए नारीसौन्दर्य एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है । विभाव पक्ष में नारीसौन्दर्य का वर्णन अश्वघोष में कई स्थलों पर मिलता है । सौन्दरानन्द के दशम सर्ग में अप्सराओं तथा हिमालय की तलहटी में विचरती किन्नरियों का सौन्दर्यवर्णन सरस है । यहाँ पर तथा बुद्धचरित में रमणियों के

१.-सम्भवतः कुछ विद्वान् कालिदास के शृंगार वर्णनों में कुछ ऐन्द्रिय स्थल ढूँढ निकालें, (विशेषतः कुमारस० का अष्टम सर्ग तथा रघु० का १९ वाँ सर्ग), किन्तु मैं यहाँ कालिदास के समग्र शृङ्गारवर्णन में स्थित अन्तःप्रवृत्ति का संकेत करना चाहता हूँ, जो सरस विलासमय शृङ्गार होते हुए, भी दूषित मनोवृत्ति से समवेत नहीं है । यह दूसरी बात है कि अश्वघोष में शृङ्गार कहीं कहीं धार्मिक नैतिकता (Puritanism) से अभिभूत हो जाता है, कालिदास में नहीं ।

सौन्दर्यवर्णन में अश्वघोष ने अलकृत शैली का प्रयोग किया है। किन्तु उनकी अप्रस्तुत योजना स्वाभाविक है, दूरारूढ नही।

कासाञ्चिवासां वदनानि रेजुर्वनान्तरेभ्यश्चलकुण्डलानि ।
व्याविद्धपर्णेभ्य इवाकरेभ्यः पद्मानि कादम्बविघट्टितानि ॥
(सौन्द० १०. ३८)

'इनमें से कुछ अप्सराओ के चञ्चल कुण्डल वाले मुख; वन के बीच इसी तरह सुशोभित हो रहे थे, जैसे घने पत्तो वाले कमलाकरो (तालावो) के बीच हसो के द्वारा हिलाये हुए कमल।'

शृङ्गार के बाद दूसरा कोमल रस करुण है। अश्वघोष के दोनो काव्यों मे दो स्थल[1] करुण रस के हैं। बुद्धचरित मे छन्दक सूने घोड़े को लेकर लौटता है। उस स्थल मे नागरिक, सिद्धार्थ के पिता-माता तथा यशोधरा का विलाप अत्यधिक मार्मिक है, तथा अश्वघोष ने आसपास के वातावरण की करुण दशा को चित्रित कर उसकी तीव्रता को बढा दिया है। नीचे की वस्तूत्प्रेक्षा महोक्ति तथा रूपक केवल आलङ्कारिक चमत्कार न होकर करुण के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर अन्तःपुरिकाओं की करुण दशा का चित्र और अधिक मार्मिक बना देते हैं।

इमाश्च विक्षिप्तविटङ्कबाहवः प्रसक्तपारावतदीर्घनिःस्वना ।
विनाकृतास्तेन सहावरोधनैर्भृशं रुदन्तीव विमानपङ्क्तय. ॥
(बु० च० ८. ३७)

'कपोत-पालिका रूपी भुजाएँ फटकारती हुई, बैठे हुए कबूतरो के चिल्लाने के दीर्घ निःश्वास वाली ये प्रासाद-पक्तियाँ, सिद्धार्थ से वियुक्त होने के कारण (दुखी होकर) अन्तःपुरिकाओ के साथ मानो अत्यधिक रो रही हैं।'

ठीक यही चित्र हम सौन्दरानन्द मे भी देख सकते हैं, जहाँ श्येन के द्वारा घायल बनाये हुए चक्रवाक के कारण दुखी चक्रवाकी के समान सुन्दरी अत्यधिक विलाप करती है और प्रासाद मे स्थित, चञ्चल कण्ठ वाले कबूतर मानो उसकी स्पर्धा करते हुए कूजन कर रहे है।

---

१. बुद्धचरित अष्टम सर्ग, तथा सौन्दरानन्द षष्ठ सर्ग।

सा चक्रवाकीव भृशं चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षतचक्रवाका ।
विस्पर्द्धमानेव विमानसंस्थैः पारावतैः कूजनलोलकण्ठैः ॥
(सौन्दरा० ६. ३०)

दोनो चित्रों कितनी अधिक समानता है, यह सहृदय भावुकों को स्पष्ट हो गया होगा। अश्वघोष का करुण सरस है, पर कालिदास जितना मार्मिक[1] नही। भवभूति का करुण जिसकी सस्कृत साहित्य मे बडी चर्चा रही है, कालिदास तथा उसी पद्धति के अश्वघोष के करुणरस की अपेक्षा अधिक भावुक दिखाई देता है। भवभूति का करुण रोना-चिल्लाता बहुत है, यह उसका सबसे बड़ा दोष है, चाहे उससे पत्थर का कठोर हृदय भी पिघल जाय। इस वाच्य पद्धति की अतिशयता से वहाँ करुण की पैनी शक्ति कुछ कुण्ठित हो जाती है, जो कालिदास की व्यञ्जनात्मक शैली मे है। अश्वघोष के करुण रस के चित्र भी व्यञ्जनावृत्ति का प्रयोग करते जान पड़ते हैं।

वीर रस का समावेश अश्वघोष के दोनों काव्यो के मार-जय[2] मे रूपक के रूप मे हुआ है, जहाँ एक साथ शान्त रस तथा वीर रस का साम्य विवक्षा की दृष्टि से प्रयोग किया गया है। सिद्धार्थ तथा नन्द मार की सेना को, किस सेना तथा युद्ध-सज्जा से जीतते हैं, रूपक अलङ्कार का प्रयोग करते हुए इसका अच्छा वर्णन है। एक उदाहरण दे देना काफी होगा।

ततः स बोध्यङ्गशितात्तशस्त्रः सम्यक्प्रधानोत्तरवाहनस्थः ।
मार्गाङ्गमातङ्गवता बलेन शनैः शनैः क्लेशचमूं जगाहे ॥ (सौ० १७.२४)

'तब ज्ञान के तीक्ष्ण शस्त्रवाले, सम्यक् चारित्र्य के उत्तम वाहन पर स्थित, नन्द ने मार्गाङ्ग रूपी हाथी से युक्त सेना के द्वारा, (शत्रुओं की) क्लेश-सेना को धीरे-धीरे आक्रान्त कर लिया।'

---

१. वैसे कुछ लोगों के मन मे कुमारसम्भव का रतिविलाप, कालिदास के करुण मार्मिक स्थलों मे माना जाने पर भी उतना मार्मिक नहीं है, जितना मार्मिक अजविलाप, रघुवंश के चौदहवें सर्ग का सीतासन्देश वाला स्थल तथा शाकुन्तल के सप्तम अङ्क में शकुन्तला की विरहव्यथा वाली दशा का वर्णन। रतिविलाप मे करुण की अति उसकी मार्मिकता को खो देती है। इस विषय के विवेचन के लिए दे० 'महाकवि कालिदास' वाला परिच्छेद।

२. बु० च० सर्ग १३, सौ० सर्ग १७।

यहाँ पर कवि का प्रधान लक्ष्य शान्त रस ही है, वीर रस नहीं। शान्त रस के विभाव के रूप मे संसार की दुःखमयता तथा नारी के सौन्दर्य की बीभत्सता का जो वर्णन बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द मे हुआ है; वह बड़ा तीव्र है। नन्द को घर जाने के लिए तडफते देखकर कोई भिक्षु नारी के सौन्दर्य की बीभत्सता का वर्णन करके कहता है 'अगर तुम्हारे सामने तुम्हारी सुन्दरी को नङ्गी मलपङ्क से युक्त, लम्बे नाखून, दाँत व बालो वाली दशा मे रख दिया जाय, तो वह तुम्हारे लिए सुन्दर न रहेगी। कौन सघृण व्यक्ति फूटे घडे के समान अपवित्रता का स्रवण करती हुई नारी का स्पर्श करे, यदि वह मक्खी के पंख के समान झीनी चमडी से ढँकी न हो।'

> मलपङ्कधरा दिगम्बरा प्रकृतिस्थैर्नखदन्तरोमभिः ।
> यदि सा तव सुन्दरी भवेत् नियतं तेऽद्य न सुन्दरी भवेत् ॥
> स्रवतीमशुचि स्पृशेच्च कः सघृणो जर्जरभाण्डवत् स्त्रियम् ।
> यदि केवलया त्वचावृता न भवेन्मक्षिकपत्रमात्रया ॥ (सौ० ८ ५१-५२)

प्रकृति-चित्रण मे अश्वघोष का मन रमता नही दिखाई देता। बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द[1] मे कुछ स्थल ऐसे आते हैं, जहाँ कवि प्रकृति के मनोरम दृश्यो की योजना कर सकता था, किन्तु अश्वघोष वहाँ प्रकृति का वर्णन बड़े चलते ढङ्ग से कर देते हैं। सौन्दरानन्द के सप्तम सर्ग की प्रकृति प्रियाविरह का अनुभव करते नन्द के लिए उद्दीपन का काम करती है।[2] अश्वघोष में प्रकृति के प्रति वाल्मीकि तथा कालिदास जैसा मोह नही दिखाई देता। भिक्षु अश्वघोष के लिए सम्भवतः प्रकृति भी विकृति का कारण रही हो। पर इतना तो निश्चित है, कि प्रकृतिवर्णन का जो भेद हमे वाल्मीकि तथा कालिदास मे मिलता है, उसके बीज अश्वघोष ने भी हैं। मेरा तात्पर्य यह है कि वाल्मीकि प्रकृति को प्रकृति के शुद्ध लावण्य की दृष्टि से अधिक देखते हैं; अर्थात् वाल्मीकि की प्रकृति आलम्बन अधिक बनकर आती है, उद्दीपन कम। कालिदास मे प्रकृति मानव स्वभाव से आक्रान्त होती है, वह मानव के दुःख-सुख से दुःखी-सुखी होती दिखाई जाती है, साथ ही मानव के उद्दीपन की सामग्री के

---

1. दे० बु० च० सर्ग ३, सर्ग ७, सौ० सर्ग ७, सर्ग १०।
2. स्थितः स दीनः सहकारवीथ्यामालीनसंमूर्च्छितषट्पदायाम्।
भृशं जजृम्भे युगदीर्घबाहुः ध्यात्वा प्रियां चापमिवाचकर्ष ॥ (सौ० ७.३)

विशेष लाती है। कालीदास की प्रकृति कुछ स्थलों को छोड़कर उद्दीपन का रूप लेकर अधिक आती जान पड़ती है। अश्वघोष का ऊपर का (सौन्द० सप्तम सर्ग का) प्रकृति-वर्णन इसी प्रवृत्ति का सङ्केत करता है। अश्वघोष ने जहाँ सौन्दरानन्द के दशम सर्ग के आरम्भ में हिमालय का वर्णन किया है, उसकी तुलना कुछ विद्वान् कालिदास के कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग के हिमालय-वर्णन से करना चाहें। इस विषय में मेरा निजी मत यह है कि कालिदास के हिमालय वर्णन-सी दृश्यों की विविधता, प्रकृति चित्र के बिम्ब को उपस्थित कर देने की क्षमता, अश्वघोष के इस वर्णन में नहीं: उसके पढ़ लेने पर सौन्दरानन्द का यह वर्णन शुष्क तथा नीरस (Bore and dry) लगता है।[1]

हम बता चुके हैं, अश्वघोष की कलावादी दृष्टि किस प्रकार की है। यही कारण है, अश्वघोष का प्रमुख ध्यान प्रतिपाद्य विषय (Matter) की ओर अधिक है, शैली, अलङ्कार या छन्दोविधान की अभिव्यञ्जनाप्रणाली (Manner) की ओर कम। किस अलङ्कार का या छन्द का कहाँ प्रयोग करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अश्वघोष इतने अधिक चिन्तित नहीं है। इसी लिए अश्वघोष के अलङ्कार या छन्दःप्रयोग अपने आप बनते जाते हैं, इनकी कृत्रिमता लक्षित नहीं होती। किन्तु काव्य में धार्मिक तथा दार्शनिक वस्तु (Theme) होने के कारण अश्वघोष के विषय (Matter) तथा विषय-व्यञ्जना (Manner) में कुछ स्थलों पर विचित्र असमानता दिखाई पड़ती है, और इसका प्रमुख कारण एक ओर कवि तथा कलाकार, दूसरी ओर दार्शनिक तथा धार्मिक उपदेशक का विचित्र समन्वय जान पड़ता है। अश्वघोष स्वयं इन काव्यों को विशाल जनता के लिए लिखते हैं, कुछ साहित्यिकों के लिए नहीं, अतः शुद्ध कलावादिता की दृष्टि से इन काव्यों के कलापक्ष को परख करना ठीक नहीं होगा। पर इतना तो निःसन्देह है कि अश्वघोष कवि हैं तथा रसिक साहित्यिक को उनकी कृतियों में कुछ अनुपम गुण दिखाई देंगे। अश्वघोष का वर्ण्य विषय सर्वथा नीरस नहीं है, उनकी शैली कृत्रिम तथा परिश्रमसाध्य नहीं है, तथा अश्वघोष की अभिव्यञ्जना शैली सरस सरलता से रहित नहीं। यह दूसरी बात है कि अश्वघोष कालिदास की तरह परिपूर्ण कलाकार नहीं हैं, तथा

१. दे० सौन्दरानन्द दशम सर्ग ५-२४, यहाँ अश्वघोष अप्रस्तुत विधान में ही अधिक रमे गये हैं। कालिदास के हिमालय-वर्णन-सा अनलंकृत, स्वाभाविक किन्तु अत्यधिक प्रभावोत्पादक चित्र यहाँ नहीं है।

उच्च कलात्मक गुणों को ढूंढ़ने पर प्रथम कोटि के कवियों में भी नहीं गिने जा सकते किन्तु अश्वघोष की काव्यप्रतिभा स्वाभाविक है, तथा वे कभी भी कठिन शैली का आश्रय नहीं लेते। यही कारण है, अश्वघोष में शास्त्रीय संगीत की कलात्मक पद्धति न हो, हृदय से निकली हुई तान अवश्य विद्यमान है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा, कि अश्वघोष 'अलङ्कारों के लिए अलङ्कारों का प्रयोग' नहीं करते। इतना होने पर भी अश्वघोष में प्रायः सभी प्रमुख साधर्म्यमूलक अलङ्कारों का प्रयोग मिलता है। उपमा[1], रूपक[2], उत्प्रेक्षा[3], व्यतिरेक[4], अप्रस्तुतप्रशंसा[5] आदि साधर्म्यमूलक अलङ्कारों के अतिरिक्त यत्र तत्र अनुप्रास[6] तथा यमक[7] जैसे शब्दालङ्कार भी अश्वघोष में मिल जायेंगे, यद्यपि अश्वघोष में ये शब्दालङ्कार भी स्वाभाविक रूप से ही आते हैं। यहाँ अश्वघोष के अत्यधिक सुन्दर किन्तु स्वाभाविक अलङ्कारों के एक-दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। निम्न पद्य में उपमा का स्वाभाविक प्रयोग देखिए—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥ (सौ० ४.४२)

'बुद्ध का गौरव नन्द को एक ओर खींच रहा था, प्रिया का प्रेम दूसरी ओर। अनिश्चय के कारण लहरों में तैरते हंस की तरह वह न तो जा ही सका, न ठहर ही सका।'

यहाँ उपमा के द्वारा अश्वघोष को केवल चमत्कार बताना अभीष्ट न होकर नन्द की मनोदशा का चित्र खींचना तथा मन के अन्तर्द्वन्द्व का संकेत करना अभीष्ट है। ठीक इसी तरह बुद्ध के बिना भिक्षा लिये लौट जाने की सूचना पाने पर, नन्द को जो मनोव्यथा (मनःकम्प) होती है, उसको बताने के लिए भी अश्वघोष ने ऐसी ही स्वाभाविक उपमा का प्रयोग किया है:—

चचाल चित्राभरणाम्बरस्रक् कल्पद्रुमो धूत इवानिलेन। (सौ० ४.११)

रूपक का सुन्दर प्रयोग भी इसी सर्ग के चौथे पद्य में हुआ है:—

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनाभ्युन्नतपद्मकोषा।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण॥ (सौ० ४.४)

---

१. दे० सौ० ७. ५२-५३। २. सौ. ३. १४ साथ ही ४. ४। ३. बु० च० ८. ३७। ४. सौन्द० ९.१३। ५. सौ० ८. १५-२१। ६. सौ० १०. ११। ७. सौ. ९.१३।

'हास्यरूपी हंसवाली, नेत्ररूपी भौंरो से युक्त, पीनस्तनरूपी उठे हुए कमल कोष वाली, वह सुन्दरी रूपी पद्मिनी अपने कुल मे उदित नन्दरूपी सूर्य के द्वारा (फिर से) अत्यधिक प्रकाशित हुई ।'

अश्वघोष की भाषा कोमल तथा सरल है, चार या पाँच शब्दो से अधिक लम्ब समास नही मिलते । अश्वघोष की भाषा मे कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो बाद के साहित्य मे नही पाये जाते । अश्वघोष मे तर्प, धर्म्मत्, पुप्पवर्ष, प्रविद्ध जैसे प्रयोग मिलते हैं । इसी प्रकार 'पैदा होने के लिए' उप+पद का, समय व्यतीत करने के लिए परि+नी का, तथा निश्चल खडे होने के लिए स्था का प्रयोग अश्वघोष मे मिलता है । अश्वघोष की शैली प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति से युक्त है, तथा इस दृष्टि से उनकी शैली कालिदास के समीप है । अश्वघोष के छन्दोविधान मे एक आद्य छन्द ऐसे भी है, जैसे सुवदना, उद्‌गता (सौन्द० तृतीय सर्ग) जिनका प्रयोग कालिदास ने नही किया है । अश्वघोष ने सुवदना, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, प्रहर्षिणी, रुचिरा, उद्‌गता, सुन्दरी, मालिनी, वसन्ततिलका, वंशस्थ, उपजाति, पुष्पिताग्रा, अनुष्टुप् आदि कई छन्दों का प्रयोग किया है । अनुष्टुप् के प्रति अश्वघोष की अधिक रुचि है, पर संगीत की दृष्टि से अश्वघोष की प्रहर्षिणी व रुचिरा विशेष सफल हुई है ।[१] सर्ग के अन्त को जहाँ कही विशेष प्रभावोत्पादक बनाना होता है, वहाँ अश्वघोष खास तौर पर रुचिरा या प्रहर्षिणी का प्रयोग करते हैं ।

संस्कृत महाकाव्यों में अश्वघोष की परम्परा

अश्वघोष का स्थान निश्चित रूप से संस्कृत महाकाव्यकारो की पहली पंक्ति मे नही आ पाता, जिसमें एक ओर रसवादी कालिदास, दूसरी ओर अलङ्कारवादी भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष इन चार कवियो का नाम लिया जा सकता है । पर अश्वघोष का अपना एक महत्त्व है, जिसका संकेत हम कर चुके है। अश्वघोष मे ही सर्वप्रथम हमे कुछ ऐसी काव्य-रूढियाँ मिलती है, जिनका प्रयोग कालिदास से लेकर श्रीहर्ष तक मिलता है। इन रूढियो मे से प्रमुख दो रूढियो का संकेत कर देना आवश्यक होगा । बुद्धचरित के तीसरे सर्ग मे वनविहार के लिए जाते राजकुमार को देखने के लिए

१. सौ० सौ० ११. ७३ तथा वही १०. ६४ तथा बुद्ध च० ३. ६४-६५ तथा अन्य स्थल ।

लालायित ललनाओं का वर्णन[1] अश्वघोष की स्वयं की उद्भावना न भी हो, किन्तु यह परम्परा सर्वप्रथम यहीं मिलती है। यही परम्परा या रूढि हमें रघुवंश के सप्तम सर्ग, तथा कुमारसम्भव के भी सप्तम सर्ग में, माघ के तेरहवें सर्ग में तथा श्रीहर्ष में नैषध के सोलहवें सर्ग के अन्त में मिलती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण रूढि वृक्षों के द्वारा वस्त्राभरणों को देने की है, जो कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल के चौथे अङ्क[2] में भी पाई जाती है। इसका संकेत हम सौन्दरानन्द के दशम सर्ग के निम्न पद्य में पाते हैं :—

हारान् मणीनुत्तमकुण्डलानि केयूरवर्याण्यथ नूपुराणि।
एवंविधान्याभरणानि यत्र स्वर्गानुरूपाणि फलन्ति वृक्षाः॥ (सौ० १०.२३)

'जहाँ वृक्ष स्वर्ग के योग्य हार, मणि, उत्तम कुण्डल, सुन्दर अङ्गद, नूपुर तथा ऐसे ही अन्य आभूषणों को फलित करते हैं।

संस्कृत साहित्य की महाकाव्य परम्परा के अध्येता के लिए अश्वघोष का महत्त्व केवल इसीलिए नहीं कि वे कवि थे, अपितु इसलिए भी है कि कालिदास की कवित्व-प्रतिभा के अध्ययन के लिए अश्वघोष का वही महत्त्व है, जो शेक्सपियर की नाट्य-प्रतिभा के अध्ययन के लिए मार्लो के नाटककर्तृत्व का।

---

१. दे० बु० च० ३. १३–२४। २. अभिज्ञानशाकुन्तल ४. ४।

महाकवि कालिदास

संस्कृत साहित्याकाश के ग्रहों तथा उपग्रहों की पङ्क्ति में कालिदास के 'आदित्य' का ज्वलन्त 'विक्रम' अपनी द्युति से सभी की कान्ति को ध्वस्त कर देता है। उसके तेज में वसन्त के आरम्भ में 'कुबेरगुप्ता दिक्' की ओर मुड़ते हुए 'उष्णरश्मि'की प्रातःकालीन सरसता तथा कोमलता है, उसकी कविताके स्पन्दन में 'दक्षिणा दिक्' से बहकर आते हुए 'गन्धवाह' की मानस-इन्दीवर को गुदगुदाने की चञ्चलता है। उसकी भाव-सम्पत्ति तथा कल्पना अनेकों अनुगामी कवियों के द्वारा उपजीव्य बनाई जाने पर भी, शकुन्तला की तरह, किसी के द्वारा न सूंघे गये फूल की ताजगी, किन्हीं कठोर कररुहों से अकलुषित किसलय की दीप्त कोमलता, वज्र से बिना बिंधे रत्न का पानिप, किसी भी लोलुप रसना के द्वारा अनास्वादित अभिनव मधु का माधुर्य तथा अखण्ड सौभाग्यशाली पुण्यों के फल का विचित्र समवाय लेकर उपस्थित होती है। सहृदय रसिक 'भोक्ता' के लिए कालिदास में इससे बढ़कर क्या चाहिए? किन्तु, आज का विद्यार्थी, जो कभी रसिकता को छोड़कर समाजविज्ञान के परिपार्श्व में किसी कलाकार की कला को देखना पसन्द करता है, केवल इतने भर से कालिदास को प्रथम श्रेणी का कलाकार घोषित न करेगा। वह कालिदास में उसके युग की चेतना ढूंढना चाहेगा और कालिदास का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है, कि संस्कृत कवियों में वही अकेला ऐसा कवि है (बाण को छोड़कर), जिसने अपने युग की चेतना को अपने काव्यों में तरलित कर दिया है। यदि कालिदास संस्कृत साहित्य का चोटी का रससिद्ध कवि है, तो दूसरी ओर भारत के प्राचीन इतिहास के ज्वलन्त युग का दीपस्तम्भ और पौराणिक ब्राह्मणधर्म तथा वर्णाश्रम धर्मका सच्चा प्रतीक। इस दूसरे पक्ष को छोड़ देनेपर हम कालिदासकी कविता की सरस अठखेलियाँ देखकर अपने आपको उसकी करवटों में उलझाते रहें, संस्कृत के इस महान् कवि के व्यक्तित्व को पूरी तरह न समझ पायेंगे तथा कभी-कभी उसके व्यक्तित्व को न जानने के कारण उसके दृष्टिकोण को समझने में भ्रान्त मार्ग का आश्रय ले सकते हैं। कालिदास के व्यक्तित्व को उसके युग से विच्छिन्न करके देखने में भी इसी तरह की भ्रान्ति हो सकती है। कालिदास

की कला तथा उसके कलाकार के व्यक्तित्व को उसके युग के परिपार्श्व में देखना एक निष्पक्ष आलोचक के लिए नितान्त आवश्यक हो जाता है।

महाराज कनिष्क के पश्चात् भारत का प्राचीन इतिहास कुछ काल के लिए अन्धकार की परतों के नीचे दबा पड़ा रहता है। इस तामसी निशा का भेदन कर गुप्तवंश का बालसूर्य उदित होता है, जो क्रमशः अपने तेज को प्राप्त करता हुआ, एक ओर कविता, सङ्गीत, चित्र, नृत्य आदि कलाओं तथा अन्य शास्त्रों के कमल-वन को विकसित करता है, दूसरी ओर प्रजा में समृद्धि, शान्ति तथा अनुराग को सम्भान्त कर देता है। गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-काल कहा जाता है। एक दृष्टि से यह उपाधि ठीक जान पड़ती है। गुप्तकाल में ही मौर्यों के बाद सर्वप्रथम समस्त उत्तरी भारत को (कुछ दक्षिणी भाग को भी) 'एकातपत्र' की छाया में लाया गया, अन्य सभी छोटे राजाओं को जीत कर उन्हें करद स्वीकार कर लिया गया, पर 'उनकी मेदिनी का हरण नहीं किया गया।' समुद्रगुप्त के दिग्विजय के बाद सारा उत्तरी भारत गुप्तों के साम्राज्य में था। प्रजा के प्रति गुप्त सम्राटों की नीति उदार थी। यही कारण है, इतिहास में वे 'उदार सम्राट्' (बेनेवोलेन्ट मोनर्क्स) के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'प्रकृति का रञ्जन' वे अपना प्रमुख धर्म समझते थे तथा प्रजा के सुख-दुःख के लिए अपने सुख-दुःख की उपेक्षा करना उनके चरित्र का एक अङ्ग था। दुष्टों को, चोर-डाकुओं को, अपराधियों को, चाहे वे प्रिय व्यक्ति ही क्यों न हों, दण्ड देने में वे अत्यधिक कठोर थे। फलतः देश में अपराध, अत्याचार, चोरी आदि समाप्त हो गई थी। गुप्त सम्राटों के समय के भारत की आर्थिक दशा अत्यधिक उन्नत थी। चीन, ब्रह्मदेश, चम्पा, बाली, यवद्वीप आदि पूर्वी देशों तथा मिस्र, रोम, ईरान आदि पश्चिमी देशों के साथ जलमार्ग से व्यापार चलता था, तथा देश में स्थलमार्ग के द्वारा व्यापार व्यवसाय की समृद्धि का पता चलता है। कृषि अत्यधिक उन्नतिशील थी और राजा भूमि की उत्पत्ति का 'षष्ठांश' ग्रहण किया करते थे। गुप्तकाल में नागरिकों का जीवन अत्यधिक सुखी तथा विलासमय था। कालिदास के काव्यों में नागरिक जीवन का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे उस काल की आर्थिक दशा पर प्रकाश पड़ सकता है। नागरिक जीवन कालिदास से सम्भवतः दो या तीन शती पूर्व से ही एक खास 'पैटर्न' (सस्थान) में ढल चुका होगा, जिसका परिपक्व रूप हमें इस काल में मिलता है। वात्स्यायन का कामसूत्र जो निश्चित रूप से कालिदास

कम से कम दो शती पूर्व की रचना होनी चाहिए, नागरिकों के वृत्त का जैसा सुन्दर विलासमय चित्र अङ्कित करता है,[१] वह कपोलकल्पना तो हो नहीं सकता।

ईसा से दो शताब्दी पहले से ही भारतीय समाज एक निश्चित ढाँचे में ढलने लग गया था। महाभारत के रचनाकाल में (सम्भवत छठी शती ई० पू०), जो सामाजिक स्वतन्त्रता पाई जाती है, वह धीरे-धीरे संयत होने लग गई थी ऐसे सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक मापदण्डों की रचना होने लगी, जो समाज को एक ढांचे में ढाल सकें। सम्भवत व्रात्य आर्यों के उत्थान के द्वारा, उनके क्रान्तिकारी विचारों के द्वारा वैदिक धर्म की ब्राह्मण अवस्था को, वर्णाश्रम धर्म की मान्यता को, जो धक्का लग रहा था, उसे रोकने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा था। ईसा की दूसरी शती पूर्व के लगभग ही मनु ने अपने धर्मशास्त्र का प्रणयन किया था, जिसमें वर्णाश्रम धर्म की पुनरुत्थापना की चेष्टा की गई है। यहीं समाज के नैतिक स्तर को उन्नत करने के लिए दण्ड, प्रायश्चित्त आदि के विधान का सङ्केत किया गया। प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के निश्चित कर्तव्य, विवाहादि के निश्चित सम्बन्ध का सङ्केत करना मनु का सामाजिक दृष्टिकोण स्पष्ट करता है। यद्यपि इस काल का नैतिक आन्दोलन धर्मसूत्रों व गृह्यसूत्रों को ही आधार बनाकर चला था, तथापि कुछ ऐसे परिवर्तन पाये जाते हैं, जो इस काल के निश्चित धार्मिक तथा नैतिक ढाँचे का सङ्केत कर सकते हैं। राजा की दैवी उत्पत्ति वाली धारणा जोर पकड़ने लगी थी, तथा प्रजा को यह शिक्षा दी जाने लगी थी कि राजा उनका पिता है, साथ ही दूसरी ओर राजधर्म की व्यवस्था कर राजा के आदर्श को भी प्रतिष्ठापित किया गया। यह वह काल था, जब राजतन्त्र अत्यधिक जोर पकड़ रहा था। रहे-सहे गणतन्त्र आपस के झगड़ों तथा राजतन्त्र के विरोध के कारण लड़खड़ा रहे थे। कौटिल्य ने बहुत पहले ही गणतन्त्रों को निकृष्ट कोटि की शासनप्रणाली घोषित कर दिया था। मौर्यों ने स्वयं इनके समाप्त करने में हाथ बँटाया था और रहे-सहे गणतन्त्रों का नाश कर राजतन्त्र के उन्नायक गुप्तों ने 'गणारि' की उपाधि धारण की थी। राजतन्त्र की धारणा गुप्तों के समय तक अत्यधिक मजबूत हो गई थी।

इस काल तक भारतीय संस्कृति एक नया रूप धारण कर चुकी थी।

---

१. दे० वात्स्यायन : कामसूत्र, प्रथम अधिकरण, चतुर्थ अध्याय, पृ० ४२-५८

आर्यों से इतर कई जातियाँ आर्य-समाज में सम्मिलित कर ली गई थी। द्रविड, नाग, यक्ष, गन्धर्व, शक आदि अनेकों विजातीय तत्त्वों ने भारतीय संस्कृति के रूपनिर्माण में अपूर्व सहयोग दिया था। द्रविडों की शिवपूजा तथा यक्षों एव गन्धर्वों की वृक्ष-पूजा भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गई थी। पुराणों में इन सबका समावेश कर एक नये 'भागवतधर्म' की नींव पड चुकी थी। कालिदास में विष्णु तथा शिव की इस समन्वय रूप उपासना का संकेत मिलता है तथा उन्हे एक ही परम सत्ता के भिन्न-भिन्न रूप माना गया है। वृक्षों की पूजा का संकेत कालिदास में कई स्थानों पर मिलता है। दोहद के लिए कामिनियों के द्वारा तत्तद् प्रकार से अशोकादि वृक्ष की पूजा में, कलात्मक दृष्टि से वसन्तोत्सव कारण रहा हो, किन्तु विद्वानों ने उर्वरता के देवता, यक्ष की उपासना के बीज ढूंढे हैं। विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि कामदेव का सम्बन्ध भी इन्हीं यक्षों से रहा है, तथा वे उर्वरता के प्रतीक हैं। गुप्तकाल तथा उससे कुछ पहले की शिल्पमूर्तियों के आधार पर भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है।

ईसा से दो-तीन शताब्दी पूर्व से ही भारतीय कला का विकास अपनी चरम परिणति की ओर बढ़ने लगा होगा। इसके पहले लक्षण कनिष्क के काल की गान्धार कला में देखे जा सकते हैं। गान्धार कला में यूनानी कला तथा रोमन कला का मिश्रण था। पर यह कलाशैली भारत में इतनी व्यापक न हो पाई। गुप्तों के काल में हमें स्थापत्यकला, मूर्ति-कला तथा चित्र कला में एक निश्चित शैली मिलती है। इन कलाओं के अतिरिक्त संगीत तथा नृत्य में भी अत्यधिक उन्नति हुई थी। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर उसकी मूर्ति में हाथ की वीणा देखी जाती है। समुद्रगुप्त स्वयं कुशल संगीतज्ञ था। उसके शिलालेख में पता चलता है कि वह स्वयं कवि तथा कवियों का आश्रयदाता था। इस काल में काव्यकला को अत्यधिक प्रश्रय मिला था। गुप्तकाल में हरिषेण, कालिदास, वत्सभट्टि जैसे प्रसिद्ध कवि उत्पन्न हुए थे। वैसे भारवि भी गुप्त-काल के अन्तिम दिनों में अवश्य विद्यमान थे। काव्य के अतिरिक्त दर्शन शास्त्र आदि का भी इस काल में प्रणयन तथा विवेचन तीव्र गति से पाया जाता है। बौद्ध भिक्षु दार्शनिक असग, दिङ्नाग, वसुबन्धु इसी काल में हुए हैं। याज्ञवल्क्य की स्मृति भी इसी काल की रचना है। आस्तिक दर्शनों में सांख्य तथा योग की मान्यताएँ पूर्णत: प्रतिष्ठित हो चुकी थी तथा पौराणिक ब्राह्मण

धर्म के अनुयायी प्रायः साङ्ख्य की दार्शनिक धारणा में विश्वास करते थे, ऐसा कालिदास के ग्रन्थों से ही स्पष्ट है। सांख्य दर्शन निश्चित रूप से सबसे पुराना आस्तिक दर्शन है। ऐसा जान पड़ता है, गुप्त-काल से पहले ही साङ्ख्य दर्शन की मान्यताओं में कुछ परिवर्तन हो चुका था। मूल रूप में साङ्ख्य दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन था, किन्तु इस काल तक उसमें 'ईश्वर' को स्थान मिल चुका था।

इस प्रकार गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास का उज्वलन्ततम काल है, जिसमें एक ओर समाज का नैतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्तर उन्नत दिखाई देता है, दूसरी ओर कला, काव्य, शास्त्र और विज्ञान की उन्नति। इस काल की युग-चेतना को अपने काव्यों में प्रतिबिम्बित करने में कालिदास पूर्णतः सफल हुए हैं।

कालिदास का काल व जीवनवृत्त

कविकुलचूड़ामणि कालिदास के जीवन तथा तिथि के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। उनके जीवन तथा काल के विषय में निश्चित मत न बन पाने के कई कारण हैं:—(१) कालिदास ने स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है, (२) कालिदास के नाम के साथ कई किंवदन्तियाँ तथा कृत्रिम रचनाएँ जुड़ गई हैं, (३) संस्कृत साहित्य में बाद में चलकर कालिदास नाम न रह कर उपाधि हो गया है। कालिदास के जीवन के विषय में निश्चित रूप से हम कुछ नहीं जानते। किंवदन्तियाँ उन्हें मूर्ख बताती हैं तथा काली के प्रसाद से किस प्रकार वे महान् कवि बने, इसका संकेत देती हैं। कुछ किंवदन्तियाँ उन्हें विक्रम की सभा के नवरत्नों में से एक घोषित करती हैं,[1] तो कुछ भोजदेव का दरबारी कवि।[2] कई किंवदन्तियाँ उन्हें लङ्का के राजा धातुसेन या कुमारदास का मित्र बताती है, तो कई उन्हें 'सेतुबन्ध' महाकाव्य के रचयिता काश्मीरराज प्रवरसेन का मित्र तथा मातृचेट से अभिन्न मानती हैं। ठीक यही बात कालिदास के जन्म-स्थान के विषय में है। कुछ उन्हें काश्मीरी मानते हैं, कुछ बंगाली, कुछ मालव निवासी। मेरे मत से कालिदास मालव-निवासी थे। कालिदास के

---

१. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

२. दे० भोजप्रबन्ध।

ऋतुसंहार में, जो उनकी आरम्भिक काव्य कृति है, इसके संकेत मिल सकते हैं। ऋतुसंहार में वर्णित प्रचण्ड ग्रीष्म काश्मीर में देखने को नहीं मिल सकता, साथ ही ऋतुसंहार में कवि स्वयं कई स्थलों पर स्पष्ट रूप से विन्ध्य पर्वत के वनप्रदेशों का वर्णन करता है।[1] पं० चन्द्रबलीजी पाण्डेय ने मुझे बताया था कि वे कालिदास की जन्मभूमि आम्रकूट के आसपास कहीं मानते हैं, खास उज्जयिनी नहीं, जैसा कि अधिकतर लोग समझा करते है। हाँ, उज्जयिनी से कालिदास को मोह अवश्य है। कालिदास ने अपने जीवन में अत्यधिक पर्यटन किया था। यही कारण है, उनके हिमालय के वर्णन स्वाभाविकता और सजीवता लिये हैं, वे आँखों देखे स्थलों के वर्णन हैं।

कालिदास की तिथि के विषय में कई मत रहे हैं, जिनमें प्रमुख मत निम्न हैं :—

(१) फर्ग्युसन, डॉ० हार्नली आदि विद्वानों के मतानुसार कालिदास मालवराज यशोधर्मन् के समकालीन थे, जिसने छठी शती में हूणों पर विजय प्राप्त की थी तथा हूणों पर प्राप्त विजय की स्मृति में ६०० वर्ष पहले की तिथि देकर मालव संवत् का आरम्भ किया था, जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। ये लोग अपने मत के पक्ष में रघुवंश के चतुर्थ सर्ग से रघुदिग्विजय में हूणों का वर्णन उपस्थित करते हैं।[2] किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि यद्यपि चौथी शती में हूण भारत में नहीं आये थे, तथापि उत्तर पश्चिमी सीमा में आ चुके थे और कालिदास ने उनका वर्णन वहीं किया है। कालिदास को छठी शती ईसवी में मानने की धारणा अब खण्डित हो चुकी है।

(२) दूसरा प्रसिद्ध मत कालिदास को ई० पू० प्रथम शती में मानने का है। इन लोगों के मतानुसार कालिदास मालवराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। पर पूर्वोदाहृत प्रसिद्ध पद्य के नवरत्नों में कुछ नाम अनैतिहासिक है तथा कुछ इतिहास की दृष्टि से चौथी या पाँचवीं शती ईसवी में सिद्ध होते हैं। इस मत के पक्ष में जो प्रमाण दिये जाते हैं, उनमें खास-खास प्रमाण ये हैं, (१) कालिदास ने रघुवंश के षष्ठ सर्ग में अवन्तिनाथ का वर्णन करते समय

---

१. वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं विभूषयन्त्युद्गतपल्लवैर्द्रुमैः। ऋतुसंहार

२. तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्। कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥

(रघुवंश ४६,८)

उनके 'विक्रमादित्य' विरुद का सङ्केत किया है[1] तथा उस वर्णन से अवन्तिराज के प्रति कवि की विशेष श्रद्धा व्यक्त होती है, (२) रघुवंश के उसी सर्ग में पाण्ड्य देश के राजा का वर्णन मिलता है। यदि कालिदास का समय चौथी शती माना जाय, तो उस समय पाण्ड्यों का राज्य समाप्त हो चुका था, जब कि ई० पू० प्रथम शती में पाण्ड्य विद्यमान थे[2]। किन्तु, कालिदास ने मगध के राजा का भी उतना ही प्रतापी व्यक्तित्व चित्रित किया है, 'जिसके कारण पृथ्वी राजन्वती कहलाती है' तथा जो राजाओं की नक्षत्रपङ्क्ति में चन्द्रमा के समान द्योतित होता है।[3] पाण्ड्यों के राजा का वर्णन कालिदास में कुछ काल्पनिक भी माना जा सकता है। यदि इस तरह के सभी वर्णनों को सत्य माना जाने लगेगा, तो श्रीहर्ष में नैषध के स्वयंवर वर्णन के राजाओं का भी अस्तित्व मानने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

(३) तीसरा मत कालिदास को गुप्त काल में मानता है। इसमें दो मत हैं, कुछ लोग इन्हें कुमारगुप्त का राजकवि मानते हैं, कुछ चन्द्रगुप्त द्वितीय का। मेरे मत में कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही राजकवि थे। इस मत की पुष्टि में विद्वानों ने निम्न प्रमाण उपन्यस्त किये हैं। (क) कालिदास में कुछ ऐसे ज्योतिःशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों, यथा 'जामित्र'[4] आदि का प्रयोग मिलता है, जो भारतीय ज्योतिष को यवनों की देन है; (ख) कालिदास का रघुदिग्विजय समुद्रगुप्त के दिग्विजय का सङ्केत करता है, (ग) कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशीय' का नामकरण सम्भवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सङ्केत करता है[5] तथा 'कुमारसम्भव' की रचना कुमारगुप्त के जन्म पर की गई होगी; (घ) मालविकाग्निमित्र का अश्वमेध यज्ञ समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ का व्यञ्जक हो सकता है; (ङ) शैली की दृष्टि से कालिदास की रचना निश्चित रूप में अश्वघोष से परवर्ती है, (च) कालिदास स्वयं अपने मालविकाग्निमित्र में भास सौमिल्ल तथा कविपुत्र का सङ्केत करते हैं,[6]

---

१. अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहु ·· ·· ··यत्नोल्लिखितो विभाति (रघुवंश ६.३२)
२. पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः · ·· ··मनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः (वही ६.६०)
३. कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये ..ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः (वही ६.२२)
४. तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् (कुमारसम्भव ७.१)
५. साथ ही मिलाइये 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' (विक्रमोर्वशीयः पृ० ३२)
६. भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्ध ..कि कृतोऽयं बहुमानः (मालवि० पृ० २).

वैसे इन कवियों की निश्चित तिथि का पता नहीं, पर भास का समय उनके नाटकों की प्राकृत के आधार पर ईसा की दूसरी शती माना जा सकता है, (ठ) वातास भट्टि के मन्दसौर शिलालेख की शैली से पता चलता है, कि वह कालिदास का ऋणी है। मन्दसौर का शिलालेख ४७३-४ ई० का है। इससे यह अनुमान हो सकता है कि कालिदास इससे पुराने हैं, (ज) ऐहोल के शिलालेख में कालिदास तथा भारवि का नाम मिलता है, जो ६३४ ई० का है[१]।

इस सब विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रघुवंश आदि सात काव्यो (तीन नाटको व चार काव्यो) के रचयिता 'दीपशिखा' कालिदास चौथी शती के आस-पास रहे होंगे। बाद के साहित्य से हमे पता चलता है कि बाण के समय तक कालिदास अत्यधिक प्रसिद्ध हो चुके थे। बाण ने स्वयं हर्षचरित में कालिदास की कविता की प्रशंसा की है।[२] उसके बाद वाक्पतिराज, राजशेखर आदि कवियों ने भी कालिदास की प्रशंसा की है। बाद में जाकर कालिदास का नाम इतना प्रसिद्ध हो गया था, कि यह एक उपाधि बन बैठा। राजशेखर लिखते हैं कि उनके समय तक (शृङ्गारी कवि) तीन कालिदास हो चुके थे।[३] भोजदेव के समय में भी एक कालिदास हुए थे, जिनकी उपाधि 'परिमल कालिदास' थी, तथा जो 'नवसाहसाङ्कचरित' के रचयिता थे।

संस्कृत साहित्य के अन्य कालिदासों से रघुवंशादि के रचयिता कालिदास को अलग करने के लिए इन्हें 'दीपशिखा' कालिदास कहना विशेष ठीक होगा। संस्कृत के प्राचीन पण्डितों ने इन्हें एक सुन्दर उपमा-प्रयोग के कारण यह उपाधि दे दी है। रघुवंश के षष्ठ सर्ग में स्वयंवरवर्णन में कालिदास ने बताया है कि जब इन्दुमती हाथ में वरमाला लिये किसी राजा के पास पहुँचती है, तो वह उसी तरह जगमगा उठता है, जैसे रात में सञ्चारिणी दीपशिखा के प्रकाश में राजमार्ग का प्रासाद चमक उठता है और जब वह उसे छोड़कर आगे बढ़ जाती है, तो वह विवर्ण हो जाता है।[४]

---

१. स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।

२. निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥ (हर्षचरित)

३. शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

४. सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ (रघु० षष्ठ सर्ग ६७)

कालिदास की कृतियाँ

वैसे तो कालिदास के नाम से कई कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु 'दीपशिखा' कालिदास की रचनाएँ केवल ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल ही हैं। इनमें प्रथम चार काव्य हैं बाकी तीन नाटक।[१] कालिदास के नाटकों के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहना है, क्योंकि कालिदास के नाटककर्तृत्व पर हम नाटककारों की श्रेणी मे एक स्वतन्त्र परिच्छेद देने जा रहे हैं। यहाँ हम कालिदास के दो महाकाव्यों तथा दो इतर काव्यों के विषय में कुछ कहना चाहेंगे। पहले यह संकेत कर देना आवश्यक होगा कि कालिदास के काव्यों तथा नाटकों के सूक्ष्म अध्ययन पर पता चलता है कि कवि की प्रतिभा किस तरह क्रमशः अभिवृद्ध हुई है, और उसकी कलात्मक परिणति के बीज प्रारम्भिक रचनाओं में ही दृष्टिगोचर होते हैं। ऋतुसंहार कवि की आरम्भिक रचना है, यही कारण है वह कलात्मक

---

१. किंवदन्तियाँ 'नलोदय' 'राक्षसकाव्य' 'शृङ्गारतिलक' काव्यों को, श्रुतबोध नामक छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ को, 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ज्योतिःशास्त्र की रचना को तथा प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत महाकाव्य को भी कालिदास की ही रचना घोषित करती हैं। सेतुबन्ध के टीकाकार रामसिंह ने इसे कालिदास की रचना मानते हुए लिखा है—'यं चक्रे कालिदासः कविकुमुदविधुः सेतुनामप्रबन्धम्।' पर इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं। सेतुबन्ध की शैली में पतनोन्मुखकाल का यमक आदि अलङ्कारों का मोह विशेष पाया जाता है। यही बात नलोदय तथा राक्षसकाव्य में भी बहुत अधिक पाई जाती है। सरस स्वाभाविक शैली का पथिक कालिदास इस तरह के चित्रकाव्य को जन्म नहीं दे स नाः—

कश्चिद्वन बहुवनं विचरन् वयस्यो वदया वनात्मवदनां विनतां वनार्द्राम्।
नवंर्यरिप्रदमुदीक्ष्य समुत्थितं खे ना गामिमा मदकलः सकलां वभाषे ॥ (राक्षसकाव्य)

(बहुत से कमलों से भरे वन में घूमता हुआ कोई मस्त नवयुवक आकाश में बादल (देह के शत्रु (अग्नि) के शत्रु (जल) को देने वाले) को घिरा देखकर जल से भीगी, कमल के समान मुखवाली नायिका से इस प्रकार की कलापूर्ण वाणी में बोला।)

'नलोदय' महाकाव्य को प्रायः सभी विद्वान् कालिदास की रचना नहीं मानते। नलोदय काव्य में यमक के सभङ्गरूप का मोह अत्यधिक पाया जाता है। श्री रामनाथ अय्यर के मतानुसार 'नलोदय' की रचना दक्षिण के किसी कवि 'वासुदेव' ने की थी, जिसने दूसरे यमक-काव्य 'युधिष्ठिरविजय' (काव्यमाला से प्रकाशित) की भी रचना की है। यह कवि कुलशेखर तथा उसके पुत्र राम की राज-सभा में नवीं शती के अन्त (?) में रहा होगा। (दे० रायल एशियाटिक सोसायटी, जर्नल १९२५, पृ० २६३)

प्रौढ़ि से रहित है। मेघदूत या कुमारसम्भव की कलात्मक स्निग्धता का वहाँ अभाव है। इसीलिए कुछ विद्वान् इसे कालिदास की रचना नहीं मानते। वे इस विषय में कुछ दलीलें भी देते हैं कि यदि यह कालिदास की रचना होती, तो मल्लिनाथ इसकी टीका क्यों न लिखते तथा आलङ्कारिक अपने लक्षणग्रन्थों मे इसके पद्यों को क्यों न उद्धृत करते। पर ये दलीलें थोथी हैं, ऋतुसंहार की सरलता के कारण न तो मल्लिनाथ ने ही इस पर टीका करना आवश्यक समझा होगा, न वे अलङ्कार शास्त्री ही इसके प्रति आकृष्ट हुए होंगे, जो सदा प्रौढ़ कलात्मकता के प्रशंसक रहते हैं। ऋतुसंहार के कुछ ही बाद की रचना मालविकाग्निमित्र है। कुमारसम्भव, मेघदूत तथा विक्रमोर्वशीय कवि की तरुणता का संकेत करते हैं। ये कवि के जीवन के माध्यकाल से सम्बद्ध जान पड़ते हैं। तारुण्य का जो अंकुर प्रथम काल की रचनाओं में मिलता है, वह यहाँ विकसित हो गया है। रघुवंश तथा शाकुन्तल अन्तिम काल की रचनाएँ जान पड़ती हैं, इनमें भी सम्भवतः रघुवंश सबसे अन्तिम रचना है। रघुवंश ही वह रचना है, जिसमें कालिदास की युग-चेतना पूर्णतः प्रतिबिम्बित मिलती है। आदर्श समाज के जो चित्र कालिदास ने रघुवंश में यत्र-तत्र संकेतित किये हैं, वे कालिदास की वर्णाश्रमधर्म की मान्यता को पुष्ट करते हैं।

ऋतुसंहार

ऋतुसंहार छः सर्ग का एक छोटा-सा काव्य है। इसका प्रतिपाद्य विषय प्रकृतिचित्रण है। पर ऋतुसंहार की प्रकृति वाल्मीकि की भाँति आलम्बन प्रधान न होकर, उद्दीपन प्रधान है। ऋतुसंहार में कवि ने अपनी प्रिया को सम्बोधित कर छहों ऋतुओं का वर्णन किया है, तथा उसके उद्दीपन पक्ष का स्वर यत्र तत्र स्पष्ट मुखरित हो उठता है। यह दूसरी बात है कि कुछ ऐसे भी चित्र आ जाते हैं, जो प्रकृति के आलम्बनपक्ष-से लगते हैं। कवि ने काव्य को ग्रीष्म की प्रचण्डता से आरम्भ किया है और वसन्त की सरसता के साथ काव्य की परिसमाप्ति की गई है। ग्रीष्म की प्रचण्डता का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है।

विशुष्ककण्ठाहृतसीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतोऽनुतापिताः।
प्रवृद्धतृष्णोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिणोऽपि बिभ्यति॥ (१. १५)

'सूखे कण्ठ से सीकर-जल को ग्रहण करते हुए; सूर्य की किरणों से तपाये

हुए, बहुत ज्यादा प्यास मे सताये, जल के इच्छुक हाथी शेर से भी नही डरते हैं।'

ऋतुसहार के वर्णनो मे अलङ्कारो की सुन्दर छटा है। कलिदास का वर्षाकाल राजा की तरह ठाट-बाट से आता दिखाई पड़ता है, वह पानी से भरे बादल के मस्त हाथी पर बैठकर आता है, आकाश मे उसकी बिजली की ध्वजा फहराती है और वज्रनिर्घोष के 'बाद्य' बजा करते है। वह उद्धत कान्ति से कामिजनों का प्रिय बनकर प्रकृति के प्राङ्गण मे अवतरित होता है।[1] इसी तरह कालिदास की शरत् काश की नई साड़ी पहन कर, खिले कमलों के मुख की सुन्दरता लिये, मस्त हसो के कूजन रूपी नूपुरो से मनोहर बनी, फल के भार से झुकी हुई पकी शालि की तरह लज्जा (या यौवनभार) से झुके कोमल शरीरवाली नववधू बनकर आती दिखाई देती है।[2] ऋतुसहार की कला के भोलेपन तथा 'बचकानेपन' मे भी अपना सौन्दर्य है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

मेघदूत

मेघदूत कालिदास की उन दो रचनाओं में से एक है जिनके कारण कालिदास ने विश्वख्याति प्राप्त की है। कवि ने १११ या ११८ पद्यो[3] के इस छोटे से काव्य की गागर में अपनी भावना के सागर को उडेल दिया है। कुबेर के शाप के कारण रामगिरि पर वर्ष भर के वनवास को गुजारता हुआ कोई यक्ष, वर्षाकाल के आरम्भ में आकाश मे घिरे बादल को देखकर वियुक्त प्रिया की याद से तडफ उठता है और बादल से प्रार्थना करता है कि वह अलकापुरी जाकर उसकी प्रिया को सन्देश पहुँचा दे, तो बडा उपकार होगा। पूर्वमेघ में रामगिरि से अलकापुरी तक के उस मार्ग का वर्णन है, जिससे बादल को जाना है। इस मार्ग मे बादल कही उसका इन्तजार करती, जनपदवधुओं की सरस

---

१. ससीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः।
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥ (ऋतु० २.१)

२. काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा, सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥ (ऋतु० ३.१)

३. वल्लभदेव के अनुसार मेघदूत में १११ पद्य हैं, मल्लिनाथ के मत से ११८। सम्भवतः ये ७ पद्य बाद के प्रक्षेप हैं।

आँखों का पात्र बनेगा, तो कहीं आकाश में उड़ती बलाकाओं की गिनती हुई सिद्धकामिनियों को अपने गर्जन से डराकर उनके प्रियों को आलिङ्गन का अपूर्व आनन्द उठाने में सहायता देगा। वह कहीं नीपकुसुमों से खिले नीच पर्वत को देखेगा, तो कहीं विन्ध्य की तलहटी में 'हाथी के शरीर पर चित्रित पत्रावली' की तरह पहाड़ियों के कारण इधर-उधर छिटकी हुई रेवा की धाराओं को।[१] उज्जयिनी में पहुँचकर वह महाकाल के दर्शन करेगा और इस बात का स्मरण रखेगा कि रात के अन्धेरे में अभिसरण करती नायिकाओं को 'सोने की रेखा के समान चमकती' बिजली से आलोक दिखाये, लेकिन गरजकर डराये नहीं।[२] इसके बाद 'विवृतजघना' गम्भीरा के रस का 'ज्ञातास्वाद' रसिक की तरह पान कर, वह ब्रह्मावर्त, क्रौंचपर्वत आदि मार्ग से होता हुआ, उस अलका में पहुँचेगा, जहाँ कन्याएँ मणियों को रेती में छिपा-छिपाकर खेला करती हैं, जहाँ की कामिनियों की चूर्णमुष्टि मणिदीपों को नहीं बुझा पाती और जहाँ सूर्योदय के समय राजमार्ग पर पैरों में कुचले हुए मन्दारपुष्प, कानों से गिरे कनककमल, सूत्र के टूटने से बिखरे हुए हार, रातमें अभिसरण करती 'कामिनियों'की सूचना दिया करते हैं।[३] इसी सम्बन्ध में यक्ष बादल को अपने निवासस्थान का सरस विलासमय विवरण देता है तथा उस यक्षिणी की विरह-विदग्ध करुणदशा का मार्मिक वर्णन करता है, जो विधाता की प्रथम स्त्री-सृष्टि है।[४] तदनन्तर यक्ष

---

१. रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां ।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ (पूर्वमेघ, १९)

२. सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीम् ।
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूर्विक्लवास्ताः ॥ (पूर्वमेघ, ३७)

३. गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ (उत्तरमेघ, ९)

४. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ (उत्तरमेघ १९)

का वह प्रसिद्ध सन्देश है, जिसमें कालिदास ने अपने प्रेमी हृदय की भावना को भर दिया है। काव्य का प्रामाणिक कलेवर यहीं समाप्त हो जाता है। किसी कवि ने काव्य को सुखान्त बना देने के लिए दो पद्य प्रक्षिप्त कर दिये हैं, जिनमे सकेत मिलता है, कि कुबेर ने यक्ष के सन्देश की बात सुनकर प्रसन्न होकर दोनों बिछुड़े प्रेमियों को मिला दिया।

संस्कृत पण्डित परम्परा मेघदूत को खण्डकाव्य मानती है, पर खण्ड काव्य के लिए जिस इतिवृत्त की आवश्यकता होती है, वह मेघदूत मे नगण्य है। मेघदूत मे वर्णित यक्ष का इतिवृत्त इतना नगण्य है कि उसका काव्य मे कोई महत्त्व नही। यदि यहां यक्ष न होकर कोई दूसरा भी होता, तो कोई अन्तर नही पड़ता। साथ ही खण्ड काव्य मे, इतिवृत्त की जो गत्यात्मकता किसी हद तक आवश्यक है, उसका मेघदूत मे अभाव है। खण्डकाव्य विषयप्रधान (Objective) रचना होती है, जब कि मेघदूत मे विषयिप्रधान (Subjective) दृष्टिकोण स्पष्ट परिलक्षित होता है। कुछ विद्वान् मेघदूत को करुणगीति या 'एलिजी' (Elegy) मानने के पक्ष में हैं। डॉ० कीथ का यही मत है। मेरे मत से मेघदूत करुण-गीति नही है। 'एलिजी' प्रायः निधन मे सबद्ध करुणगीतियाँ होती हैं, जब कि मेघदूत का करुण कुछ नही विप्रलम्भ का अङ्ग है। मेघदूत का रस शृङ्गार है, करुण नही, इसे कभी नहीं भूलना होगा। मेघदूत न खण्डकाव्य है, न करुणगीति ही, वह विषयि-प्रधान भावात्मक गीतिकाव्य (Lyric poem) है। इस दृष्टि से मेघदूत की तुलना हम हिन्दी के छायावादी कवि पन्त की 'ग्रन्थि' तथा प्रसाद के 'आँसू' से कर सकते हैं, जिन्हें भी कुछ लोग भ्रांति से खण्डकाव्य या 'एलिजी' मान लेते हैं, यद्यपि वे स्पष्टतः 'गीतिकाव्य' हैं। किसी काव्य मे सूक्ष्म कथा-सूत्र का संकेत देने मात्र से वह इतिवृत्तात्मक या विषयप्रधान नही बन सकता। मेघदूत मे गीतिकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं। गीतिकाव्य से हमारा तात्पर्य संगीत के आधार पर 'गेय' काव्य से नही है। गीतिकाव्य हम उसे कहते हैं, जिसमे कवि के निजी भावो तथा कल्पनाओ का अकृत्रिम प्रवाह हो, जिसमे कवि की वैयक्तिकता, उसके निजी सुख-दुःख, हास-अश्रु, उल्लास-विषाद की तरलता हो, जहाँ कवि अपने आप को भावुक सहृदयों के सामने कविता के माध्यम से रख रहा हो।

मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना का बीज संभवतः हनुमान् को दूत बनाने की रामायण की घटना में है। मेघ को दूत बनाने में कुछ विद्वान् अस्वाभाविकता का दोष मानते हैं, किंतु कालिदास ने स्वयं ही 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' कह कर इसका उत्तर दे दिया है। मेघ को दूत बनाने में काव्य दुष्ट नहीं हुआ है, अपितु उसकी काव्यमत्ता और अधिक निखर उठी है। पूर्वमेघ में इस काव्यमत्ता का कल्पनापक्ष अधिक है, उत्तरमेघ में भावनापक्ष। कल्पनापक्ष तथा भावनापक्ष की प्रचुर तरलता के ही कारण यह अनुमान करना असंगत न होगा कि इस कविता में कवि के स्वयं के वैयक्तिक अनुभवों का स्पंदन है। मेघदूत की कलात्मक चारुता में संस्कृत के भावी कवियों का मन इतना रमा है कि कई कवियों ने इसके ढंग पर 'संदेश' काव्य लिखे हैं, इनमें 'नेमिदूत' (विक्रमकृत) 'पवनदूत' (धोयीकृत) 'हंसदूत' 'उद्धवदूत' 'हनुमद्दूत' आदि प्रसिद्ध हैं।[१] पर मेघदूत की रमणीयता को ये दूतकाव्य नहीं पा सके हैं।

कुमारसम्भव

कुमारसंभव कालिदास के दो महाकाव्यों में से एक है। इसकी रचना रघुवंश से पहले की है। कुमारसंभव का जो रूप हमें उपलब्ध है, उसमें १७ सर्ग हैं।

---

१. मेघदूत के ही ढंग पर आज से लगभग दस वर्ष पूर्व इन पंक्तियों के लेखक ने भी एक गीतिकाव्य 'दक्षिणानिलदूत' लिखा था, जो अभी अप्रकाशित है। उसके दो तीन पद्य यहाँ देना अनावश्यक न होगा।

टोकं गच्छन् किल शुभपुरं न दिशायामवाच्यां,
    द्रक्ष्यसि त्वं सुरचिरनदीं तां वनामाभिधानाम्।
घट्टे तस्याः पवनमहिलाः आगताः स्नातुमत्र
    पर्यैर्वीचीविहरं विशिथिलान् मा पटान् किन्तु तासाम्॥ (पद्य २५)
कामोद्रेके रतिपतिमसे तत्र पुर्यां समग्रा-
    दायाते ये न मलिनहृदयेनेऽपि भूताः मरागाः।
शृङ्गामेकप्रभववहुलामर्दसिन्दूरपङ्क
    जातं काचच्छविसमतुलं कुट्टिमं यत्र पुराऽभूत्॥ (पद्य ६५)
तस्या शान्त्या रतिकलहजः कामनीलाञ्छना ये
    लोले रामाधिवल्लिहरीः भग्नहासैः कराग्रैः।
तुम्बीयुग्मैरिव कुचघटैस्तीर्णकामाब्धयग्ने
    रैकान्ते तज्जघनपुलिने रोमकूपैर्विसिक्तम्॥ (पद्य ८०)

किन्तु यह अनुमान किया जाता है कि कालिदास का मूल काव्य पहले सर्ग से आठवें सर्ग तक ही था तथा शेष नौ सर्ग किसी बाद के कवि के द्वारा प्रक्षिप्त कर दिये गये हैं। इस काव्य पर मल्लिनाथ की टीका हमें केवल अष्टम सर्ग तक ही मिलती है। किंवदन्ती है कि अष्टम सर्ग के शिव-पार्वती संभोग वर्णन के कारण कालिदास को कुष्ठ रोग हो गया था तथा काव्य अधूरा ही रह गया। इससे यह संकेत मिलता है, कि काव्य के इस संभोग वर्णन से श्रोताओं तथा आलोचकों ने अरुचि दिखाई हो, फलत. कालिदास ने इसे अधूरा ही छोड़ दिया होगा। पर ऐसा भी हो सकता है कि कालिदास ने काव्य की कथावस्तु का अन्त यही करना ठीक समझा हो, क्योंकि 'कुमारसम्भव' के कारणरूप शिव-पार्वती-संभोग से स्कन्द के भावी जन्म की सूचना मिल जाती है। इसके अतिरिक्त कवि का प्रमुख लक्ष्य पार्वती की तपस्या के 'क्लेश की सफलता बता कर उसे क्लेशहीन नवीन रूप देना' जान पड़ता है।

कुमारसंभव में हम कालिदास की प्रामाणिक कृति केवल प्रथम आठ सर्गों को ही मानते हैं। इन सर्गों में कवि ने एक समग्र एवं समन्वित कथावस्तु को चित्रित किया है। शिव तथा पार्वती जैसे देवताओं की प्रणय-गाथा के विषय को लेकर उस पर काव्य लिखना निश्चित रूप से साहसपूर्ण कार्य था। कालिदास ने इन दोनों देवताओं के प्रणय को दैवीरूप न देकर शुद्ध मानवीयरूप दिया है। शिव तथा पार्वती देवता होते हुए भी मानवीरूप में दिखाई पड़ते हैं। कुमारसंभव की कथा का स्रोत संभवतः महाभारत (३.२२५) रहा है, किन्तु कालिदास ने उसमें कुछ आवश्यक हेरफेर अवश्य किये हैं। आरम्भ में हिमालय का सजीव वर्णन, तृतीय सर्ग का वसन्त वर्णन, चतुर्थ सर्ग का रतिविलाप तथा पंचम सर्ग का पार्वती-ब्रह्मचारी-संवाद कुमारसंभव के अत्यधिक मार्मिक स्थल हैं। कुमारसंभव की कृति पूर्णतः रसवादी जान पड़ती है, रघुवंश की भाँति कवि यहाँ किसी नैतिक व्यवस्था का पोषक नहीं दिखाई देता। यौवन की सरस क्रीडा का वर्णन ही कवि का प्रमुख प्रतिपाद्य जान पड़ता है, जिसे कवि ने पौराणिक इतिवृत्त को लेकर व्यक्त किया है। कुमारसंभव का कोई गंभीर उद्देश्य नहीं और यदि कोई है भी, तो वह काव्य की प्रभावोत्पादकता में पूरी तरह दब जाता है। हम देखेंगे कि रघुवंश की रचना का उद्देश्य सर्वथा भिन्न रहा है।

रघुवंश

रघुवंश कुमारसंभव की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र को लेकर आता है। यही कारण है कि यहाँ कालिदास की कला का पूर्णरूप दिखाई देता है। कालिदास की कला ने इस काव्य में कई इतिवृत्तों को लेकर इस तरह बुन दिया है कि वे सब हमारे सामने एक ही ताने-बाने के रूप में आते हैं। रघुवंश को हम एक समग्र इतिवृत्तात्मक काव्य न कहकर कई चरित्रों की चित्रशाला कह सकते हैं, जिसमें दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक कई चरित्र हमारे सामने आते हैं। इनमें से कुछ चित्रों में कवि का मन अत्यधिक रमा है, कुछ के चरित्रों को वह चलते ढङ्ग से अङ्कित कर देता है। समग्र काव्य में कालिदास की तूलिका रघु तथा राम के चरित्रों को ही अपनी समस्त सपदा दे सकी है और सारी चित्रशाला में रघु तथा राम के बाद हमें तपस्यारत दिलीप का गम्भीर चरित्र और अज का कोमलरूप अधिक आकर्षित करता है। रघुवंश के पूर्वार्द्ध में रघु का आदर्श चरित्र अत्यधिक उदात्त है और दिलीप तथा अज के चरित्र उसी के अङ्गरूप में आये हैं, उत्तरार्ध में राम के चरित्र का ठीक वही स्थान है, जिसके अङ्ग दशरथ तथा कुश के चरित्र हैं। कुश के बाद के कई राजा हमारे सामने छायाकृति में आते हैं और बड़ी तेजी से काव्य के रङ्ग-मञ्च से ओझल हो जाते हैं। अग्निवर्ण के विलासी जीवन का करुण अन्त दिखाकर काव्य का अन्त होता है और रघु के वंश के भावी उत्तराधिकारी का, अग्निवर्ण की गर्भवती पत्नी के गर्भ का, अभिषेक कर काव्य का अन्त कर दिया जाता है :—

> तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोका-
> दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः।
> निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
> वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ (१९.५६)

'राजा अग्निवर्ण की क्षयरोगजनित मृत्यु की विपत्ति के शोक से उत्पन्न रानी के गरम आँसुओं से पहले तपाया हुआ गर्भ, बाद में सोने के कलशों के द्वारा मुक्त अभिषेक-विधि के ठण्डे जल के द्वारा शीतल बना दिया गया।'

रघुवंश की इस विविध इतिवृत्तात्मक एकता में रामचन्द्र का चरित्र निश्चित रूप से सर्वश्रेष्ठ है। दिलीप, रघु, अज तथा राम के चरित्र का प्रमुख

बिन्दु तप.पूत नि.स्वार्थ भावना है, तो रघु मे वीरता तथा दान शीलता के गुण सर्वोत्कृष्ट जान पडते हैं। अज का चरित्र एक दूसरा पहलू लेकर आता है, जहाँ प्रजा की सेवा के लिए राजा अपनी वैयक्तिक हृदय पीडा को सहता हुआ, विरह-विदग्ध मन को न चाहते हुए भी कुचल देता है। इन्दुमती की मृत्यु के बाद अज को उसके वियोग की कडवी घूंट, जीवित रहकर, इसलिए सहनी पडती है, कि दशरथ उस समय तक बालक थे। राम का चरित्र पितृ भक्ति, दुष्ट-शास्तृत्व तथा स्वार्थ-त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार कालिदास ने ये चरित्र 'आदर्श-सम्राट्' के रूप मे चित्रित किये है। इन चरित्रो मे कुछ सीमा तक कालिदास अपने काल के गुप्त सम्राटो तथा उस काल के वैभव से भी प्रभावित हुए हैं और यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि कालिदास ने अपने ही समय के समृद्धिशाली समाज का चित्र अङ्कित किया है, यद्यपि उसमे कल्पना का समावेश अवश्य है। कालिदास के रघुवश के राजचरित्र सर्वदा दोषहीन हैं; इसलिए हम उन्हे 'आदर्श' अवश्य कह सकते हैं, किन्तु आदर्श चरित्र होते हुए भी कालिदास ने जिस वातावरण में उन्हे चित्रित किया है, वह सर्वथा मानवी वातावरण है, तथा वे चरित्र हमे अस्वाभाविक, अलौकिक या दूसरे जगत् के प्राणी नही लगते। अपनी कला के प्रदर्शन के लिए कालिदास ने अतीत काल की पौराणिक गाथा को चुना है, पर जिस रूपरङ्ग के साथ उसका प्रदर्शन किया गया है, वह यथार्थवादी दृष्टिकोण न होते हुए भी यथार्थ प्रतीत होता है। रघुवश तथा कुमारसम्भव दोनो ही काव्यो में कवि कालिदास का कथा-प्रवाह अन्य पतनोन्मुख काल के महाकाव्यो की तरह केवल वर्णन या अलङ्कारप्रेम के द्वारा अवरुद्ध नहीं कर दिया जाता। रघुवश की कथावस्तु की गति कहीं मन्द नही पड़ती। इसके बीच कई सरस स्थल आते है, जो कथा प्रवाह को गति देते हैं। वर्ण्यविषय, दृश्य, योजना, चरित्र-चित्रण, भाव-सन्तति, घटनाएँ तथा दार्शनिक सङ्केत सब मिलकर काव्य की एकरूपता में सहायक होते है।

रघुवश के प्रथम दो सर्गो मे हमे पुत्रहीन दिलीप के द्वारा नन्दिनी की सेवा का त्यागपूर्ण चित्र देखने को मिलता है, तो तीसरे तथा चौथे सर्गो मे रघु की वीरता का वर्णन। पञ्चम सर्ग मे भी रघु की वीरता देखने को मिलती है, पर वह युद्ध वीरता की नही, दानवीरता की झाकी है। इसी

सर्ग के अन्त मे हमारे सामने एक नया चरित्र आता है। अज के चरित्र के परिपार्श्व के रूप मे ही इन्दुमती-स्वयंवर, अज-इन्दुमती का प्रेम तथा उनके करुण चिरवियोग के चित्र हमारे दृष्टिपथ मे आते हैं। अज का चित्र अष्टम सर्ग तक चलता है। नवम सर्ग मे दशरथ का वर्णन है। इसके बाद दस से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक रामचन्द्र का उदात्त चरित्र अङ्कित है। बाकी चार सर्गों मे कुश से लेकर अग्निवर्ण तक के २२ राजाओ का वर्णन मिलता है। प्रश्न होता है कि क्या कालिदास ने काव्य को यहीं समाप्त कर दिया था? किंवदन्ती है कि इस काव्य मे २५ सर्ग थे, किन्तु केवल १९ सर्ग ही उपलब्ध हैं तथा मल्लिनाथ ने भी केवल इन्ही सर्गों पर टीका की है। मल्लिनाथ के पूर्व के टीकाकार वल्लभदेव ने भी १९ सर्गों पर ही टीका की है। कुछ लोगो के मतानुसार अग्निवर्ण के विलासितापूर्ण जीवन की झाँकी बताकर काव्य को समाप्त कर देने मे कालिदास का यह उद्देश्य रहा है कि जिस वंश मे रघु, राम जैसे उदात्तचरित्र सम्राट् हुए थे, उसी वंश का विलासपूर्ण होने के कारण कितना करुण अन्त हुआ।

कालिदास का व्यक्तित्व और मान्यताएँ

मूलत कालिदास पौराणिक ब्राह्मणधर्म तथा वर्णाश्रमधर्म के प्रबल पोषक हैं। अपने काव्यो तथा नाटको की कथावस्तुओ को उन्होने पुराणो से लिया है तथा गुप्तकाल के ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थानवाद का स्वर उनकी कृतियों मे स्पष्ट सुनाई देता है। अपने काव्यो की कथावस्तु मे कालिदास ने जीवन को एक खास ढाँचे (पैटर्न) मे अङ्कित किया है। हम देख चुके हैं कि गुप्तकाल मे समाज एक खास ढाँचे मे ढल चुका था। कालिदास उसी सामाजिक व्यवस्था के चित्रकार हैं। पौराणिक धर्म मे विष्णु तथा शिव एक ही सत्ता के अंश माने जाने लगे थे। कालिदास ने उन्हे इसी रूप मे चित्रित किया है। कालिदास स्वय शिव भक्त जान पडते हैं। कालिदास की शिवभक्ति उनके काव्यो तथा नाटकों के मङ्गलाचरण से स्पष्ट है, पर विष्णु के प्रति भी कालिदास की वही भक्ति है। यहाँ यह सङ्केत करना अनावश्यक न होगा कि गुप्त सम्राट् विष्णु के भक्त थे। इस समय तक राम, कृष्ण, वराह आदि अवतारो की प्रतिष्ठापना हो चुकी थी। कालिदास के काव्य पौराणिक अवतारवाद के पोषक हैं। कालिदास के

राम वाल्मीकि के राम की भाँति आदर्श मानव नहीं, 'हरि' के अवतार हैं।[१] कालिदास ने रघुवंश के दशम सर्ग में तथा अन्यत्र भी इस बात का सङ्केत किया है कि राम विष्णु के अवतार हैं। इसी तरह वराह, कृष्ण आदि अन्य अवतारों का भी सङ्केत मिलता है।[२] सृष्टि तथा प्रलय के विषय में कालिदास की ठीक वही मान्यताएँ हैं, जो पुराणों की।[३] पौराणिक आख्यानों के सङ्केत कालिदास में यत्र तत्र मिलते हैं।

पौराणिक धर्म की भाँति ही, कालिदास में मनु आदि स्मृतिकारों के द्वारा निर्दिष्ट वर्णाश्रमधर्म के प्रति आदर है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के निश्चित कर्तव्यों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के निश्चित आश्रमों पर कालिदास ने जोर दिया है। समाज की उन्नति के लिए वे इनका पालन जरूरी समझते हैं। उनके राजा प्रथम वय में ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, तो तृतीय वय में पुत्र को राज्य देकर पत्नी सहित वन की 'तरुच्छाया' का सेवन करते हैं।[४] द्वितीय वय में वे गृहस्थ जीवन का पालन केवल इसलिए करते हैं कि उन्हें प्रजा का पालन करना है तथा पितृऋण चुकाना है। कालिदास के ब्राह्मण चरित्र भी आश्रमधर्म का पालन करते हैं, इसके लिए हम वरतन्तु और कौत्स के चरित्र को उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। प्रजा में वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था करना राजा का प्रमुख धर्म है।[५]

कालिदास साम्राज्यवाद के पोषक हैं। वे राजाओं के 'दैवी अधिकारों' को मानते हैं। कालिदास का समय वह है, जब स्मृतिकार राजा को अपना पिता समझने की शिक्षा प्रजा को दे रहे थे तथा नीतिग्रन्थ 'बालक राजा के भी सम्मान का उपदेश इसलिए दे रहे थे, कि वे उसे मनुष्य नहीं, 'महती देवता' समझते थे।' कालिदास के छः वर्ष के राजा सुदर्शन का भी प्रजा पिता के समान आदर करती देखी जाती है।[६] किन्तु कालिदास यहीं तक नहीं

१. रामाभिधानो हरिरित्युवाच। (रघुवंश १३.१)

२. रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः। (रघुवंश १३.८)
(और) बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः (मेघदूत)

३. अनु युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते (रघुवंश १३ ६)

४. रघु० ३.७०

५. नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः (रघुवंश १६.६७)

६. नं राजवीथ्यामधिहस्तियान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ (रघुवंश १८. ३९)

रखते। उनके राजाओं का भी प्रजा के प्रति कुछ कर्त्तव्य था। वे ब्राह्मणों के भक्त प्रजा के भरण-पोषण की चिन्ता करने वाले तथा प्रजा के सच्चे बन्धु थे। रघुवंश के प्रथम, पञ्चम, अष्टम तथा चतुर्दश सर्ग में कालिदास ने सम्राट् के इसी आदर्श को बार-बार सकेतित किया है। प्रथम सर्ग में बताया गया है कि सम्राट प्रजा से इसलिए कर लेते थे कि वे प्रजा के कल्याण का विधान करते थे तथा प्रजा के भरणपोषण के चिन्तक होने के कारण प्रजा के सच्चे माता-पिता थे। इस प्रकार कालिदास ने स्मृतिकारों के द्वारा निर्दिष्ट राजधर्म के द्वारा प्रजा तथा राजा के राजनीतिक सम्बन्ध को नैतिक तथा धार्मिक रूप देकर उसे मजबूत बना दिया है।

कालिदास प्रकृति से नागरिक-जीवन के कवि हैं। नगर के समृद्ध विलासी-जीवन का वर्णन करने में उनका मन जितना रमता है, उतना ग्रामीण वर्णनों में नहीं। यह दूसरी बात है कि दिलीप के लिए हाथों में मक्खन लेकर उपस्थित होते ग्रामवृद्ध, रघु के चरित को गाती हुई ऊख के खेत की रखवाली करती शालिगोपिकाएँ मेघ की प्रतीक्षा करती जनपद-वधुएँ उनके चित्रों में यत्रतत्र दिखाई पड जाती हैं, पर इनमें कवि का मन विशेष नहीं रमता। उनका मन अधिकतर उज्जयिनी, अलका या अयोध्या के राजमार्ग पर अंधेरी रात में अभिसरण करती कामिनियों, नीच पर्वत पर पण्यस्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते नागरिकों तथा नागरिक जीवन की अत्यधिक समृद्ध झाँकी दिखाने में विशेष अनुरक्त है। उन्हें नाव में तैरते नागरिकों, नगर के आसपास के उपवनों तथा समृद्ध राजमार्ग में विशेष दिलचस्पी है[1] और उजडी हुई अयोध्या के लुप्त नागरिक जीवन के प्रति करुण भाव।[2] यही कारण है, गुप्तकाल के ग्रामीण जीवन की सच्ची स्थिति का पता हमें कालिदास के काव्यों में नहीं मिल पाता। वैसे ऋषियों के तपोवनों में एक झाँकी मिलती है, पर ऐसा अनुमान होता है कि वह वर्णन 'आदर्श' अधिक है 'यथार्थ' कम, साथ ही वह भी सच्चे ग्रामीण जीवन का सकेत देने में असमर्थ है।

---

१. रघुवंश १४.३०।

२. आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥ (रघु० १६.१३)
सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान्।
सद्योहतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे॥ (१६.१५)

कालिदास का अध्ययन गम्भीर था। उनके काव्यों में ज्योतिःशास्त्र, राजनीति, दर्शन आदि के ज्ञान का संकेत मिलता है। कालिदास के राजनीतिक संकेतों में शक्तित्रय,[1] षड्गुण[2] आदि पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है; पर भारवि या माघ की तरह वे राजनीतिक पाण्डित्य के प्रदर्शन में नहीं फँसते। कालिदास के दार्शनिक पर मुख्य रूप से सांख्य तथा योग दर्शन का प्रभाव है। कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग तथा रघुवंश के दशम सर्ग की ईशस्तुति में यत्रतत्र सांख्य सिद्धान्तों का संकेत मिलता है।[3] कुमारसम्भव के शिववर्णन में तथा रघुवंश के अष्टम सर्ग में अज की योगसाधना के वर्णन में कालिदास ने योग-साधना का भी संकेत किया है।[4] कालिदास के आदर्श चरित्र इस जीवन को क्षणिक मानते हैं तथा इसकी अपेक्षा चिरस्थायी यशःशरीर में अधिक विश्वास रखते हैं।[5]

कालिदास का कलावादी दृष्टिकोण शुद्ध रसवादी है। रघुवंश को छोड़कर उनके सभी काव्य कोरे रसवादी हैं, जिनमें किसी सन्देश का लेश भी नहीं। रघुवंश में भी सन्देश का स्वर मन्द तथा व्यङ्ग्य ही है। रघुवंश की आदर्शवादिता ने किसी कदर तक उसकी कलात्मकता में विघ्न नहीं डाला है। हम बता चुके हैं कि कालिदास का कलावादी दृष्टिकोण भारवि, माघ या श्रीहर्ष की तरह नहीं। न तो वे भारवि की भाँति अर्थ के नारिकेल-फल की चहारदीवारी के भीतर छिपा कर रखते हैं, न माघ की भाँति अलङ्कारों के मोह में ही फँसते हैं, न श्रीहर्ष की तरह कल्पना की दूर की कौड़ी ले आने में ही अपनी पाण्डित्यपूर्ण कलात्मकता का प्रदर्शन करते हैं। कालिदास का कवि हृदय का कवि है, मधुर आकृति का कवि है, आत्मा की सरसता का कवि है, जिसे किसी बाह्य 'अलंकृति' की जरूरत नहीं। कालिदास की कला का एक मात्र प्रतिपाद्य—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' है।

---

१. रघु० ३.१३। २. ८.१९;२१।

३. त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ (कु० २.१३)

४. कुमारसंभव. ३, ४५-५०; रघुवंश. ८, १९-२४।

५. किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥ (रघु० २.५६)

कालिदास की काव्य-प्रतिभा

कालिदास की कला रसवादी है। कालिदास कोमल रसों के सरस चित्रकार हैं, गम्भीर रसो के प्रति कालिदास की उतनी अभिरुचि नहीं दिखाई देती, जितनी भवभूति की। यही कारण है, कि लोग कालिदास को प्रधानतया शृङ्गार का कवि मानते हैं। शृङ्गार, प्रकृतिवर्णन तथा विलासी नागरिक जीवन के चित्रण में कालिदास सस्कृत साहित्य में अपना सानी नहीं रखते। शृङ्गार के सयोग पक्ष ही नहीं, वियोग पक्ष के चित्रण में भी कालिदास की तूलिका अत्यधिक दक्ष है तथा वियोग पक्ष के चित्रण में कालिदास की पङ्क्तियाँ सहृदय पाठक के हृदय को करुणा से गीला बना देती हैं। वियोग पक्ष की दृष्टि से मेघदूत के उत्तरार्ध का सन्देश वाला अंश तथा रघुवंश के चतुर्दश सर्ग की राम की करुण अवस्था का वर्णन अतीव सूक्ष्म होते हुए भी हृदय के अन्तराल तक पैठने की क्षमता रखता है। इन दोनों स्थलों पर कवि कालिदास ने जिस सूक्ष्म, किन्तु पैनी व्यञ्जना शक्ति का आश्रय लिया है, वह वियोग की तीव्रता को बढ़ा देती है। अज-विलाप तथा रति-विलाप के करुण वर्णन मार्मिक होते हुए भी इतने प्रभावोत्पादक नहीं बन पाये हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार उन दोनों करुण गीतियों में शृङ्गार के चित्र ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। कुमारसम्भव के रतिविलाप में तो भारतीय आलङ्कारिकों ने भी दोष माना है, जहाँ करुण को बार-बार उभार कर उद्दीप्त कर दिया गया है। फलतः उसमें 'पुनः पुनः दीप्ति' नामक रस-दोष पाया जाता है। राम के वियोग वर्णन में यह बात नहीं है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि राम के हृदय में दुःख और वेदना का महासमुद्र हिलोरें ले रहा है, पर वे उसे केवल दो बूंद आंसू के द्वारा ही व्यञ्जित करना चाहते हैं। राम के वियोग का वर्णन केवल एक श्लोक (१४. ८४)[1] में कर, कालिदास ने उसकी अभिव्यञ्जना को तीव्र बना दिया है, जिसके आगे 'पत्थर को पिघला देने वाले' भवभूति के सैकड़ों करुण वर्णनों को न्यौछावर किया जा सकता है।

कालिदास के शृगार वर्णन अत्यधिक सरस हैं। मेघदूत में शृगार के कई सुन्दर चित्र हैं। मेघदूत का यक्ष मेघ के द्वारा गन्तव्य मार्ग का वर्णन करते

---

१. बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः॥ (रघु० १४.८४)

समय नीचनगेंद्र पर क्रीडा करती पण्यस्त्रियों के रतिपरिमल,[1] चटुकार प्रिय की तरह प्रातःकाल में स्त्रियों की रतिग्लानि को हरते हुए सिप्रावात[2] आदि के रमणीय चित्रों को बीच-बीच में चित्रित कर काव्य की प्रभावोत्पादकता बढ़ा देना है। यह दूसरी बात है कि कई स्थलों पर, नीतिवादी की दृष्टि में, वे कुछ अमर्यादित-से दिखाई पड़ें। कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग का शिव-पार्वती-सम्भोगवर्णन भारतीय आचार्यों के द्वारा कटु दृष्टि से देखा गया है किन्तु सहृदय आलोचकों का, जिनमें कुछ पाश्चात्य विद्वान् भी हैं, यह कहना है कि काव्य की दृष्टि से वह कालिदास की अपूर्व देन है। कालिदास ने मानव-प्रकृति ही नहीं, अचेतन प्रकृति को भी चेतन के रूप में चित्रित कर प्रकृति के शृङ्गार के कई चित्र दिखाये हैं। शृङ्गार के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नारी के सौन्दर्य वर्णन में कालिदास बेजोड़ हैं। कुमारसम्भव के प्रथम, तृतीय तथा सप्तम सर्ग का पार्वती के रूप का वर्णन तथा मेघदूत की यक्षिणी का वर्णन कालिदास के नखशिखवर्णन की जान हैं। उनके अप्रस्तुत विधान पिटे-पिटाये न होकर एक अपूर्व व्यञ्जनाशक्ति लेकर आते हैं। कालिदास के शृङ्गार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों के कुछ उदाहरणों से कालिदास का भावपक्ष और अधिक स्पष्ट हो जायगा।

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥ (कुमार० ३.६७)

'कामदेव के बाण से विद्ध होने पर शिव के हृदय का धैर्य कुछ-कुछ उसी तरह विचलित हो गया, जैसे चन्द्रोदय के समय समुद्र का अन्तःस्तल ईषत्तरल हो उठता है। शिव ने हृदय में इस तरह की चञ्चलता को लेकर

१. नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥ (पूर्वमेघ, २५)

२. दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां।
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥ (पूर्वमेघ, ३१)

अपने तीनो नेत्रो से बिम्ब के फल के समान ओठ वाले पार्वती के मुख की ओर देखा।'

इस पद्य मे कवि ने व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेकर शिव के पूर्वानुराग की स्थिति का बड़ा सरस वर्णन किया है। साथ ही पद्य मे 'तु' का प्रयोग 'और शिव की तो यह दशा थी' इस भाव की व्यञ्जना कराता है, तो शिव के धैर्य-लोप के साथ 'किञ्चित्' का प्रयोग उनकी जितेन्द्रियता का भी संकेत करता है। आलङ्कारिको ने पार्वती के अधर की ओर नेत्र-व्यापार के द्वारा 'चुम्बनेच्छा' की व्यञ्जना मानी है। समुद्रवाली उपमा शिव की ईषद्धैर्यच्युति के भाव की पुष्टि करने मे पूर्णतः समर्थ है।

व्याहृता प्रतिवचो न सदधे गन्तुमैच्छदवलंबितांशुका।

सेवते स्म शयने पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥ (कुमा०८.२)

'शिव के द्वारा बातचीत किये जाने पर, पार्वती उन्हें कोई प्रत्युत्तर नही देती थी, उनके द्वारा रोकने के लिए वस्त्र को पकड़ लिये जाने पर, वहाँ से चली जाना चाहती थी, तथा एक ही शय्यापर सोने पर भी दूसरी ओर मुँह करके सोती थी। इस तरह शिव की रति मे विघ्न करने पर भी, पार्वती उनके प्रेम को बढ़ाती ही थी।'

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।

रहस्त्वदुत्संगनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः॥ (रघु० १३.३५)

'हे सीते, आज मैं उस घटना को याद कर रहा हूँ, जब मृगया से निवृत होकर थका हुआ मैं, इस गोदावरी के किनारे पर लहरो के संसर्ग से शीतल वायु के कारण थकावट दूर किया हुआ—तुम्हारी गोद मे सिर रखकर वेतस के कुञ्ज के एकान्त मे सो गया था।'

सयोग शृङ्गार के आलम्बन पक्ष तथा उद्दीपन पक्ष का जितना सुन्दर वर्णन कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग के वसन्त वर्णन मे मिलता है, उतना अन्यत्र नही। फूलो से सजी हुई पार्वती का वर्णन आलम्बन पक्ष का सरस वर्णन है।

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।

मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।

पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥

(कुमार० ३. ५३-४)

'पार्वती के द्वारा अशोक पुष्प के पहने हुए आभूषण पद्मराग मणि की सुन्दरता को लज्जित कर रहे थे, कर्णिकार पुष्प के आभूषण सुवर्ण की कान्ति का अपहरण कर रहे थे तथा निर्गुण्डी (सिन्दुवार) के पुष्प मोतियों की लड़ी बने दिखाई देते थे। इस तरह के वसन्तपुष्पों के आभूषण को धारण करती हुई, लाल रङ्ग के वस्त्र वाली पार्वती, जो स्तनो के भार से कुछ-कुछ झुकी सी दिखाई देती थी, (शिव के सामने आकर इस तरह खड़ी हो गई) जैसे घने फूलों के गुच्छे से झुकी हुई, कोमल किसलय वाली चलती-फिरती (संचारिणी) लता हो।'

यही उद्दीपन पक्ष का प्रकृति-वर्णन कालिदास की कला के बेजोड़ नमूने में से एक है। वसंत के आविर्भाव पर प्रकृति में भी शृङ्गार का आविर्भाव हो आता है। प्रिय सूर्य को विदेश जाते देखकर दक्षिण दिशा निःश्वास छोड़ने लगती है, तो मदमस्त वनस्थलियाँ अपने प्रिय वसन्त से रतिक्रीडा कर अर्धचन्द्राकार पलाश पुष्पों के नखक्षतों को प्रकाशित करती सुशोभित होती है, हस्तिनी सूंड़में कमलपराग से सुगन्धित जल भरकर अपने प्रिय गज को पिलाने लगती है और चक्रवाक आधे खाये बिसतन्तु को अपनी प्रिया को खिलाने लगता है। भौंरा अपनी प्रिया के पीछे पीछे घूमता हुआ एक ही फूल के कटोरे से मधु-पान करता है और काला हिरन स्पर्श से आनदित, बन्द आँखो वाली हिरनी को अपने सींग से खुजलाने लगता है।'

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥

(कुमार० ३.३६)

शृङ्गार का दूसरा पक्ष हमे मेघदूत में दिखाई देता है। यक्ष के द्वारा यक्षिणी के पास भेजा गया सन्देश अत्यधिक मार्मिक बन पड़ा है।

अलका से दूर विदेश मे पड़ा हुआ यक्ष प्रिया को शरीर से तो आलिङ्गन कर नहीं सकता। दुष्ट भाग्य ने शत्रु बनकर उसकी इन अभिलाषाओं के मार्ग मे रोड़ा अटका दिया है। अब अपनी अभिलाषाओं की मानसिक पूर्ति—पूर्ति की मानसिक कल्पना—करने के सिवाय वह कर ही क्या सकता है। वह विरह के कारण तपाये हुए दुबले अङ्ग से तुम्हारे (यक्षिणी के) अत्यधिक दुर्बल तप्त अङ्ग के आलिङ्गन करने की कल्पना कर रहा है। उसे ऐसा अनु-

भव हो रहा है, जैसे वियोग के कारण वह आँसू से भरे, उत्कण्ठापूर्ण और अधिक उच्छ्वास वाले अपने अङ्गों से आँसू के कारण पिघलते हुए उच्छ्वासित एवं अविरलोत्कण्ठित तुम्हारे अङ्गों को भेंट रहा है।

अंगेनांगं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
साश्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः॥

(उत्तरमेघ ४०)

जब वह यक्षिणी को कोपाविष्ट दशा मे पर्वत की शिलाओं पर गैरिकराग से चित्रित कर, उसे मनाने के लिए अपने मस्तक को उसके पैरों पर रखना चाहता है, ठीक उसी समय बार-बार आँखों मे आँसू भर आते है, और इस तरह दोनों का कल्पित मिलन भी नहीं हो पाता। सचमुच निष्ठुर विधाता उन दोनों का मिलन इस प्रकार भी सहन नहीं कर पाता।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥ (उत्तरमेघ ४२)

और भाग्य यक्ष से शत्रुता करने में कोई कसर नहीं रखता। रामगिरि पर रहते हुए यक्ष को प्रिया का दर्शन बड़ा दुर्लभ हो गया है। उसे यक्षिणी के तत्तदंग के उपमान तो दिखाई पड़ जाते हैं पर यक्षिणी का पूरा सौन्दर्य समस्त रूप में नहीं दिखाई पड़ता। प्रियंगुलता की कोमलता में उसे यक्षिणी की झलक दिखाई पड़ती है, पर वहाँ तो केवल यक्षिणी के कोमल अङ्गों की ही सानी मिलती है। चकित हरिणी की चञ्चल आँखें भी यक्षिणी की याद दिलाती हैं, पर केवल उसके दृष्टिपात की ही। आकाश मे उदित निर्मल चन्द्रमा में केवल यक्षिणी की मुखशोभा है, तो मयूर के पुच्छभार मे यक्षिणी के काली केशपाश का रमणीय विस्तार। रामगिरि के प्रान्तभाग में इठलाकर बहती हुई तरङ्गवती नदियाँ अपनी नन्ही-नन्हीं चञ्चल लहरों से यक्षिणी के भ्रूविलास का स्मरण करा देती हैं। पर दुःख की बात तो यह है,

कि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो एक साथ यक्षिणी की सारी विशेषताओं को उपस्थित कर यक्ष के दिल को कुछ तसल्ली दे सके।

> श्यामास्वंगं चकितहरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं
> वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
> उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्,
> हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥ (उत्तरमेघ)

यक्ष को एक तसल्ली जरूर है। आखिर विष्णु के शेष-शय्या को छोड़ने के साथ-साथ उसको शाप भी समाप्त होने वाला है, और फिर तो वे शरद की चाँदनियों में उन्मुक्त विहार करेंगे। अच्छा हो यक्षिणी भी इस आशा को लेकर विरह-वेदना को कुछ हल्का कर ले।[१] पर सदा के लिए बिछुड़े हुए अज तथा रति की तसल्ली हो कैसे सकती है? इन्दुमती के साथ की गई सरस क्रीड़ाएँ अज को रह-रहकर सताती हैं, 'हाय, जिस इन्दुमती ने उसके मुँह से मधुपान किया था, वह आँसुओं से दूषित जलाञ्जलि को कैसे पी सकेगी।' क्रूर विधाता अज के प्रति अत्यधिक कठोर रहा है. उसने उस इन्दुमती का हरण कर लिया है जो अज के लिए गृहिणी, प्रियसखी तथा ललित कलाओं में शिष्या सभी कुछ रही है। भला, क्रूर मृत्यु ने उसकी कौन-सी चीज का अपहरण नहीं किया है?

> गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
> करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥ (रघु० ८.६६)

अज को इस बात का दुःख है कि उसकी वदनमदिरा को पीने वाली इन्दुमती अश्रुदूषित निवापाञ्जलि को कैसे पी सकेगी? हाय, जिस इन्दुमती का कोमल शरीर कोमल पत्तों की शय्या पर भी उसकी कठोरता के कारण दुःख पाता था, वह चिता की कठोर काष्ठ-शय्या को और अग्नि की असह्य ज्वाला को कैसे बर्दाश्त कर सकेगी?

> नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदंगमर्पितम्।
> तदिदं विसहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम्॥ (रघु० ८.७३)

---

१. पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु। (उत्तरमेघ)

और काम के दग्ध होने से छटपटाती रति तो उस लता की तरह निराधार छोड़ दी गई है, जिसके आश्रयद्रुम को किसी मस्त हाथी ने भग्न कर दिया है। कामदेव तो उससे कभी नाराज नही हुआ था, पर आज उससे बिना पूछे हमेशा के लिए चले जाने का कारण क्या है, क्या वह गोत्रस्खलित के समय किये गये मेखला बन्धन को याद कर रूठ गया है, या कान में खोंसे हुए कमल से पीटे जाने पर आँखों में पराग गिर जाने से नाराज हो गया है? रति को अपना ही दु.ख नही है, उसे अभिसारिकाओं की दशा पर भी दु ख हो आया है, जिन्हें रात्रि के सघन अन्धकार से घिरे राजमार्ग पर प्रिय के घर तक पहुँचाने मे कामदेव ही सहायता करने वाला था, उसे इस बात का दु ख है कि कामदेव के न रहने पर 'वारुणीमद' प्रमदाओं के लिए केवल विडम्बना रह गया है? और सबसे बढकर दु ख तो उसे अपनी दशा का है। काम से वियुक्त रति की दशा तो बुझी हुई दीप-दशा की तरह धूमाविल हो गई है।

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।

अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमितम्॥ (कुमार० ४.३०)

'हे वसन्त, वायु के झोंके से बुझाये दीपक की तरह, तुम्हारा मित्र (कामदेव) चला ही गया, अब लौटकर आता ही नही, और इधर उसकी (उस दीपक की) बाती की तरह असह्नीय दु:ख तथा वेदना के धुएँ से व्याकुल मुझे देखो।'

काम के बिना रति जीवित रह ही कैसे सकती है। जब अचेतन पदार्थ ही इस तरह का सम्बन्ध व्यंजित करते हैं, कि चन्द्रमा की प्रिया ज्योत्स्ना उसके अस्त होते ही आकाश से ओझल हो जाती है, मेघ के नभोमण्डल से विलीन होने के साथ ही साथ उसकी सहगामिनी विजली भी लुप्त हो जाती है, तो फिर चेतनतासम्पन्न रति भला अपने प्रिय का साथ कैसे छोड सकती है? 'स्त्रियाँ तो पति के मार्ग का ही अनुसरण करती हैं' इस सिद्धान्त की शाश्वतता को अचेतन पदार्थ भी अपनी क्रिया से पुष्ट करते हैं।

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।

प्रमदा: पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि॥ (कुमा० ४.३३)

और सती होने के लिए तैयार रति वसन्त को दो बातें बता देना जरूरी समझती है, कि वह उन्हें सहकारमंजरियों का निवाप दे, क्योंकि काम को आम

के वीर बड़े पसन्द हैं, और दूसरे यह कि काम और रति को अलग-अलग जलाजलि न देकर एक ही जलाजलि दें, ताकि वे दोनों एक ही जलाञ्जलि को बाँटकर पी सकें।

अज-विलाप तथा रति-विलाप में कई ऐसे करुण पद्य हैं, जो एक बारगी सहृदय भावुक के मन को झकझोर डालते हैं। अतीत की प्रणय-केलि की स्मृति के चित्र रह-रहकर इन करुणगीतियों की तन्त्री को विहाग की राग से झकृत कर देते हैं, पर राम वाले विरह की तरह कालिदास का पाठक यहाँ केवल दो बूंद आँसू नहीं गिराता, उसका शोक-सेतु को तोडकर बहते हुए जलप्रपात (क्षतसेतुबन्धनो जलसघात.) की तरह अनवरुद्ध गति से निःसृत हो जाता है। इसीलिए करुणरस की व्यंजना यहाँ गूढ नहीं रह पाती, किन्तु निधन के समय करुणरस को इतना तीव्र रूप देना कुछ लोगों के मत से दोष हो, कालिदास के मत में गुण ही दिखाई पड़ता है। रति के विलाप की तीव्रता के कारणरूप वसन्त का प्रकट होना तथा कालिदास का यह कहना कि 'स्वजन व्यक्ति को देखकर दुख के दरवाजे खुल पड़ते हैं और वह तेजी के साथ निकल पड़ता है' (स्वजनस्य हि दुखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते) कालिदास में रस-दोष को मानने के विपक्ष में मत देता है। राम तथा अज और रति के वियोग की विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखने पर सम्भव है, सहृदय आलोचकों को रति-विलाप तथा अज-विलाप कम सरस न लगें, जिन्हें कालिदास की उत्कृष्ट (करुण) निधनगीतियाँ (*Elegies*) माना जा सकता है।

शृङ्गार तथा करुण के अतिरिक्त कालिदास में वीर[१], वीभत्स[२] आदि के भी चित्र देखे जा सकते हैं।

कालिदास का प्रकृति-वर्णन

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् रस्किन के मतानुसार कला की उत्कृष्टता, किसी चीज को अच्छी तरह से देखकर उसे हूबहू वर्णित कर देने में है। कालिदास का प्रकृति-वर्णन इस विशेषता से युक्त है। कालिदास में प्रकृति का आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों तरह का रूप मिलता है। रघुवंश के द्वितीय सर्ग तथा कुमारसंभव

१. रघुवंश ३.५२–६१ तथा ७.३६–६२।
२. वही ११.२०।

के प्रथम सर्ग का हिमालय-वर्णन प्रकृति के आलम्बन रूप का वर्णन है। इन वर्णनो मे कालिदास की प्रकृति अधिकतर स्वाभाविक है, यहाँ उसके अनलंकृत लावण्य की रमणीयता है। कवि की सूक्ष्म दृष्टि यहाँ स्वतः रमणीयता संक्रान्त कर देती है।

स पल्वलोत्तीर्णवाराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥ (रघु० २.१७)

'राजा दिलीप उन हरे वनो को देखते जा रहे थे, जिनमे छोटे-छोटे जलाशयो से बराह निकल कर आ रहे थे, जहाँ मोर अपने निवास-वृक्ष की ओर उड रहे थे, और हिरन घास पर बैठ हुए थे।'

कुमारसभव का हिमालय-वर्णन भी इसी तरह के अनलंकृत सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। यह दूसरी बात है कि किन्नरमिथुनो के सरस विलासमय चित्र उस वर्णन को रङ्गीन बना देते हैं, पर निम्न पद्य के स्वाभाविक चित्रण मे अपना अलग सौन्दर्य जान पडता है।

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥ (कुमार० १.१५)

'जिस हिमालय मे गगा के झरनो के जलकणो को लेकर बहने वाला, यह वायु, जिसने देवदार के पेडो को कँपा दिया है, और मोरो के पखो को तेजी से झकझोरकर बिखेर दिया है, हिरनो की खोज करते हुए किरातो के द्वारा सेवित किया जाता है।'

इस पद्य मे कालिदास की व्यंजनाशक्ति ने एक साथ वायु की शीतलता, प्रचण्डता तथा (अचेतन वृक्षो तक को) कँपा देने की कठोरता के द्वारा किरातो की करुण दशा की ओर भी सङ्केत किया है।

कालिदास का उद्दीपन वाला प्रकृति-वर्णन प्रसङ्ग के अनुकूल सुख दुख से युक्त दिखाया गया है। वहाँ पर उत्प्रेक्षा या समासोक्ति के द्वारा प्रकृति मे चेतनता का आरोप करने की चेष्टा दिखाई देती है। कुशल कवि प्रकृति-वर्णन में कुछ खास अलङ्कारों का ही प्रयोग करता है। इनमे प्रमुख वस्तूत्प्रेक्षा तथा समासोक्ति हैं, जो प्रकृति के चित्र को सरस बनाने तथा उस पर मानवीय आरोप

करने में सहायता करती है।[1] उपमा तथा रूपक का स्वाभाविक प्रयोग भी प्रकृति वर्णन में कलात्मक बन पड़ता है, कि श्लेष तथा यमक का प्रयोग भी प्रकृति-वर्णन को विकृत कर देता है। माघ तथा श्रीहर्ष के प्रकृति-वर्णन दुरारूढ़ कल्पनाओं अथवा श्लेष एवं यमक के प्रयोग के कारण सुन्दर नहीं बन पड़े हैं। रघुवंश के नवम् सर्ग वाले वसन्त-वर्णन में कालिदास भी यमक के प्रयोग में फँस गये हैं। पर कालिदास के इस यमक प्रयोग की एक निजी विशेषता यह है कि वह अधिक श्लिष्ट नहीं है। फलतः अर्थबोध की प्रसाद-वृत्ति में विघ्न उपस्थित नहीं होता। ऋतुओं में कालिदास को ग्रीष्म तथा वसन्त से विशेष मोह है। रघुवंश के १६वें सर्ग का ग्रीष्म-वर्णन तथा नवम् सर्ग का वसन्त-वर्णन प्रकृति चित्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

कालिदास के काव्यों का नाटकीय संवाद

कालिदास केवल कवि ही नहीं, सफल नाटककार हैं। कालिदास के दोनों प्रबन्ध-काव्यों में कई सुन्दर नाटकीय संवाद दिखाई पड़ते हैं। रघुवंश के द्वितीय सर्ग का सिंह-दिलीपसंवाद, तृतीय सर्ग का रघु-इन्द्रसंवाद, पञ्चम सर्ग का कौत्स-रघुसंवाद तथा सोलहवें सर्ग का कुश-अयोध्यासंवाद कवि की नाटकीय संवादशैली का संकेत कर सकते हैं, यद्यपि प्रबन्ध-काव्य के अङ्ग होने के कारण इन संवादों की शैली में उससे कुछ भिन्नता मिलेगी, जो कालिदास के नाटकों में पाई जाती है। कुमारसंभव के पञ्चम सर्ग का शिव-पार्वती-संवाद कालिदास के दोनों प्रबन्धकाव्यों में इस दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। रघुवंश का सिंह-दिलीप संवाद कालिदास के नाटकीय संवाद का एक रूप है, कुमारसम्भव का शिव-पार्वती संवाद दूसरा। पर इतना होते हुए भी इनकी पद्धति में एक समानता देखी जा सकती है। एक गाय के लिए बहुमूल्य जीवन को बलिवेदी पर चढ़ाने दिलीप को सिंह बेवकूफ समझता है, तो नंगे, दरिद्र, अकुलीन शिव को वरण करने की इच्छा वाली पार्वती को ब्रह्मचारी अपरिपक्व बुद्धि घोषित करता है। दोनों तर्क के द्वारा उन्हें समझाते हैं, पर दिलीप और पार्वती के उत्तर तर्कप्रणाली का आश्रय न लेकर हृदय की आवाज

1. कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज॥ (कुमार० ३.२५)
बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥ (कुमार० ३.२९)

को सामने रखते हैं। सिंह और ब्रह्मचारी की दलीलों का उनके पास कोई जवाब है ही नहीं। दिलीप के पास केवल इतना-सा उत्तर है कि वह 'यश. शरीर' को स्थूल शरीर से अधिक समझता है तथा अपनी रक्षणीय निधि के लिए भौतिक देह को बलि पर रखकर कीर्ति की रक्षा करना चाहता है, और भोली-भाली पार्वती पहले तो दलीलों का जवाब देने लगती है, पर बाद मे दिल की आवाज को सामने रख देती है :—'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'।

रघुवश के सिंह की दलीलें बड़ी पक्की हैं। वशिष्ठ की एक गाय मर जायगी, तो राजा करोड़ों 'घटोघ्नी' गायें देकर गुरु के क्रोध को शान्त कर सकता है। पर दिलीप उसे कामधेनु से अतिन्यून मानता है, अत. मामूली गायो से उसका बदला चुकाना बड़ा कठिन है। सिंह को दिलीप के उत्तर सन्तुष्ट नहीं करते। सिंह को उस पर बड़ी तरस आ रही है। वह समस्त पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा है, नवीन यौवनावस्था मे है और सुन्दर शरीर वाला है। पता नहीं, उसे क्या सनक सवार हो गई है, कि गाय जैसी छोटी-सी वस्तु के लिये इतनी महत् सम्पत्ति—एकातपत्रप्रभुत्व, अभिनव यौवन और रमणीय शरीर—को छोड़ रहा है, और सिंह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है, कि दिलीप अक्ल का कच्चा (बेवकूफ) मालूम देता है।

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढ प्रतिभासि मे त्वम्॥ (रघु॰ २.४७)

कुमारसभव का ब्रह्मचारी रघुवश के सिंह से भी अधिक मुँहफट नजर आता है। उसे पार्वती के सौन्दर्य को देखकर दया आ जाती है। भला ऐसा सौन्दर्य किसी जौहरी को खोजने के लिये इधर-उधर भटकेगा। रत्न किसी जौहरी को ढूंढने नहीं जाता, उसे तो ढूंढने को जौहरी खुद दौड़े आते है (न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्) और फिर उचित वर को ढूंढने के लिए पार्वती की यह तपश्चर्या या दौड़-धूप किस बहुमूल्य वर के लिये है, इसको जानने के लिए ब्रह्मचारी के कर्णकुहर लालायित हो जाते हैं। पार्वती की सखी उसे शिव का सङ्केत करती है।[१] और 'चतुर्दिगीशो' की अवमानना करने वाली मानिनी पार्वती का मान ब्रह्मचारी को हठधर्मिता दिखाई पड़ता है। काश, वह उस श्मशानवासी के हाथों न पड़ पाती। अच्छा हो कि वह अब भी समझ

---

१. इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति॥ (कुमार० ५.५३)

ले। सुबह का भूला शाम को घर लौट आये, तो अच्छा। उसे यह पता होना चाहिये कि शिव के बूढ़े बैल पर उसे बैठे देखकर लोग मुस्कराने लगेंगे। उस बूढ़े बैल पर बैठने में पार्वती के उस सौन्दर्य की विडम्बना होगी, जो विवाहोपरान्त हाथी पर बैठकर पतिगृह जाने योग्य है। उस दरिद्र के पास हाथी कहाँ आयेगा, वहाँ तो केवल बूढ़ा बैल है और पार्वती को उसी पर बैठना पड़ेगा।[१] खप्पर को धारण करने वाले (कपाली) उस श्मशानवासी शिव के साथ रहने से अब तक तो केवल चन्द्रमा की कला ही शोचनीय समझी जाती थी, अब उसके समान सुन्दर पार्वती भी उसी कपाली के पास रहना चाहती है, तो संसार में दो वस्तुएँ शोचनीय हो जायँगी। कहाँ वह खप्परधारी अमंगलवेश वाला श्मशानवासी और कहाँ संसार के नेत्रों को चन्द्रमा की कला के समान आह्लादित करने वाली पार्वती?[२] शिव में पार्वती के वर बनाने के लायक एक भी गुण नहीं है। वर को ढूँढने में सुन्दरता, कुलीनता और सम्पत्ति का ध्यान रखा जाता है। शिव के पास इनमें से एक भी गुण है? उसका शरीर भोंडा है, उसके तीन-तीन आँखें हैं। उनके माँ-बाप तक का पता नहीं है, अतः उसे कुलीन भी नहीं कह सकते, और न उसके पास रुपया-पैसा ही है, वह तो निरा नंग-धड़ंग है। पता नहीं पार्वती ने कौन सा गुण पाकर उसे चुनने का निश्चय कर लिया है। वर में ये तीनों गुणों ढूँढे जाते हैं, क्या शिव में से एक भी गुण दिखाई देता है?

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसुः।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥ (कु० ५.७२)

और कलावादी आलोचक इस पद्य में 'मृग्यते' क्रिया के साथ पार्वती के 'बालमृगाक्षि' संबोधन में इस भाव की अभिव्यंजना मानेगा कि जिस तरह मृग किसी वस्तु को ढूँढने के लिए-जलादि के लिए उधर-उधर भटकता है, उसी तरह तुम भी पति को ढूँढने निकली हो पर तुम्हारी आँखें मृग-शिशु की तरह चंचल होने के कारण किसी वस्तु की वास्तविकता को नहीं देख पातीं। 'बाल' शब्द पार्वती के भोलेपन और अपरिपक्वबुद्धित्व का संकेत करता है। भला

१. इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति॥ (कुमार० ५.७०)

२. द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥ (कुमार० ५.७१)

कुरूप, अकुलीन तथा दरिद्र पति को वरण करने वाली बालिका को चञ्चल-बुद्धि वाला न कहा जायगा, तो क्या कहे ?

पार्वती ब्रह्मचारी की दलीलों का जवाब देकर कपाली की 'अशिवता' को 'शिवता' सिद्ध करती है और महादेव की उस विभूति का संकेत करती है, जो स्वयं दिगम्बर रहते हुए भी भक्त देवताओं को सिद्धि-प्रदान करते हैं। पार्वती को बड़ा अफसोस है कि शिव की वास्तविकता को जानने वाले लोग संसार में है ही नहीं (न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः)। पर मूर्ख और ब्रह्मचारी के आगे इन दलीलों को रखने से क्या लाभ ? इसके साथ विवाद करना व्यर्थ है, अगर वह शिव को बुरा समझता है, तो उसके लिए वे वैसे रहें उससे हमें क्या ? जब हमारा मन शिव में अनुरक्त है, तो दूसरे के लिए वह कैसे ही हो ? मनमानी करने वाला निंदा की परवाह थोड़े ही करता है।[1]

कालिदास का अलङ्कार-प्रयोग

संस्कृत साहित्य में कालिदास उपमा के लिए विशेष प्रसिद्ध रहे हैं (उपमा कालिदासस्य)। हम कालिदास की उस प्रसिद्ध उपमा को पहले उद्धृत कर आये है, जिसके प्रयोग से चमत्कृत होकर विद्वानों ने उन्हें 'दीपशिखा' कालिदास की उपाधि दे दी थी। उपमा के एक से एक सुन्दर प्रयोग कालिदास में देखे जा सकते हैं, एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं,
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेव गच्छत्सु बालां,
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥ (उत्तरमेघ २०)

'हे मेघ ! अपने प्रिय के (मेरे) दूर रहने के कारण दुखी प्रिया को, जो अकेली चकवाकी की तरह अल्पभाषिणी है, तुम मेरा दूसरा जीवन (प्राण) समझना। वियोग से भारी दिनों को गुजारती हुई, अत्यधिक उत्कण्ठा से भरी प्रिया इसी तरह हो गयी होगी, जैसे शिशिर ऋतु के पाले के द्वारा कुचली हुई कमलिनी ठीक दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाती है।'

---

१. अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु नः।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते॥ (कुमार० ५,८२)

उपमा के अतिरिक्त कालिदास के अन्य प्रिय अलङ्कार वस्तूत्प्रेक्षा[1], समासोक्ति तथा रूपक है। इनके अतिरिक्त कालिदास मे अपह्नुति[2], अतिशयोक्ति[3], व्यतिरेक[4], दृष्टान्त[5], तुल्ययोगिता[6], अर्थान्तरन्यास[7] आदि अर्थालङ्कारो का सुन्दर प्रयोग मिलता है। पतनोन्मुख काल के परवर्ती कवियों की भाँति कालिदास चित्रकाव्य या शब्दालङ्कार की बाहरी तडक-भडक में नही फँसते। रघुवश मे केवल एक सर्ग (नवम सर्ग) मे कालिदास ने यमक के प्रति रुचि दिखाई है।[8] पर ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने यह प्रयोग इसलिए किया है कि वे चित्र-काव्यो के शौकीनो के सामने यह सिद्ध कर सकें कि वे उस प्रकार के प्रयोग भी कर सकते हैं। किन्तु कालिदास भाव को प्रधानता देते है, तथा अलङ्कारो के मोह में फँसकर उसका हनन करना नहीं चाहते। उनके साधर्म्यमूलक अलङ्कारों के प्रयोग कही-कही विषय के अनुरूप बन पडे हैं, और वातावरण की सृष्टि मे बडे सहायक होते है; जैसे —

१. प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृंगान्तर द्वारमिवार्यसिद्धेः। (रघु० २.२१)

२. ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ (रघु० २.७२)

३. आसंजयामास ययाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥ (रघु० ६.८३)

कालिदास ने उपमा के चित्रो मे कहीं-कही अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय दिया है। जब कटुवादी ब्रह्मचारी से रुष्ट होकर, पार्वती जाने के लिए तैयार होती है, तो भगवान् शङ्कर निज रूप में प्रकट होकर उसे रोक लेते हैं। उन्हें देखकर कोमल व सरस शरीर वाली पार्वती काँपने लग जाती है, वहाँ से जाने के लिए उठाया हुआ उसका पैर उठा ही रहता है। उसकी दशा मार्ग में पर्वत के द्वारा रोकी हुई क्षुब्ध नदी की तरह हो जाती है, जो न तो आगे बढ पाती है, न ठहर ही पाती है।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥
(कुमार० ५.८५)

---

१. कु० ३.२५ तथा ३.२९, साथ ही रघु० १३.३३ तथा १३.६३ आदि।

२. रघु० १२.२। ३. रघु० ४.४। ४. रघु० ४.४९। ५. रघु० ५.१३। ६. रघु० २.१५।

७. मेघदूत-पूर्वमेघ पद्य ५, ६, २० आदि।

८. किमन्यप्रमत्तोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥ (रघु० सर्ग ९) (और) अमदयत् सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥ (रघु० सर्ग ९)

कालिदास की शैली अत्यधिक कोमल तथा प्रसादगुण युक्त है। वे वैदर्भी रीति के मूर्धन्य कलाकार हैं। कालिदास की भाषा व्यंजनाप्रधान है तथा आलोचकों ने उनके कई प्रयोगों में अपूर्व वक्रता, और अभिव्यञ्जना शक्ति मानी है। सीता के द्वारा राम के प्रति भेजे गये सन्देश (चतुर्दश सर्ग) में जहाँ सीता 'वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा' कहती है, वहाँ राम के लिए प्रयुक्त 'राजा' शब्द तथा उसके साथ 'स' का प्रयोग 'राम कोरे राजा ही हैं, राजा के कर्तव्य के अतिरिक्त उनका पति के रूप में भी कुछ कर्तव्य था, जिसे वे भूल चुके हैं' इस भाव को व्यञ्जित करता है। इसी तरह सीता को रोती देखकर जब वाल्मीकि उसके पास आते वर्णित किये जाते हैं, तो कविर कालिदास वाल्मीकि का परिचय 'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः' इस तरह देते हैं, जिसमें वे वाल्मीकि की करुण प्रकृति का परिचय देना आवश्यक समझते हैं, जो वर्ण्य विषय के उपयुक्त है। अलङ्कारिकों ने तपस्या करती हुई पार्वती के वर्णन में जहाँ प्रथम मेघ की बूँदें उसके सघन पक्ष्म वाले नेत्रों पर गिर कर कुछ देर रुक कर, ओठों पर गिरते हुए, कठोर पयोधरों पर गिरने से चूर्णित होकर, त्रिवली पर लुढ़कने के बाद गम्भीर नाभि में जा घुसती है, ध्वनि काव्य की चमत्कृति का उत्कृष्ट उदाहरण माना है। इस वर्णन में एक ओर पद्मासन की योगाभ्यास वाली स्थिति, दूसरी ओर पार्वती के तत्तदंगों की सुन्दरता और सुडौलपन की व्यञ्जना पाई जाती है।[1]

कालिदास के काव्यों में कई ऐसी काव्यरूढियाँ पाई जाती हैं, जो आगे के काव्यों का मार्ग दर्शन करती हैं। कुमारसम्भव तथा रघुवंश के सप्तम सर्ग में महादेव तथा अज को देखने के लिए लालायित पुरसुन्दरियों का वर्णन, रघुवंश के पञ्चम सर्ग का प्रभात वर्णन, षष्ठ सर्ग का स्वयंवर वर्णन और अशोक, बकुल आदि के वर्णन में दोहद सम्बन्धिनी[2] रूढियाँ कालिदास में ही सबसे पहले स्पष्टरूप में दिखाई पड़ती हैं। वैसे पुरसुन्दरियों वाले वर्णन का संकेत हम अश्वघोष में भी पाते हैं, पर कालिदास का यह निजी प्रिय विषय रहा जान पड़ता है। कालिदास की इन रूढियों का प्रभाव माघ तथा श्रीहर्ष में स्पष्टरूप से दिखाई देता है, जिसका संकेत हम इन कवियों की आलोचना में करेंगे।

---

१. स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ (कु० ५.२४)

२. दे० रघु० ८.६३; ९.३०; १८.१२ तथा मेघदूत (उत्तरमेघ० १५)

अन्त में हम देखते है कि क्या रस-प्रवणता, क्या आलङ्कारिक अप्रस्तुत विधान, क्या प्रकृतिवर्णन की बिम्बमत्ता, क्या शैली की व्यञ्जनाप्रणाली तथा शब्दों की प्रसादमयता, सभी कलावादी दृष्टिकोण से कालिदास की बराबरी कोई भी अन्य संस्कृत कवि नही कर पाता, और हमे पीयूषवर्ष जयदेव के साथ कालिदास को कविताकामिनी का विलास घोषित करने मे कोई हिचक नही होती।

●

महाकवि भारवि

कालिदास की काव्यकला के दाय को ग्रहण करने वाले कवियों ने उनकी काव्यपरम्परा को ठीक उसी दिशा में आगे नहीं बढ़ाया। कालिदास के उत्तराधिकारियों ने कालिदास की काव्यपरम्परा के "रीति" (Rhetoric) पक्ष को, उनकी अभिव्यञ्जना शैली के दाय को ही ग्रहण किया, और अभिव्यय, कथावस्तु के निर्वाह तथा भावपक्ष की मार्मिकता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया। कालिदास की कला में भावपक्ष तथा कलापक्ष का जो समन्वय, महाकाव्य के इतिवृत्त की जो अनवहेलना पाई जाती है, वह कालिदास के पश्चाद्भावी कवियों में धीरे-धीरे मिटती गई और कोरा कलापक्ष इतना बढ़ता गया, कि महाकाव्य नाममात्र की दृष्टि से महाकाव्य रह गये। मानव-जीवन का जो विस्तृत सर्वांगीण चित्र महाकाव्य के लिए आवश्यक है, वह यहाँ लुप्त हो गया। महाकाव्य केवल पाण्डित्य तथा कला प्रदर्शन के क्षेत्र रह गये। भारवि, भट्टि, माघ तथा श्रीहर्ष इन चारों कवियों में यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इन काव्यों में महाकाव्य की 'रूढ़' शैली दिखाई पड़ती है, जिसमें इतिवृत्ति और कथा-विधान को आधार बनाकर काव्य-कला का सुन्दर ताना-बाना बुनना ही कवियों का चरम लक्ष्य रह गया। भामह तथा दण्डी ने अपने अलङ्कार ग्रन्थों में महाकाव्य के जो लक्षण तथा विशेषताएँ बताई हैं, बाद के कवियों में वे विशेषताएँ अधिक रूढ़ रूप में पाई जाती हैं। भामह तथा दण्डी की परिभाषा इन पिछले मेवे के काव्यों के आधार पर बताई गई थी। सम्भवतः भारवि के 'किरातार्जुनीय' के आधार पर ही भामह तथा दण्डी ने महाकाव्य का लक्षण निबद्ध किया हो, और बाद के काव्यों के लिए वह पथ-प्रदर्शक बन गया हो। इस प्रकार संस्कृत महाकाव्यों में भारवि एक नई शैली, एक नई प्रवृत्ति को जन्म देने वाले हैं। इसी पद्धति पर कम या अधिक रूप में भट्टि, कुमारदास (जानकीहरण के कवि), माघ, रत्नाकर आदि के काव्य चलते दिखाई पड़ते हैं।

कालिदास की कला के रूप में हमें काव्य का चरम परिपाक उपलब्ध होता है। उसे गुप्तकाल के वैभवशाली काल का प्रतीक माना जा सकता है। गुप्तों के ह्रास के साथ भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट जाता है। उत्तरी भारत

में हर्षवर्धन तथा दक्षिण भारत में पुलकेशी द्वितीय के समय तक, कोई सार्वभौम सम्राट् इतिहास में नहीं दिखाई पड़ता। भारतीय समाज निश्चित पौराणिक तथा नैतिक साँचे में ढल चुका था, शास्त्रों का प्रणयन ऐहिक और पारमार्थिक समस्याओं का समाधान करने लगा था। भाषा की कलात्मकता, अर्थालंकार, शब्दालङ्कार और प्रहेलिकादि काव्यों के द्वारा राज-वर्ग, सामन्त, तथा पण्डित मनोरञ्जन करते थे, और उस काल के अभिजात वर्ग का विलासी जीवन कामशास्त्र के सिद्धान्तों का सहारा लेकर काव्य में भी प्रतिबिम्बित हो रहा था। कालिदास के काव्यों में ही इन विशेषताओं के बीज ढूंढे जा सकते हैं। गर्हित चित्र-काव्यों का प्रणयन कालिदास के समय में ही चल पड़ा होगा,-यदि घटखर्पर काव्य की रचना कालिदास की समसामयिक ही है तो, और कालिदास का यमक-प्रयोग भी इसका संकेत कर सकता है। कालिदास तथा भारवि के बीच निश्चित रूप से १५० वर्ष का समय माना जा सकता है। इस बीच काव्य के कलापक्ष को अधिक से अधिक कृत्रिम सौन्दर्य प्रदान करने की अभिरुचि ने कवियों को नई दिशा में प्रेरित किया होगा। कालिदास तथा भारवि के बीच के काव्यों का पता नहीं, केवल वत्सभट्टि वाला मन्दसौर शिलालेख ही इस बीच की कड़ी का उपलब्ध प्रमाण है। कालिदास की काव्यसरणि से हटकर काव्य को विषय-वस्तु की अपेक्षा वर्णन-शैली के सौन्दर्य, भावपक्ष की ओर ध्यान न देकर कहने के ढंग पर महत्व देने की प्रणाली का सर्वप्रथम प्रौढ़ रूप जिस काव्य में मिलता है, वह है महाकवि भारवि का किरातार्जुनीय।

भारवि का समय तथा जीवनवृत्त

कालिदास की भाँति ही भारवि के समय तथा जीवनवृत्त के विषय में निश्चित रूप से हम कुछ नहीं जानते। कुछ किंवदन्तियाँ भारवि को भी भोज के साथ जोड़ देती हैं तो कुछ के अनुसार भारवि पिता से रुष्ट होकर ससुराल चले गये थे, जहाँ वे जङ्गल में जाकर गायें चराने का काम किया करते थे। किंवदन्तियों के ही आधार पर भारवि दण्डी के पितामह या प्रपितामह थे। सम्भवतः भारवि दाक्षिणात्य थे, और इसी कारण दण्डी के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ दिया गया हो। भारवि का उल्लेख ऐहोल शिलालेख में मिलता है,[१] जो

१. येनायोजिनवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदास-भारवि-कीर्तिः॥
(ऐहोल शिलालेख)

६३४ ई० मे उत्कीर्ण हुआ था। इसके अतिरिक्त भारवि के किरातार्जुनीय का उद्धरण वामन तथा जयादित्य की 'काशिका वृत्ति' मे उपलब्ध होता है। भारवि कालिदास से प्रभावित हैं, तथा माघ भारवि से प्रभावित रहे हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि भारवि का समय छठी शती का मध्य रहा होगा। भारवि बाणभट्ट के पूर्व थे। बाणभट्ट ने भारवि का उल्लेख, सम्भवतः इसलिये नही किया होगा कि उनके समय तक भारवि की काव्यकला ने इतनी ख्याति और प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त की होगी। भारवि के समय को ५५० ई० के लगभग मानने का अनुमान करते समय हम सत्य से अधिक दूर नही माने जा सकते। भारवि के जीवनवृत्त के विषय में हम कुछ भी नही जानते। अनुमान होता है कि भारवि किसी राजा के दरबारी कवि अवश्य रहे होंगे। अवन्तिसुन्दरी कथा के अनुसार वे पुलकेशी द्वितीय के छोटे भाई विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। पर कुछ विद्वान् इसकी प्रामाणिकता पर पूरा विश्वास नहीं करते।

किरातार्जुनीय

किरातार्जुनीय की कथा का मूलस्रोत महाभारत रहा है। इन्द्र तथा शिव को प्रसन्न करने के लिये की गई अर्जुन की तपस्या को आधार बना कर कवि ने १८ सर्ग के महाकाव्य का वितान पल्लवित किया है। इतिवृत्त का आरम्भ द्यूतक्रीडा मे हारे हुये पाण्डवो के द्वैतवनवास से होता है। युधिष्ठिर यहाँ रहकर भी दुर्योधन की ओर से निश्चिन्त नही हैं। वे एक वनेचर को दुर्योधन की प्रजापालन सम्बन्धी नीति को जानने के लिये 'चर' बनाकर भेजते है। ब्रह्मचारी बना हुआ वनेचर लौट कर आता है, और उसके युधिष्ठिर के पास पहुँचने से काव्य का इतिवृत्त चलता है। वनेचर दुर्योधन के शासन की पूरी जानकारी देता है, और इस बात का सङ्केत देता है कि जुए के बहाने जीती हुई पृथ्वी को वह नीति से भी जीत लेने की चेष्टा मे लगा है।[१] सारी बातें बताकर वनेचर लौट जाता है, और द्रौपदी आकर युधिष्ठिर को युद्ध के लिये उत्तेजित करती है। वह कटु शब्दो का प्रयोग करती हुई युधिष्ठिर की तपस्वि-जनोचित शान्ति, दूसरे शब्दो मे कायरपन की भर्त्सना करती है। दूसरे सर्ग के आरम्भ मे भीम द्रौपदी की सलाह की पुष्टि करता है, और युधिष्ठिर को इस बात का विश्वास दिलाता है कि उसके चारों भाइयो के आगे युद्ध में कोई नहीं ठहर सकता?[२]

१. दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥ (१.७)

२. प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः॥ (२.२३)

पर नीतिविशारद युधिष्ठिर एक कुशल हस्तिपक की तरह मदमस्त हाथी के समान भीम को नीतिमय उक्तियों से शान्त कर देते हैं[1]। वे इस बात का सङ्केत देते हैं कि उन्हें उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब पाण्डवों के मित्र पाण्डवों की सहिष्णुता की अत्यधिक प्रशंसा करने लगें, तथा दुर्योधन के अभिमानी व्यवहार से अपमानित कई राजा उससे अलग हो जायँ। इसी सर्ग में भगवान् व्यास आते हैं। तीसरे सर्ग में वे अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्ति के लिये इन्द्र की तपस्या करने को कहते है। व्यास के भेजे गये गुह्यक के साथ अर्जुन तपस्यार्थ इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचता है। उसकी कठिन तपस्या से डरकर इन्द्र अप्सराओं को अर्जुन की तपस्या भङ्ग करने के लिये भेजता है। पर अर्जुन का व्रत भङ्ग नहीं होता। खुश होकर स्वयं इन्द्र अर्जुन के पास आता है, तथा शिव की तपस्या का उपदेश देता है। अर्जुन पुनः तपस्या करता है। इधर एक मायावी दैत्य अर्जुन को मारने के लिये सूअर का रूप धारण करता है। इस बात को जानकर भगवान् शिव अर्जुन की रक्षा के हेतु किरात का मायावी वेश धारण करते हैं। तेरहवें सर्ग में सूअर के प्रवेश का वर्णन है। किरात तथा अर्जुन दोनों सूअर पर एक साथ बाण छोड़ते हैं। अर्जुन का बाण सूअर को मार कर पृथ्वी में घुस जाता है। बाद मे बचे हुए बाण के लिये किरात तथा अर्जुन का वाद-विवाद चलता है, जो पञ्चदश सर्ग में युद्ध का रूप धारण कर लेता है। युद्ध मे पहले दोनों अस्त्रों-शस्त्रों से लड़ते हैं, बाद में कुश्ती पर उतर आते हैं। इसी समय अर्जुन की वीरता से प्रसन्न होकर भगवान् शिव प्रकट होते है, तथा अर्जुन की पाशुपतास्त्र-प्राप्ति की अभिलाषा के साथ काव्य की पूर्ति होती है।

> व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन्, गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसंघैः।
> निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो, धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम ॥ (१८.४८)

'जाओ, अपने शत्रुओं को जीतो' इस प्रकार शिव के द्वारा आशीर्वाद दिया गया अर्जुन,—जो उनके चरणकमलों में नत था—देवताओं के द्वारा प्रशंसित होकर महान् जयलक्ष्मी को धारण कर अपने घर लौट आया और उसने युधिष्ठिर को प्रणाम किया।'

इस प्रकार 'श्रीः' शब्द के मंगलाचरण से आरम्भ भारवि का 'श्रीकाव्य' लक्ष्मी शब्द की विजयशंसना के साथ परिसमाप्त होता है। भारवि का काव्य

---

१. उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ॥ (२.२५)

जैसे 'लक्ष्म्यन्त' काव्य कहलाता है, ठीक उसी तरह माघ का काव्य 'श्र्यन्त' तथा श्रीहर्ष का नैषध 'आनन्दान्त' है। भारवि ने मंगल-सूचक 'लक्ष्मी' शब्द को प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में अवश्य रखा है, जो काव्य के तत्तत् पद्यों में देखा जा सकता है।

भारवि के किरातार्जुनीय का इतिवृत्त हम देख चुके हैं। यदि कोई कवि कोरी कथात्मकता को ही लेकर चलता, तो यह कठिनता से चार या पाँच सर्ग की सामग्री सिद्ध होती। पर भारवि के कलावादी कवि ने बीच-बीच में अद्भुत संवाद, रमणीय कल्पनापूर्ण वर्णन आदि का समन्वय कर इसके 'केन्वेस' (फलक) को बढ़ा दिया है। चौथा और पाँचवाँ सर्ग पूरे के पूरे शरद्वर्णन और हिमालय वर्णन से भरे पड़े हैं, तो सातवें, आठवें, नवें और दसवें सर्ग में अप्सरा-विहार तथा अर्जुन के तपस्या-भंग की चेष्टा का वर्णन है। ग्यारहवें सर्ग में जाकर पुनः कवि ने इतिवृत्त के सूत्र को पकड़ा है, और वह अतीव मंथर गति से कथा की ओर बढ़ता है। किरातार्जुनीय के कथा-तत्त्व की प्रवाहावरोधकता के विषय में आगे संकेत करेंगे।

शास्त्रीय दृष्टि से किरात का नायक धीरोदात्त अर्जुन तथा मुख्य रस वीर है। अप्सरा-विहारादि वाला शृंगार इसी वीर रस का अंग बनकर आता है। महाकाव्यों की रूढ़ परिभाषा की नजर से देखने पर इसमें १८ सर्ग हैं, तथा छहों ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, पर्वत, नदी, जल-क्रीडा, सुरत आदि का वर्णन पाया जाता है, और इस तरह दण्डी तथा विश्वनाथ के द्वारा संकेतित महाकाव्य के सभी लक्षण[१] यहाँ देखे जा सकते हैं।

भारवि के काव्य से उस काल का कुछ संकेत

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, भारवि का काल भारतीय इतिहास के उस अंश का संकेत करता है, जब कोई छोटे-मोटे राजा अपने आसपास के दूसरे राजाओं को सामादि उपायों से करद बनाने में ही नहीं, उसके राज्यका अपहरण करने की ताक में लगे हुए थे, भारवि से लेकर श्रीहर्ष तक के भारत की यही दशा रही है। माघ तथा विशाखदत्त की कृतियाँ भी इसका संकेत दे सकती हैं। भारवि तथा माघ के इतिवृत्त पौराणिक होने हुए भी यदि उस काल की राजनीतिक दशा के प्रतिबिम्ब माने जावें, तो कोई दूरारूढ कल्पना न होगी। कालिदास की व्यावहारिक उदार राजनीति गुप्तों के ऐश्वर्य के साथ समाप्त हो गयी

१. महाकाव्य के इन लक्षणों के लिये देखिये दण्डीका काव्यादर्श १, १४-२२.

थी। जहाँ शास्त्रों में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्रनीति तथा कामन्दकीय नीति-सार राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष का विधान कर रहे थे, वहाँ राजनीति व्यवहार में उन्हीं का उलथा लेकर आ रही थी। शत्रुपक्ष के भेदन के लिए चार एवं 'स्पशों' की महत्ता मानी जाने लगी थी, तथा रुककर विपक्षकी भावी अवनति की प्रतीक्षा की जाती थी। माघ ने स्पशों के बिना राजनीति की निर्मूलता मानी है, और भारवि तथा माघ दोनों ने राजनीति को ठंडे दिमाग से सोचने का विषय माना है, जल्दबाजी का नहीं। भारवि के किरातार्जुनीय की राजनीति-पटुता उस काल में राजनीति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान का संकेत कर उस काल की राजनीतिक दशा का चित्र उपस्थित करने में समर्थ है।

किरातार्जुनीय से भारवि के समय की लोकसामान्य की दशा का संकेत मिलना असम्भव है। यही नहीं भारवि का समाज माघ तथा श्रीहर्ष की भाँति बहुत संकीर्ण समाज है, वे राजप्रासाद के परकोटे, तथा पंडित-मंडली से बाहर झाँकते नजर नहीं आते। कालिदास राजप्रासाद में रहते हुए भी अपनी पैनी निगाह से समस्त नागरिक जीवन का अध्ययन करते हैं, चाहे उनकी दृष्टि भी नगर के गोपुर के बाहरी जन-समाज को उस सहानुभूति से न देखती हो, जिस सहानुभूति से उन्होंने प्रकृति को देखा है। भारवि का समाज मंत्रणागृह में मंत्रणा करते नीति-विशारदों, युद्धस्थल के काल्पनिक वर्णनों में वाक्युद्ध और शस्त्र-युद्ध करते योद्धाओं, चित्र-काव्य तथा अर्थगाम्भीर्य से गद्गदायमान होते पंडित श्रोताओं, तथा सामन्तों के विलासगृहों तक ही सीमित है। उनका प्रकृति-वर्णन (चतुर्थ सर्ग को छोड़कर) ठीक वैसा ही है, जैसा कुर्सी पर बैठकर किसी व्यावहारिक विषय पर की गई गवेषणा का अन्तर्ज्ञानशून्य फल। साराश यह कि भारवि का समाज, उनके काव्य के चरित्रों की दुनिया का दायरा, बड़ा तंग है, और ठीक इसी तरह भारवि की भावनावृत्ति का भी, जो कला तथा अर्थ-गाम्भीर्य के परकोटे में बन्द रहकर 'असूर्यंपश्या राजदारा' के समान रह गई है, जिसे देखने की ललक हर एक को होती है, किन्तु जो उपभोग की वस्तु नहीं रह जाती।

भारवि का व्यक्तित्व

पर इसका अर्थ यह नहीं कि भारवि में कवि-हृदय नहीं था। भारवि के कवि होने के विषय में सन्देह नहीं; यह दूसरी बात है कि शुद्ध रसवादी दृष्टि से, तथा समाज-वैज्ञानिक दृष्टि से भी, भारवि निश्चित रूप से दूसरी कोटि के कवि

है, और जहां तक भारवि के अपने क्षेत्र का, काव्य के कलावादी दृष्टिकोण का प्रश्न है, वहाँ भी माघ तथा श्रीहर्ष के प्रतिमल्ल निःसन्देह बाजी मार ले जाते हैं। भारवि पंडित हैं, राजनीति के निष्णात हैं, कलाचञ्चु है, और सबसे बढ़कर थोड़े से शब्दों मे अर्थ का गौरव भरने वाले हैं, और भारवि के व्यक्तित्व का सच्चा दर्शन यदि कहीं हुआ है, तो मेरी समझ मे, न तो वह पञ्चम सर्ग का यमकप्रयोग या पञ्चादश सर्ग का चित्रकाव्य है, न उसका विलासवर्णन या प्रकृतिवर्णन ही, अपितु प्रथम और द्वितीय सर्ग की द्रौपदी, भीम तथा युधिष्ठिर की उक्तियाँ और तेरहवें और चौदहवें सर्ग की किरातदूत तथा अर्जुन की उक्तिप्रत्युक्तियाँ हैं।

भारवि राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित हैं, इस बारे में दो मत नहीं हो सकते। उनका राजनीति-विषयक ज्ञान स्वय युधिष्ठिर की उक्तियों मे मूर्तिमान् हो उठा है। दुर्योधन से तत्काल युद्ध करने की सलाह देने वाले भीम को जो नीति युधिष्ठिर के द्वारा दिलाई गई है, उसका मूल यही है कि हमें किसी भी काम में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए, बिना सोचे-समझे कोई काम करने से अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति सोच-विचार कर काम करता है, उसके गुणों से आकृष्ट सम्पत्ति स्वय उसके पास चली आती है।

साहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥ (२.३०)

वीर पुरुष को अपने प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करने के लिये क्रोध के अन्धेरे को दबाकर प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति का सञ्चय करना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता, वह इन तीनों शक्तियों से उसी तरह हाथ धो बैठता है, जैसे कृष्णपक्षीय चन्द्रमा अपनी कलाओं से।

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः॥ (२.३७)

राजनीति की भाँति ही भारवि कामशास्त्र के भी अच्छे पण्डित हैं; पण्डित ही, कालिदास की तरह रसिक नहीं। जैसा कि हम भारवि के शृङ्गार-वर्णन मे बतायेंगे; भारवि शृङ्गार के भावपक्ष के कवि न होकर, शृङ्गार के कलापक्ष के कवि है। कालिदास प्रणय (Sentiment of love) के कवि हैं, भारवि (अपने साथियों की ही तरह) प्रणय-कला (Art of love, technique of love) के कवि। भारवि को कामशास्त्र का सैद्धान्तिक

ज्ञान, राजनीति से कम नही जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त अलङ्कार, पिङ्गल आदि पर भारवि का पूर्ण अधिकार है।

भारवि की काव्य-प्रतिभा

इससे पहले हम भारवि की काव्य-प्रतिभा पर कुछ कहें, काव्य के सम्बन्ध में भारवि के स्वयं के मत को जान लें। हमने इस बात पर कई बार जोर दिया है कि भारवि कलापक्ष के कवि हैं। पर कलापक्ष में भी उनका अधिक ध्यान माघ की तरह शब्द तथा अर्थ दोनों की गम्भीरता[1] पर नहीं रहता जान पड़ता, न नैषध के मनस्वी कलाबाजी की तरह प्रौढोक्ति की लम्बी उड़ान, पदलालित्य और 'परीरम्भक्रीडा'[2] पर ही। भारवि में ये भी आते हैं, पर भारवि इन्हें गौण मानते हैं, उनका विशेष ध्यान अर्थ-गाम्भीर्य पर रहा है। यही कारण है, पुराने पण्डितों ने 'भारवेरर्थगौरवम्' कहा था। भारवि शब्दों की कृत्रिमता के फेर में हमेशा नहीं पड़ते। इनकी शाब्दी क्रीडा (Le jeux de mots) केवल पाँचवें तथा पन्द्रहवें सर्ग में ही मिलेगी। भारवि श्लेष के शौकीन हैं, पर माघ या श्रीहर्ष जितने नहीं। उनका कलातत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्त यही जान पड़ता है—काव्य के पदप्रयोग में अस्पष्टता न हो, अर्थगाम्भीर्य पर खास तौर पर ध्यान दिया जाय, वाणी के अर्थ में पौनरुक्त्य न होने पाये और अर्थ-सामर्थ्य (अपेक्षा) को कुचल न दिया जाय।

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥ (२.२७)

इस कसौटी को लेकर भारवि के सोने की परख करेंगे, तो वह खरा सिद्ध होगा। पर कसौटियाँ तो युग के साथ बदलती हैं; देश के साथ बदलती हैं, यही नहीं, हर मस्तिष्क के साथ बदलती हैं।

किरातार्जुनीय के इतिवृत्त पर दृष्टिपात करते समय कालिदास की इतिवृत्त-निर्वाहकता से तुलना करने पर पता चलता है; कि कालिदास जैसा कथा-प्रवाह भारवि के काव्य में नहीं। माना कि महाकाव्य की कथावस्तु में नाटक जैसी घटनाचक्र की गत्यात्मकता अपेक्षित नहीं तथा महाकाव्य की कथावर्णन शैली मन्द मन्थर गति से आगे बढ़ती है, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह

१. दे० शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। (माघ २.८६)
२. दे० परीरम्भक्रीडाचरणशरणामन्वहमहम्॥ (नैषध सर्ग १४.)

कई स्थानों पर इतने लम्बे-लम्बे ब्रेक लगाती चले, कि सहृदय पाठक ऊबने लगे। कालिदास की कथावस्तु क्या कुमारसभव, क्या रघुवश दोनो मे ही निश्चित रूप से मन्थर गति से बढती है, बीच-बीच मे एक से एक सुन्दर वर्णन आते हैं, पर कालिदास का कवि अपने सहृदय पाठक की मनोवैज्ञानिक स्थिति को खूब पहचानता है, और इसके पहले कि पाठक एक ही वर्णन के पिष्टपेषण को पढ-पढकर ऊबे, वह कथासूत्र पकड कर आगे चढ जाता है। सम्भवतः अपनी सफल नाट्य-कला से उसे यह चतुरता मिली है। भारवि, माघ या श्रीहर्ष मे यह बात नही, वे जहाँ जमते हैं, आसन बाँधकर बैठ जाते हैं, किसी वर्ण्य विषय पर दिमाग का (दिल का नही) मारा गुब्बार निकाल लेते हैं, और जब एक विषय से सम्बद्ध शब्द महति, अलङ्कार-वैचित्र्य, कल्पना-सपत्ति का खजाना पूरा खाली हो जाता है, तब आगे बढ़ने का नाम लेते हैं। भारवि मे फिर भी गनीमत है, माघ तथा श्रीहर्ष इस कला के पूरे उस्ताद हैं, और इनसे भी बढ-चढकर माघ के एक चेले 'रत्नाकर' (हरविजय काव्य के कर्त्ता), जिनके ५० सर्ग मे लगभग ५० स्थल ही ऐसे है जहाँ कथा ही नही, सहृदय पाठक के मस्तिष्क को भी ब्रेक लगाना पड़ता है। प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य) मे कथा का प्रवाह बार बार रोकना उसकी प्रभावोत्पादकता मे विघ्न डालता है, इसका प्रमाण सहृदय पाठकों का स्वानुभव है।

पर भारवि मे कई स्थल प्रभावोत्पादकता से समवेत है। समग्र काव्य चाहे रघुवश जैसा स्थिर प्रभाव (Lasting effect) न डाले, ये स्थल सहृदय पाठक के दिल और दिमाग दोनो पर प्रभाव डालने मे पूर्णतः समर्थ हैं। भारवि वीर तथा शृङ्गार के कवि हैं। आरम्भ मे दूसरे सर्ग की भीम की उक्तियाँ वीर रसोचित दर्प से भरी पडी हैं। भीम यह कभी नहीं चाहता कि उन्हे दुर्योधन की कृपा से राज्य मिल जाय। उसके मत मे, अपने तेज से सारे ससार को तुच्छ बनाने वाला महान् व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की कृपा से ऐश्वर्य प्राप्त नही करना चाहता। सिंह अपने ही हाथो से मारे हुए दान जल से सिक्त हाथियों को अपनी जीविकावृत्ति बनाता है।

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥ (२.१८)

इसके साथ ही मध्यम पाण्डव की धीरता का निम्न चित्र भी देखिये :—

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः ।
गाण्डीवी कनकशिलातलं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ॥ (१७.६२)

'अर्जुन तेजी से बाणों की नदी के समान निकलकर उसी तरह आया, जैसे मगर वेग से गङ्गा के पानी को चीरकर सतह के ऊपर उठ आता है, और उसने तीन आँखों वाले शिव के सोने की शिला के समान दृढ़ और विस्तीर्ण वक्षःस्थल पर दोनों हाथों से जोर से प्रहार किया।'

यह पद्य भारवि मे एक और गुण का संकेत करता है। भारवि के पद्यों मे नादानुकृति (Rhythm) बहुत कम पाई जाती है, पर इस पद्य मे उसका सुन्दर चित्र है। पूर्वार्ध की 'लय' स्वय उछलते अर्जुन का चित्र खींचती है, तो 'आजघ्ने' की 'रिदिम' ऐसी है जैसे सचमुच किसी कठोर वस्तु पर चोट पड़ रही हो। वर्णन की चित्रमत्ता मे प्रहर्षिणी छन्द भी सहायता देता है, जो तीन अक्षरो पर रुककर फिर तेजी से आगे बढ़ता है, जैसे उछलने के पहले थोड़ा रुककर अर्जुन वेग से उछल गया हो।[1]

---

१. 'उन्मज्जन्' के उच्चारण से उछलने का भाव स्वतः व्यक्त होता है। इस पद्य में 'वेगेन' तक पानी को चीरकर आते मगर की चित्रमत्ता है, तो 'न' का गुरुत्व (वेगेन प्रतिमुखमेत्य, नद्याः) का उच्चारण ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे अर्जुन उछलकर एकदम शिव के समक्ष कूद पड़ा है। उत्तरार्ध के 'भुजाभ्या' 'आजघ्ने' 'नस्य' और पद्य के अन्त का (वक्षः) ऐसा समा बाँधता है जैसे सचमुच 'विषमविलोचन' की छाती पर प्रहार हुआ है। 'क्षः' के अन्तिम का विसर्ग जो उच्चारण में (अहह) जैसा सुनाई देता है, ऐसा मालूम होता है, जैसे चोट की गूँज अभी घण्टी के अनुस्वान की तरह कुछ देर तक चलती रहती है। एक और मार्के की बात यह है कि 'भ्याम्' के बाद एक अक्षर रुककर 'जघ्ने' का उच्चारण, उसके बाद थोड़ा अधिक रुककर 'नस्य' का उच्चारण और फिर 'वक्षः' का उच्चारण इस बात को चित्रमत्ता देता है, जैसे अर्जुन ने शिव के वक्ष पर एक ही चोट नहीं की है, थोड़ा रुक रुककर तीन-चार बार प्रहार किया है और 'वक्षः' के विसर्ग की गभीरता शायद अंतिम चोट का संकेत करती है, जिसके उच्चारण मे उतना ही पूरा जोर लगाना पड़ता है, जितना पूरा जोर अर्जुन ने आखिरी प्रहार में लगाया था। उपर्युक्त पद्य भारवि का उत्कृष्ट 'रिदमिक' पद्य है तथा भारवि के कवित्व का सफल प्रमाण है।

मैंने यहाँ संस्कृत के काव्यों के 'रिदमिक' मूल्य का अंकन करने के दिङ्मात्र का सङ्केत किया है। शायद इस दृष्टि से विचार करना हमारे प्राचीन कवियों के आलोचन में कुछ नई जोड़ सकता है।

किरातार्जुनीय के आठवें, नवें तथा दसवें सर्ग में शृङ्गार के कई सरस स्थल हैं। अप्सराओं का वनविहार, पुष्पावचय, जलक्रीडा तथा रतिकेलि का वर्णन भारवि के प्रणय-कला-विशारदत्व को प्रतिष्ठापित करने में अलम् है। माघ के शृङ्गार वर्णन और उसके चन्द्रमा दोनों की तरह भारवि का शृङ्गार वर्णन दिल को भले ही कम गुदगुदाये, 'नर्मसाचिव्य'[1] करने में पूरा पटु है। मेरा निजी मत ऐसा है कि भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष के शृङ्गार वर्णन वासना और विलास वृत्ति को जितने उभारते हैं, उतने कालिदास के वर्णन नहीं। इस दृष्टि से इन पिछले खेवे के कवियों के वर्णन विशेष वासनामय तथा ऐंद्रिय (Voluptuous and sensuous) जान पड़ते हैं। कालिदास से इनमें वही अन्तर है, जो सूर तथा बाद के रीतिकालीन हिन्दी कवियों के शृङ्गार में। भारवि के शृङ्गार का एक चित्र देखिये —

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः।
सलीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ॥ (८.५१)

'जलविहार के समय किसी नायिका ने हाथ में पानी लेकर नायक पर उछालना चाहा, इसे देखकर प्रिय ने हँसकर उसका हाथ पकड़ लिया। स्पर्श के कारण नायिका का मन कामासक्त हो गया, उसका नीवीबन्धन ढीला हो गया, पर पानी से सिमटी हुई करधनी ने उसके अंशुक को इसी तरह रोक लिया, जैसे वह सखी के समान ठीक समय पर नायिका की सहायता कर रही हो।'

किरात के इन तीनों सर्गों का शृङ्गार वर्णन समग्र रूप में न दिखाई देकर कई मुक्तक शृङ्गार वर्णनों का समूह-सा दिखाई देता है। अलग-अलग नायिका की तत्तत् मुग्धादि या खण्डितादि अवस्था के चित्रण पर मुक्तकत्व की छाप ज्यादा पाई जाती है। यहाँ नायक की परागनासक्ति से रुष्ट खण्डित मुग्धा का एक चित्र देखिये। नायक फूल तोड़कर नायिका को दे रहा है, पर फूल देते समय उसके मुँह से गलती से दूसरी नायिका का नाम निकल जाता है, वह उसे गलत नाम से सम्बोधित कर देता है। नायिका समझ जाती है कि वह नायक की कनिष्ठा प्रिया है और मान कर बैठती है। पर वह नायक से कुछ नहीं कहती, खाली आँखों में आँसू भर कर पैर से जमीन खुरचने लग जाती है। मानव्यञ्जना का यह भी एक अङ्ग है।

---

[1] दे० कलाममग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कवितुं पटीयसा।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना ॥ (माघ० १,७९)

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम्॥ (८.१४)

इस भोलेपन के विपरीत ठीक दूसरा चित्र देखिये, जो भारवि के छटे हुए ऐन्द्रिय वर्णनों में से एक है, जहाँ प्रगल्भा नायिका की 'रति विशारदता' व्यञ्जित की गई है।

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी॥ (८.१९)

'प्रिय को अपने नेत्र मे गिरे हुए पुष्प-पराग को मुँह की हवा से निकालने मे असमर्थ पाकर, किसी नायिका ने उन्मत्त होकर अपने उन्नत तथा कठोर (पुष्ट) स्तनों के द्वारा प्रिय के वक्षस्थल पर इसलिए जोर से मारा (कि नायक उसकी आँख से पराग निकालने के बहाने चुम्बन करना चाहता था)।'

भारवि मे उद्दीपन तथा आलम्बन दोनों ढङ्ग का प्रकृति वर्णन मिलता है। अप्सराविहार मे सूर्यास्तवर्णन,[१] रात्रिवर्णन,[१] प्रभातवर्णन[१] शृङ्गार के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आयेंगे। आलम्बन वाला प्रकृति वर्णन चतुर्थ तथा पञ्चम सर्ग मे मिलता है। पिछले खेवे के कवि प्रकृति के आलम्बन पक्ष के वर्णन मे बड़े कच्चे हैं। इनमे वाल्मीकि कालिदास या भवभूति जैसा प्रकृति के प्रति मोह नहीं दिखाई देता। आलम्बन पक्ष के वर्णन मे कालिदास की भारती सदा अनलङ्कृत रमणीयता लेकर आती है पर प्रकृति मे दिल को न रमाने वाले भारवि[२] या माघ,[३] यमक के फेर में पड़ जाते है। इतना होते हुए भी भारवि के चतुर्थ सर्ग के शरद्वर्णन के कुछ चित्र बड़े मार्मिक बन पड़े हैं। चतुर्थ सर्ग के प्रायः सभी वर्णन अलङ्कृत है। दो-तीन पद्य, जिनमें गायों का वर्णन है, अनलङ्कृत होते हुए भी सरस तथा स्वाभाविक हैं :—

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरोधसः॥ (४.१०)

'रात के पहले पहर में चरागाह से लौटती हुई गायें तेजी से दौडना चाहती थीं, पर पृथ्वी पर इसलिये तेज नहीं दौड़ पाती थी, कि उनके हृदय मे उन बछड़ों को देखने की बहुत उत्कण्ठा थी, जो स्वयं माँ को देखने के लिए उत्सुक थे और उनके पुष्ट स्तनों से अपने आप दूध की धारा छूट रही थी।'

---

१. दे० किरात सर्ग ९। २. किरात, पञ्चम सर्ग। ३. माघ, चतुर्थ सर्ग।

यह वर्णन भारवि की पैनी दृष्टि का प्रमाण देता है, पर अधिकतर पद्यों के प्रकृतिवर्णन में अलङ्कार और अप्रस्तुत विधान का ही महत्व हो गया है। ऐसे ही एक अप्रस्तुतविधान के लिए पण्डितों ने भारवि को 'आतपत्रभारवि' की उपाधि इसीलिए दे दी थी कि इस तरह का अप्रस्तुतविधान भारवि की मौलिक कल्पना है। गुलाब (स्थलकमल) के वन से उड़कर गुलाब के फूलों का पराग आकाश में छिटक गया है। हवा उसे आकाश में चारों ओर फैलाकर मण्डलाकार बना देती है और मण्डलाकृत पराग-सघात ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सोने के छत्र की शोभा को धारण कर रहा हो।

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूत सरसिजसंभव. परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तित. समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥ (५ ३९)

भारवि की यह 'निदर्शना' नि सन्देह एक अनूठी कल्पना है।

अर्थालंकारों के, विशेषत: साधर्म्यमूलक अलकारों के, प्रयोग मे भारवि कुशल है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, निदर्शना के अतिरिक्त यमक, श्लेष तथा प्रहेलिकादि चित्रकाव्यों की नक्काशी करने मे भारवि की टाँकी पूर्ण दक्ष है। यहाँ दो तीन उदाहरण देना पर्याप्त होगा। नीचे के पद्य मे उपमा का सरस शृङ्गारी प्रयोग है .—

तत सकूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम्।
उपाससादोपजनं जनप्रिय' प्रियामिवासादितयौवनां भुवम् ॥ (४.१)

'तब लोकप्रिय अर्जुन कृषकादिजनों से युक्त पृथ्वी के पास उसी तरह गया, जैसे कोई नायक प्राप्तयौवना प्रेयसी के पास जाता है। शरद्भूमि पर कलहंस उसी तरह कूज रहे थे, जैसे नायिका की करधनी झणझणायित हो रही हो और उसके पके धान्य की पाण्डुता नायिका के गौरवर्ण के समान दिखाईदे रही थी।'

प्रकृति के वर्णन में रूपक का अप्रस्तुत विधान निम्न पद्य मे उत्कृष्ट है .

विपाण्डु सव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धती. सप्तपलाशजं रजः।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः ॥ (४.२८)

'अर्जुन ने उन वनपंक्तिरूपी युवतियों को देखा, जो वायु से बिखेरे हुए सप्तपर्ण के पीले पराग को वायु से उडते उत्तरीय की तरह सम्हाल रही थीं, जिनके सुन्दर बाणपुष्पों के निर्मल नेत्र विकसित हो रहे थे, तथा जो पुष्पों के विकासरूपी हास से युक्त थी।'

पञ्चम सर्ग में कवि यमक के फेर में फँस गया है, जहाँ हर दूसरा पद्य यमक का है। यमक के कई तरह के रूप यहाँ देखे जा सकते हैं।[1] किरात में माघ की भाँति शुद्ध श्लेष (अर्थश्लेष) का प्रयोग नहीं मिलता। यहाँ श्लेप किसी न किसी अर्थालङ्कार का अङ्ग बनकर आता है। श्लेष का एक रूप भारवि के प्रसिद्ध निम्न पद्य में देखें, जो उपमा (श्लेषानुप्राणितोपमा) का अङ्ग है :—

कथाप्रसंगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद्व्यथते नताननः सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः। (१.२४)

'जिस तरह सर्प विपर्वय के द्वारा पढ़े गये असह्य मन्त्र को सुनकर—जिसमें गरुड़ तथा वासुकी का नाम (तवाभिधान) होता है—विष्णु के पक्षी गरुण के पराक्रम का स्मरण कर (अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रम) अपने फण को नीचे गिरा देता है, उसी तरह जब दुर्योधन बातचीत में लोगों के मुँह से युधिष्ठिर का नाम सुनता है, तो अर्जुन की वीरता को याद कर चिन्ता के कारण सिर झुका लेता है।'

भारवि की इससे भी अधिक चित्रमत्ता प्रहेलिकादि-गोमूत्रिकाबन्धादि-काव्यों में मिलती है। इस तरह के कूट काव्यों का एक उदाहरण देखें, जहाँ प्रत्येक पद में एक ही व्यञ्जनध्वनि पाई जाती है। यह एकाक्षरपद चित्रकाव्य है।

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन्॥ (१५.५)

'खड्ग (सासिः), बाण (सासुसूः) तथा धनुष (सासः) से युक्त होकर यानसाध्य[2] तथा अयानसाध्य लाभादि को प्राप्त करने वाले, शोभासम्पन्न

---

१. दे० ५, ७, ९, ११, १३, २०, २७ आदि। उदाहरण के लिए द्वितीयचतुर्थपादवृत्ति यमक का नमूना यह है :—

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम्।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचिमानसम्॥ (५.१३)

'अर्जुन ने विकसित कमलवाले, राजहंसों से युक्त, शुद्ध मानसरोवर को धारण करते हिमालय को देखा, जो प्रणय-मान की ईर्ष्या वाली पार्वती से कलह करते पवित्र मनवाले, सगण (गणों से युक्त) शिव को भी धारण करता है। हिमालय में एक ओर स्वच्छ मानसरोवर है और दूसरी ओर शिव का पवित्र निवासस्थान है।

२. 'यान' राजनीति का पारिभाषिक शब्द है, तथा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय, इन छः गुणों में से एक है। आक्रमण के लिए शत्रु के प्रति विजिगीषु का प्रस्थान 'यान' कहलाता है (शत्रुं प्रति विजिगीषोर्यात्रा यानं)।

(सन्‌) निश्चल प्रकृति वाले (अलोलः) अर्जुन ने, जिसने चन्द्रमा के स्वामी (शिव) के पुत्र (कार्तिकेय) को हरा दिया था (शशांशशिशुशीः), (खरगोश की-सी) प्लुतगति से युक्त होकर (तेजी से फुदक कर), अपूर्व शोभा को प्राप्त किया।'

काव्यरसिकों के लिए भारवि के चित्रकाव्यों का कोई महत्त्व न हो, काव्यरूढ़ियों का अध्ययन करने वाले आलोचकों के लिए ये कम महत्त्व नहीं रखते। भारवि की इन कलाबाजियों में उस जादूगरी का आरम्भ पाया जाता है, जिसकी शिष्यपरम्परा हिन्दी के केशव, सेनापति जैसे कई रीतिकालीन कवियों तक चली आई है।

भारवि की उक्तियाँ स्वाभाविकता, व्यंग्य तथा पाण्डित्य से भरी पड़ी हैं। द्रौपदी की उक्ति में युधिष्ठिर को तीखे व्यंग्य सुनाने की क्षमता है, तो भीम की युक्ति वीरता के घमण्ड से तेज और तर्रार। युधिष्ठिर की कायरता पर सङ्केत करती द्रौपदी कहती है कि (युधिष्ठिर के सिवाय) ऐसा राजा कौन होगा, जो अपनी सुन्दर पत्नी के समान गुणानुरक्त (सन्धि आदि गुणों से युक्त), कुलीन राज्यलक्ष्मी को, स्वयं अनुकूल साधन में युक्त तथा कुलाभिमानी होते हुए भी दूसरे के हाथों छिनती हुई देखे। आप समस्त साधन सम्पन्न तथा कुलाभिमानी हैं, पर अपनी राज्यलक्ष्मी को छिनते देखकर भी आपका स्वाभिमान जागृत नहीं होता, यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति होता, तो इस तरह शान्त नहीं बैठ पाता। भला अपनी पत्नी को छिनते देख कोई बर्दाश्त कर सकता है, और उस पर यह कि वह (लक्ष्मी, पत्नी) स्वयं आपके पास रहना चाहती है।

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्॥ (१.३१)

इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी ने युधिष्ठिर के द्वारा उसे जुए के दाँव पर लगाने तथा दुःशासन के द्वारा उसके अपमान की घटना की व्यञ्जना कराकर युधिष्ठिर को तीखा व्यंग्य सुनाया है।

द्रौपदी यहीं नहीं ठहरती। वह साफ कहती है कि यदि युधिष्ठिर की क्षत्रियोचित वीरता अस्त हो गई हो, और वे क्षमा को ही सुख का साधन मानते हों, तो राजा के चिह्नरूप धनुष को फेंक दें, और जटा धारण कर वन में अग्निहोम किया करें। क्षमा ब्राह्मणों और तपस्वियों का गुण है, राजपुत्र

होकर उसका आश्रय लेने से युधिष्ठिर क्षत्रियत्व की विडम्बना क्यों करा रहे हैं ?

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मुकं जटाधरः सन् जुहुधीह पावकम् ॥ (१.४४)

अब तक के विवेचन और प्रसङ्गवश उद्धृत पद्यों से यह सिद्ध हो जाता है, कि कालिदास जैसा प्रसाद गुण भारवि में नहीं मिलता। यद्यपि भारवि की शैली माघ की भाँति विकट-समासान्त-पदावली का आश्रय नहीं लेती, तथापि कालिदास जैसी ललित वैदर्भी भी नहीं। भारवि का अर्थ कालिदास के अर्थ की तरह अपने आप सूखी लकड़ी की तरह प्रदीप्त नहीं हो उठता। कालिदास की कविता में द्राक्षापाक है, अंगूर के दाने की तरह मुँह में रखते ही रस की पिचकारी छूट पड़ती है, जब कि भारवि के काव्य में नारिकेलपाक है, जहाँ नारियल को तोड़ने की सख्त मेहनत के बाद उसका रस हाथ आता है, और कभी-कभी तो उसे तोड़ते समय इधर-उधर जमीन पर बह भी जाता है, और उसमें से बहुत थोड़ा बचा-खुचा सहृदय की रसना का आस्वाद्य बनता है। मल्लिनाथ ने इसीलिए भारवि की उक्तियों को 'नारिकेलफल-सम्मित'[1] कहा है। मल्लिनाथ को धन्यवाद, जिसने बड़ी कुशलता से इस नारिकेल को तोड़कर रस को निकाल लिया है, जिसमें से थोड़ा बहुत सहृदय रसिक के बाँट में भी पड़ सकता है। भारवि की रीति गौडी तो नहीं कही जा सकती, पर वह ठीक वही वैदर्भी रीति नहीं है, जो कालिदास में पाई जाती है। शायद कालिदास से माघ तक जाने के बीच में काव्यशैली अपना रूप बदलने की चेष्टा कर रही है, भारवि की शैली से ऐसा मालूम होता है।

भारवि कालिदास की अपेक्षा पाण्डित्यप्रदर्शन के प्रति अधिक अनुरक्त हैं। वे अपने व्याकरण-ज्ञान का स्थान-स्थान पर प्रदर्शन करते हैं, और यही प्रवृत्ति, भट्टि, माघ तथा श्रीहर्ष में अत्यधिक हो चली है। भट्टि ने तो काव्य लिखा ही व्याकरण ज्ञान-प्रदर्शन के लिए था। भारवि में 'तन्' धातु का प्रयोग अत्यधिक पाया जाता है, उन्हें कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के प्रयोग बड़े पसन्द हैं। इनके

---

१ नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

किरात (घण्टापथव्याख्या)

साथ ही 'शास्' धातु का द्विकर्मक[1] प्रयोग, 'दर्शयते' का प्रयोग,[2] अनुजीविसात्कृत, स्तनोपपीड जैसे पाणिनीय प्रयोग मिलते हैं; तथा भारवि में ही सबसे पहले काकु वक्रोक्ति का और विध्यर्थ में निषेधद्वय का प्रयोग अधिक पाया जाता है। इसके साथ ही अतीत की घटना का वर्णन करने में भारवि खास तौर पर परोक्षभूते लिट्[3] का प्रयोग करते हैं, जब कि लङ् तथा लुङ् का प्रयोग अपरोक्षभूत के लिए करते हैं। भारवि की सामान्यभूते लुङ् के साथ उतनी आसक्ति नहीं है, जितनी माघ की। व्याकरण की त्रुटियाँ भारवि में बहुत कम हैं, किन्तु 'आजघ्ने' (१७ ६२) का आत्मनेपदी प्रयोग खटकता है।

विविध छन्दों के प्रयोग में भारवि कुशल हैं। वंशस्थ भारवि का खास छन्द है, तथा इसके लिए क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में भारवि की प्रशंसा की है।[4] इसके अतिरिक्त उपजाति (इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा), वैतालीय (द्वितीय सर्ग), द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी (षष्ठ सर्ग), स्वागता (नवम सर्ग), उद्‌गता (द्वादश सर्ग), पुष्पिताग्रा (दशम सर्ग) के अतिरिक्त औपच्छन्दसिक, अपरवक्त्र, जलोद्धतगति, चन्द्रिका, मत्तमयूर जैसे कई अप्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग भी किया गया है। कालिदास के खास छन्द छः हैं, भारवि के बारह, तो माघ के सोलह।

अन्त में हम डॉ० डे के साथ यही कहेंगे:—'भारवि की कला प्रायः अत्यधिक अलंकृत नहीं है, किन्तु आकृति-सौष्ठव की नियमितता व्यक्त करती है। शैली की दुष्प्राप्य कान्ति भारवि में सर्वथा नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं होता, किन्तु भारवि उसकी व्यञ्जना अधिक नहीं कराते। भारवि का अर्थगौरव, जिसके लिये विद्वानों ने उनकी अत्यधिक प्रशंसा की है उनकी गम्भीर अभिव्यञ्जना शैली का फल है, किन्तु यह अर्थगौरव एक साथ भारवि की शक्ति तथा दुर्बलता (भावपक्ष की दुर्बलता) दोनों को व्यक्त करता है। भारवि की अभिव्यञ्जना शैली का परिपाक अपनी उदात्त स्निग्धता के कारण सुन्दर लगता है, उसमें शब्द तथा अर्थ के सुडौलपन की स्वस्थता है, किन्तु महान् कविता की उस शक्ति की कमी है, जो भावों की स्फूर्ति तथा हृदय को उठाने की उच्चतम क्षमता रखती है।'

---

१. निग्रहशासजिमथमुषाम् कर्मयुक्स्यादकथितम्। (कारिका)

२. स सतत दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्॥ (१.१०)

३. दे० ३.३२-३८.

४. वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

भट्टि

भारवि में कालिदासोत्तर काव्य की पाण्डित्य-प्रदर्शन-प्रवृत्ति और कलात्मक सौष्ठव का एक पक्ष दिखाई देता है, भट्टि में दूसरा। भारवि मूलतः कवि हैं, जो अपनी कविता को पण्डितों की अभिरुचि के अनुरूप सजाकर लाते हैं, भट्टि मूलतः वैयाकरण तथा अलङ्कारशास्त्री हैं, जो व्याकरण और अलङ्कारशास्त्र के सिद्धान्तों को व्युत्पित्सु सुकुमारमति राजकुमारों तथा भावी काव्यमार्ग के पथिकों के लिए काव्य के बहाने निबद्ध करते हैं। भारवि तथा भट्टि के काव्यों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं। इनके लक्ष्य में ठीक वही भेद है, जो कालिदास तथा अश्वघोष में। कालिदास रसवादी कवि हैं, तो भारवि कलावादी कवि, अश्वघोष दार्शनिक उपदेशवादी कवि हैं, तो भट्टि व्याकरण-शास्त्रोपदेशी कवि। इस दृष्टिकोण को लेकर चलने पर ही हम भट्टि के कार्य की प्रशंसा कर सकेंगे। भट्टि के काव्य का लक्ष्य निश्चित रूप से व्याकरण शास्त्र के शुद्ध प्रयोगों का सङ्केत करना है।

गुप्तों के पतन के बाद पाटलिपुत्र तथा अवन्ती का साहित्यिक महत्व अस्त हो गया था। संस्कृत साहित्य के विकास काल के अन्तिम दिनों (छठी-सातवीं शती) में संस्कृत साहित्य के केन्द्र वलभी तथा कान्य-कुब्ज थे। वलभी का केन्द्र कुछ दिनों तक प्रदीप्त रहा, किन्तु कान्य-कुब्ज केन्द्र की परम्परा बाण से लेकर श्रीहर्ष तक अखण्ड रूप में पाई जाती है, जिसमें भवभूति वाक्पतिराज (गउडवहो प्राकृत काव्य के रचयिता) जैसे साहित्यिक व्यक्तित्व भी आते हैं। वलभी के राजा पण्डितों के आश्रयदाता थे। भट्टि ही नहीं, भट्टि से लगभग पचास साल बाद में होने वाले माघ भी सम्भवतः वलभी के राजाओं के ही आश्रित थे। वलभी गुप्त-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर गुजरात के राजाओं की राजधानी थी। गुजरात की पुरानी सीमा ठीक आज वाली नहीं है। इसमें मारवाड़ और राजस्थान का दक्षिणी पार्वत्यप्रदेश (डूंगरपुर, बाँसवाड़ा आदि) भी सम्मिलित था। वलभी सम्भवतः डूंगरपुर, बाँसवाड़ा के आसपास दक्षिणपश्चिमी गुजराती भाग में स्थित थी। गुजरात की साहित्यिक परम्परा भट्टि से लेकर हेमचन्द्र ही नहीं, बाद तक अखण्ड रूप से चलती आई

है। मेकडोनल के 'सस्कृत साहित्य' के गुजराती अनुवादक ने माघ को गुजरात का सर्वप्रथम सस्कृत कवि माना है, किन्तु यदि कोई गुजरात का सर्वप्रथम सस्कृत कवि माना जाना चाहिए, तो वह भट्टि है, माघ नही। माघ भट्टि के कई स्थानो पर ऋणी हैं, इसे हम माघ के परिच्छेद मे बतायेंगे।

भट्टि के काल मे प्राकृत भाषाओ का साहित्य समृद्ध होने लग गया था। भट्टि से पहले ही प्रवरसेन का 'सेतुबन्ध' महाकाव्य लिखा जा चुका था, और भट्टि स्वय अपने काव्य-निबन्ध में उससे प्रभावित रहे हैं। प्राकृत भाषाओ की समृद्धि से निश्चित रूप से सस्कृत साहित्य को, विशेषतः सस्कृत व्याकरण को, ठेस पहुँच रही थी। पाणिनि के सूत्रो को रट-रटकर पदो की रूपसिद्धि पर ध्यान देना, पाणिनि के नियमो के अपवादरूप या पूरकरूप वार्तिको तथा उनके पल्लवन-पातञ्जल महाभाष्य की फक्किकाओ को—याद कर उन पर शास्त्रार्थ करना, हरएक के बस का रोग नही था। पर संस्कृत साहित्य के महा-समुद्र मे प्रविष्ट होने के लिए व्याकरण-ज्ञान की तरी के बिना काम नही चल सकता था। आज के आग्ल पद्धति के सस्कृत पाठको की तरह उस काल के सस्कृत-छात्रो को भी पाणिनि महाराज के नियम-दण्ड से बडा डर लगता होगा। भट्टि ने इस बात को खूब पहचाना था और सुकुमारमति छात्रो को सम्भवत: वलभी के राजा श्रीधरसेन के पुत्रो[१] को काव्य के द्वारा व्याकरण शुद्ध प्रयोगो को सिखाने के ढङ्ग का आश्रय लिया होगा। राजकुमारो को सस्कृत सिखाने का ढङ्ग बाद के कई कवियो और पण्डितो ने अपनाया है। १२ वी शती के प्रारम्भ मे काशीराज (कान्य-कुब्जेश्वर) गोविन्दचन्द्र के पुत्रों को उस काल की देशभाषा के द्वारा सस्कृत की शिक्षा देने के लिए दामोदर ने 'उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्' की रचना की थी। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में दामोदर ने कोसली (कोशली) अपभ्रंश के द्वारा सस्कृत सिखाने के ढङ्ग को ठीक उसी तरह अपनाया है, जैसे भट्टि ने काव्य के द्वारा व्याकरणसम्मत प्रयोगों और अलङ्कारों को सिखाने का ढङ्ग अपनाया है। यही नहीं भट्टि ने दामोदर से उलटा ढङ्ग भी अपनाया है।

१. मेरी ऐसी कल्पना है कि भट्टि श्रीधरसेन के राजकुमारों के अध्यापक थे, तथा उन्हीं को पाणिनीय व्याकरण का व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिए उन्होंने यह काव्य लिखा था।

जहाँ दामोदर कोसलों के द्वारा संस्कृत की शिक्षा देते हैं, वहाँ भट्टि संस्कृत के द्वारा प्राकृत (महाराष्ट्री प्राकृत) सिखाने का ढङ्ग भी अपनाते हैं, जो भट्टिकाव्य के त्रयोदश सर्ग के भाषासमप्रयोग से स्पष्ट है। जहाँ तक भट्टि के उद्देश्य का प्रश्न है, वे दामोदर से किसी कदर कम सफल नहीं हुए हैं। व्याकरण को लक्ष्य बनाकर चलने वाले काव्यों में अन्य काव्य भी पाये जाते हैं, जिनमें भट्टभौम का 'रावणार्जुनीय'[१] तथा वासुदेव का 'वासुदेवचरित' प्रसिद्ध हैं। वासुदेव ने कृष्ण की कथा को लेकर संस्कृत व्याकरण के धातुपाठ के अनुसार सभी धातुओं का तत्तत् लकारगत प्रयोग बताने के लिए इस अन्तिम काव्य की रचना की थी।

भट्टि-तिथि तथा जीवनवृत्त

भट्टि ने स्वयं काव्य के अन्त में अपने आश्रयदाता राजा का संकेत किया है। वे बताते हैं कि भट्टिकाव्य (रावणवध) की रचना राजा श्रीधरसेन की राजधानी वलभी में की गई थी। राजा श्रीधरसेन प्रजाओं का कल्याण करने वाले हैं, अतः उनकी कीर्ति प्रसारित हो।[२] वलभी के ये भट्टिवाले श्रीधरसेन कौन थे, इसका निर्णय करना इतना सरल नहीं, क्योंकि शिलालेखों से पता चलता है कि वलभी में श्रीधरसेन नाम वाले चार हो चुके हैं। श्रीधरसेन प्रथम का काल ५०० ई० के लगभग है, तो श्रीधरसेन चतुर्थ का ६५० ई० के लगभग। भट्टि किस राजा के सभापण्डित थे, इसका थोड़ा संकेत यों मिलता है। एक शिलालेख में श्रीधरसेन द्वितीय के द्वारा किसी भट्टि नामक विद्वान् को कुछ भूमि दान में देने का उल्लेख है। क्या ये भट्टि तथा 'रावणवध' काव्य के कवि एक ही हैं ? इन्हें एक मानने में कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं मिलता, किन्तु यह सम्भव हो सकता है। इसे मान लेने पर भट्टि का समय सातवीं शती का प्रथम पाद (६१० ई०–६१५ ई० के लगभग) सिद्ध होता है। इस प्रकार भट्टि को बाण से एक पीढ़ी (२०–२५ वर्ष) पूर्व का माना जा सकता है।

---

१ ये दोनों काव्य काव्यमाला में प्रकाशित हुए थे। भट्टभौम सम्भवतः काश्मीरी थे, दूसरे 'काव्य' के रचयिता दाक्षिणात्य।

२. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥
(भट्टिकाव्य २२. ३५ पृ० ४७९)

भट्टि के जीवनवृत्त का कुछ पता नही ।[1] हमारा निजी अनुमान है, भट्टि गुजराती या श्रीमाली ब्राह्मण थे और श्रीधरसेन के सभा पण्डित ही नही, राजकुमारो के गुरु भी थे ।

भट्टि का रावणवध

भट्टि ने अपने काव्य का इतिवृत्त रामायण से लिया है। रामचन्द्र के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की रामायण कथा को २२ सर्गों के काव्य मे निबद्ध किया गया है । भट्टि का ध्येय काव्य के इतिवृत्त पर विशेष ध्यान देना नही है, यही कारण है घटना चक्र मे औत्सुक्य की कमी दिखाई पड़ती है । किन्तु कथा राम के सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध होने के कारण क्षेत्र की दृष्टि से किरात या माघ की कथा से लम्बी है, साथ ही भट्टि की कथा मे लम्बे-लम्बे वर्णनो वाली प्रवाहावरोधकता नही मिलती । कालिदास तथा भारवि के सर्ग विशेष लम्बे नही होते, माघ के सर्ग भी अधिक लम्बे नही दिखाई पड़ते, जबकि नैषध के सर्ग बहुत लम्बे होते हैं और उसके अधिकतर सर्गों मे १०० से ऊपर पद्य पाये जाते हैं । भट्टि के कोई-कोई सर्ग तो बहुत ही छोटे होते हैं, कालिदास तथा भारवि से भी छोटे । उदाहरण के लिए पहले, इक्कीसवें और बाइसवें सर्ग मे क्रमश २७, ३० तथा ३५ पद्य हैं । अन्य सर्ग भी अधिक लम्बे नही हैं। भट्टि ने इन २२ सर्गों को निम्नि ढङ्ग से चार काण्डों मे विभक्त किया है --

---

१. कुछ विद्वानों ने भट्टि को मन्दसौर शिलालेख वाले वत्सभट्टि से अभिन्न माना है। पर वात्स भट्टि के अव्याकरणसम्मत प्रयोग वैयाकरण भट्टि के नहीं हो सकते । कुछ लोगों के मतानुसार भट्टि तथा भर्तृहरि दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं यथा भट्टि संस्कृत भर्तृ० का प्राकृतरूप है । भट्टि ही भर्तृहरि थे और हरिकारिका, वाक्यपदीय तथा शृङ्गार-नीति-वैराग्य शतकत्रय के रचयिता थे। यह कल्पना दोनों के प्रकाण्ड वैयाकरण होने के कारण कर ली गई होगी, जो निःसार प्रतीत होती है । क्या वाक्यपदीयकार भर्तृहरि तथा शतकत्रयकार भर्तृहरि एक ही थे ? इस प्रश्न का उत्तर भी निश्चित रूप मे नहीं दिया जा सकता । कुछ लोग इन्हें भी दो अलग-अलग व्यक्ति मानते है । सम्भवत: कवि भर्तृहरि तथा वैयाकरण भर्तृहरि एक ही हैं । चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने भर्तृहरि के विषय में लिखा है, जिससे यह पता चलता है कि इत्सिङ्ग के भारत आने के कुछ ही दिनों पूर्व भर्तृहरि का देहावसान हुआ था, तथा भर्तृहरि अपने अन्तिम दिनों में बौद्ध धर्मानुयायी बन गये थे । (दे० कीथ: हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर पृ० १७५-१७७)

१. प्रकीर्ण काण्ड

प्रथम पाँच सर्ग प्रकीर्ण काण्ड के नाम से विख्यात हैं। इसमें रामजन्म से लेकर रामप्रवास तथा सीताहरण तक की कथा है। व्याकरण के नियमों की दृष्टि से प्रथम चार सर्गों में *कोई निश्चित योजना नहीं दिखाई देती*, तथा कवि में जो कुछ कवित्व है, इन्हीं चार सर्गों तथा प्रसन्न काण्ड के सर्गों में दिखाई पड़ता है। पञ्चम सर्ग में अधिकतर पद्य प्रकीर्ण हैं, केवल दो स्थलों पर क्रमशः ट प्रत्यय (टाधिकार ९७-१००) तथा आमधिकार (१०४-१०७) के प्रयोगों का संकेत मिलता है।

२. अधिकार काण्ड

षष्ठ, सप्तम, अष्टम तथा नवम सर्ग अधिकार काण्ड के नाम से विख्यात हैं। इनमें भी कई पद्य प्रकीर्ण हैं। किन्तु अधिकतर पद्यों में व्याकरण के नियमों में, दुहादिद्विकर्मक धातु (६, ८-१०), ताच्छीलिककृदधिकार (७, २८-३३), भावे कर्त्तरि प्रयोग (७ ६८-७७), आत्मनेपदाधिकार (८. ७०-८४), अनभिहिताधिकार (८ ९४.१३१); आदि पर भट्टि का खास ध्यान पाया जाता है।

३. प्रसन्न काण्ड

तीसरा काण्ड व्याकरण से सम्बद्ध न होकर अलङ्कारशास्त्र से सम्बद्ध है। यही कारण है कि इसका नाम प्रसन्न काण्ड रखा गया है। इसमें दशम, एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश सर्ग आते हैं। दशम सर्ग में शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार के अनेक भेदोपभेदों का प्रयोग (व्यावहारिक रूप) है। एकादश और द्वादश सर्ग में क्रमशः माधुर्य तथा भाविक का और त्रयोदश सर्ग में भाषा-सम नामक श्लेष-भेद का प्रदर्शन है।

४. तिङन्त काण्ड

तिङन्त काण्ड में संस्कृत व्याकरण के नौ लकारों[1] लिट्, लुङ्, लृट्, लङ्, लट्, लिङ्, लोट्, लृङ्, लुट्—का क्रमशः १४ वें सर्ग से लेकर २२ वें सर्ग तक एक एक सर्ग में (एक एक लकार का) व्यावहारिक निदर्शन है।

---

१. भट्टि ने संस्कृत के दसों लकारों को दस सर्गों में नहीं लिया है। विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ् दोनों को वे एक ही 'लिङधिकार' के अन्तर्गत १९ वें सर्ग में लेते हैं। जयमङ्गलाकार ने 'विध्यादिषु लिङ्' कहकर दोनों लिङों का संकेत किया है।

(दे० १९. ७, ६ आदि

इस प्रकार भट्टि ने व्याकरण के अनेक प्रयोगों पर व्यावहारिक संकेत कर दिया है। भट्टि के प्रकीर्ण पद्य भी व्याकरण की दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं है। पर प्रकीर्ण पद्यों के व्याकरणात्मक प्रयोगों मे भट्टि कोई निश्चित योजना लेकर नहीं आते, जो अधिकार काण्ड तथा तिङन्त काण्ड मे पाई जाती है।

भट्टि का व्यक्तित्व

भट्टि प्रकृति से पण्डित हैं, उनमे वैयाकरण तथा आलङ्कारिक का विद्वत्तापूर्ण समन्वय है। यदि हमे भट्टि के व्यक्तित्व को पहचानना है, तो भट्टि के वैयाकरण से आंख नही मूंदना होगा, और यह देखना होगा कि वैयाकरण भट्टि ने अपने काव्य मे इस पाण्डित्य का प्रदर्शन कहाँ तक किया है। भले ही रसवादी दृष्टि से भट्टि के काव्य का यह पहलू कोई महत्त्व न रखे, एक निष्पक्ष आलोचक का उस बिन्दु पर कुछ न कहना भट्टि के साथ अधिक अन्याय होगा, साथ ही आलोचक की एकांगी दृष्टि का साक्षी बनेगा। अत. यहाँ भट्टि के व्याकरण विषयक पाण्डित्य पर सप्रमाण कुछ विवेचना कर देना अनुचित न होगा। स्वय भट्टि के ही शब्दो मे भट्टिकाव्य व्याकरण की आँखवाले लोगों के लिए दीपक के समान ज्ञान-प्रदर्शक है, क्योंकि शब्दानुशासन के ज्ञान के बिना शब्दादि का परिचय उसी तरह होता है, जैसे अन्धो को हाथ से टटोलने पर घड़े आदि पदार्थ का पता चलता है[१]; और भट्टि का काव्य व्याकरणविदों के लिए सचमुच दीपक तुल्य है, किन्तु व्याकरण न जानने वालों के लिए अन्धे के हाथ में दिये गए दर्पण के समान। भट्टि ने यह काव्य केवल विद्वानों के लिए ही लिखा है, व्याकरणज्ञानहीन 'मूर्खों' (दुर्मेधसः) के लिए नहीं।[२]

भट्टि के व्याकरण सम्बन्धी पाण्डित्य का पूरा पता तो काव्य के पढ़ने पर ही चल सकता है, यहाँ केवल उसका दिङ्मात्र निदर्शन किया जा रहा है।

जैसा कि हम सङ्केत कर चुके है, प्रकीर्णकाण्ड के पद्यो मे भट्टि की कविता निश्चित व्याकरण-नियम-योजना लेकर नहीं आती, किन्तु वहाँ भी भट्टि मे कई

---

१. दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्द-लक्षण-चक्षुषाम्।
हस्तामर्ष इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥ (२२.३३)

२. व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥ (२२.३४)

ऐसे प्रयोग देखे जा सकते हैं, जो किन्हीं कठिन रूपों का, प्रकृति-प्रत्यय का, सङ्केत करते हैं।

(१) प्रभास्यतः पुण्यवनाय जिष्णो रामस्य रोचिष्णुमुखस्य धृष्णुः। (१.२१)

इस पद्यार्ध में 'जिष्णो' (जिष्णु का षष्ठी ए० व०), रोचिष्णु, धृष्णुः रूप क्रमशः ✓जि, ✓रुच्, ✓धृष् धातुओं के साथ ग्स्नु,[1] इष्णुच्[2] तथा क्नु[3] प्रत्यय मे बने हैं। इन तीनों का प्रयोग प्रायः ताच्छील्य अर्थ मे होता है। इन तीनों का प्रयोग एक साथ करने का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि भट्टि एक ही रूप के, आपाततः एक ही तरह के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाले, अनेक प्रत्ययों मे अर्थ की दृष्टि से तथा व्याकरण सिद्धि की दृष्टि से कौन-सा तात्त्विक भेद है, इसका सङ्केत करना चाहते हैं।

(२) लताऽनुपातं कुसुमान्यगृह्णात् स नद्यवस्कन्दमुपास्पृशच्च।
कुतूहलाच्चारुशिलोपवेशं काकुत्स्थ ईषत्स्मयमान आस्त॥ (२.११)

राम ने प्रत्येक लता के पास जा-जाकर (लतानुपात) फूलों को चुना, *उन्होंने प्रत्येक नदी में घुस घुसकर (नद्यवस्कन्द) उसके जल का स्पर्श किया* या आचमन किया। ककुत्स्थ के वंश मे उत्पन्न रामचन्द्र कुतूहल से हर सुन्दर *शिला पर बैठ-बैठकर (शिलोपवेश)* कुछ मुसकुराते रहते थे।

इस पद्य के लतानुपात, नद्यवस्कन्द, तथा शिलोपवेशं के प्रयोग भट्टि ने खास तौर पर किये हैं। ये प्रयोग भी व्याकरण के नियमों के प्रदर्शन की प्रवृत्ति हैं। इनके द्वारा भट्टि इस बात का सङ्केत करना चाहते हैं कि ✓विश्, ✓पद् (पत्), ✓स्कन्द आदि धातुओं से वीप्सार्थ में णमुल् प्रत्यय होता है।[4]

---

१. ग्लाजिस्थश्च ३।२।१३९ सूत्र मे जि धातु के साथ ग्स्नु प्रत्यय से 'जिष्णुः' सिद्ध होता है।

२. अलंकृञ् ३।२।१३६ इत्यादि सूत्र से इष्णुच् प्रत्यय के द्वारा 'रोचिष्णुः' बनता है। इष्णुच् में ग्स्नु तथा क्नु प्रत्यय से यह भेद है कि यह धातु के स्वर में गुण कर देता है।

३. त्रसि गृधि-धृषि क्षिपेः क्नुः ३।२।१४० सूत्र से क्नु प्रत्यय से 'धृष्णुः' सिद्ध होता है। ग्स्नु तथा क्नु में धातु के स्वर में गुण नहीं होता।

४. इन रूपों में पाणिनि के 'विशि-पति-पदि-स्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः' ३।४।५६ तथा 'नित्यवीप्सयोः' ८।१।४ सूत्रों की ओर सकेत किया गया है, जिनके द्वारा लतानुपातं, नद्यवस्कन्दं तथा शिलोपवेशं रूप सिद्ध होते हैं, जिनका विग्रह क्रमशः लतां लतां अनुपात्य (इति लतानुपातं), नदीं नदीं अवस्कन्द्य (इति नद्यवस्कन्दं), शिलां शिलां (यद्वा शिलाः शिलाः) उपविश्य (इति शिलोपवेशं) होगा।

(३) सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनतार्प्सीत् सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥ (१.२)

वे दशरथ वेदों का पाठ, देवताओं का यजन, पितरों का तर्पण तथा बान्धवों का आदर करते थे। उन्होंने काम क्रोधादि षड्रिपुओं को जीत लिया था, वे नीति में दिलचस्पी लेते थे और उन्होंने शत्रुओं को जड़ से हटा दिया था (मार डाला था)।

इस पद्य में भट्टि ने अध्यैष्ट, अयष्ट, अतार्प्सीत्, सममंस्त; व्यजेष्ट, अरंस्त, न्यवधीत् सभी क्रिया रूपों में सामान्य भूते लुङ् का प्रयोग किया है। साथ ही पहली तथा सातवीं क्रिया के अतिरिक्त बाकी पाँच प्रयोग आत्मनेपद के हैं। सभी प्रयोग प्रथम पुरुष ए० व० के हैं। यही नहीं √तृप् धातु के लुङ् रूप में सिच्[1] के कारण 'अतार्प्सीत्' रूप बनता है। इसी तरह √मन् तथा √रम् धातु के लुङ् में धातु तथा तिङ् प्रत्यय के बीच में 'इ' का प्रयोग न होने से 'न्' तथा 'म्' दोनों ध्वनियाँ अनुस्वार बन जाती हैं।[2]

(४) बलिर्बबन्धे जलधिर्ममन्थे, जह्रेऽमृतं दैत्यकुलं विजिग्ये ।
कल्पान्तदुःस्था वसुधा तथोहे, येनैष भारोऽतिगुरुर्न तस्य ॥ (२.३९)

सुबाहु आदि राक्षसों को मार गिराने पर ऋषि राम की स्तुति कर रहे हैं। तुमने बलि को बाँधा था, समुद्र का मंथन किया था, (मोहिनी रूप में) अमृत का हरण किया था, तथा दैत्यकुल को जीत लिया था, तुमने प्रलय के कारण दुखित (पानी में डूबी) पृथ्वी को (वराह रूप से) धारण किया था, तुम्हारे लिए इन राक्षसों को जीत लेना कोई बहुत बड़ा काम (बोझा) नहीं।

इस पद्य में सभी क्रिया रूप कर्मवाच्य के परोक्षभूते लिट् के प्रयोग हैं, यथा—बबन्धे, ममन्थे, जह्रे, विजिग्ये, ऊहे, जो क्रमशः √बन्ध, √मन्थ्, √हृ,

१. 'स्पृश मृश-कृश तृप दृपा च्लेः सिज्वक्तव्यः' (२४०२) इस वार्तिक से तृप्+सिच्+लुङ् होगा। इसके बाद 'सिचि वृद्धिः' ७।२।१ सूत्र से धातु का √तृप वृद्धि से तार्प् बन जायगा, तब तार्प्+सिच्+लुङ् से अतार्प्सीत् रूप सिद्ध होगा।

२. ध्यान दीजिये मनिष्ट, या रमिष्ट जैसे रूप अशुद्ध हैं। ऐसे रूप नहीं बनते। √मन्+लुङ्, √रम्+लुङ् से क्रमशः (अ) मं (स्त)=अमंस्त, तथा (अ) रं (स्त)=अरंस्त रूप बनते हैं। क्योंकि धातु तथा तिङ् प्रत्यय के बीच 'इ' नहीं पाया जाता। इसी तरह √यज्' (यजते) से भी यजिष्ट रूप अशुद्ध होगा। उसमें √यज्+लुङ् में (अ) यज् (त) से भी 'अयष्ट' रूप सिद्ध होगा।

√वह (सम्प्रसारण से ऊहे रूप बनेगा), तथा विपूर्वक √जि धातु के रूप है। साथ ही ध्यान देने की बात यह है कि भूतकाल की वन्धनादि क्रिया तत्तदवतार में ऋषियों के परोक्ष मे होने के कारण परोक्षभूते लिट् का प्रयोग हुआ है।

भट्टि की निश्चित योजना का इतना सङ्केत पर्याप्त है। विशेष के लिए जिज्ञासुगण काव्य तथा उसकी जयमङ्गला टीका देखें।

भट्टि का आलङ्कारिक पाण्डित्य १०, ११, १२ तथा १३ वें सर्ग मे मिलता है। इनमे भी शब्दालङ्कार व अर्थालङ्कार की दृष्टि से दशम सर्ग महत्त्वपूर्ण है। भट्टि का काल कुछ विद्वानो के मत से दण्डी तथा भामह से लगभग एक-दो पीढी पूर्व का है। यदि वे दण्डी या भामह के सम-सामयिक हैं, तो भी भट्टि का साहित्यशास्त्र की दृष्टि से कम महत्त्व नहीं। आलङ्कारिकों ने भट्टि को साहित्य-शास्त्र के आचार्यो मे स्थान दिया है। यद्यपि भट्टि ने किसी भी लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं की है, पर तत्तदलङ्कार के लक्ष्यरूप मे उपन्यस्त पद्य उनके आचार्यत्व को प्रतिष्ठापित करते हैं।

भट्टि की कविता

इतना सब होते हुए भी सहृदय आलोचक भट्टि से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। भट्टि कवि है, किन्तु इस दृष्टि से वे भारवि से भी बहुत निम्नकोटि के सिद्ध होते हैं। पर भट्टि में कवि-हृदय है ही नहीं, ऐसा निर्णय देना मूर्खता होगी। भट्टि के पास कुछ कवि-हृदय अवश्य है, और जहाँ वे व्याकरण की तङ्ग गली से निकलकर बाहर आते हैं, तो उनमें कभी-कभी काव्य के दर्शन होते है। भट्टि काव्य के द्वितीय सर्ग का वनवर्णन, तथा एकादश सर्ग का प्रभातवर्णन भट्टि के प्रति निर्णय देने मे सहायता कर सकते है। प्रथम, दशम तथा द्वादश सर्ग मे भी कुछ स्थल सुन्दर है, किन्तु दशम का यमक वर्णन इतना शास्त्रीय है, कि वहाँ काव्यत्व लुप्त हो गया है। तेरहवें सर्ग को छोडकर बाकी सभी सर्ग काव्य की दृष्टि मे किसी काम के नहीं हैं, तथा सहृदय पाठक उन्हें छोड़ सकता है।

भट्टि काव्य का रस वीर है, तथा प्रसङ्गवश शृङ्गार भी पाया जाता है। वीर तथा शृङ्गार का एक-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

अधिज्यचापः स्थिरबाहुमुष्टिरुदञ्चिताऽऽक्षोऽञ्चितदक्षिणोरुः।
तान् लक्ष्मणः सन्नतवामजङ्घो जघानशुद्धेषुरमन्दकर्षी ॥ (२.३१)

'धनुष को चढाकर, स्थिर बाहुमुष्टि वाले लक्ष्मण ने, ऊपर आँखें उठाकर, दाहिनी जांघ को सकुचाकर और वाम जघा को फैलाकर, तीक्ष्ण बाण को तेजी से (धनुष के साथ) खींचते हुए उन राक्षसों को मार गिराया।'

यद्यपि भट्टि के इस पद्य मे शास्त्रीय विद्वान् वीररस मानें, और हमने भी यही मानकर इनको उदाहृत किया है, पर दिल मे पूछने पर यहाँ वीर रस का पता तक नही चलता। भट्टि भावपक्ष के चित्रण मे कमजोर हैं, इसका सङ्केत उनके अनेकों युद्धवर्णन के चित्रो से मिल जायगा, जहाँ श्रुतिकटु शब्द भले ही आ जाय, वीररसपूर्ण चित्र का मानस पर कोई प्रतिबिम्ब पड़ता दिखाई नहीं देता।

भट्टि का शृङ्गार वर्णन, जो एकादश के प्रभात वर्णन के अन्तर्गत पाया जाता है, ठीक इसी तरह दिल को छूने मे असमर्थ है। एकादश के प्रभातवर्णन पर सम्भवत भारवि की शृङ्गारी प्रवृत्ति का प्रभाव मिलता है, पर भट्टि का शृङ्गारवर्णन भारवि जितना भी सफल नही कहा जा सकता।

सामोन्मुखेनाच्छुरिता प्रियेण दत्तेऽथ काचित् पुलकेन भेदे।
अन्तःप्रकोपापगमाद्विलोला वशीकृता केवल विक्रमेण ॥ (११.१)

'सामनीति का प्रयोग करते हुए किसी प्रिय के द्वारा नखक्षत (आच्छुरित) कर दिये जाने पर कोई नायिका रोमाञ्चित हो गई। उसके हृदय का क्रोध शान्त होने से वह चञ्चल हो उठी और नायक ने उसे केवल हठपूर्वक ही वश मे कर लिया।'

इस पद्य मे भी नखक्षत या रोमाञ्च (सात्त्विक भाव) के नाम ले देने भर से न तो शृङ्गार रस की व्यञ्जना होती है, न सहृदय रसिक की तृप्ति ही। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टि के हृदय की रसिकता को 'पाण्डित्यपूर्ण' (Academic) व्यक्तित्व ने कुचल दिया है।

द्वितीय सर्ग के प्रकृतिवर्णन मे चार-पाँच सरस पद्य अवश्य हैं, जो भट्टि के कवित्व का सङ्केत कर सकते हैं। भट्टि के इन अपवादरूप सुन्दर पद्यों मे खास पद्य निम्नलिखित है।

विवृत्तपार्श्वं रुचिराङ्गहारं समुद्वहच्चारुनितम्बरम्यम्।
आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालं गोपाङ्गनानृत्यमनन्दयत्तम् ॥ (२.१६)

'राम ने उस मथती हुई गोपियों के उस नृत्य को देखकर आनन्द प्राप्त किया, जिसमें वे अपने अङ्ग के दोनों पार्श्वों को इधर-उधर सञ्चालित कर

रही थीं, उनका अङ्ग सुन्दर दिखाई पड रहा था, उनके सुन्दर नितम्बबिम्ब (गोलनितम्ब) इधर-उधर हिलने से रमणीय लग रहे थे, तथा उनके नृत्य को धीमी गम्भीर गति वाला दही मथने का शब्द ताल दे रहा था।'

इसी प्रकृतिवर्णन में कुछ और अच्छे पद्य हैं, जिनमे अलकृत सौन्दर्य पाया जाता है। प्रातःकाल का समय है, नदी के तीर पर खड़े पेड़ के पत्तों से ओस की बूँदें गिर रही हैं, पेड़ पर बैठ हुए पक्षी चहचहा रहे है। कवि उत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा) करता है, मानो प्रिय चन्द्रमा के चले जाने से कुमुदिनी को दुखी देखकर नदी-तीर का पेड़ रो रहा है।

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः।
उपारुरोदेव नदत्पतङ्गः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ ॥ (२४)

इसी तरह का प्रातःकाल का दूसरा वर्णन यह है, जिसमे उत्प्रेक्षा (अर्थान्तरन्यास भी) पाई जाती है।

प्रभातवाताहतिकम्पिताकृतिः कुमुद्वतीरेणुपिशाङ्गविग्रहम्।
निरास भृङ्गं कुपितेव पद्मिनी न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गमम् ॥ (२६)

'प्रातःकाल की मन्द मन्थर वायु के कारण काँपती हुई पद्मिनी, कुमुदिनी के पराग से पीले शरीर वाले भौंरे को मानो कुपित होकर उसी तरह निवारित कर रही है, जैसे कोई पद्मिनी नायिका (खण्डिता) अन्य नायिका के उपभोगादि के कारण लगे अङ्गराग से युक्त शरीर वाले धृष्ट नायक को प्रातःकाल घर आने पर फटकार देती है, तथा उसे अपने पास आने को मना करती है। सच है, मानिनी नायिका पति की अन्यासक्ति को बर्दाश्त नहीं कर सकती।'

स्पष्ट है, इन दोनों पद्यों की सुन्दरता का एक मात्र कारण अलङ्कार प्रयोग है। कवि ने यहाँ मानव-जीवन से अप्रस्तुत विधान गृहीत किया है। पर कहना न होगा, कि दोनों अप्रस्तुत विधान भट्टि को पुराने कवियों की देन जान पड़ते हैं, तथा भट्टि को पिटे पिटाये रूढ अप्रस्तुतों के रूप में मिले हैं। ये भट्टि को स्वयं की मौलिकता शायद ही हो। मुझे तो ऐसा मालूम देता है कि इस दूसरे पद्य की चतुर्थ पंक्ति 'न मानिनी संसहतेन्य-संगमम्' कहकर, अर्थान्तरन्यास[१] का

१. कुछ विद्वान् यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार न मानकर काव्यलिंग मानते हैं। जयमङ्गलाकार इसे ऊपर की तीन पंक्तियों का हेतु (हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं) मानते जान पड़ते हैं :—

प्रयोग कर, भट्टि ने सारा मजा किरकिरा कर दिया है, ऊपर की वस्तूत्प्रेक्षा का सारा गुड़गोबर कर दिया है। अर्थान्तरन्यास के बिना ही सारी कल्पना स्पष्ट थी, उसे अर्थान्तरन्यास के द्वारा और स्पष्ट कर देना भट्टि की सबसे बड़ी कमजोरी है। पद्य की अभिव्यञ्जना शक्ति लुप्त हो गई है। क्या 'पद्मिनी' के साथ 'कुपितेव' कहना पर्याप्त न था ?

दशम सर्ग में भट्टि ने यमक के अनेक प्रकार के भेदों तथा अर्थालङ्कारों के लक्ष्य उपस्थित किये हैं। भट्टि के निम्नलिखित पद्य में उपमा अलङ्कार का अच्छा प्रयोग है।

हिरण्मयी साललतेव जङ्गमा च्युतादिवः स्थास्नुरिवाचिरप्रभा।
शशाङ्ककान्तेरधिदेवताकृतिः सुता ददे तस्य सुताय मैथिली ॥ (२.४७)

'राजा जनक ने दशरथ के पुत्र रामचन्द्र के लिए चलती-फिरती स्वर्ण-साललता के समान सुन्दर, आकाश से गिरी हुई स्थिर बिजली के समान देदीप्यमान, तथा चन्द्रकान्ति की मूर्त अधिष्ठात्री देवी के समान आह्लाददायक सीता को दे दिया।'

भट्टि काव्य के द्वादश सर्ग की विभीषण की उक्तियाँ राजनीति का परिचय देती हैं। विभीषण तथा माल्यवान् रावण को अनेक नीतिमय उक्तियों से समझाते हैं। राम के दूत ने आकर लङ्का का दहन कर दिया है, तथा अक्ष को मार डाला है। यदि रावण इस समय भी समझ जाय, तो ठीक हो। रामचन्द्र सेना लेकर समुद्र तट पर आ गये हैं, पर सीता के लौटा देने पर वे लौट जायँगे, और युद्ध न होगा। सीता के अपहरण के कारण राम दुखी हैं, तथा राक्षस भी इसलिये दुखी हैं, कि अक्षादि बान्धव मारे जा चुके हैं। अच्छा हो, कि दोनों दुखी होने के कारण एक दूसरे में सन्धि कर लें। जैसे तपे हुए दो लौह-पिण्ड एक दूसरे में संश्लिष्ट हो जाते हैं, उसी तरह दोनों तप्त (दुखी) व्यक्तियों—राम तथा रावण—में सन्धि हो जाय।

मा किमिति निरस्यति—यतो मानिनी अन्यसंगम अन्यथा सह संगमं न संसहते। अतस्संगमादन्यसंगम न सहते (टि० पृ० ९२) पर इस तरह काव्यलिंग अलङ्कार मानने पर भी भट्टि दोष से न बचेंगे। यहाँ 'अन्यसंगम' में पुनरुक्ति दोष होगा। जब 'कुमुदनीरेणु-पिशङ्गविग्रहम्' कह दिया, तो उसी से अन्यासक्ति की व्यञ्जना हो जाती है। पद्मिनी की भृङ्गनिरसनक्रिया का हेतु वहीं स्पष्ट है। यों भी वह दोष बना का बना रहता है। कवि का कच्चापन ऐसे स्थलों पर पकड़ में आ ही जाता है।

रामोऽपि दाराऽऽहरणेन तप्तो वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः ।
तप्तेन तप्तस्य यथाऽऽयसो नः सन्धिः परेणाऽस्तु, विमुञ्च सीताम् ॥
(१२.३०)

भट्टि के त्रयोदश सर्ग का 'सेतुबन्धन' प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध' महाकाव्य का प्रभाव है। त्रयोदश सर्ग का दो दृष्टि से महत्त्व है। पहले तो त्रयोदश सर्ग पर स्पष्ट रूप से 'सेतुबन्ध' की समुद्रवर्णन की कल्पनाओं का प्रभाव है, दूसरे शैली की दृष्टि से इसमें समासान्त पदावली पाई जाती है, जो भट्टि के अन्य सर्गों में साधारण रूप से पाई जाती है, और इसमें एक साथ संस्कृत तथा प्राकृत का भाषासम प्रयोग किया गया है। छन्द की दृष्टि से भी भट्टि यहाँ प्रवरसेन के काव्य से प्रभावित हैं। प्रवरसेन की भाँति ही यहाँ भट्टि ने स्कन्धक छन्द का प्रयोग किया है, जो सेतुबन्ध काव्य का खास छन्द है। डॉ० कीथ ने भट्टि के त्रयोदश सर्ग में आर्या का गीति नामक भेद माना है, जो उनकी 'गजनिमीलिका' को व्यक्त करता है। इस सर्ग का छन्द गीति नहीं है, स्कन्धक (प्राकृतछन्द) है।[१]

चारु-समीरण-रमणे हरिणकलङ्क-किरणावली-सविलासा ।
आबद्धराममोहा, वेलामूले विभावरी परिहीणा ॥ (१३.१)

'रमणीय वायु से सुन्दर समुद्र तट पर चन्द्रमा की किरणों के विलास से युक्त रात्रि, जिसने राम को निद्रा के मोह में बांध रखा था, अब समाप्त हो गई।'

---

१. स्कन्धक छन्द का लक्षण 'प्राकृतपैङ्गल' में यों है :—

चउमत्ता अट्ठगणा पुव्वद्धे उत्तद्ध होइ समरूआ ।
सो खन्धआ विआणहु पिङ्गल पभणेइ मुद्धि बहुसम्भेआ ॥ (१.६३)

'हे मुग्धे, जिस छन्द में पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों में समानरूप से चार-चार मात्रा वाले आठ गण हों; अर्थात् ३२ मात्रा हों, उसे स्कन्धक (खन्धआ) छन्द समझना चाहिये, ऐसा पिङ्गल कहते हैं, और उसके कई भेद होते हैं।'

इसका प्राकृत उदाहरण 'सेतुबन्ध' काव्य का निम्न पद्य दिया जा सकता है।

जं जं आणेइ गिरिं रइरहचक्कपरिघट्टणसहं हणुआ ।
तं तं लीलाइ णलो वामकरत्थहिअं रएइ समुद्दे ॥

'सूर्य-रथ के पहिये से रगड़ खाने में समर्थ जिस जिस पर्वत को हनुमान् उठाकर लाते हैं, नल उसे लीला से बायें हाथ में थाम कर उससे समुद्र को पाट देता है।'

इस पद्य मे एक साथ सस्कृत तथा महाराष्ट्री प्राकृत रूपों का प्रयोग है। प्राकृत मे भी इस पद्य का रूप यही रहेगा।

तुङ्ग-मणि-किरण-जालं गिरिजलसंघट्टबद्धगम्भीररवम्।
चारुगुहाविवरसमं सुरपुरसममरचारणसुसंरावम् (१३.३६)

वह समुद्र उस अमरावती के समान प्रतीत हो रहा था, जहाँ गन्धर्वों के गान हो रहे हो, उसमे अनेकों बड़ी-बड़ी मणियो की किरणों का प्रकाश-जाल फैला हुआ था, और पर्वतों मे जल के द्वारा टकराने से गम्भीर ध्वनि वाली अनेक सुन्दर गुफाओं के छिद्रो की सभाएँ (शालाएँ) थी।'

भट्टि की शैली में प्रवाह का अभाव है। वैसे भट्टि मे (१३ वें सर्ग को छोड़कर) समासान्त पदो का प्रयोग बहुत कम है, पर समासान्त पदो का न होना प्रवाह से कोई सम्बन्ध नही रखता। भट्टि मे एक-से व्याकरण सम्मत रूपो को ढूँढने की प्रवृत्ति शैली के प्रवाह को समाप्त कर देती है। प्रवाह की दृष्टि से भाषासम वाले पद्यो मे समासान्तपदावली के होने पर भी प्रवाह है, यह उपर्युद्धृत दो पद्यो से स्पष्ट है।

भट्टि मे बहुत कम छन्दो का प्रयोग पाया जाता है। अधिकार तथा तिडन्त काण्ड वाले व्याकरण सम्बन्धी सर्गों मे भट्टि ने केवल अनुष्टुप् का प्रयोग किया है, जब कि प्रकीर्ण सर्गों मे उन्होंने उपजाति, रुचिरा, मालिनी आदि छन्दों का प्रयोग किया है।

भट्टिकाव्य सस्कृत की उस महाकाव्य-परम्परा का सङ्केत करता है, जिसमे महाकाव्यों के द्वारा व्याकरण के नियमो का प्रदर्शन कवि का ध्येय रहा है। भट्टि के बाद भट्ट भौम या भूमक (भूम) ने 'रावणार्जुनीय' काव्य मे रावण और कार्तवीर्य की कथा के द्वारा पाणिनि के नियमों का प्रदर्शन किया था। उसके बाद हलायुध ने 'काव्यरहस्य' मे राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज तृतीय की प्रशस्ति के साथ धातुपाठ का प्रदर्शन किया। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी 'कुमारपाल चरित' काव्य के द्वारा अपने व्याकरण (हैमव्याकरण, शब्दानुशासन) के नियमो का प्रदर्शन किया और बाद में वासुदेव के 'वासुदेव चरित' तथा नारायणभट्ट के 'धातुकाव्य' मे भी यही परम्परा पाई जाती है।

●

महाकवि माघ

महाकवि कालिदास से भावतरलता, भारवि से कलाप्रवीणता, तथा भट्टि से व्याकरण पाण्डित्य, तीनों का विचित्र समन्वय लेकर माघ की कविता उपस्थित होती है। माघ भारवि से भी अधिक कलाबाज हैं, तथा भट्टि से किसी कदर कम पण्डित (वैयाकरण) नहीं, किन्तु जितने वे कलाबाज और पण्डित हैं, उसी अनुपात में कालिदास की भावतरलता से रहित है। भारवि और भट्टि से निःसन्देह माघ मे भावपक्ष का पलडा भारी है, पर कालिदास के आगे माघ का हृदयपक्ष नीचा दिखाई देता है। फिर भी, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष मे (भट्ट को तो तुलना मे मजे से छोड़ा जा सकता है) माघ का स्थान निश्चित है। माघ ने भारवि की कला को और अधिक अलकृत तथा प्रौढरूप में रखा है। श्रीहर्ष जैसी कोरी दूर की कौडी माघ मे कम मिलती है। श्रीहर्ष मे पदलालित्य है, पर माघ में भी पदलालित्य की कमी नहीं, वैसे माघ का पदलालित्य वैदर्भी या पाञ्चाली रीति वाला पदलालित्य न होकर प्राय. गौड़ी वाले विकटबन्ध या गाढबन्ध का पदलालित्य है।

माघ के समय की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा का सङ्केत हमें भारवि और भट्टि के प्रास्ताविकों से मिल सकता है। माघ तथा भारवि मे लगभग सौ साल का अन्तर है, तो भट्टि और माघ मे केवल पचास वर्ष का। माघ के पितामह सुप्रभदेव भट्टि के समसामयिक रहे होंगे। माघ के काव्य को हम हर्षवर्धनोत्तर काल (६४७ ई०-१२५० ई०) के—जिसे हमने सस्कृत साहित्य का 'ह्रासोन्मुख काल' कहा है—काव्यों का पथप्रदर्शक ही नहीं, सर्वोत्तम काव्य कह सकते हैं। भारवि का काव्य भी तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का सङ्केत करता है, किन्तु माघ के काव्य मे हमें समाज के अभिजातवर्ग का विलासी जीवन, राजाओं का पारस्परिक कलह, कहीं अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता हैं, जो वर्धन-साम्राज्य के पतन के बाद का मानचित्र देने मे पूर्ण समर्थ हैं। भारवि के विलासी अभिजातवर्ग के चित्र की अपेक्षा माघ का समाज विलास में दो डग आगे ही जान पड़ता हैं। राजनीति के हथकण्डे भी माघ मे भारवि से अधिक पैंतरे वाले दिखाई देते हैं। रहा काव्य का प्रश्न,

माघ का काव्य भारवि से अधिक कृत्रिम (Artificial) है, यदि माघ के रसिकों को 'कृत्रिम' शब्द का प्रयोग खटके, तो अलङ्कृत (Ornate) कहा जा सकता है, पर दोनों से यही ध्वनि निकलती है कि माघ संस्कृतसाहित्य के कलावादी कवियों में मूर्धन्य है।

हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद प्रत्येक छोटा-मोटा राजा चक्रवर्ती बनने के सपने देख रहा था। पुलकेशी द्वितीय से प्राप्त पराजय के कारण हर्षवर्धन की रही-सही धाक उसके अन्तिम दिनों में ही समाप्त हो चुकी थी। हर्षवर्धन के करद और मित्र राजा अपने पैर फैलाने की चेष्टा कर रहे थे। हर्ष के बाद वर्धन-साम्राज्य को सँभालने वाला कोई नहीं रहा, और उसका साम्राज्य कई भागों में बँट चुका था। गुजरात तथा राजस्थान में उस समय दो शक्तियाँ थीं। वलभी के राजाओं का सङ्केत भट्टि के सम्बन्ध में किया जा चुका है। गुजरात का अधिकांश भाग सम्भवतः पूर्वी तथा दक्षिणपूर्वी भाग, मरुभूमि का कुछ अंश, और अरावली पर्वतश्रेणी में स्थित दक्षिणी प्रदेश-डूंगरपुर आदि वलभी के राजाओं के आश्रित थे। वलभी के राजाओं के ही राज्य के अन्तर्गत भीनमाल था। पूर्वी राजस्थान के उत्तरी भाग में कुछ छोटे मोटे राजा थे, जो बाद में 'सपादलक्ष' के शासकों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। पूर्वी राजस्थान का दक्षिणी भाग जिसमें उदयपुर का दक्षिणी-पूर्वी भाग—कोटा, बूंदी, तथा कुछ मालव का भाग सम्मिलित है, इस काल में मौर्यों के हाथ में था। 'चित्तौड़, कोटा'[1] आदि स्थानों पर मौर्यों के सातवीं आठवीं शती तक के शिलालेख मिले हैं। इस प्रकार चित्तौड़, बिजोलिया और बूंदी के आसपास का अरावली पर्वतमाला का प्रदेश नाममात्र को मौर्यों के आधीन अभी तक बना हुआ था।[2] पर उनकी शक्ति क्रमशः क्षीण हो रही थी, और डेढ़ दो शताब्दी बाद ही बप्पा रावल ने उनकी बची-खुची शक्ति का अन्त कर चित्रकूट में नये राज्य की स्थापना की थी। माघ के समय में गुजरात के राजाओं तथा चित्रकूट के मौर्यों में ही प्रमुख सघर्ष था, और मौर्य माघ के समय तक कुछ शक्तिशाली थे। गुजरात के राजाओं के साथ इनकी कुछ मुठभेड़ भी हुई होगी,

---

१. मौर्यों का एक शिलालेख कोटा से ८ मील दूर कनसवाँ स्थान पर प्राप्त हुआ है।
२. देखिये—डॉ० ओझा-राजपूताने का इतिहास (उदयपुर राज्य का इतिहास प्रथम भाग)

सम्भवतः अरावली के उपत्यकाओ मे ही। गुजरात के दक्षिणी पूर्वी भाग से चित्तोड की तरफ बढने के लिये सेना को अरावली पर्वतमालाएँ अवश्य पार करनी पड़ती हैं। माघ भी कई बार इन युद्धो मे गये होगे, और रैवतक पर्वत के बहाने माघ ने सेना की अरावली पर्वत की यात्रा का ही वर्णन किया जान पड़ता है। माघ स्वय भी राजस्थान के दक्षिणी पार्वत्य प्रदेश के निवासी थे। युद्ध के लिये जाने वाले राजा लोग सेना के साथ अन्तःपुरिकाओं के डोले भी ले जाते होंगे।[1] यही नही, योद्धाओ के लिए भी वेश्याओ का प्रबन्ध किया जाता होगा, जो युद्ध मे जाने वाली सेना के साथ जाती थी।[2] माघ का पञ्चम, एकादश, तथा द्वादश सर्ग का सेनाप्रयाण और रैवतक पर्वत पर डाले गये पड़ाव का वर्णन माघ का स्वानुभूत वर्णन जान पडता है, क्योकि इस वर्णन मे कई स्थानों पर माघ मे स्वभावोक्ति का सौन्दर्य दिखाई पडता है, जो माघ के पूरे काव्य मे अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है। यदि यह मान लिया जाय कि यहाँ कृष्ण अपनी सेना के साथ राजसूय यज्ञ मे सम्मिलित होने जा रहे है, फिर भी माघ की इस कल्पना का संकेत हम उस काल की राजनीतिक परिस्थिति में ढूँढते हैं। हाथी, घोडे, रथ आदि के जमघट का जो सम्मर्द पञ्चम तथा द्वादश (साथ ही सप्तदश एव अष्टादश) सर्ग मे मिलता है, वह राज्य के साधारण समारोहों का नही हो सकता, निश्चित रूप से वह सेनाप्रयाण का वर्णन है, कोरा काल्पनिक वर्णन नही, प्रत्युत आँखो देखा वर्णन।[3] सारांश यह कि माघ उस काल के अभिजात वर्ग की—सामन्त वर्ग की—सामाजिक दशा को देने में निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होते हैं।

माघ की तिथि और जीवनवृत्त

माघ ने स्वय अपने पिता, पितामह तथा पितामह के आश्रयदाता राजा का

१. कण्ठावसक्तमृदुबाहुलतास्तुरङ्गाद् राजावरोधनवधूरवतारयन्तः।
आलिङ्गनान्यधिकृताः स्फुटमापुरेव गण्डस्थलीः शुचितया न चुचुम्बुरासाम्॥
(५.१८)

२. आस्तीर्णतल्परचितावसथः क्षणेन वेश्याजनः कृतनवप्रतिकर्मकाम्यः।
खिन्नानखिन्नमतिरापततो मनुष्यान् प्रत्यग्रहीच्चिरनिविष्ट इवोपचारैः॥ (५.१७)

३. निम्नानि दुःखादवतीर्य सादिभिः सयत्नमाकृष्टकशाः शनैःशनैः।
उत्तेरुरुत्तालखुरारवं द्रुताः श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजाः॥ (१२.३१)
साथ ही १२. ५, ६, ९, २२ आदि।

वर्णन किया है। इसी के आधार पर माघ की तिथि के विषय मे कुछ कहा जा सकता है। वैसे 'भोजप्रबन्ध' की किवदन्तियो के अनुसार माघ धारानरेश भोज के राजकवि और परम मित्र थे। माघ बडे दानी थे, तथा इन्होने एक बार अपनी सारी सम्पत्ति दान मे दे डाली थी। निर्धन होने पर इन्होंने 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजपण्ड, त्यजति मुदमूलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः' (११.६४) इत्यादि पद्य को लिखकर अपनी पत्नी को राज-सभा मे भेजा। भोज ने पद्य को पढकर प्रचुर धन दिया। ठीक ऐसी ही किवदन्ती 'प्रबन्धचिन्तामणि' मे भी मिलती है। भोज का समय ईसा की ग्यारहवी शती (१०१०–५० ई०) है। माघ धाराधीश भोज के समसामयिक कदापि नही हो सकते?

माघ के समय निर्धारण मे हमे कुछ अन्य प्रमाण सहायक सिद्ध हो सकते है। हम देखते है कि वामन तथा आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक) ने माघ के कुछ पद्यों को उद्धृत किया है। वामन ने माघ के 'रम्या इति प्राप्तवती. पताका' (३.५३) पद्य को तुल्ययोगिता के प्रसङ्ग मे उद्धृत किया है। साथ ही आनन्दवर्धन ने इसी पद्य को, और 'त्रासाकुल. परिपतन् परितो निकेतान्' (५.२६) आदि पद्य को भी उद्धृत किया है। माघ निश्चित रूप से वामन तथा आनन्दवर्धन से प्राचीन है। आनन्दवर्धन का समय नवी शती का मध्य है। अत. माघ इससे पुराने है।

माघ के द्वितीय सर्ग मे एक पद्य मिलता है, जिसके अन्त-साक्ष्य पर माघ की तिथि निश्चित करने मे सहायता मिल सकती है। राजनीति की विशेषता बताते समय उद्धव की उक्ति मे राजनीति तथा शब्दविद्या का एक साथ श्लिष्ट उपमा मे वर्णन किया गया है।[१] इस पद्य मे व्याकरण सूत्रों के साथ ही, महाभाष्य (निबन्धन), काशिकावृत्ति तथा जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास का भी सङ्केत मिलता है। जिनेन्द्रबुद्धि बौद्ध वैयाकरण थे। इत्सिङ्ग के यात्राविवरण मे जिनेन्द्रबुद्धि का नाम नही मिलता, जब कि भर्तृहरि की मृत्यु का उल्लेख मिलता है। अत जिनेन्द्रबुद्धि की रचना इत्सिङ्ग के जाने के साल (६९५ ई०) तक नही लिखी गई थी। सम्भवतः 'न्यास' की रचना ७०० ई० के लगभग हुई थी। यदि इस मत को माना जाय, तो माघ का समय आठवीं शती के मध्य में मानना होगा। किन्तु, विद्वानो के एक दल का यह भी मत है कि माघ ने

१. अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ (२. ११२)

'न्यास' का संकेत किया है, इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास ही हो सकता है। जिनेन्द्रबुद्धि ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती न्यास ग्रन्थों (कुणि, चुल्लि, और नल्लूर के न्यास ग्रन्थों) का निर्देश किया है। 'न्यास' का संकेत बाणभट्ट ने भी किया है—'कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि' जो निश्चित रूप से जिनेन्द्रबुद्धि से पुराने हैं। इसलिए माघ का तात्पर्य जिनेन्द्रबुद्धि से पहले के न्यास ग्रन्थों से ही है। इस तरह माघ का समय सातवीं शती के उत्तरार्द्ध (६७५ ई०) में भट्टि से लगभग ५० साल बाद मानना अधिक सङ्गत दिखाई देता है।

माघ के दादा सुप्रभदेव किसी धर्मनाम (वर्मलात ? वर्मनाभ ? धर्मलात ?) नामक राजा के मन्त्री थे।[1] सम्भवत: धर्मनाभ (?) या तो वलभी के ही राजा थे, या उनके सामन्त होंगे। सुप्रभदेव के पुत्र दत्तक थे, और दत्तक के पुत्र माघ। माघ निश्चित रूप से धनाढ्य थे, और इनका शैशव एवं यौवन विलासपूर्ण वातावरण में व्यतीत हुआ था, इसके प्रमाण माघ के उत्तेजक विलास वर्णन हैं। माघ सभवत: श्रीमाली ब्राह्मण थे, और राजस्थान के पार्वत्य प्रदेश डूंगरपुर-वांसवाडा के निवासी थे। माघ के जीवनवृत्त के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि भारवि की तरह माघ भी दरबारी कवि थे।

शिशुपालवध

भारवि की भाँति माघ की भी केवल एक ही रचना हमें प्राप्त हुई है। *पर माघ का अकेला शिशुपालवध उनके उत्कृष्ट कलावादी कवित्व को प्रतिष्ठापित करनेमें अलम् है।* शिशुपालवध की कथा भी भारवि के किरातार्जुनीय की तरह महाभारत से गृहीत है। कृष्ण तथा शिशुपाल के वैर की, तथा युद्धमें कृष्ण के द्वारा शिशुपाल के वध किये जाने की कथा काव्य में वर्णित है। कथा में शिशुपाल को हिरण्यकशिपु तथा रावण का इस जन्म का अवतरण माना है,[2] और शिशुपाल को कंस से भी बढ़कर नृशंस राजा के रूप में चित्रित किया

---

१. सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीधर्मनामस्य बभूव राज्ञः।
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा॥ (कविवंशवर्णन १)

२. अथोत्तमयोऽपि छलनाप्सरो परानवाप्यदीप्तय इवैष भूमिकाम्।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः॥ (१.६९)

गया है, जो पुराणों की उस मान्यता की ओर संकेत करता है, जहाँ हिरण्य-कशिपु, रावण तथा शिशुपाल को विष्णु के पार्षद 'जय'— जिसे सनत्कुमारो ने शाप दे दिया था—का अवतरण माना गया है। पर इस काव्य में शिशुपाल तथा कृष्ण के पुराने वैर—रुक्मिणीहरण वाली कथा - का वर्णन नहीं किया गया है, इसका सकेत केवल एक ही पद्य में मिलता है[1]। इस तरह शिशुपालवध मे कवि ने द्वारिका से युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे सम्मिलित होने के लिए कृष्ण के अपमान तथा बाद मे युद्ध के फलस्वरूप शिशुपाल के मारे जाने की कथा है।

प्रथम सर्ग का आरम्भ देवर्षि नारद के आगमन से होता है, जो आकाश मार्ग से नये बादलो के नीचे-नीचे उतरते आ रहे हैं, उनकी पीली जटायें हिमालय पर्वत पर उगी पकी पीली लताओं-सी नजर आ रही हैं, तो शरीर पर पडा हुआ मृगचर्म ऐरावत पर रंगबिरंगी झूल-सा दिखाई देता है। वे अपनी अगुली से वीणा को बजाते आ रहे हैं, और वीणा की ध्वनि मे स्वर - ग्राम तथा मूर्च्छना स्पष्ट सुनाई दे रही है। वीणा को निरन्तर बजाने से उनकी अगुलियो और अंगूठे के नाखून की रक्त कांति से हाथ की स्फटिक माला भी लाल हो गई है। धीरे-धीरे नारद अस्त होते सूर्य की तरह कृष्ण के सम्मुख बढ़ते हैं, और उनके पृथ्वी पर उतरने के पहले ही कृष्ण आदर के लिए उठ खडे होते हैं। सत्कार के बाद कृष्ण उनसे आने का कारण पूछते हैं। नारद बताते हैं कि शिशुपाल के अत्याचार से डरे इन्द्र ने उन्हे भेजा है। कृष्ण उसका वध करें और इन्द्र के हृदयको भयरहित बनाकर, उसे आमोद-प्रमोद से उल्लासित बनायें। नारद चले जाते हैं। द्वितीय सर्ग मे कृष्ण, बलराम और उद्धव मत्रणागृह के तीन सिंहासनो पर बैठे उसी तरह प्रविष्ट होते हैं, जैसे त्रिकूट पर्वत की तीनो चोटियो पर तीन शेर बैठे हो। कृष्ण अपनी समस्या उपस्थित करते हैं। शिशुपाल का वध करना आवश्यक है, किन्तु इसी समय युधिष्ठिर के राजसूय का निमन्त्रण भी मिला है। इन दोनों कार्यों मे से पहले किस काम को करना चाहिये। राजसूय मे सम्मिलित न होने पर पाण्डव बुरा मानेंगे। बलराम की राय है कि शिशुपाल की राजधानी चेदि पर आक्रमण कर दिया जाय, युधिष्ठिर यज्ञ करें, इन्द्र स्वर्ग

---

१. त्वयाविप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणीं हरता हरे।
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः॥ (२.३८)

का राज करें, सूर्य तपें, और हम भी शत्रुओं को मारें, प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है।[1] उद्धव इस मत के विरुद्ध हैं। वे बलराम की हर दलील का जवाब देते है, और यह राय देते हैं कि इस समय शिशुपाल पर आक्रमण करना ठीक न होगा। अच्छा हो, हम जासूसो को नियुक्त कर शत्रु की शक्ति का पता लगाते रहें, तथा उसके पक्ष का भेदन करें। अन्त मे यही निश्चय होता है कि युधिष्ठिर के राजसूय में सम्मिलित होना ठीक होगा। तीसरे सर्ग मे कृष्ण की सेना इन्द्रप्रस्थ के लिए रवाना होती है। चतुर्थ सर्ग में वह रैवतक पर्वत पर पहुँचती है, तथा पर्वत का अलंकृत वर्णन है। पाँचवें सर्ग मे सेना के रैवतक पर्वत पर पडाव डालने का वर्णन है। छठे सर्ग मे कृष्ण की सेवा के लिये छहो ऋतुएँ रैवतक पर्वत पर अवतीर्ण होती हैं—यमक अलङ्कार के साथ छहो ऋतुओं का वर्णन है। सप्तम सर्ग मे यदुदम्पतियों का विलास-पूर्ण वनविहार वर्णित है, अष्टम सर्ग मे जल क्रीडा। नवम सर्ग का आरंभ सूर्यास्त से होता है। सूर्यास्त के बाद कही दम्पतियो और प्रणयी नायक नायिकाओ को मिलाने के लिये दूतीकर्म का वर्णन है, तो कही उनके केलि-नाटक के पूर्वरंग के रूप मे आहार्य-प्रसाधन की शोभा का वर्णन। दशम सर्ग में सुरा तथा सुन्दरी के सेवन का अत्यन्त विलासपूर्ण वर्णन है। एकादश सर्ग में प्रातःकाल का वर्णन है। इस सर्ग मे एक साथ कवि की प्रौढोक्ति-कुशलता, तथा स्वभावोक्ति की चित्रमत्ता का अपूर्व समन्वय है। एकादश सर्ग माघ के बेजोड़ सर्गों में से है, जिसके समान वर्णन संस्कृत साहित्य के अन्य काव्यों में ठीक इसी पैमाने पर मिलना दुर्लभ है। बारहवें सर्ग मे फिर वही पाँचवें सर्ग-सा (कुछ अधिक विस्तृत) सेनाप्रयाण का वर्णन है। इसी सर्ग में यमुना को पार करने का बड़ा सुन्दर चित्रण है। तेरहवें सर्ग में कृष्ण को देखने के लिए उत्सुक इन्द्रप्रस्थ की पुरनारियों का सरस वर्णन है। चौदहवें सर्ग मे यज्ञ का वर्णन है, जिसके पूर्वार्ध में कवि ने अपने दर्शन, मीमांसा और कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान[2]

---

१. यजता पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपतु भानुः ।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते ॥ (२.६५)

२. जैसे निम्न पद्यों मे:—
शब्दितामनपशब्दमुच्चकैर्वाक्यलक्षणविदोऽनुवाक्यया ।
याज्यया यजनकर्मिणोऽत्यजन् द्रव्यजातमपदिश्य देवताम् ॥ (१४.२०)
बद्धदर्भमयकाञ्चिदामया वीक्षितानि यजमानजायया ।
शुष्मणि प्रणयनादिसंस्कृते तैर्हवींषि जुहुवाम्बभूविरे ॥ (१४.२२)

का पूरा परिचय दिया है। इसी सर्ग मे कृष्ण की पूजा की जाती है। पन्द्रहवें सर्ग मे कृष्ण की पूजा से रुष्ट होकर शिशुपाल कृष्ण, भीष्म तथा युधिष्ठिर को खरी खोटी सुनाता है। सोलहवें सर्ग मे शिशुपाल का दूत आकर कृष्ण को द्वयर्थ (श्लिष्ट) संदेश सुनाता है, जिसका आशय यह है कि या तो कृष्ण शिशुपाल की अधीनता मान लें, या लड़ने के लिये तैयार हो जायें। दूत की उक्ति का उत्तर सात्यकि देता है। सतरहवें और अठारहवें सर्ग मे सेना की तैयारी का एव योद्धाओ के सन्नद्ध होने का वर्णन है। उन्नीसवें तथा बीसवें सर्ग मे युद्ध का वर्णन है। उन्नीसवें सर्ग में चित्र-काव्य का आश्रय लेकर (भारवि के पन्द्रहवें सर्ग की तरह) युद्ध का वर्णन कर शिशुपाल के जीवन के साथ काव्य समाप्त होता है।

माघ को उपलब्ध पूर्व कवियों का दाय

माघ को निश्चित रूप से कालिदास, भारवि तथा भट्टि का दाय प्राप्त हुआ था। कालिदास की कविता का प्रभाव माघ के कई वर्णनों पर स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। माघ के एकादश, तथा त्रयोदश सर्ग पर खास तौर पर कालिदास की वर्णनशैली का प्रभाव है। माघ को प्रभातवर्णन की प्रेरणा रघुवंश के पञ्चम सर्ग से मिली थी। माघ के प्रभातवर्णन और कालिदास के प्रभात-वर्णन मे प्रमुख भेद यही है कि माघ का वर्णन पैमाने मे बड़ा तथा अत्यधिक अलंकृत (कृत्रिम) है, जब कि कालिदास का वर्णन छोटा होने पर भी मार्मिक है, तथा पिष्टपेषण से युक्त नही। कालिदास का प्रभातवर्णन केवल दस पद्यो का है, किन्तु माघ का वर्णन पूरे ६७ पद्यो के लम्बे सर्ग मे फैला हुआ है। हाथियो के दोनो ओर करवट बदल कर सोने का वर्णन, घोड़े के निद्रा को छोड़ने का वर्णन दोनो काव्यों मे स्वभावोक्ति के सुन्दर चित्रो मे से हैं। रघुवंश मे घोड़े जाग कर सामने पड़ी सैन्धवशिला को मुँह की भाप से मलिन बनाते हैं, तो शिशुपालवध मे घोडा आधी आँखें बन्द कर, थोड़ी-थोड़ी नीद का अनुभव करता हुआ, नथना हिलाता हुआ, चञ्चल ओठो से सामने पड़े घास को खाने की इच्छा करता है।[१] त्रयोदश सर्ग का पुर-

---

१. दे० रघुवंश ५ ७२ तथा माघ ११.७ (साथ ही)

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु, निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः॥
(रघु० ५.७३)

सुन्दरियों का वर्णन कुमारसंभव और रघुवंश के सप्तम सर्ग में शिव तथा अज को देखने के लिए लालायित स्त्रियों के वर्णन से निश्चित रूप से प्रभावित है। हम संकेत कर चुके हैं कि कालिदास के निजी वर्णनों में से वह वर्णन भी एक खास महत्व रखता है। कालिदास की पुरसुन्दरियों में से एक अलता लगाती हुई दासी के हाथ से अलते से सने पैर को खींच कर, अज को देखने को चल पड़ती है, और इससे उसके पैर से झरोखे तक के फर्श पर निशान हो गये हैं। माघ की पुरसुन्दरी भी दासी के हाथ से यावक से रँगे एक पैर को हटाकर कृष्ण को देखने के लिए दौड़ पड़ी है, उसके एक पैर का चिह्न जमीन पर दिखाई दे रहा है, जैसे शिव के अर्धाङ्ग भाग में स्थित गिरिजा का यावक-सिक्त एक पैर पृथ्वी पर चित्रित हो गया हो।[१] कालिदास के पुरसुन्दरी-औत्सुक्यवर्णन का एक दूसरा भाव भी माघ को प्रभावित कर सका है। कालिदास की किसी पुरसुन्दरी की नीवी जाने की तेजी में टूट गई है, और वह कंकण की मणि-प्रभा से नाभि को विद्योतित करती हुई, अपने हाथ से उसे रोक कर खड़ी रहती है।

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्याववलम्ब्य वासः॥ (रघु० ७.९)

माघ की पुरसुन्दरी अपने कंकण में जड़े नीलम की कांति से सूक्ष्म रोमराजि को और सघन बनाती हुई, हाथ के पल्लव से गलित वस्त्र को रोक लेती है।

वलयार्पितासितमहोपलप्रभाबहुलीकृतप्रतनुरोमराजिना।
हरिवीक्षणाक्षणिकचक्षुषान्यया करपल्लवेन गलदम्बरं दधे॥ (माघ० १३.४४)

परिशिथिलितकर्णग्रीवमामीलिताक्षः क्षणमयमनुभूय स्वप्नमूर्ध्वंज्ञुरेव।
रिरमयिषति भूयः शष्पमग्रं विकीर्णं पटुतरचलदोष्ठः प्रस्फुरत्प्रोथमश्वः॥
(माघ० ११.११)

१. प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥ (रघु० ७.७)
व्यतनोदपास्य चरणम्प्रसाधिकाकरपल्लवाद्रसवशेन काचन।
द्रुतयावकैकपदचित्रितावनिं पदवीं गतेव गिरिजा हरार्धताम्॥ (माघ० १३.३३)
ध्यान दीजिये दोनों पद्यों के कई पदप्रयोगों में भी समानता है, भाव में ही नहीं।

दोनो वर्णन एक-सा चित्र उपस्थित करते हैं। एक में पुरसुन्दरी 'गवाक्ष की ओर दृष्टि लगाये तेजी से जा रही है', तो दूसरे में 'कृष्ण को देखने मे उसकी स्थिर दृष्टि व्यस्त है'। इतना होते हुए भी कालिदास का वर्णन व्यञ्जनाशक्ति का बेजोड वर्णन है, तथा उतना वासनापूर्ण नही जान पड़ता,[1] जब कि माघ का वर्णन उससे अधिक विलासमय है। माघ के जड़िया ने कंकण मे नीलम को जडकर नई उद्भावना कर दी है, किन्तु उसी से व्यञ्जनाशक्ति कुछ नष्ट हो गई है। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि अश्वघोष ने भी इस तरह का वर्णन किया है, पर उसमे एक तात्त्विक भेद है। कालिदास का वर्णन सरस (Romantic) है, माघ का विलासमय (Voluptuous), जब कि अश्वघोष की नैतिक प्रवृत्ति उसे नीतिवादी (प्यूरीटन) बना देती है। अश्वघोष के निम्न चित्र से ऊपर के दोनो चित्रो की तुलना कीजिए, जहाँ उसमे ऐसा चित्र नही मिलता। केवल पुरसुन्दरियो की गतिमन्थरता का ही संकेत मिलता है, जिसका कारण एकान्त मे पहने हुए आभूषणों को छिपाना है।

शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गतिं निजग्राह ययौ तूर्णम्।
ह्रिया प्रगल्भानि निगूहमाना रहः प्रयुक्तानि विभूषणानि॥ (बु०च०३.१७)

इस सारे विवेचन का तात्पर्य उन दो प्रमुख काव्यरुढियों की ओर संकेत करना था, जो माघ को ही नही, समस्त संस्कृत साहित्य को कालिदास की देन है,[2] तथा माघ मे इन रुढियो का अधिक प्रयोग मिलता है।

---

१. कालिदास के इस वर्णन को कुछ विद्वानों ने थोड़ा असुन्दर माना है, किन्तु यह कालिदास की वर्णन शैली की विशेषताओं में से एक है, माघ ही उतना असुन्दर नहीं, जितना माघ का १३.४४ वाला पद्य। दोनों पद्यों की सूक्ष्म तुलना करने पर पता चलेगा कि कालिदास की नायिका का नीवीत्रुटन केवल समारोह को देखने की उत्सुकता की तेजी से है (प्रस्थानभिन्ना), जब कि माघ ने पद्य में कोई कारण न देकर नायिका को विलासिनी बना दिया है,जो कृष्ण को देखने से रोमाञ्चित हो उठी है।

२. कालिदास के अन्य प्रभाव भी माघ में देखे जा सकते हैं, यथा—

शय्याशिर पाण्डुकपोललम्बान् मन्दारशून्यानलकांश्चकार॥ (रघु० ६.२३)
मम नित्यविहितोपहूतिषु प्रोषितेषु पतिषु द्युयोषिताम्।
गुम्फिताः शिरसि वेणयोऽभवन्न प्रफुल्लसुरपादपस्रजः॥ (माघ० १४.३०)

माघ भारवि के जरूरत से ज्यादा ऋणी हैं। माघ के काव्य की कथावस्तु भारवि के किरातार्जुनीय की ही 'प्रतिमूर्ति' (Replica) कही जा सकती है। इतिवृत्त की सजावट, सर्गों के विभाजन, और *वर्ण्य विषयों के उपस्थापन* में माघ कुछ-कुछ भारवि के पदचिह्नों पर चलते दिखाई देते हैं। भेद इतना है कि भारवि ने शिवभक्त होने के कारण महाभारत में शिवसम्बन्धी इतिवृत्त को चुना है तो माघ ने विष्णु भक्त होने के कारण कृष्ण सम्बन्धी इतिवृत्त को। जैसा कि हम शिशुपालवध के इतिवृत्त पर संकेत करते समय बतायेंगे, माघ का इतिवृत्त भारवि के इतिवृत्त से भी छोटा है, और इतने से इतिवृत्त को लेकर २० सर्गों का महाकाव्य लिख देना माघ की कृत्रिमता और कलावादिता का प्रमाण है।

भारवि के काव्य की तरह ही माघ का काव्य भी 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है।[१] भारवि के काव्य का प्रत्येक सर्ग 'लक्ष्मी' शब्द से समाप्त होता है, तो माघ के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'श्री' शब्द का प्रयोग मिलता है। दोनों काव्य का वर्णन-क्रम समान है। किरात के प्रथम सर्ग में *वनेचर युधिष्ठिर के पास आता है, जब कि माघ में नारद कृष्ण के पास आते* हैं। किरात का कवि एक दम इतिवृत्त के वर्णन में लग जाता है, किन्तु माघ लगभग १२-१३ पद्यों तक नारद के वर्णन में ही व्यस्त रहते हैं। नारद आते हैं और फिर कई पद्यों में उनके स्वागत का वर्णन है। तब वे अपने आने का कारण बताते हैं। कृष्ण व नारद की बातचीत में कुछ स्थानों पर युधिष्ठिर व व्यास की (किरात के तृतीय सर्ग की) शिष्टता का संकेत मिलता है।[२] किरात के दूसरे सर्ग में भीम तथा युधिष्ठिर का राजनीतिक वादविवाद है। माघ के दूसरे सर्ग में बलराम, उद्धव तथा कृष्ण की राजनीतिक मन्त्रणा है। माघ ने यहाँ भारवि से अधिक राजनीतिक पाण्डित्य बताने की चेष्टा की है। भारवि के

---

१. श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीं, प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ, युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥ (किरा० १.१)
श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः॥ (माघ० १.१)

२ दे० किरात. ३.९, तथा माघ. १.२९.

राजनीतिक वादविवादों मे शास्त्रप्रमाणो की अपेक्षा युक्तियों[1] का अधिक प्रयोग हुआ है, जब कि माघ के राजनीतिक वाद-विवादो मे शास्त्रप्रमाणो[2] को अधिक उपन्यस्त किया गया है। भारवि के भीम तथा युधिष्ठिर राजनीतिपटु खूब दिखाई देते है, किन्तु माघ के बलराम और उद्धव ने शुक्रनीति तथा कामन्दकीय नीतिसार के पारिभाषिक राजनीतिग्रन्थों को अधिक परिशीलित किया जान पडता है। वे जब भी बात करते हैं, राजनीति के 'प्रोफेसर' की तरह बात करते हैं, जिसके साथ उनका व्याकरण, दर्शन तथा अलकारशास्त्र का भी ज्ञान चलता है। माघ का राजनीतिक वाद-विवाद शास्त्रीय (Academic) अधिक जान पड़ता है, भारवि का व्यावहारिक (Practical) अधिक। सम्भवत. भारवि से वैशिष्टय लाने के लिए माघ ने राजनीति के पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है, पर फिर भी भारवि के राजनीतिक वादविवाद का अपना खास महत्त्व है, जो माघ मे नही मिलता।

इसके अनतर माघ के चतुर्थ सर्ग का रैवतकवर्णन, षष्ठ सर्ग का ऋतुवर्णन तथा ७ से १० सर्ग तक का वनविहारादि भारवि के चतुर्थ से नवम सर्ग तक के वर्णन से प्रभावित है। आगे जाकर माघ के १६ वें सर्ग का वादविवाद किरात के १३ वें तथा १४ वें सर्ग का प्रभाव है, और माघ के १९ वें सर्ग का युद्धवर्णन चित्रकाव्य की दृष्टि से किरात के १५ वें सर्ग से प्रभावित हुआ है। इतना होते हुए भी माघ के सेनाप्रयाण वाले सर्ग (५, १२, १३) तथा प्रभातवर्णन (११ सर्ग) उसके अपने है, जिनमे कुछ स्थलो पर कालिदास का प्रभाव है। पर माघ का सच्चा कवित्व काव्य के रखने के ढङ्ग मे है। माघ की कलात्मक सजावट, कल्पना तथा शब्द-संतति का भाण्डार[3] भारवि से बढ कर है। माघ के पास अलङ्कारो की लडी पर लडी है, शैली मे धीर तथा गम्भीर सङ्गीत है, भारवि से भावपक्ष भी अधिक है और माघ की यह कुशलता उसे उत्कृष्ट सिद्ध कर देती है। माघ का कवि 'भाव-मलिम्लुच' तो नही कहा जा सकता। उसे भाव को लेकर अपनी प्रतिभा और पाण्डित्य के साँचे मे ढालना खूब आता

१. दे० किरात. १.३१, १.४२, २.११, २.२०, २.२१, २ ३०, २.३१, २ ३७, २.४६ आदि।

२. माघ २.२६, २.२८, २.२९, २.३०, २.३६, २.३७, २५४-५५-५६-५७, २.७६, २.८१-८२, २.८८, २.९२, २.९३, २.१११-११२-११३ आदि।

३. नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते।

है। वह भारवि के चांदी के गहने पर सोने का चमचमाता पालिश करना खूब जानता है, चाहे वह कालिदास का सोना न हो, पर कभी-कभी कालिदास के सोने से भी महँगा बिक सकता है। माघ के सुवर्णकार और जडिया की कुशलता का इससे बढ़कर क्या प्रमाण चाहिये ?

माघ के भावों में भी भारवि का प्रभाव देखा जा सकता है, किन्तु भारवि के भावों को माघ ने अपनी मौलिकता से सजाकर रक्खा है।[1] भारवि के अतिरिक्त माघ भट्टि के भी ऋणी हैं। माघ का वैयाकरण भट्टि का प्रभाव है। सामान्यभूते लुङ् यङ्लुङन्त क्रियापद, तथा अन्य पाणिनिसंमत प्रयोगों का मोह माघ को भट्टि से ही मिला है।[2] पर इतना ही नहीं, एक स्थान पर माघ ने भट्टि के भाव को भी लिया है और अपनी कल्पना की खूंटियों कसकर निश्चित रूप से उसी राग को सङ्गीत की अभिनव कलात्मकता दे दी है। माघ का पद्य यों है —

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंहसैंहीमतनुं तनुं त्वया।
समुग्धकान्तास्तनसंगभङ्गुरै रुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः॥ (१.४७)

'हे नृसिंह, तुमने अयाल की शोभा से बादलों को छिन्न-भिन्न करने वाले सिंह का विशाल शरीर धारण कर अपने उन (कोमल) नखों से हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को चीर दिया था, जो मुग्धा रमणियों के (कठोर) स्तनस्पर्श से भी टेढे हो जाते हैं।'

भट्टि का इसी आशय का पद्य यों है —

क्व स्त्रीविषह्याः करजाः क्व वक्षो, दैत्यस्य शैलेन्द्रशिलाविशालम्।
संपश्यतैतद् द्युसदां सुनीतं बिभेद तैस्तन्नरसिंहमूर्तिः॥ (भट्टि० १२.५९)

---

१. दे० भारवि. ४.३३ तथा माघ ६.४९ एवं १२.४२.

२. संस्कृत के पण्डित माघ को वैयाकरण मानते हैं। उनके व्याकरणनिष्ठ प्रयोगों के कुछ उदाहरण ये हैं :—

(अ) पर्यपूपुजत् (१.१४), अधिन्यवीविशत् (१.१५), अचूचुरत् (१.१६)

(आ) पारेजलं (३.७०) मध्येसमुद्रं (३.३३) (पारेमध्ये षष्ठ्या वा)

(इ) मन्मार वारणपतिः परिमीलिताक्षमिच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्॥
(५.५० अधिगर्थदयेशां कर्मणि)

(ई) पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः॥ (१.५१)
(क्रियासमभिहारे लोट्)

'कहाँ तो स्त्रियों के द्वारा सहने लायक नख, कहाँ पर्वत की शिला के समान विशाल हिरण्यकशिपु का वक्षःस्थल ? देवताओं की नीति तो देखो कि उन नाखूनों से नृसिंह ने उसे (हिरण्यकशिपु के कठोर वक्षःस्थल को) फाड़ दिया ।'

माघ का प्रस्तुत करने का ढङ्ग, उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति, शैली (Diction) और ध्वन्यात्मक (Rhythmic) वातावरण ने इस भाव में एक नई जान फूंक दी है । पर जहाँ तक मेरा अनुमान है, माघ को एक काव्य का पता और था, और वह भर्तृमेण्ठ का 'हयग्रीववध'[१] था । 'हयग्रीववध' ने माघ को काव्य शीर्षक बनाने में सहायता दी हो, तो कोई आश्चर्य नहीं । सुना जाता है कि हयग्रीववध की सुन्दरता से मुग्ध होकर काश्मीरराज ने उसे रखने को एक सोने की तश्तरी दी थी जिससे काव्य का रस पृथ्वी पर न चू पड़े । पर इतना होने पर भी उस काव्य में एक दोष था । वह यह कि वहाँ अङ्गभूत नायक (प्रतिनायक) हयग्रीव दैत्य का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया था, जो रसदोष माना जाता है ।[२] माघ में अङ्गभूत नायक शिशुपाल का वर्णन बड़ी सतर्कता से किया गया है । शायद यह सतर्कता हयग्रीववधके वर्णन की आलोचना के कारण हो । मैं इस बिन्दु पर जोर नहीं देता । ऐसा भी हो सकता है कि भर्तृमेण्ठ माघसे प्रभावित रहा हो, और जब तक भर्तृमेण्ठ का खोया हुआ काव्य और उसकी तिथि का पता नहीं लगता, हम अनुमान में आगे नहीं बढ़ सकते ।

---

१ भर्तृमेण्ठ के हयग्रीववध में उद्धृत दो तीन पद्य अलङ्कारग्रन्थों में मिलते हैं । आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में उन्हें उदाहरणों के रूप में उपन्यस्त किया है । इनमें भी अधिक प्रसिद्ध पद्य निम्न है :—

> विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
> ससम्भ्रमेन्द्र द्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

(शत्रुओं के मान को खण्डित करने वाले उस हयग्रीव को अपनी इच्छा से महल से निकला हुआ सुनकर अमरावती पुरी—जिसकी अर्गला को डरे हुए इन्द्र ने एकदम डलवा दिया है—मानों डर से आँखें बन्द कर लेती है ।)

२. अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनम् । यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य ।

(काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास पृ० ३६१)

माघ का व्यक्तित्व

माघ का व्यक्तित्व कवि और पण्डित का अपूर्व समन्वय है। पाण्डित्य में माघ निश्चित रूप से कालिदास, भारवि, भट्टि या श्रीहर्ष से अधिक दिखाई पड़ते हैं। कालिदास मूलतः कवि हैं, भारवि राजनीति के व्यावहारिक ज्ञाता, और भट्टि कोरे वैयाकरण; श्रीहर्ष का पाण्डित्य भी विशेषत. दर्शन में अधिक जान पड़ता है। किन्तु, माघ सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पाण्डित्य लेकर उपस्थित होते हैं। वे 'आल राउण्डर स्कॉलर' जान पड़ते हैं। व्याकरण,[१] राजनीति[२] सांख्य योग[३] बौद्धदर्शन[४] वेद[५]-पुराण[६] अलङ्कारशास्त्र[७] कामशास्त्र[८] सङ्गीत,[९] और यही नही अश्वविद्या[१०] तथा हस्तिविद्या[११] के भी वे अच्छे जानकार हैं। इतनी विविध शाखा का पाण्डित्य किसी अन्य संस्कृत कवि में नहीं मिलता। पर माघ के कवि का महत्त्व इस पाण्डित्य के कारण नहीं है। उनका कवि किसी कदर कम नही है, पर जहाँ भी आता है, पाण्डित्य के घटाटोप को नहीं छोड़ पाता। माघ के साथ आलोचकों की सदा एकाङ्गी दृष्टि रही है। पुराने पण्डितो ने माघ की इतनी प्रशंसा की कि वे 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' के फेर में पड़ कर उन्हें उच्चतम कवि घोषित कर गये, तो नये आलोचकों ने भी माघ को ठीक नही समझा। माघ के साथ सदा अन्याय हुआ है, चाहे वह अत्युक्ति वाला हो, या हीनोक्ति वाला। माघ में फिर भी कुछ ऐसे गुण हैं, जो सहृदय पाठक को अभिभूत कर लेते हैं।

माघ कलावादी कवि हैं। वे शब्द तथा अर्थ दोनों के सौन्दर्य पर ध्यान देते हैं, तथा सत्कवि की कसौटी इसे ही मानते हैं।[१२] माघ की अन्तः प्रकृति कवित्व सम्पन्न है, किन्तु माघ का कवि रूढ़ियों का दास है। यह काव्यमार्ग की दासता उनके भावपक्ष की मौलिकता को कुचल देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि माघ के पास काव्य-प्रतिभा का अखण्ड भण्डार है, किन्तु वे उसे स्वतन्त्र परीवाह-

---

१. २.११२, १४.२२,
२. देखिये पिछले संकेतित चिह्न।
३. १४.१९,
४. २.२८
५. १४.२०. १४.२२. १४.२३
६. १२.११, ५,६६
७. २.८६. ९७
८. २.४४, ४.२९, ६.७७, ७.२५,७.०, १०.५७ आदि।
९. १.११
१०. ५.४. ५.१०, ५.५६, ५.६०
११. १२.५
१२. शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। (२.८६)

मार्ग नहीं देते। यदि माघ की प्रतिभा अपने पूर्व कवियों की रूढ़ पद्धति का आश्रय न लेती, अभिनव सरणि को उद्भावित करती, तो संभवतः माघ का कवित्व और अधिक स्फुट हो सकता था। माघ का एकमात्र लक्ष्य अपने पूर्व कवियों की नकल करना, तथा उन्हें कलावादिता में पीछे छोड़ देना ही रहा है। यही कारण है, माघ में जहाँ भारवि के कई गुण और अधिक बढ़ गये हैं, वहाँ ठीक उसी अनुपात में भारवि के दोष भी घनीभूत दिखाई पड़ते हैं। माघ श्लेष, यमक, चित्रकाव्य जैसी कृत्रिम कलाबाजियों में भी भारवि से बढ़े-चढ़े दिखाई पड़ते हैं। अर्थालङ्कारों की दूर की कौड़ी में भी माघ भारवि से कम नहीं हैं, और ऐसे ही एक अर्थालङ्कार (निदर्शना) के प्रयोग के कारण पण्डितों ने माघ को 'घण्टा-माघ' की उपाधि दे डाली थी। कृष्ण का रथ रैवतक पर्वत के समीप पहुँच रहा है। कृष्ण का सारथि दारुक रैवतक का वर्णन करते समय बता रहा है, 'जब प्रातःकाल के समय किरणों को फैलाता हुआ सूर्य इस पर्वत के एक ओर उदित होता है, तथा चन्द्रमा अपनी किरणों को समेटता-सा पर्वत के दूसरी ओर अस्त होता है, तब उस समय यह पर्वत उस हाथी की शोभा को धारण करता है, जिसके दोनों ओर रस्सी से बँधे दो घण्टे लटक रहे हों।

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥ (४.२०)

सचमुच इस 'निदर्शना' में एक अनूठी प्रौढोक्ति है। पर माघ का सच्चा कविहृदय मुझे उनकी स्वभावोक्तियों में—हाथी, घोड़े, खच्चर, ऊँट, और रथों के वर्णन में जितना फड़कता दिखाई पड़ता है, उतना इन प्रौढोक्तियों में नहीं।

माघ की काव्य-प्रतिभा

प्रबन्धकाव्य की इतिवृत्त निर्वाहकता में माघ सफल नहीं कहे जा सकते। माघ का ध्यान इतिवृत्त की ओर है ही नहीं। इस दृष्टि से कालिदास तो क्या, भारवि जैसी थोड़ी बहुत इतिवृत्त-निर्वाहकता भी माघ में नहीं पाई जाती। माघ में कथा के कलेवर तथा प्रासंगिक वर्णनों का सन्तुलन नहीं मिलता, जो प्रबन्धकाव्य के लिए जरूरी होता है। शिशुपालवध की मूल कथावस्तु (Theme) में चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक का विस्तृत वर्णन कहाँ तक अपेक्षित है, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर यही कहना पड़ेगा कि माघ ने इसे आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिया है। मूल कथा पहले-दूसरे, और चौदहवें से

बीसवें सर्ग तक पाई जाती है, और यहाँ भी कई अप्रासगिक गौण वर्णनों पर कवि ने अधिक ध्यान दिया है ऐसा जान पडता है। निष्पक्ष आलोचक की निगाह से देखने पर, माघ में यह बहुत बडा दोष दिखाई देता है, और शिशुपालवध के वीररसपूर्ण इतिवृत्त में अप्रासगिक शृङ्गार लीलाओं का पूरे ६ सर्ग मे विस्तार से वर्णन ऐसा लगता है, जैसे किसी पुरानी सूती रजाई के बीचो-बीच बडी-सी रेशम की बढिया थिकली लगा दी है। माघ का शृङ्गार प्रबन्ध-प्रकृति का न होकर मुक्तक-प्रकृति का अधिक है, जिसे जबर्दस्ती प्रबंधकाव्य में 'फिट इन' कर दिया गया है। इस थिकली ने रजाई की सुन्दरता तो बढा दी है, पर स्वय की सुन्दरता कम कर दी है। माघ निश्चित रूप से एक सफल मुक्तक कवि (अमरुक की तरह) हो सकते थे। भारवि के इतिवृत्त मे अप्सराओ की वनविहारादि शृङ्गार चेष्टाएँ फिर भी ठीक बैठ जाती हैं। पर राजसूय यज्ञ मे सम्मिलित होने जाने वाले यदुओ की केवल पडाव की रात (रैवतक पर्वत पर का पडाव अधिक से अधिक दो तीन दिन रहा होगा[1]) में की गई ऐसी विलासपूर्ण चेष्टाएँ काव्य को कथा मे कहाँ तक खप सकती है ?

माघ के काव्य का अङ्गी रस वीर है, और शृङ्गार रस इसका अङ्ग बनकर आया है, पर शृङ्गार रस ने वीर को अधिक दबोच लिया है। काव्य के मध्यभाग के पढने पर सहृदय पाठक यह समझने लगता है कि यह आमूल-चूल शृङ्गार का काव्य है, और अगर यह अङ्गी रस की चर्वणा मे बाधक माना जाय, *तो अनुचित न होगा*। पर इसका *अर्थ यह नही कि माघ* वीर रस के सफल चित्रकार नही है। माघ वीर तथा शृङ्गार दोनो के सफल चित्रकार हैं। पर माघ की वीर रस की व्यंजना उन वीर रसात्मक रूढियो का सकेत करती है, जिन्हे हम 'चरित-काव्यो' से होते हुए हिन्दी के वीरगाथात्मक काव्यो तक आती हुई देखते हैं। माघ स्वयं 'चरित कवि' नही है, किन्तु 'चरित-काव्यो' यथा, विक्रमाकदेवचरित, नवसाहसाकचरित, राष्ट्रौढवशमहाकाव्य, आदि की वर्णन परम्परा के बीज माघमें मिलते है। भूलना न होगा माघ स्वय दरबारी कवि थे। वीर रस का निम्नलिखित उदाहरण लीजिए—

आयन्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना-
मित्यं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।

---

१. यद्यपि सूक्ष्म अध्ययन से यह भी सन्देह होने लगता है कि शायद यह एक ही रात का पडाव रहा हो।

आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम् ॥ (१८.८०)

'एक दूसरे की ओर बडी तेजी से बढती हुई, शत्रु राजाओं की उद्धत सेनाओं का श्रीकृष्ण की प्रबल तरङ्ग वाली सेना से, बड़े जोर का शब्द करते हुए दोलायुद्ध (जयपराजय की अनिश्चितता वाला गंभीर युद्ध) हुआ, जैसे तेजी से आती हुई नदी को, गंभीर तरङ्गों वाले समुद्र के प्रवाह मे टक्कर होने पर धीरध्वनि का सघात पाया जाता है।'

माघ का अष्टादश सर्ग हमें 'चरितकाव्यों' के युद्ध-वातावरण के मूलस्रोत का सकेत कर सकता है। आलोचको ने हिन्दी के वीरगाथा-काव्यों तथा मिश्रण सूर्यमल्ल के 'वंशभास्कर' के युद्धवर्णनों के पूर्वरङ्ग की साज-सज्जा, सेनाओ के चलने, तलवारो के चमकने, हाथियो के चिघाडने, योद्धाओं के द्वन्द्वयुद्ध मे पिल पडने के चित्रवत् वर्णन की प्रशसा की है। यह माघ के १८ वें सर्ग का खास गुण है। अन्यत्र भी माघ के वीररस के चित्र सुन्दर, तथा प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। माघ के पदविन्यास की धीर और गभीर गति उनके चित्र मे नई 'शेड' डाल कर, उसका सौन्दर्य बढा देती है। रावण से युद्ध करते समय वरुण ने उस पर नागपाश फेंका है। नागपाश रावण की ओर चला आ रहा है। रावण क्रोध से हुङ्कार करता है, और उस हुङ्कार से डर कर नागपाश लौट जाता है। रावण से भयभीत सर्पराज का पाश तेजी से प्रहार करने वाले वरुण के ही गले मे जाकर चिपट जाता है।

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥ (१.५६)

पर माघ का मन वीररस में भी अधिक शृङ्गार रस के वर्णन में रमता है। माघ का शृङ्गार भारवि के सेवे का विलासी शृङ्गार है। माघ भारवि से अधिक विलासी और वासनामय जान पड़ते हैं। भारवि के साथ कालिदास की तुलना करते समय दोनों के शृङ्गारवर्णन के बारे में जो बातें हम कह चुके हैं, वे माघ पर पूरी तरह लागू होती हैं। माघ का कामशास्त्री 'नर्मसाचिव्य करने में पूर्णतः सफल है, वह अपने प्रथम सर्ग के वायु की तरह विलासवृत्ति का उद्बोध कर रावण के हाथों देवताओं को दण्ड से छुड़वा सकता है।'[1] पर कालिदास जैसी शृगार की सरसता का उनमें अभाव है। वे कहीं-कहीं

१. प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः (१.६१)

आवश्यकता से अधिक वाच्य प्रणाली का आश्रय लेते हैं फलतः सरसता को छोड़कर वे अश्लीलता धारण कर लेते हैं। ऐसे अनेकों चित्र माघ में देखे जा सकते हैं।[१] माघ की 'शातोदरी' की तरह उनकी कविता भी कहीं-कहीं अपनी रमणीयता को खुले आम दिखाकर सौन्दर्यभावना में विघ्न डाल देती है।[२] स्पष्टता के विलासमय होने के कारण माघ की कविता 'शातोदरी' की ही तरह सिर्फ एक क्षण चमत्कृत कर पाती है। (क्षणमुत्सवोऽभूत), कालिदास की कविता की तरह वह दिल की तह तक नहीं पैठती, कि हम उसे जनतान्तरसौहृद भाव की तरह सदा वहन करते रहें (तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि)। सारांश यह है, माघ का शृङ्गार क्षण भर की उत्तेजना भले ही पैदा कर दे, कालिदास की तरह शाश्वत प्रभाव नहीं डालता। माघ हिन्दी के रीतकालीन कवियों के भी आचार्य है, और माघ को हम प्रेम का कवि न कहकर, प्रेम-कला (Art of love) का कवि कहना विशेष उपयुक्त समझते हैं।

इस दृष्टि से, माघ के ऋतुवर्णन, वनविहार, जलविहार, सूर्यास्तवर्णन, रतिवर्णन तथा प्रभातवर्णन में कई सरस चित्र मिल सकते है। दो एक पद्यों को उद्धृत करना पर्याप्त होगा। कोई मुग्धा नायिका ऊँचे पेड़ के ऊपर खिले फूलों को माँग रही है। नायक भी उसे आलिङ्गन करना चाहता है। उसे यह बहाना मिल जाता है। वह पुष्ट कुचों वाली नायिका को दोनों हाथों से उठाकर उससे कहता है 'अच्छा तुम्हीं तोड़ लो।'

उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिरम्भलोलुपोऽन्यः।
प्रथयतपृथुपयोधरां गृहाण स्वयमिति मुग्धवधूमुदासदोर्भ्याम् ॥ (७.४९)

प्रातःकाल हो गया है। रात्रि केलि के कारण थककर सुख की नींद सोये हुए दम्पतियों में नायिकाएँ पहले जग गई हैं, किन्तु फिर भी वे अपने शरीर को इसलिए नहीं हिलाती-डुलाती कि कहीं उनके हाथ के हटा लेने से प्रिय की नींद टूट न जाय। संभवतः वे स्वयं भी आश्लेषजनित सुख का भङ्ग नहीं चाहती।

---

१. दे० १.७४, २.१८-१७, ३.४४, ३.५५, ४.२९, ४.६७, ५.२३, १०.४७, १०.६६, ११.५, ११.२९ आदि।

२. प्रस्वेदवारिमविशेषविषक्तमङ्गे कूर्पासकं क्षतनखक्षतमुत्क्षिपन्ती।
आविर्भवद्घनपयोधरबाहुमूला शातोदरी युवदृशां क्षणमुत्सवोऽभूत् ॥ (५.२३)

वाले प्रकृतिवर्णन, (२) शृङ्गारी अप्रस्तुतविधान वाले प्रकृतिवर्णन, (३) अन्य अप्रस्तुत विधान वाले प्रकृतिवर्णन । पहली कोटि में चतुर्थ सर्ग का यमक वाला प्रकृतिवर्णन दो कौड़ी का है, जबकि छठे सर्ग का प्रकृतिवर्णन सुन्दर है, क्योंकि यहाँ कई सुन्दर पद्य हैं, जिनमें यमक सरल होने के कारण अर्थप्रतिपत्ति में बाधा नहीं डालता । इस सर्ग में एक साथ दूसरी दो कोटियों का भी समावेश मिलता है । यमक, श्लेष और शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान के साथ वर्षा का यह वर्णन सुन्दर हुआ है ।

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा ।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम् ॥ (६.२५)

'चमकती हुई चञ्चल बिजली वाली, सघन बादलों से भरी, मेघराजि, अपने उचित समय पर रैवतक पर्वत पर ठीक उसी तरह उपस्थित हुई, जैसे चञ्चल नेत्रोंवाली, पुष्टयौवनवती नायिका, अपने सकेतित समय पर प्रिय की प्रतीक्षा को अधीरता में न डालती हुई, उसके पास अभिसरणार्थ उपस्थित होती है ।'

कवि ने प्रकृति पर मानवोचित शृङ्गारी चेष्टाओं का आरोप बहुत किया है । वह इन अप्रस्तुत विधानों में भी अपने शृङ्गारी पाण्डित्य का पूरा परिचय देता है । पश्चिमदिशा अस्त होते निस्तेज सूर्य को इसी तरह घर से निकाल देती है, जैसे गणिका धनरहित व्यक्ति को[1], और प्रातःकाल में चन्द्रमा पश्चिम दिशा से इसी तरह भगता नजर आता है, जैसे पति के आने पर उपपति पिछले दरवाजे से भाग निकला हो ।[2] अप्रस्तुत विधान में इस तरह के प्रयोग भी माघ की विलासी प्रकृति का सकेत देने में सहायक सिद्ध होते हैं ।

माघ के दूसरे ढङ्ग के अप्रस्तुत विधान से अलंकृत वर्णन एकादश सर्ग में अधिक सुन्दर बन पड़े हैं । प्रातःकाल का समय है, बाल सूर्य उदित हो रहा है । वह उदय पर्वत की चोटियों के आँगन में (छोटे बच्चे की तरह घुटनों के बल) रेंगता है । पद्मिनियाँ (सुन्दरियाँ) अपने कमल के मुखों से हँसती हुई उसकी बाललीला देख रही हैं । वह अपनी कोमल किरणों (हाथों) को फैलाता

१. निरकाशयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका । (९.१०)
२. उपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः ॥ (११.६५)

हुआ, पक्षियों के कलरव से पुकारती हुई द्यो (आकाशरूपिणी माता) की गोद मे लीला से आ गिरता है। इस पद्य मे श्लेष, अतिशयोक्ति तथा रूपक का सकर पाया जाता है। पद्य का वास्तविक सौन्दर्य वह बालचित्र है, जिसे कवि ने अप्रस्तुत के रूप मे चुना है।

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन् सकमलमुखहासं वोक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः॥

कहना न होगा, माघ के प्रकृति वर्णन का खास सौन्दर्य सर्वत्र अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है। माघ का पदविन्यास भी कही-कही प्रकृति के वातावरण का निर्माण करने मे सहायक सिद्ध होता है।[1]

स्वभावोक्ति और प्रौढोक्ति

माघ स्वभावोक्ति के कुशल चित्रकार दिखाई पडते हैं। स्वभावोक्ति को आचार्यो ने अलङ्कारो मे से एक माना है। किन्तु स्वभावोक्ति के विषय मे राजानक कुन्तक का मत मुझे अधिक ठीक जँचता है, जो इसे अलङ्कार नही मानते।[2] स्वभावोक्ति के वर्णन मे सबसे बडी सफलता तब मानी जायगी, जब वर्ण्य विषय का चित्र ठीक इस तरह वर्णित किया जाय कि पाठक के दिल की फिल्म पर वह हू-ब-हू उतर जाय। माघ के स्वभावोक्तिमय वर्णनो मे यह कुशलता है, जो 'ह्रासोन्मुख काल' के अन्य कवियो मे नही पाई जाती। कालिदास स्वभावोक्ति के सफल चित्रकार हैं। महाकाव्य मे कालिदास के बाद माघ का स्वभावोक्ति वर्णन आता है। पञ्चम, एकादश, द्वादश तथा अष्टादश सर्ग मे स्वभावोक्ति के कई अच्छे चित्र हैं। एक दो उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

गण्डूषमुज्झितवता पयसः सरोषं नागेन लब्धपरवारणमारुतेन।
अम्भोधिरोधसि पृथुप्रतिमानभागरुद्धोरुदन्तमुसलप्रसरं निपेते॥ (५.३६)

'कोई हाथी नदी के किनारे पानी पी रहा है। इसी समय उसे दूसरे मस्त हाथी के मदजल की सुगन्ध आ जाती है। वह गुस्से मे होकर सूड़ मे भरे पानी को वापस गिरा देता है, और तेजी से अपने दाँतो को जमीन पर अडा कर,

---

१. लीलाचलत्स्त्रीचरणारुणोत्पलस्खलत्तुलाकोटिनिनादकोमलः।
शौरेरुपानूपमपाहरन्मनः स्वनान्तरादुन्मदसारसारवः॥ (१२.४४)

२. वक्रोक्तिजीवित, तृतीय उन्मेष, पृ० १३५–६

दाँतों के बीच के भारी भाग (प्रतिमान) से रुका हुआ जमीन पर गिर पड़ता है।'

दुर्दान्तमुत्प्लुत्य निरस्तसादिनं सहासहाकारमलोकयज्जनः।
पर्याणतस्स्रस्तमुरोविलम्बिनस्तुरङ्गमं प्रद्रुतमेकया दिशा ॥ (१२. २२)

'किसी बिगड़ैल घोड़े की जीन और काठी ढीली होकर खिसक गई है। उसने तेजी से उछल कर अपनी पीठ पर बैठे सवार को जमीन पर फेंक दिया है, और वह एक ओर भग चला है। लोग घोड़े की इस स्थिति को देखकर हा हा करते हुए हँस रहे हैं।'

एक चित्र और देखिये—खच्चरों की गाड़ी चली जा रही है। पीछे से कोई हाथी आ रहा है, और उसके सूत्कार (सूं सूं) को सुनकर खच्चर डर जाते हैं। वे विगड खड़े होते हैं। गाड़ी चलाने वाला व्याकुल होकर लगाम छोड देता है। खच्चरों को ढील मिल जाती है, वे उछल कर गाड़ी में बैठी अन्तः-पुरिकाओं को गिरा देते हैं। सडक से दूर जाकर टकराने से गाड़ी टूट जाती है।[१]

त्रस्तौ समासन्नकरेणुसूत्कृतान्नियन्तरि व्याकुलमुक्तरज्जुके।
क्षिप्तावरोधाङ्गनमुत्पथेन गां विलङ्घ्य लघ्वौकरभौ बभञ्जतुः ॥ (१२.२४)

एकादश सर्ग के प्रातःकालवर्णन में स्वभावोक्तिमय चित्र बहुत कम हैं। पर इस चित्र में कितनी स्वाभाविकता है। एक पहरेदार ने अपना पहरा पूरा कर दिया है। वह अब सोना चाहता है। इसलिए दूसरे पहरेदार को—जिसकी बारी आ रही है—बार-बार जगा रहा है। वह व्यक्ति नींद से शून्य स्पष्ट शब्दों में उत्तर तो दे रहा है, पर जागता नहीं।

प्रहरकमपनीय स्वं निनिद्रासतोच्चैः प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥
(११.४)

यद्यपि माघ के इन वर्णनों में किसी अलङ्कार का कोई रेशा भी नहीं, तथापि स्वभावोक्ति स्वय काव्य में रमणीयता संक्रान्त कर देती है। माघ का सच्चा कवि-हृदय इन वर्णनों से व्यक्त हो जाता है।

---

१. इसी तरह का एक दूसरा चित्र निम्नलिखित है, जहाँ हाथी से डरे खच्चर (करभ—ऊँट नहीं) पर बैठी अन्तःपुरिका जमीन पर अस्तव्यस्त दशा में फेंक दी जाती है।

प्रौढोक्तिमय अलङ्कारों के प्रयोग में माघ अत्यधिक कुशल हैं, इसका संकेत हम प्रकृतिवर्णन की अलकृत कोटि के प्रसग मे दे चुके हैं। उपमा,[1] उत्प्रेक्षा,[2] रूपक[3], अतिशयोक्ति[4], सहोक्ति[5], तुल्ययोगिता[6], समासोक्ति[7], काव्यलिंग[8], विरोध[9] जैसे अनेकों अर्थालंकारो का सुन्दर प्रयोग माघ मे मिल जाता हैं। माघ श्लेष के बड़े शौकीन हैं। श्रीहर्ष को अपनी 'परीरम्भक्रीडा' (श्लेष) का घमण्ड है, पर माघ के शब्द-विलास की 'परीरम्भक्रीडा' अपना अलग सौन्दर्य रखती हैं। श्लेष-प्रयोग मे माघ भारवि से अधिक कुशल हैं। माघ के अन्य अलङ्कार भी श्लेष का सहारा लेकर आते हैं। कभी-कभी तो उपमानोपमेय, प्रस्तुताप्रस्तुत, प्रकृताप्रकृत पक्षो के अर्थद्वय को लेने मे विभक्ति-परिणाम के बिना अर्थ प्रतीति नही हो पाती। उदाहरण के लिए निम्न पद्य ले लें, जहा केवल श्लेष है, क्योंकि दोनो पक्ष प्रस्तुत है :—

हस्तस्थिताखण्डितचक्रशालिनं द्विजेन्द्रकान्तं श्रितवक्षसं श्रिया।
सत्यानुरक्तं नरकस्य जिष्णवो गुणैर्नृपाः शार्ङ्गिणमन्वयासिषुः॥ (१२.३)

'हाथ मे चक्र की रेखा धारण करने वाले, शोभायुक्त वक्षस्थल वाले, चन्द्रमा के समान सुन्दर, सत्यशील, पुण्यात्मा (नरकस्य जिष्णव) राजा लोगो ने हाथ में सुदर्शन को धारण करने वाले, चन्द्रमा के समान सुन्दर, नरकासुर के जेता श्रीकृष्ण का—जिनके वक्षस्थल पर लक्ष्मी का निवास है, और जो सत्यभामा में अनुरक्त हैं—उनके गुणो की दृष्टि से अनुगमन किया। समानगुणशील राजा कृष्ण के गरुड़ के समान रथ पर चढ़ कर रवाना होने पर (दे० १२.२) उनके पीछे-पीछे रवाना हुए।'

यद्यपि माघ के अधिकतर श्लिष्ट प्रयोग किसी अन्य अलङ्कार के अङ्ग बन कर आते हैं, तथापि माघ में शुद्ध श्लेष के भी अनेकों उदाहरण देखे जा सकते हैं।[10]

शब्दालङ्कारो के अन्य प्रयोग भी माघ मे मिलते हैं। यमक तथा चित्र-

---

भ्रम्यः समस्तजनहासकरः करेणोर्यात्स्वरः प्रखरमुल्लल्याञ्चकार।
नावञ्चलाभनविलोलनिनम्बविम्बविस्रस्तवस्त्रमवरोधवधूः पपातः॥ (५.७)

१. १,२८ ११,१, २०। २. ४,४७। ३. ११,४७ ४ १२,२७, २९, ५६।
५. १४,४७। ६. ३,५३ ३. ६०,१२,३६। ७. १२,५१। ८. १२,५।
९. ३,५०, १२,६७।
१०. दे०—३.५७, ५ ४५ आदि।

काव्य का सङ्केत हम कर चुके हैं। अनुप्रास की दृष्टि से माघ का पद-विन्यास बड़ा सुन्दर है, उनके अस्सी प्रतिशत पद्यों में अनुप्रास की सुन्दरता मिलती है। अनुप्रास तथा यमक का निम्नलिखित उदाहरण विशेष प्रसिद्ध है। वसन्त का वर्णन है। वसन्त के आगमन से समृद्ध माधवी लता के पराग से मस्त भ्रमरी उन्मत्त ध्वनि को धारण करती हुई स्थिर और मधुर अक्षरों में गा रही है।

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥ (६.२०)

छन्दों के प्रयोग में माघ, भारवि तथा कालिदास से भी अधिक कलावादी हैं। हम बता चुके हैं, कालिदास के खास छन्द ६ हैं, भारवि के १२, माघ के १६। चतुर्थ सर्ग में माघ ने अनेकों छन्दों का प्रयोग किया है। हरविजय के कवि रत्नाकर के वसन्ततिलका छन्द की क्षेमेन्द्र ने प्रशंसा की है। माघ का वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग उससे कम सुन्दर नहीं है। वसन्ततिलका (पञ्चम सर्ग) तथा मालिनी (एकादश सर्ग) माघ के अत्यधिक सुन्दर प्रयोग हैं।

माघ का पदविन्यास और शैली संस्कृत कवियों में अपना सानी नहीं रखती। कालिदास की शैली सरल, स्वाभाविक और कोमल है, माघ की शैली धीर और गम्भीर। माघ का समासान्तपद-विन्यास उनकी शैली को गम्भीरता और उदात्तता (Sublimity and grandeur) प्रदान करता है। कालिदास की शैली मालव की समतल भूमियों की याद दिलाती है, जहाँ पाठक को उतार-चढ़ाव के साथ नहीं चलना पड़ता। माघ की शैली अरावली *पर्वतमाला की याद दिलाती है, जहाँ सघन निकुञ्ज, उज्ज्वल अधित्यकाएँ,* सुन्दर उपत्यकाएं, विशाल चोटियाँ और कोमल शिलायें हैं,[१] जिनके सेवन के लिए पर्वत पर उतार-चढ़ाव करने की मेहनत करने की जरूरत है। पर पर्वत की यात्रा का भी अपना अलग मजा है। माघ की शैली में इसी कोटि का आनन्द मिलता है। कालिदास की शैली में कोकिल की काकली है, पर माघ 'प' को छोड़कर 'ध' पर चढ़ गये मालूम देते हैं। उसका सङ्गीत पञ्चम की कोमलता की अपेक्षा धैवत की गम्भीर घोरता को व्यक्त करता है। कृष्ण के

---

१. संकेतः—

रम्योज्ज्वलासु विमलोपलमेखलान्ताः सद्रत्नचित्रकटकासु बृहन्नितम्बाः।
अस्मिन् भजन्ति घनकोमलगण्डशैला नार्योऽनुरूपमधिवासमधित्यकासु॥ (४.४०)

मगधों की भाँति माघ की रागिनी भी 'पञ्चम' का 'पीडन' (परित्याग) करती जान पड़ती है।[१]

माघ के पदविन्यास में गौड़ी की विकटबन्धता होते हुए भी एक आकर्षण है। माघ के पश्चाद्भावी कई कवि उनकी वर्ण्य शैली एवं पदविन्यास से प्रभावित हुए हैं। रत्नाकर का 'हरविजय'[२] तथा हरिचन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय'[३] माघ की शैली ही नहीं, भावों एवं कल्पनाओं के ऋणी हैं। ये दोनों माघ से पिछले खेवे के प्रसिद्ध महाकाव्यों में गिने जाते हैं।[४] इन काव्यों के अतिरिक्त नेमिचरित,

---

१. सङ्केत—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम् ।
प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय ॥

(११.१)

२. तुलना की दृष्टि से रत्नाकर की शैली देखिये—

कण्ठश्रियं कुवलयस्तबकाभिरामदामानुकारिविकटच्छविकालकूटाम् ।
बिभ्रत्सुखानि दिशतादुपहारपीनधूपोत्थधूममलिनामिव धूर्जटिर्वः ॥

(हरविजय, १.१)

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि सञ्चुकोच ॥

(वही० १९.१)

३. हरिचन्द्र के धर्मशर्माभ्युदय की शैली देखिये—

अवाप्य सर्वाधिपमौलिमैत्रीं छत्रद्युतिं तन्वति यत्र वृत्ते ।
धत्ते समुत्तेजितशातकुम्भकुम्भप्रभा काञ्चन काञ्चनाद्रिः ॥ (१.३६)

४. माघ की शैली में एक क्षणिक नशा है, जो नये अभ्यासशील व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। रत्नाकर ने यह दावा किया था कि उनके काव्य को पढ़ने पर अकवि शिशु भी कवि हो सकता है, और कवि तो महाकवि बन सकता है (अपि शिशुरकविः कविः प्रभावाद्भवति कविश्च महाकविः क्रमेण)। जहाँ तक कलावादी कवितापद्धति का प्रश्न है, निःसन्देह माघ उस ढर्रे की कविता बनाने के अभ्यास को देने में रत्नाकर से कम-सफल नहीं हैं। आज से लगभग ७-८ वर्ष पूर्व माघ की शैली का नशा इन पंक्तियों के लेखक पर भी छा गया था और एक महाकाव्य लिखने की योजना की गई थी, किन्तु चार सर्ग लिखने के बाद सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों के परिवर्तन के कारण उसे छोड़ देना पड़ा। पाठकों के मनोरंजन के लिए यहाँ तीन-चार पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

चन्द्रप्रभचरित जैसे अनेक जैन महाकाव्यों मे माघ का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा मे कालिदास के बाद दूसरा सशक्त व्यक्तित्व माघ का है। कालिदास का काव्य शेक्सपियर की भाँति भावप्रधान है, माघ का काव्य मिल्टन की भाँति अत्यधिक अलकृत है। शेली के शब्दों मे, जो उसने मिल्टन के लिए प्रयुक्त किये है, माघ को हम अलकृत शब्दो का उद्भावक (Creator of ornate members) कह सकते हैं।

—॰—

काश्मीरजामृगमदोल्लसितं शरीरं नीत्वाऽसुरं धनपतेर्गृहिणी सुवेरम्।
हित्वा कुबेरमनुरञ्जयति स्म नूनं सौन्दर्यवर्यमृगयाभिरता रमण्यः॥ (१.१५)
दिग्दक्षिणा यमकलत्रमिवात्र हृद्यसान्द्रानुलिप्तमलयागुरुशोभि शुम्भम्।
मत्तेभकुम्भयुगमादधती सलीलं रोमाञ्चिचन्दनलतानतुरालिलिङ्ग॥ (१.१६)
गम्भीरधीरनिनदध्वनिनाम्बुदानामालोक्य मेनकमयीं तमिमम्बुवर्षे।
अद्यापि तद्गजघटापटलस्य शेते भीत्या स्मरन् हरिरहोऽजलमन्दुरायाम्॥ (१.२०)
रम्भापि तद्भवननिष्कुटमेत्य सद्यो रोमाञ्चिनाऽस्र कुचस्तनगुलुच्छकम्पैः।
किम्पाणिपल्लवविरामभरैरिभस्य वामुष्य नो विनिसुनस्य जहार चेतः॥ (१.२८)
('शुम्भवधम्' से)

महाकवि श्रीहर्ष

संस्कृत महाकाव्यों में माघ ह्रासोन्मुख काल के काव्यों के पथप्रदर्शक रहे हैं। माघ में हमने अश्वघोष और कालिदास की काव्यपरम्परा से विच्छेद देखा था, और माघोत्तर काल के महाकाव्यों में यह विच्छेद अधिक से अधिक बढ़ता गया। माघ की कृत्रिम आलङ्कारिक शैली की ओर बाद के महाकाव्य जितने आकृष्ट हुए, उतने उनकी काव्यशक्ति की ओर नहीं। महाकाव्य शाब्दिक चमत्कार, विविध छन्द-प्रयोग, आलङ्कारिक ज्ञान के प्रदर्शन और पाडित्यप्रकाशन के क्षेत्र समझे जाने लगे। माघोत्तर काल के महाकाव्यों मे हम दो तरह के काव्य देखते हैं, एक कोटि के काव्य आमूलचूल चित्रकाव्य है, जिनमें नलोदय, युधिष्ठिरविजय आदि यमककाव्यों को, तथा 'राघवपाण्डवीय', 'राघवनैषधीय' जैसे श्लेषकाव्यों को लिया जा सकता है। इन चित्रकाव्यों में कविराज के 'राघवपाण्डवीय' ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। दूसरी कोटि के काव्यो मे चरित काव्यो का समावेश किया जा सकता है। यद्यपि चरितकाव्यों के अतिरिक्त अन्य काव्य भी लिखे जा रहे थे, और चरित काव्य, राजाओ से सबद्ध न होकर (जैसे मङ्ख का श्रीकण्ठचरित) पौराणिक इतिवृत्तो से सबद्ध थे, तथापि इस काल मे कवियों का ध्यान अपने आश्रयदाता और उसके वश पर महाकाव्य लिखने की ओर भी जाने लगा था। सभवत. इस कोटि का प्रथम काव्य वाक्पतिराज का 'गउडवहो' माना जा सकता है। माघ के बाद लिखे गये चरितकाव्यों मे विल्हण का विक्रमाङ्कदेवचरित, तथा पद्मगुप्त का नवसाहसाङ्कचरित प्रसिद्ध हैं। श्रीहर्ष के ही समय के आसपास जयानक ने 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य लिखा था। चरित काव्यों की परम्परा सस्कृत मे १६ १७ वीं शती तक चलती रही है। माघोत्तर काल के इन महाकाव्यों मे पाण्डित्य-प्रदर्शन, कल्पना की उड़ान और शृङ्गार के विलासपूर्ण चित्रण के कारण जो काव्य अत्यधिक प्रसिद्ध हो सका, वह है—श्रीहर्ष का नैषधीयचरित।

श्रीहर्ष के समय में उत्तरी भारत कई राज्यों मे बँटा हुआ था। इन राज्यों में प्रमुख शक्तियाँ अजमेर व दिल्ली के चौहान, कन्नौज (या काशी) के गहड़वाल या राठौड़, बुन्देलखण्ड के परमार, और बगाल के सेन थे। ये परस्पर

लड़ा करते थे। श्रीहर्ष के आश्रयदाता जयचन्द्र का दिल्ली के पृथ्वीराज, तथा बुन्देलखण्ड (कालिंजर) के परमारों से वैमनस्य था। ये एक दूसरे के राज्य को हड़पने की चेष्टा में थे। इधर मुसलमानों के आक्रमण होते जा रहे थे और इसी काल में दिल्ली, कन्नौज, तथा बंगाल को मुसलमानों ने जीत कर भारत में इस्लामी साम्राज्य की नींव डाली थी। राजाओं का परस्पर वैमनस्य और विलासिता ही उनके अधःपतन का कारण बनी थी। वे वीर थे, किन्तु विलासिता ने उनकी वीरता को क्षुण्ण बना दिया था। जयचन्द्र (जयन्तचन्द्र) के पितामह गोविन्दचन्द्र के अन्तःपुर में ५७० रानियाँ थीं। बंगाल के सेन भी अत्यधिक विलासी थे, इसका संकेत हम जयदेव के परिशीलन पर लिखते समय करेंगे। पृथ्वीराज वीर होते हुए भी कम विलासी न थे, और यदि चन्द के पृथ्वीराजरासो की सभी कथाओं में कुछ भी सत्यता हो, तो ऐसा कहा जा सकता है कि उनके कई रानियाँ थीं। राजा ही नहीं, सामन्तों तथा सभासदों का, सभापण्डितों और कवियों का—समस्त अभिजातवर्ग का—जीवन इतना विलासी हो गया था, कि वह समाज के भावी अधःपतन का साक्षात् कारण माना जा सकता है। श्रीहर्ष का नैषधीय उस काल के विलासी वातावरण के चित्रण में माघ से भी अधिक बढ़ा-चढ़ा दिखाई देता है। नैषधीयचरित का समाज हिन्दुओं की गिरती हुई दशा का चित्र देने में सहायक सिद्ध होता है।

श्रीहर्ष की तिथि और व्यक्तित्व

श्रीहर्ष की तिथि के विषय में हम अन्धकार में नहीं हैं। श्रीहर्ष ने स्वयं यह बताया है कि वे कान्यकुब्जेश्वर के सभापण्डित थे, और इन्हें सभा में दो बीड़े पान के दिये जाने का सम्मान प्राप्त था।[1] नैषधचरित की भूमिका में महामहोपाध्याय प० शिवदत्त जी दाधिमथ ने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है, कि श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर विजयचन्द्र तथा उनके पुत्र जयन्तचन्द्र के सभापण्डित थे। ये जयन्तचन्द्र ही इतिहास में जयचन्द के नाम से विख्यात हैं, जिनकी पुत्री संयोगिता का अपहरण महाराज पृथ्वीराज ने किया था। श्रीहर्ष के समय इनकी राजधानी कन्नौज न होकर काशी थी, यद्यपि ये कन्नौज के ही राजा कहलाते थे। विजयचन्द्र तथा जयन्तचन्द्र का राज्यकाल

---

१. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्॥ (२२.१५३)

११५६ ई० से लेकर ११९३ ई० तक माना जाता है। अतः निश्चित है कि श्रीहर्ष बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

श्रीहर्ष ने काव्य में अपने वैयक्तिक परिचय के विषय में लिखा है। ये 'हीर' तथा 'मामल्लदेवी' के पुत्र थे।[१] किंवदन्तियों के अनुसार न्यायकुसुमाजलि के प्रसिद्ध लेखक नैयायिक उदयनाचार्य के साथ इनके पिता श्रीहीर का शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें वे परास्त हो गये। इस पराजय से लज्जित होकर हीर ने अपना देह छोड़ दिया और मरते समय पुत्र से यह कहा कि वह उसके शत्रु को शास्त्रार्थ में हरा कर बदला ले। श्रीहर्ष ने पण्डितों से शास्त्रों का अध्ययन किया और त्रिपुरसुन्दरी की आराधना के लिए 'चिन्तामणि' मन्त्र का एक वर्ष तक जप किया।[२] देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें अपराजेय पाण्डित्य प्रदान किया। श्रीहर्ष वर प्राप्त कर विजयचन्द्र की सभा में गये, पर उनकी काव्यशैली को कोई भी न समझ पाया। फलतः निराश होकर उन्होंने पुनः देवी की आराधना की। देवी ने प्रसन्न होकर कहा 'अच्छा रात को सिर गीला कर दही पी लेना, कफ के गिरने के साथ तुम्हारा पाण्डित्य कम हो जायगा।' श्रीहर्ष ने ऐसा ही

---

१. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतम्।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्॥ (१।१४५)

२. नैषधीयचरित के चतुर्दश सर्ग में श्रीहर्ष ने इस 'चिन्तामणि' मन्त्र का संकेत किया है। सम्भवतः इसी के आधार पर इस किंवदन्ती की रचना की गई हो। नैषध के चतुर्दश सर्ग के ८८, ८९ तथा ९० पद्य में सरस्वती के मुँह से श्रीहर्ष ने चिन्तामणि मन्त्र की अद्भुत शक्ति का परिचय दिलाया है। ८८ वें पद्य की टीका में नारायण ने इस मन्त्र को ढूँढना भी चाहा है जिसका स्वरूप गुप्तरूप से इस पद्य में दिया गया माना जाता है। नारायण ने इसे 'ह्रीं' या 'क्लीं' दोनों में से कोई एक माना है। मन्त्र की अद्भुत शक्ति का संकेत ९० पद्य में स्वयं सरस्वती के मुँह से यों दिलाया गया है:—'साल भर इस मन्त्र का जप करने वाला जिस किसी के सिर पर हाथ रख दे, वह भी एकदम कवि बन जाता है और रमणीय पद्यों की रचना करने लगता है।'

तत्प्रासे वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते।
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान्कौतुकं दृश्यमस्याः॥ (१४.९०)

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि इस तरह की किंवदन्ती का बीज स्वयं नैषध में ही है।

किया। इसके बाद श्रीहर्ष विजयचन्द्र की सभा मे गये, और वहाँ उन्होने निम्नलिखित पद्य में राजा की स्तुति की—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्रीरस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री ॥

तरुणियाँ राजा विजयचन्द्र को केवल इसीलिये कामदेव न समझ ले, कि यह गोविन्द का पुत्र है (कामदेव भी प्रद्युम्नरूप मे गोविन्द (कृष्ण) के पुत्र हैं), और शरीर से (कामदेव जैसे) सुन्दर हैं। कामदेव मे और इस राजा मे एक तात्त्विक भेद है। कामदेव तो ससार को जीतने के लिए स्त्रियो को अस्त्र बनाता है, और यह राजा युद्ध मे लडने आये हुए अस्त्रधारी शत्रु-वीरो को पराजित कर (या भगा कर) स्त्री के समान पुरुषत्वरहित बना देता है।

इसके बाद श्रीहर्ष ने अपने पिता के शत्रु उस पण्डित को देखकर भी एक पद्य पढा, जिसका भाव यह था कि श्रीहर्ष का सुकुमार साहित्य तथा दृढ न्यायबन्ध से जटिल तर्क मे एक-सी क्षमता है,[१] वे किसी भी क्षेत्र मे उसे परास्त कर सकते हैं। श्रीहर्ष के पाण्डित्य से झेंप कर वह पण्डित भी उनकी स्तुति करने लग गया, और राजा ने प्रसन्न होकर उन्हे अपना सभापण्डित बना लिया।

सुना जाता है कि राजा के कहने पर कवि श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित की रचना की। काव्य की परीक्षा के लिए श्रीहर्ष को काश्मीर जाना पडा, जहाँ स्वय देवी शारदा ने पहले तो इसलिए रुष्ट होकर काव्य को फेंक दिया कि लोक मे कुमारी के रूप में प्रसिद्ध सरस्वती को श्रीहर्ष ने विष्णु की पत्नी घोषित किया था,[२] पर बाद मे प्रसन्न होकर काव्य को स्वीकार कर लिया। यह भी किवदंती है कि प्रसिद्ध आलकारिक मम्मट श्रीहर्ष के मामा थे। श्रीहर्ष ने काश्मीर यात्रा के समय यह ग्रन्थ उन्हे भी बताया था, और मम्मट ने काव्य

---

१. साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

२. इस पद्य को आगे पदलालित्य के उदाहरण रूप में देखिये।

को देखकर कहा कि यदि यह ग्रन्थ पहले मिलता, तो काव्यप्रकाश के दोष-प्रकरण के लिए लक्ष्य (उदाहरण) ढूंढ़ने की दौड़धूप न करनी पड़ती। इस किंवदन्ती में तात्त्विक आधार यह जान पड़ता है कि पाण्डित्य, पदलालित्य, कल्पना की अनूठी सूझ के होते हुए भी नैषध में कई दोष हैं। इनमें से पुनरुक्ति (दमयन्ती के नखशिख का बार बार वर्णन), छन्दोभंग, च्युतसंस्कृति आदि अनेक दोष देखे जा सकते हैं। नैषध के दोषों में पण्डितमण्डली में निम्नलिखित पद्य विशेष प्रसिद्ध है, जहाँ हंस को दमयंती के पास भेजते समय नल की उक्ति में ऐसे पदों का प्रयोग है, जिनके पदच्छेद में थोड़ा हेर फेर करने पर ही अमंगलाश्लील की व्यंजना होती है।

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥ (२. ६२)

'हे हंस ! तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो। हमारा समागम शीघ्र ही हो। जाओ, हमारी इच्छा को पूर्ण करो। दमयन्ती से मिलते समय हमारी याद रखना।'

इसी का दूसरा अर्थ यह होगा—'हे हंस ! तुम्हारे मार्ग का कल्याण हट जाय (तव शिवं वर्त्म निवर्तता), तुम फिर लौटकर न आओ (स त्वं मा आगमः) हे रोगग्रस्त हंस ! हमारी इच्छा को पूरा न करना (हे साधे ! ईप्सित असाधय), और हमें हमारे बाद याद करते रहना (वयं समये स्मरणीया)।

नैषधीयचरित एवं अन्य कृतियाँ

नैषध के प्रत्येक सर्ग के अंतिम पद्य में कवि ने अपनी अन्य रचनाओं का संकेत किया है। इनमें स्थैर्यविचारप्रकरण, विजयप्रशस्ति, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, नवसाहसाङ्कचरितचम्पू, शिवशक्तिसिद्धि और खण्डनखण्डखाद्य प्रसिद्ध हैं। इन रचनाओं में केवल अंतिम रचना ही उपलब्ध है, जिसमें श्रीहर्ष ने नैयायिक तर्कशैली के द्वारा न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन कर अद्वैत वेदान्त की स्थापना की है। शङ्करोत्तर वेदान्त के ग्रन्थों में खण्डन-खण्डखाद्य का अत्यधिक आदर है। कहने को तो यह ग्रन्थ 'मिश्री का खाद्य' है, पर दर्शन, विशेषत दर्शन की नैयायिक शैली, को न जानने वाले लोगों के लिये ये मिश्री के टुकड़े बड़े महँगे हैं, जो अनभ्यस्त खाने वाले के दाँत भी तोड़ सकते हैं। श्रीहर्ष अद्वैत वेदान्त के

अपूर्व पण्डित हैं, उन्हे सच्चे शब्दो में दार्शनिक कहना तो ठीक न होगा। अद्वैत वेदान्त ही नही—न्याय, मीमांसा, आदि आस्तिक् दर्शन, चार्वाक और बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शन, व्याकरण आदि सभी शास्त्रों का प्रगाढ पाण्डित्य उनके काव्य मे स्पष्टत परिलक्षित होता है, तथा इनके आवश्यक ज्ञान के बिना श्रीहर्ष के काव्य का चमत्कार बुद्धि की पकड मे आना मुश्किल है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे, श्रीहर्ष के काव्य के कई अप्रस्तुतविधान इसी विशाल शास्त्रीय ज्ञान में लिए गए हैं जिनकी कल्पना उनके मूल स्रोत को जाने बिना समझ मे नही आ सकती। इस दार्शनिक ज्ञान के अतिरिक्त श्रीहर्ष मे कामशास्त्र का भी प्रगाढ पाण्डित्य है और इस दृष्टि से वे भारवि और माघ को भी पीछे छोड देते हैं।

नैषधीयचरित २२ सर्ग का बहुत बडा काव्य है, जिसके प्रत्येक सर्ग मे सौ से ऊपर पद्य हैं। १३ वें और १९ वें सर्ग को छोडकर, जिनमे केवल ५५ तथा ६६ पद्य है, बाकी सभी सर्ग बडे हैं, कई मे तो १५० पद्यो के लगभग हैं। महाकाव्य के इस विशाल आलवाल को देखते हुए श्रीहर्ष ने नलचरित मे सम्बद्ध जितनी सी कथा ली है, वह छोटी है। दमयन्ती तथा नल के प्रेम को लेकर उनके विवाह और विवाहोपरान्त क्रीडाओ आदि का वर्णन कर काव्य को समाप्त कर दिया गया है। प्रथम सर्ग में नल का वनविहार वर्णित है। दूसरे सर्ग मे हस के द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन तथा नल के कहने पर कुण्डिनपुरी जाने का उल्लेख है। तीसरे सर्ग मे हस दमयन्ती के पास जाकर उसे नल के प्रति अनुरक्त बना देता है। चतुर्थ सर्ग मे दमयन्ती के नलगुणश्रवण जनित पूर्वरागसूचक वियोग की दशा का ऊहोक्तिमय वर्णन है। पाँचवें सर्ग में इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम नल को दमयन्ती के पास दूत बनाकर भेजते हैं। छठे, सातवें, आठवें तथा नवें सर्ग मे नल के वहाँ जाने का वर्णन और दमयन्ती का नखशिख-चित्रण है, वह देवताओ के सन्देश को दमयन्ती से कहता है। दमयन्ती नल को छोडकर उनका वरण नही करना चाहती। दुखी दमयन्ती रोने लग जाती है। तब नल प्रकट होकर अपना असली परिचय देता है। दसवें सर्ग में स्वयवर के पहले दमयन्ती के श्रृङ्गार का वर्णन है, ग्यारहवें और बारहवें सर्ग मे स्वयवर मे राजाओ का वर्णन है। तेरहवें सर्ग मे नल का रूप धारण कर आये हुए चारों देवताओं और नल का श्लिष्ट वर्णन है। चौदहवें सर्ग मे दमयन्ती वास्तविक नल का वरण करती

है। पन्द्रहवें सर्ग में विवाह में पूर्व वर वधू के आहार्य प्रसाधन का वर्णन है। सोलहवें सर्ग में दोनों के पाणिग्रहण, और ज्योनार का विस्तार से वर्णन है। सतरहवें सर्ग में देवता लोग स्वर्ग को जाते समय रास्ते में कलियुग को देखते हैं। कलि नास्तिकवाद का प्रतिष्ठापन करता है। देवता उसका खण्डन करते हैं। अठारहवें सर्ग में नल और दमयन्ती के प्रथम समागम का वर्णन है। बाकी ४ सर्गों में राजा रानी की दैनन्दिनचर्या का वर्णन है, जिसमें देवस्तुति, सूर्योदय और विलासमय चाटूक्तियों के सरस चित्र हैं। काव्य यहीं समाप्त हो जाता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार नैषध में सौ सर्ग थे, किन्तु यह किंवदन्ती ही प्रतीत होती है।

नैषध पर काव्य परम्परा का प्रभाव

श्रीहर्ष ने अपने काव्य का इतिवृत्त महाभारत से चुना है, किन्तु नल के समस्त इतिवृत्त को न चुनकर, केवल उसकी कथा के 'प्रेमगाथा' वाले अंश को ही लिया गया है। किंवदन्तियाँ भले ही श्रीहर्ष की कृति को सौ सर्ग का मानती रहें, हमें ऐसा जान पड़ता है कि कवि का इरादा काव्य को यहीं समाप्त कर देने का था। पर महाभारत की कथा को नैषध ने तत्कालीन लोक-साहित्य की प्रणय-गाथाओं से मिश्रित कर दिया जान पड़ता है। श्रीहर्ष के काल में अपभ्रंश तथा देशभाषा के काव्यों में कई लोक-कथाओं की प्रणय-गाथाएँ स्थान पा रही थीं। नलदमयन्ती की कथा पौराणिक होते हुए भी लोककथा रूप में भी प्रचलित थी। श्रीहर्ष को इन दोनों स्रोतों से प्रेरणा मिली ही होगी। यद्यपि श्रीहर्ष जैसे प्रकाण्ड पण्डित में, जिनका समाज अत्यधिक सङ्कुचित था, लोक-साहित्य का प्रभाव ढूँढ़ना कुछ लोगों को जबर्दस्ती लगे, तथापि हमने श्रीहर्ष में ही सर्वप्रथम कुछ ऐसे भावों को देखा है, जो लोक साहित्य में लिये जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पद्य ले लें :—

न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गजं द्विषत्सु याचे पवनं तु दक्षिणम्।
दिशापि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधावधि: ॥(९. ९३)

इन्द्रादि के संदेश को सुनकर दुःखी दमयन्ती कामदेव को उपालम्भ दे चुकने बाद कह रही है। मुझे विरही के शत्रु चन्द्रादि के प्रति काकुवाक्यों का प्रयोग कर शत्रुभूत (वाम) कामदेव की याचना नहीं करनी चाहिए। यदि मुझे किसी से कुछ माँगना है, तो मैं उदारहृदय (दक्षिण) पवन से ही याचना

क्यों न करूँ ? यह दक्षिण दिशा से बहने वाला पवन मेरे जल जाने के बाद मेरी भस्म को उसी ओर उड़ा दे, जिस दिशा में मेरा प्रिय है। यदि कोई यह शंका करे कि दक्षिण पवन भी तो तेरा शत्रु है, वह तेरी याचना स्वीकार क्यों करेगा, तो शत्रुता केवल मरने तक ही रहती है, शत्रु के मर जाने पर शत्रुता का भी अन्त हो जाता है। अतः पवन मेरा शत्रु होने पर भी आखिर उदारहृदय है, इसलिए मेरे मर जाने पर वैर भूल कर मेरी याचना को पूरी कर देगा।

इसी तरह का भाव हमें जायसी के पद्मावत में मिलता है, जहाँ नागमती पवन से ठीक ऐसी ही प्रार्थना करती है :—

यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाय।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जेहि पाय॥ (नागमती विरहवर्णन)

ऐसा प्रतीत होता है, यह भाव लोकगीतों से लिया गया है। श्रीहर्ष ने इसे इसी परम्परा से पाया होगा, और जायसी को भी यह भाव अपने काल की लोकगीत परम्परा से प्राप्त हुआ है। जायसी को श्रीहर्ष का ऋणी मानने की भूल में फँसना भ्रांति होगी। दोनों का मूलस्रोत एक ही है।

श्रीहर्ष, कालिदास तथा माघ से पूर्णतः प्रभावित हैं। नैषध के ११, १२, १३ तथा १४ वें सर्ग का स्वयंवर वर्णन रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर-वर्णन का प्रभाव है। रघुवंश के स्वयंवर में इतनी दूर की उड़ान नहीं है, जितनी नैषध में, जहाँ नाग, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, देवता सभी सम्मिलित होते हैं। रघुवंश के स्वयंवर-वर्णन का प्रभाव फिर भी कई स्थानों पर स्पष्ट है। रघुवंश में पाण्ड्य को काले रङ्ग का बताया गया है,[1] नैषध में भी पाण्ड्य देश का राजा काले ही रंग का वर्णित है।[2] इतना होते हुए भी रघुवंश का स्वयंवर कथा प्रवाह को गति देता है, वह कथा का एक अङ्ग-सा है, जब कि नैषध का वर्णन मुक्तक राज स्तुतिपाठों का रूप लेकर आता है। मेरा अनुमान है, श्रीहर्ष ने राजा की स्तुति में समय-समय पर पद्य लिखे होंगे, और अनेक समय उन्हें सभा में सुनाया होगा। ऐसे ही कई पद्य १२ वें सर्ग में जोड़ दिये गये हैं। १२ वें सर्ग के शार्दूलविक्रीडित छन्दों के विषय में मेरी यही धारणा है। स्वयंवर का

---

१. इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु॥ (रघु० ६.६५)

२. दासांम दासींगितविद् विदर्भजामिनो ननु स्वामिनि पश्य कौतुकम्।
यदेष सौधाग्रतटे पटाञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रहः॥ (नै० १२.२१)

इतना अधिक विस्तार से वर्णन कथाप्रवाह को बिलकुल रोक देता है। कालिदास का दूसरा प्रभाव १५ वे सर्ग के दमयन्ती शृङ्गारवर्णन मे है, जहाँ विवाह के पूर्व वधू को सजाया जा रहा है। इस पर कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग का प्रभाव है। नैषध का अष्टादश सर्ग स्पष्टतः कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग से प्रभावित है। यहाँ पर यह सङ्केत कर देना अनावश्यक न होगा कि कालिदास तथा श्रीहर्ष के अतिरिक्त केवल एक ही संस्कृत कवि ऐसा है, जिसने इस तरह वरवधू के प्रथम समागम का वर्णन किया है— वह है, कुमारदास। कुमारदास ने जानकी हरण के अष्टम सर्ग मे उसी पद्धति का आश्रय लिया है, जो कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग मे पाई जाती है। खाली वर्णन ही नही, श्रीहर्ष ने इस सर्ग मे कालिदास के रथोद्धता छन्द को भी चुना है। दोनो का आरम्भ भी एक-सा है। कालिदास के कुमारसम्भव का एक और प्रभाव नैषध मे ढूंढा जा सकता है। कुमार के पञ्चम सर्ग का शिवपार्वती-सवाद तथा नैषध के नवम सर्ग का दमयन्तीनल-सवाद तुलना के लिए लिया जा सकता है। दोनो मे शिव और नल अपने को छिपाकर आते हैं, बाद मे प्रकट होते हैं। पर कालिदास का सरस कवि ऐसे स्थलो पर भावोद्रेक की व्यञ्जना करता है, तो श्रीहर्ष का नल प्रिया को रोती देखकर भी पाण्डित्य के बोझ से दबा रहता है, उसमे हृदय की मार्मिक तीव्रता नही मिलती, उसे रोती हुई दमयन्ती ऐसी दिखाई देती है, जैसे वह आँसू की बूंदो को गिराकर 'ससार' को 'ससार' बनाती हुई बिन्दुच्युतक काव्य (प्रहेलिकाकाव्य) की रचना कर रही हो।[1] कालिदास की पार्वती बहुत कम बोलती है, और ब्रह्मचारी की दलीलों का जवाब देने मे उसके पास खास उत्तर यही है—'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते', पर वह दमयन्ती की तरह रोती-चिल्लाती नही। कुमारसंभव के ब्रह्मचारी की दलीलें पार्वती के दिल को छूने के लिए कही गई हैं, पर नैषध का नल साथ मे अपना पाण्डित्य भी प्रदर्शन करता जाता है। कालिदास के कई भावो के प्रति भी श्रीहर्ष ऋणी हैं।[2]

---

१ चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवाच्च।
 समारतारास्ति समारमात्मना ततोऽपि समारममर्थ यतः ॥ (९.१०४)

२. दे०—'यथावनुद्धान्मखुत्तेन मार्गे स्वेनैव पूर्णेन मनोरथेन' (रघु० २.७२)
 मनोरथः सिद्धिमिव क्षणेन रथस्तदीयः पुरमाससाद ॥ (नै० ६.४)

कालिदास के बाद दूसरा प्रभाव जो नैषध में स्पष्टत. दिखाई पड़ता है, माघ का है। प्रथम सर्ग का घोड़े का वर्णन माघ के सेनाप्रयाण वर्णन से प्रभावित होते हुए भी दो कौड़ी का वर्णन है यद्यपि कोरे चमत्कारवादियो को उसमे कल्पना की उडान, हेतूत्प्रेक्षा की दूर की सूझ, और श्रीहर्ष का प्रगाढ पाण्डित्य झलकता दिखाई पडे, तथापि माघ जैसा स्वभावोक्तिपूर्ण वर्णन वहाँ ढूँढने पर भी न मिलेगा। श्रीहर्ष के सूर्योदय (१९ सर्ग) तथा सूर्यास्त (२२ सर्ग) के वर्णनो में माघ से प्रेरणा मिली होगी, पर फिर भी इनका ढङ्ग कुछ दूसरा जान पडता है। नैषध के ये वर्णन पाण्डित्य के बोझ से बहुत लदे हैं, जैसा कि हम आगे श्रीहर्ष के प्रकृतिवर्णन के विषय में संकेत करेंगे। एक और प्रभाव २१ वें सर्ग के दशावतार वर्णन मे दिखाई पडता है, जिसकी प्रेरणा माघ के चतुर्दश सर्ग की भीष्मकृत कृष्णस्तुति मे मिली जान पडती है। माघ और श्रीहर्ष की तुलना मे हम आगे बतायेंगे कि माघ के अन्तस् मे फिर भी कविहृदय छिपा है, पर श्रीहर्ष की काव्योक्तियो को 'सूक्तियाँ' कहना विशेष ठीक होगा।

श्रीहर्ष के समय महाकाव्यो मे एक ओर चरित काव्य, दूसरी ओर चित्र-काव्य का बहुत चलन हो चला था। नैषध को यद्यपि चरितकाव्य नही कहा जा सकता, किन्तु इसके नाम तथा वर्णनशैली से पता चलता है कि नैषध में चरितकाव्य परम्परा का पूरा प्रभाव है। विक्रमांकदेवचरित तथा नवसाहसांक-चरित में भी हम नायक की प्रणयगाथाओंका चित्रण पाते हैं। इसके साथ ही ११, १२, १३ वें सर्ग की राजस्तुतियाँ भी चरितकाव्य परम्परा का ही प्रभाव है। संभवतः श्रीहर्ष का दर्पोन्मत्त पाण्डित्य उनके आश्रय-दाता पर काव्य लिखने मे उनका बाधक बना हो, फिर भी उन्होंने गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, नवसाहसांकचरितचम्पू जैसे चरित-काव्य भी लिखे थे। यह अनुमान भी अनुचित न होगा कि नैषध की रचना में पृथ्वीराज और संयोगिता के प्रणय, और संयोगिता-स्वयंवर की घटना से कवि प्रभावित हुआ हो, और उसने नलदमयन्ती की प्रणय गाथा के बहाने उसी का चित्रण किया हो। श्रीहर्ष पर स्पष्ट रूप में कविराज के 'राघवपाण्डवीय' का भी प्रभाव पडा जान पडता है। वैसे तो श्रीहर्ष 'परीरम्भक्रीडा' (श्लेष) के बडे शौकीन हैं, और काव्य मे स्थान स्थान पर शाब्दी क्रीडा पाई जाती है, किन्तु १३ वें सर्ग की पञ्चनली का श्लिष्टवर्णन निश्चित रूप मे किसी श्लिष्ट महा-

काव्य का प्रभाव है। श्रीहर्ष का एक मात्र लक्ष्य कवियों और पण्डितों के समक्ष एक ऐसी कृति रखना है, जिसमें उस काल में प्रचलित महाकाव्य परम्परा के सभी गुण (? दोष) समाविष्ट हो जायें, और इस कार्य में वे अन्य सभी महाकाव्यों को परास्त कर दें। श्रीहर्ष अपने इस लक्ष्य में पूर्णतः सफल हुए हैं। श्रीहर्ष का महाकाव्य माघोत्तर काल के सूक्तिवादी महाकाव्यों में मूर्धन्य है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। किन्तु श्रीहर्ष को कालिदास, भारवि या माघ की श्रेणी में बिठा देना, सम्भवतः कुछ नवीन आलोचकों को अखर सकता है।

श्रीहर्ष का दार्शनिक ज्ञान

श्रीहर्ष का कवित्व उद्भट पाण्डित्य का घटाटोप लेकर आता है। उनमें मुख्यतः दार्शनिक का पाण्डित्य है, माघ की भाँति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पाण्डित्य नहीं। पर दार्शनिक ज्ञान में श्रीहर्ष माघ से बहुत बढ़ चढ़ कर है। चार्वाक[1], बौद्ध[2], न्याय[3], वैशेषिक[4], सांख्य-योग[5] मीमांसा[6] तथा अद्वैत वेदान्त[7] का प्रकाण्ड पाण्डित्य नैषध से व्यक्त होता है। कवि ने अपनी सूक्तियों में कई अप्रस्तुतविधान तक इस विशाल ज्ञान के क्षेत्र से चुने हैं। प्रत्येक सर्ग में ऐसे अनेकों पद्य मिल जायेंगे, जो कवि के दार्शनिक पाण्डित्य का परिचय देते हैं। पर नैषध का सप्तदश सर्ग, जो नल की इस प्रणय गाथा में कुछ अटपटे ढंग से जोड़ा हुआ लगता है, कवि के दार्शनिक रूप को स्पष्ट रखता है। इस सर्ग में विभिन्न दर्शनों का ज्ञान प्रदर्शित हुआ है। दर्शन के अतिरिक्त पुराणों की विशाल जानकारी भी यहाँ दिखाई पड़ती है।

श्रीहर्ष स्वयं अद्वैतवेदान्ती हैं, यही कारण है; वे अन्य दर्शनों की कई जगह खिल्ली उड़ाते हैं। वैशेषिकों के द्वारा 'तम' नामक दसवें द्रव्य के माने जाने पर वे उन्हें उल्लू कहते हैं, तो बेचारे गौतम को सबसे बड़ा मूर्ख (गोतम, बैल) सिद्ध कर देते हैं, क्योंकि उन्होंने न्याय दर्शन में मोक्ष की स्थिति को सुखदुःखरहित दशा माना है, जो केवल पत्थर जैसी स्थिति मानी जा सकती है।[8] पूर्वपक्ष

---

१. १७.३७-४८, २. ९.७१; ३. ७.३२;
४. २२.३५; ५. २.७८, ४.१८, १६.२४ ६. ५.१३९,
७. २. १, ११. १२९, १३, ३६ आदि।
८. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥ (१७, ७५)

के रूप में उपन्यस्त नास्तिक (चार्वाक) दर्शन का भी कवि को गम्भीर ज्ञान है। कलि के साथियों की दलीलें बड़ी मजेदार हैं, और ठीक वही हैं, जो प्रत्येक तर्कशील व्यक्ति पौराणिकों के सामने उपस्थित किया करता है। कलि के साथी वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था का डटकर खण्डन करते हैं। वे साफ कहते हैं, अनेकों पीढ़ियों से लोगों का एक दूसरी जाति से संसर्ग होता रहा है। किसी व्यक्ति को किसी जाति का तब माना जा सकता है, जब वह यह प्रमाणित कर सके कि सृष्टि के आरम्भ तक उसके पिता-माता और उनके पिता-माता, इस तरह सभी शुद्ध सन्तान रहे हैं, वर्णसंकर नहीं।[1] यही नहीं, वे यहाँ तक कहते हैं कि स्त्री का विश्वास करना बड़ा कठिन है, पता नहीं, वह कब मार्गभ्रष्ट हो जाय, अतः जाति को अदृष्ट मानना कोरा ढोंग जान पड़ता है। वे पुरुषों की निन्दा करते हुए उस पद्धति का भी खण्डन करते हैं, जिसके द्वारा पुरुषों ने अनेकों विवाह करने का स्वाधिकार सुरक्षित रखा है, किन्तु स्त्रियों को इस तरह के अधिकारों से वञ्चित कर दिया है।[2] कलि के साथी अग्निहोत्र, त्रिदण्ड, वेदत्रयी, भस्म आदि की छीछालेदर करते हैं, और यज्ञादि में प्रचलित कई गर्हित प्रथाओं की कटु आलोचना करते हैं।[3] देहात्मवाद की प्रतिष्ठापना करते हुए वे 'कामदेव की आज्ञा' के पालन करने का सन्देश देते हैं, और प्रमाण रूप में पाणिनि महाराज को भी उपस्थित किये बिना नहीं मानते, जिन्होंने 'अपवर्गे तृतीया' इस सूत्र के द्वारा (नास्तिकों के मत से) यह व्यञ्जना कराई है, कि मोक्ष-साधन तो केवल तृतीया प्रकृति (स्त्रीपुरुषभिन्न नपुंसक) के लिए माना गया है।[4]

पर 'समाधि में ब्रह्मप्रमोद' का अनुभव करने वाले अद्वैतवादी पण्डित को सभी दार्शनिक विचार झूठे लगते हैं। हर्ष की बुद्धि भी दमयन्ती की तरह

---

१. शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः।
तदानन्त्यकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का ॥ (१७.४०)

२. ईर्ष्यया रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेऽपि तथा नरमरक्षतः ॥ (१७.४२)

३. दे० १७, ३९, ४६, २०३, २०४.

४. उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥ (१७.७०)

काव्य का प्रभाव है। श्रीहर्ष का एक मात्र लक्ष्य कवियों और पण्डितों के समक्ष एक ऐसी कृति रखना है, जिसमे उस काल मे प्रचलित महाकाव्य परम्परा के सभी गुण (? दोष) समाविष्ट हो जायें, और इस कार्य में वे अन्य सभी महाकाव्यों को परास्त कर दें । श्रीहर्ष अपने इस लक्ष्य मे पूर्णत सफल हुए हैं। श्रीहर्ष का महाकाव्य माघोत्तर काल के सूक्तिवादी महाकाव्यो मे मूर्धन्य है, इस विषय में दो मत नही हो सकते। किन्तु श्रीहर्ष को कालिदास, भारवि या माघ की श्रेणी मे बिठा देना, संभवत. कुछ नवीन आलोचकों को अखर सकता है।

श्रीहर्ष का दार्शनिक ज्ञान

श्रीहर्ष का कवित्व उद्‌भट पाण्डित्य का घटाटोप लेकर आता है। उनमे मुख्यतः दार्शनिक का पाण्डित्य है, माघ की भाँति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पाण्डित्य नही। पर दार्शनिक ज्ञान मे श्रीहर्ष माघ से बहुत बढ चढ कर है। चार्वाक[१], बौद्ध[२], न्याय[३], वैशेषिक[४], साख्य-योग[५] मीमासा[६] तथा अद्वैत वेदान्त[७] का प्रकाण्ड पाण्डित्य नैषध से व्यक्त होता है। कवि ने अपनी सूक्तियो मे कई अप्रस्तुतविधान तक इस विशाल ज्ञान के क्षेत्र से चुने हैं। प्रत्येक सर्ग मे ऐसे अनेको पद्य मिल जायँगे, जो कवि के दार्शनिक पाण्डित्य का परिचय देते हैं। पर नैषध का सप्तदश सर्ग, जो नल की इस प्रणय गाथा में कुछ अटपटे ढग से जोड़ा हुआ लगता है, कवि के दार्शनिक रूप को स्पष्ट रखता है। इस सर्ग मे विभिन्न दर्शनो का ज्ञान प्रदर्शित हुआ है। दर्शन के अतिरिक्त पुराणो की विशाल जानकारी भी यहाँ दिखाई पड़ती है।

श्रीहर्ष स्वय अद्वैतवेदान्ती हैं, यही कारण है; वे अन्य दर्शनों की कई जगह खिल्ली उड़ाते हैं। वैशेषिको के द्वारा 'तम' नामक दसवें द्रव्य के माने जाने पर वे उन्हे उल्लू कहते हैं, तो बेचारे गौतम को सबसे बड़ा मूर्ख (गोतम, बैल) सिद्ध कर देते हैं, क्योंकि उन्होंने न्याय दर्शन मे मोक्ष की स्थिति को सुखदुःखरहित दशा माना है, जो केवल पत्थर जैसी स्थिति मानी जा सकती है।[८] पूर्वपक्ष

---

१. १७.३७–४८; २. ९.७१; ३. २.३२;
४. २२.३५; ५. ७ ७८, ४.१८, १६.२४ ६. ५.१३५.
७ २. १, ११. १२९, १३. ३६ आदि।
८. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥ (१७. ७५)

के रूप में उपन्यस्त नास्तिक (चार्वाक) दर्शन का भी कवि को गम्भीर ज्ञान है। कलि के साथियो की दलीलें बड़ी मजेदार हैं, और ठीक वही हैं, जो प्रत्येक तर्कशील व्यक्ति पौराणिको के सामने उपस्थित किया करता है। कलि के साथी वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था का डटकर खण्डन करते हैं। वे साफ कहते हैं, अनेको पीढियो से लोगों का एक दूसरी जाति से संसर्ग होता रहा है। किसी व्यक्ति को किसी जाति का तब माना जा सकता है, जब वह यह प्रमाणित कर सके कि सृष्टि के आरम्भ तक उसके पिता-माता और उनके पिता-माता, इस तरह सभी शुद्ध सन्तान रहे हैं, वर्णसंकर नही।[1] यही नही, वे यहाँ तक कहते हैं कि स्त्री का विश्वास करना बडा कठिन है, पता नही, वह कब मार्गभ्रष्ट हो जाय, अतः जाति को अदृष्ट मानना कोरा ढोंग जान पडता है। वे पुरुषो की निन्दा करते हुए उस पद्धति का भी खण्डन करते है, जिसके द्वारा पुरुषो ने अनेको विवाह करने का स्वाधिकार सुरक्षित रखा है, किन्तु स्त्रियो को इस तरह के अधिकारो से वञ्चित कर दिया है।[2] कलि के साथी अग्निहोत्र, त्रिदण्ड, वेदत्रयी, भस्म आदि की छीछालेदर करते हैं, और यज्ञादि मे प्रचलित कई गर्हित प्रथाओ की कटु आलोचना करते हैं।[3] देहात्मवाद की प्रतिष्ठापना करते हुए वे 'कामदेव की आज्ञा' के पालन करने का सन्देश देते हैं, और प्रमाण रूप मे पाणिनि महाराज को भी उपस्थित किये बिना नहीं मानते, जिन्होने 'अपवर्गे तृतीया' इस सूत्र के द्वारा (नास्तिको के मत से) यह व्यञ्जना कराई है, कि मोक्ष-साधन तो केवल तृतीया प्रकृति (स्त्रीपुरुषभिन्न नपुंसक) के लिए माना गया है।[4]

पर 'समाधि मे ब्रह्मप्रमोद' का अनुभव करने वाले अद्वैतवादी पण्डित को सभी दार्शनिक विचार झूठे लगते हैं। हर्ष की बुद्धि भी दमयन्ती की तरह

---

१. शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः।
तदानन्त्यकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का॥ (१७.४०)

२. ईर्ष्यया रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेऽपि तथा नरमरक्षतः॥ (१७.४२)

३. दे० १७, ३९, ४६, २०३, २०४,

४. उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥ (१७.७०)

'उपनिषदुपमा है, जो पञ्चमहाभूत' दिक्, काल आदि के समान अनेकों तुच्छ देवताओं, राजाओं आदि को छोड़कर केवल नल के मनोवागगोचर 'पुरुष' (ब्रह्म) की ओर ही अग्रसर होती है।[1] श्रीहर्ष अन्य सभी दार्शनिक विकल्पों को भ्रम या अज्ञान का क्षेत्र समझते हैं। पारमार्थिक ज्ञान को वे चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त मानते हैं। साधारण लौकिक व्यक्तियों को वे भ्रान्त दिशा का आश्रय लेता समझते हैं, जो चतुष्कोटिविनिर्मुक्त अद्वैत ब्रह्मतत्त्व के होते हुए भी अन्य तत्त्वों की ओर उन्मुख होते हैं। दमयन्ती अपने सामने पाँच नलों को देख रही है। उनमे चार नल नकली हैं, पाँचवां असली। दमयन्ती उन्हें देखकर किसी निश्चय पर नही पहुँच पाती। वह असली नल को नही पहचान पाती है। आरम्भ के चार नकली नल उन चतुष्कोटिगत प्रतिभासिक तत्त्वों की तरह है, जो पञ्चमकोटि मे स्थित (चतुष्कोटिविनिर्मुक्त) नल (ब्रह्म) तक दमयन्ती को ठीक उसी तरह नही पहुँचने देते, जैसे ससार मे सत्, असत्, सदसत् या सदसद्विलक्षण, इन चार तरह के दार्शनिक मन्तव्यो को लेकर चलने वाला जन सामान्य या भ्रान्त दार्शनिक उस अद्वैत तत्त्व तक नही पहुँच पाता।

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानामद्वैततत्त्व इव सत्यपरेऽपि लोक.॥(१३ ३६)

श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा

कालिदासोत्तर काल के कवियो का कलावादी दृष्टिकोण दूसरी कोटि का है, इसका सकेत हम कर आये है। ये लोग चमत्कारवादी या कलावादी हैं, कालिदास की तरह रसवादी नही। यह चमत्कारवाद इतना अधिक बढता गया कि काव्य भी 'सूक्ति' मात्र रह गया और कभी-कभी तर्कशास्त्र या दर्शन की पक्तियों की तरह 'ग्रन्थग्रन्थि' से जटिल होने लगा। श्रीहर्ष काव्य को 'ग्रन्थग्रन्थि' प्रदर्शन का साधन मानते हैं। श्रीहर्ष ने अपना काव्य कोरे रसिक सहृदयो के लिए न लिख कर, पण्डितो के लिए लिखा है। वे इस बात की पर्वाह भी नही करते कि रसिक सहृदय उनके काव्य को भाव-पक्ष से शून्य

१. सानन्नानाप्यनेजः सखनि खलमरत्पार्थिवान् दिष्टभाजः।
चित्तेनाद्राशुपस्तान् सममममगुणान्मुंचती गूढभावा।
पारेवाग्वर्निरूप पुरुषमनुचिदम्भोधिमेकं शुभागी
निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूयः॥ (२१. ११९)

बतायें। उन्होंने तो इन लोगों को अप्रौढबुद्धि वाले बालक कहा है, जिनके हृदय में श्रीहर्ष की रमणीय कविता-कामिनी का लावण्य कोई आनन्द नहीं पैदा कर सकता। पर उन्हें विश्वास है कि उनकी कविता-कामिनी प्रौढ़ 'सुधी'-युवकों के दिल को (दिल को नहीं, तो कम से कम दिमाग को तो जरूर ही) गुदगुदाने में पूर्णतः सक्षम है। फिर अरसज्ञ मूर्ख बालक उनकी कविता की कद्र न करें, तो उन्हें चिन्ता क्यों ?[1] यही कारण है कि श्रीहर्ष की कविता-कामिनी के सौन्दर्य की प्रशंसा करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए बालक को पहले युवा होना पड़ेगा, सम्भवतः कुछ दर्शनशास्त्र का अध्ययन करना भी श्रीहर्ष जरूरी समझें। नैषध की रमणीयता का आस्वाद उसी व्यक्ति को हो सकता है, जो श्रद्धा के साथ गुरुचरणों में बैठकर इस ग्रन्थ की जटिल गाँठों को ढीली करवा ले, जिन्हें कवि ने स्थान-स्थान पर काव्य में बड़े प्रयत्न और कुशलता से डाल दिया है। श्रीहर्ष का यह काव्य स्वयं बैठकर काव्य का आनन्द प्राप्त करने की इच्छा वाले भावुक सहृदय के लिए नहीं। वे ऐसे व्यक्ति को पहले ही चेतावनी दे देते हैं कि अपने आपको विद्वान समझने वाला (प्राज्ञंमन्यमना) दुष्ट मूर्ख इस काव्य के साथ जबर्दस्ती खिलवाड़ करने की कोशिश न करे, वह इन गाँठों को न सुलझा पायेगा, और यदि वह इन्हें सुलझाकर काव्य तरङ्गों में अवगाहन करने का आनन्द प्राप्त करना चाहता है, तो गुरु के चरणों में बैठकर इसका अध्ययन करे।[2] सच है, नैषध काव्य पढ़कर रसास्वाद प्राप्त करने के बजाय, शास्त्र ग्रन्थों की तरह गुरुमुख से समझने की वस्तु है। सम्भवतः नैषध की टीकाओं के अभाव में—विशेषतः नारायणी टीका के बिना, काव्य को समझकर इसकी रसतरङ्गों में डुबकी लगाने वाले दो चार ही विद्वान मिल पाते। नारायण ने इन गाँठों को सुलझाकर काव्य को बोधगम्य बना दिया है, पर नारायण की टीका में स्वयं कई ग्रन्थियाँ डाल दी गई हैं, जो श्रीहर्ष जैसी जटिल न हों, पर उन्हें खोलना जरूरी है, और इस तरह नैषध 'प्राज्ञंमन्यमना

१. यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः॥
(२२. १५०)

२. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥ (२२. १५२)

पठिती' की दुष्टता का खिलवाड़ फिर भी नहीं रह पाता। नैषध के यशस्वी पण्डित (कवि) के काव्य संबंधी सिद्धान्त को लेकर चलने पर पता चलता है कि श्रीहर्ष अपने उद्देश्य मे पूर्णत: सफल हुए हैं, चाहे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने कई स्थानो पर काव्य के भाव पक्ष को कुचल दिया हो। यही कारण है, श्रीहर्ष की कविता के विषय में आलोचको में सदा दो दल बने रहे हैं, कुछ विद्वान् उन्हे भारवि तथा माघ से भी बडा मानते है,[1] और कुछ उन्हे प्रथम कोटि के कवियो मे भी स्थान देना पसन्द नही करेंगे।[2] पर श्रीहर्ष के विरोधी भी उनके पाण्डित्य-प्रदर्शन, उनकी सूक्तियों और दूर की कौडियो, उनकी कविता-दमयन्तिका के ललित पदविन्यास की दाद दिये बिना नही रहते।

श्रीहर्ष मूलत. शृङ्गार-कला के कवि हैं, भारवि और माघ से भी दो कदम बढकर। दर्शनो के ज्ञान की भांति, वात्स्यायन का भी प्रगाढ अध्ययन करने के बाद कवि काव्यप्रणयन मे प्रविष्ट हुआ जान पडता है, जिसके प्रमाण अठारहवें तथा बीसवे सर्ग के रतिकेलि वर्णनो के अतिरिक्त कई स्थानो पर अप्रस्तुत रूप मे प्रयुक्त विलासी चित्र है। दमयन्ती का सप्तम सर्ग का नखशिखवर्णन अत्यधिक विलासमय है, और कई स्थानों पर मर्यादा का उल्लंघन कर देता है। यही नहीं, जहाँ कही कवि को मौका मिलता है, वह रतिविशारदता व्यक्त किये बिना नही मानता।[3] सोलहवें सर्ग के ज्यौनार-वर्णन मे बारयात्रिकों के साथ किए गए हँसी-मजाक मे कवि आवश्यकता से अधिक अश्लील हो गया है, जो सहृदय पाठकों को खटकता है।[4] ज्यौनार के समय बारयात्रिकों तथा परिवेषिकाओं की कई हरकतें बडी भद्दी मालूम देती हैं। ये चित्र श्रीहर्ष जैसे वेदान्ती की घोर विलासिता का पर्दाफाश किये बिना नही रहते, और उस काल के समाज के चारित्रिक अधःपतन का चित्र देने मे पूर्णत. समर्थ है, चाहे ये सब श्रीहर्ष के अपने ही दिमाग की खुराफात हों।[5]

---

१. तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ॥

२. दे०—Keith : History of Sanskrit Literature P.140. और Dasgupta : History of Sanskrit Literature P. 330.

३. दे० १६. १५।

४. दे० १६. ४९-५०।

५. घृतप्लुते भोजनभाजने पुरः स्फुरत्पुरंध्रिप्रतिबिम्बिताङ्गतेः ।
युवा निधायोरसि लड्डुकद्वयं नखैर्लिलेखाथ ममर्द निर्दयम् ॥ (१६. १०३)

श्रीहर्ष मे शृङ्गार के संयोग तथा विप्रयोग दोनों पक्षों का चित्र मिलता है। प्रथम तथा द्वितीय सर्ग में दमयन्ती और नल के पूर्व राग का वर्णन है। इसी के अन्तर्गत नल तथा दमयन्ती की विप्रलम्भ दशा का भी वर्णन मिलता है। श्रीहर्ष का विप्रलम्भ शृङ्गार हृदय को नहीं छू पाता। दमयन्ती के विरह वर्णन की चतुर्थ सर्ग वाली विरहोक्तियाँ ऊहोक्तियाँ दिखाई पड़ती है, जिनमे कवि ने कल्पना का समावेश अधिक किया है। श्रीहर्ष के शृङ्गारवर्णन के नमूने के रूप मे निम्नलिखित दो तीन पद्य दे देना पर्याप्त होगा।

तां मियोऽभिदधतीं सखीं प्रियस्यात्मनश्च स निशाविचेष्टितम्।
पार्श्वगः सुरवरात्तिरोधां दधदृश्यतां श्रुतकथो हसन् गतः॥ (१८. ६८)

दमयन्ती किसी सखी से नल के और अपने प्रमालाप की बातें कह रही है। नल इन्द्र से सीखी छिपने की विद्या का प्रयोग कर ये सारी बातें सुन लेता है, फिर सारी बातें सुनकर प्रकट हो जाता है, और हँसता हुआ दमयन्ती को दिखाई पड़ता है।

विषमो मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयो मयोहितः।
खग कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा॥ (२. ५७)

नल, दमयन्ती के विरह से सन्तप्त अपनी दशा का वर्णन कर रहा है। हे हंस! दमयन्ती के सौन्दर्य का श्रवण करने के बाद से ही यमराज की पत्नी-दिशा (दक्षिण दिशा) से बहकर आने वाला पवन, उसके विरह की अग्नि के ईंधन से समिद्ध मुझे अत्यधिक असह्य लगा। मैंने ऐसा अनुमान किया कि वह मलय पर्वत पर रहने वाले साँपो की जहरीली फुफकार को लेकर बहता आ रहा है। पहले तो वह पवन साँपो की जहरीली फूत्कार के साथ है, दूसरे यमराज से सम्बद्ध है, इसलिए दक्षिण दिशा से बहता हुआ सुगन्धित पवन मुझे अत्यधिक सन्तापदायक प्रतीत होता है, जैसे वह यमराज का भेजा हुआ मेरे प्राण लेने आ रहा है।

स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम्।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम्॥ (४. २९)

कामदेव रूपी अग्नि के द्वारा सन्तप्त दमयन्ती बार-बार सरस (गीले) कमल को शरीर से इसलिए लगाना चाहती थी कि वह मदनताप को शान्त कर सके, किन्तु इसके पहले कि वह कमल दमयन्ती के अङ्गस्पर्श को प्राप्त करे

बीच में ही उसके निश्वासजनित तप्त वायु के द्वारा मथकर पापड सा हो जाता था, और वह उसे फेंक देती थी। इसमें दमयन्ती के विरहताप की अधिकता व्यञ्जित की गई है। यद्यपि कल्पना बड़ी अनूठी है, पर दमयन्ती के विरह की भावना को व्यञ्जित करने में सफल नहीं कही जा सकती। उक्ति में ऊहाप्रणाली का प्रयोग पाया जाता है। हिन्दी के कवि बिहारी ने भी एक स्थान पर नायिका के विरहताप से शीतलता पहुँचाने के लिए औंधाये गुलाब-जल के बीच में ही भाप बनकर उड़ जाने का चित्र उपस्थित किया है, जो इस चित्र की तुलना में रखा जा सकता है।

श्रीहर्ष के काव्य में विप्रयोग शृङ्गार के अनेकों स्थल हैं, पर सभी अप्रस्तुत विधान से इतने लद गये हैं कि विप्रयोग की भावना का रत्तीमात्र भी अनुभव सहृदय भावुक को नहीं हो पाता। 'दमयन्ती आठ-आठ आँसू रोती रहे, या चन्द्रमा, कामदेव या राहु को फटकारती-पुकारती रहे', रसिक भावुक के हृदय पर कोई असर नहीं होता। ऐसे स्थलों पर सच्चा कविहृदय सदा श्लेष, यमक या दूरारूढ कल्पनाओं से बचता है, पर श्रीहर्ष का पाण्डित्य इन्हीं को अपनी सफलता के हथकंडे समझता है। नीचे के पद्य में बड़ी अनूठी कल्पना है, जिसका आधार श्लेष है, किन्तु दमयन्ती के विरह की सरस व्यञ्जना दिल को नहीं छू पाती।

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।

मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु प्रविश्य हृदि स्थितः ॥ (४. ११)

किसी के पैर में यदि छोटा-सा तिनका भी घुस जाय, तो वह कितना दर्द करता है? कोमल शरीर वाली दमयन्ती के हृदय में तो पहाड़ (राजा—नल) घुस गया, तो उसे व्यथा क्यों न होगी? यहाँ सारा चमत्कार 'अवनिभृत्' के द्वयर्थ प्रयोग तक ही रह गया है, काव्य का भावपक्ष दिखाई भी नहीं पड़ता।

शृङ्गार के अन्तर्गत श्रीहर्ष का विशेष ध्यान नखशिखवर्णन पर जान पड़ता है। काव्य में दमयन्ती के नखशिखवर्णन का पिष्टपेषण देखकर कभी-कभी तो पाठक झुंझला जाता है। यद्यपि श्रीहर्ष को इस बात का घमण्ड है कि उन्होंने किसी भी नये अर्थ को नहीं छोड़ा है, (गुणामत्य-जानां नवार्थघटनाम्), और यह डींग किसी हद तक ठीक भी है, पर दमयन्ती का नखशिखवर्णन इतिवृत्त तथा भाव, दोनों की दृष्टि से पुनरुक्तिदोष से रहित नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि कवि अपने से प्राचीन कवियों के

द्वारा व्यवहृत भाव को पाण्डित्य और कल्पना के साँचे में ढाल कर नये अलङ्कार की छाया देकर, अनूठापन दे देता है। सभी कवियों ने नायिका के स्तनों को घड़े की उपमा दी है, पर श्रीहर्ष उनमें अपने (निमित्त) कारण दण्ड का यह गुण भी संक्रान्त कर देते हैं, कि वह देखने वालों की आँखों को चाक की तरह घुमा दे[1], या विरहताप में रखकर कामदेवरूपी कुम्हार उन्हें पकाने की योजना कर रहा हो। दमयन्ती का नखशिखवर्णन, दूसरे, सातवें, दसवें, पन्द्रहवें, और बाईसवें सर्ग में मिलता है। इसमें भी सातवें सर्ग का नखशिखवर्णन अत्यधिक विस्तृत है। इसमें कवि ने दमयन्ती के अङ्गों के उपमान परम्परागत कविसमयोक्तियों, शास्त्रों, पुराणों और लोकव्यवहार की घटनाओं तक से चुने हैं[2]। दमयन्ती के सौन्दर्य को देखकर मुनि भी मोहित हो सकते हैं। उसके स्तनों पर भृगु ऋषि (अतटप्रपात) निवास करते हैं, तो उसका मुख नारद को भी प्रसन्न करने वाला है (नाना दाँतों से सुशोभित है) और उसका उरुयुगल महाभारत की रचना कर सकने में समर्थ वेदव्यास के द्वारा आश्रित है (उसके ऊरु सुन्दर (महाभ) तथा विशाल (रतसमर्थयोग्य) हैं)।[3] दमयन्ती के इस नखशिखवर्णन में कोरा श्लेष का ही चमत्कार है। नखशिखवर्णन के लोकव्यवहारमूलक उपमान सुन्दर बन पड़े हैं। चन्द्रमा दमयन्ती के मुख से तुच्छ है, इसकी व्यञ्जना कराने में श्रीहर्ष की निम्नलिखित कल्पना निश्चित रूप से सुन्दर है। पर यहाँ भी चमत्कार सूक्ति के अनूठेपन का ही है :—

> धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डुरं विधिः ।
> भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननतनीराजनवर्धमानकम् ॥ (२.२६)

ऐसा मालूम होता है कि ब्रह्मा ने इस चन्द्रमा को दमयन्ती के मुख की आरती करने के लिए एक शराव बना रखा है, जिसे पीले रङ्ग से लीप कर उसमें कलङ्करूपी गोमय को रखकर वे दमयन्ती के मुख की आरती करने के लिए घुमा रहे हैं।

शृङ्गार के अतिरिक्त नैषध में वीर, करुण तथा हास्य के स्थल भी मिल जाते हैं। वीर रस के वर्णन ११, १२ तथा १३ वें सर्ग में राजाओं के वर्णनों में देखे जा सकते हैं। श्रीहर्ष का वीररस दरबारी कवियों का 'टिपिकल' वीर है,

---

१. नैषध २.३२. २. वही ४.७. ३. वही ७.९६.

जिसमे शब्दच्छटा और अतिशयोक्ति का आडम्बर दिखाई पडेगा। एक उदाहरण लीजिये, जिसमे ऋतुपर्ण की वीरता के साथ-साथ उसके वैरी राजाओं के शृङ्गार का चित्र है।

> द्वेष्याकीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्यास्य यद्दोर्द्वयी-
> कीर्तिश्रेणिमयी समागममगाद् गङ्गा रणप्राङ्गणे।
> तत्तस्मिन्विनिमज्ज्य बाहुजभटैरारभि रम्भापरी-
> रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः ॥ (१२.१२)

युद्ध-स्थल मे राजा ऋतुपर्ण के बाहुदण्ड की वीरता से उत्पन्न कीर्ति रूपिणी गङ्गा, शत्रुओ की अकीर्ति रूपिणी यमुना के साथ समागम को प्राप्त हुई। इस राजा के भुजदण्डो की वीरता के कारण शत्रु पराजित हो गये। इसकी कीर्ति हुई, उनकी अकीर्ति। कीर्ति सफेद गङ्गा है, अकीर्ति काली यमुना। दोनो के सगम के कारण रणस्थल प्रयाग बन बैठा। रणस्थल के उस प्रयाग मे स्नान कर (मज्जन कर),—मारे जाकर—कई क्षत्रिय योद्धाओ ने स्वर्ग मे जाकर नन्दन वन मे रम्भा नामक अप्सरा के साथ परीरम्भादि (आश्लेषादि) क्रीडा का आनन्द प्राप्त करने मे आसक्ति प्रारम्भ की। प्रयाग मे स्नान करने पर व्यक्ति पुण्यात्मा होने के कारण स्वर्ग को प्राप्त करता है, क्षत्रिय भी युद्ध मे मरकर स्वर्ग मे अप्सरादि का उपभोग करते हैं। इस पद्य का प्रस्तुत विषय ऋतुपर्ण की वीरता है, जिसके सचारी के रूप मे 'बाहुजभटो' (क्षत्रियवीरो) की नन्दनवनगत क्रीडा का शृङ्गारी चित्र प्रयुक्त हुआ है।

हास्य रस के कुछ उदाहरण सोलहवें सर्ग के वारयात्रिकोपहास मे मिल सकते है, तो कुछ सतरहवें सर्ग की कलि की उक्तियो मे। करुण का एक सरस स्थल नैषध के प्रथम सर्ग मे मिलता है। नल के द्वारा पकडे जाने पर हस का विलाप नि:सन्देह मार्मिक है, जहाँ हस अपनी माता व प्रिया को याद कर रोता है :—

> मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते।
> विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तव क्षणः ॥ (१.१३७)

हे प्रिये, मैं उस क्षण का अनुमान भी नही कर सकता, जब दूसरे हसो को पास आया देखकर तुम मेरे लिए उनसे यह पूछोगी कि 'मेरा वह प्रिय कितना दूर है, जो मेरे लिए सन्देश भेजने तथा मृणाल लाने मे बड़ा सुस्त जान पड़ता

हैं,' और इस प्रश्न का उत्तर वे कुछ न देकर केवल रोने लग जायँगे। पता नहीं, उन्हें रोते देखकर तुम्हें उस समय कितनी असह्य वेदना होगी ?

प्रकृति-वर्णन में श्रीहर्ष का प्रेम खास तौर पर अप्रस्तुत विधान की ओर ही है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे, श्रीहर्ष के अप्रस्तुत विधान या तो शास्त्र से लिये होते हैं, या शृङ्गारी जीवन के विलासमय चित्रों से, या फिर लोक-व्यवहार से। श्रीहर्ष की प्रकृति सयोग या विप्रयोग की उद्दीपनगत प्रकृति है। प्रथमसर्ग का उपवन-वर्णन नल को सन्ताप देता है, तो चतुर्थ सर्ग का प्रकृतिवर्णन दमयन्ती को। उन्नीसवें और बाईसवें सर्ग के प्रकृति-वर्णन सयोग के उद्दीपन रूप में आते हैं। उन्नीसवें सर्ग का प्रभातवर्णन माघ के प्रभातवर्णन के आगे सुन्दर नहीं लगता। अस्त होते तारों और सिमटती चन्द्रकिरणों के लिए कवि ऋषियों के द्वारा वेदपाठ के प्रणव के लिए चुने अनुस्वार, या उदात्त स्वर की खडी लकीरों की कल्पना करता है,[१] जो साधारण बुद्धि में एकदम नहीं आ पाती। पलाश के काले वृन्त वाले लाल फूल को नल ऐसा समझता है, जैसे वह कामदेव का अर्धचन्द्राकार वाण है, जिसने वियोगियों का मास खाया है, और उनके काल-खण्ड का मास अभी भी उसके वृन्त मे साथ लगा है।[२] उसे बेल का पका फल 'वारनारीकुचसंचितोपम' दिखाई देता है[३], तो वह दाडिमी को कभी वियोगिनी के रूप में देखता है, कभी उत्कृष्ट (विशिष्ट) योगिनी के रूप में।[४] वियोगी नल को चम्पे की कलियाँ कामदेव की बलिदीपिकाएँ दिखाई पड़ती हैं,[५] तो रसाल का सरस पेड कलिका की अंगुलि से तर्जना कर भ्रमरों के हुंकार से नल को धमकाता नजर आता है।[६] साराश यह कि श्रीहर्ष में एक भी प्रकृति-वर्णन ऐसा नहीं कहा जा सकता, जो प्रकृति के बिम्बचित्र को उपस्थित कर सके। तड़ाग के वर्णन में कवि सतर्कता बरतता, तो सुन्दर चित्र दे सकता था, पर श्रीहर्ष तो उसे समुद्र से भी बढकर बताने की धुन में थे। फलतः चौदहों रत्नों को वहाँ ला खडा किया है, और एक ही नहीं—सैकड़ों ऐरावत, उच्चैःश्रवा, लक्ष्मी, अप्सराएँ उसमें छिपी बताकर उसे नल की वाटिका में इसलिए ला दुबकाया है, कि कहीं देवता फिर उसका मन्थन न कर डालें।[७]

---

१. नैषध १८. ७, २. १. ८४, ३. १. ९४, ४. १. ८३, ५. १. ८६, ६. १. ८९, ७. दे० नैषध १. १०७-११६।

इतना होने पर भी कुछ प्रकृतिवर्णन सुन्दर बन पड़े हैं, पर उनका सौन्दर्य समासोक्ति अलङ्कार की व्यञ्जना पर आधृत जान पड़ता है।[1]

अप्रस्तुत-विधान

श्रीहर्ष में माघ की रही सही स्वभावोक्तिप्रियता भी समाप्त हो गई है। अप्रस्तुतविधान का श्रीहर्ष के पास निःसन्देह अक्षय भाण्डार है, वे कल्पना के उत्कृष्ट कलाकार हैं। श्रीहर्ष की ये कल्पनाएँ उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, अपह्नुति जैसे अत्यधिक चमत्कारपूर्ण अलङ्कारों का रूप लेकर आती हैं, जिनके साथ उपमा, रूपक आदि का भी समावेश किया जाता है। उनकी 'परोरम्भक्रीडा' (श्लेष) भी इन कल्पनाओं को अनुष्ठापन देने में सहायता करती है। श्रीहर्ष के अप्रस्तुत-विधान को हम निम्न कोटियों में बाँटते हैं,—शास्त्रीय कल्पनाएँ,[2] शृङ्गारी कल्पनाएँ,[3] कविसमयोक्तियों या परम्परागत अप्रस्तुतों का नयापन लोकव्यवहारगत कल्पनाएँ। इतने-से छोटे निबन्ध में श्रीहर्ष के अप्रस्तुतविधान पर कुछ कहना बड़ा कठिन है। श्रीहर्ष के अप्रस्तुत-विधान पर एक स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखा जा सकता है, और यही वह गुण है, जिसके कारण सूक्तिवादी श्रीहर्ष संस्कृत कवियों की प्रथम कोटि में माने जाते रहे हैं। श्रीहर्ष के अप्रस्तुत निःसन्देह कवि की अनूठी सूझ का संकेत करते हैं।

कवि के कई पद्य साधारण पाठक के लिए जटिल हो जाते हैं, क्योंकि अप्रस्तुतों का चयन दर्शन, व्याकरण, कामशास्त्र आदि से किया गया रहता है। घोड़े के पैरों से उड़ती धूल के कण ऐसे हैं, जैसे घोड़े के पास मन तेज़ी की शिक्षा प्राप्त करने आये हों, और जब तक नैयायिकों के 'अणुपरिमाण मनः' का पता न हो, यह कल्पना समझ में न आयगी कि तेज़ी में घोड़ा मन से भी बढ़ कर है, वह उनका गुरु बन सकता है। नल को दहेज़ में मिले रथ को पुष्पक से भी विशिष्ट सिद्ध करने, तथा दमयन्ती के विरहजनित आँसू को देखकर सखियों के द्वारा नल के विरहताप का अनुमान कर लेने के वर्णन के साथ न्याय के पञ्चावयव वाक्य को परार्थानुमान की प्रणाली निःसन्देह कोरा पाण्डित्य-प्रदर्शन जान पड़ती है। इसी तरह नल का रूप धारण कर आये हुए इन्द्र को

---

१. जैसे :—पुरा हठाक्षिप्ततुषारपाण्डुरच्छदावृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं समदुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥ (१, ९७)

२. १, ५९। ३. ४, १८, १६, २४

व्याकरण के नियमों के विरुद्ध स्थानिवद्भाव का दुष्ट प्रयोग करने की कल्पना भी अत्यधिक जटिल है।[1] ऐसी अनको कल्पनाएँ नैषध में स्थान स्थान पर मिलकर गाँठें डालती रहती हैं। यद्यपि इस परम्परा के बीज कालिदास में भी ढूँढे जा सकते हैं। कालिदास ने भी कई शास्त्रीय अप्रस्तुतविधानों का प्रयोग किया है (जैसे, धातोः स्थानमिवादेश सुग्रीव स न्यवेशयत् रघु० १२ सर्ग), तथापि इसका चलन माघ में अधिक पाया जाता है, और नैषध में वह प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ गई है। दर्शन और व्याकरण ही नहीं, साहित्यशास्त्र तथा नाट्य-शास्त्र से भी उपमान चुने गये हैं।[2] पाण्डित्य प्रदर्शन की दृष्टि से ये प्रयोग कुछ भी हों, काव्य की दृष्टि से दोष ही कहे जायेंगे। अलङ्कार्य की भावानुभूति कराने में ऐसे अप्रस्तुत कोई सहायता नहीं करते, उलटे काव्य की सौन्दर्यानु-भूति में बाधक होते हैं।

श्रीहर्ष के व अप्रस्तुत जो लोक व्यवहार से लिये गये हैं, सुन्दर बन पड़े हैं। सूर्यास्त के समय ललाई धीरे धीरे हटती जाती है, और आकाश में तारे छिटक जाते हैं, ऐसा मालूम पड़ता है, मूर्ख आकाश ने सोने को बेचकर बदले में कौड़ियाँ ले ली है।[3] आकाश में छिटके तारे ऐसे मालूम होते हैं, जैसे किसी ने अनार के दाने का रस चूस कर बीजों को थूक दिया हो।[4] सूर्य के अस्त होने पर आकाश से चारों ओर अँधेरा गिरने लगा है; जैसे सूर्य के दीपक पर आकाश के सकोरे को काजल बनाने के लिए औंधा रख छोड़ा था, पर काजल इतना घना हो गया कि उसके भार से वह नीचे गिर पड़ा, उसने दीपक (सूर्य) का बुझा दिया है, और दीपक के आसपास सब जगह काजल बिखर पड़ा है।[5] कवि को शृङ्गारी अप्रस्तुत विधान बड़े पसन्द हैं[6]। सोलहवें सर्ग के ज्योनार वर्णन में भोजन-क्रिया की तुलना सुन्दरी नायिका से करते हुए श्री हर्ष ने साङ्गोपाङ्ग रूपक की अलङ्कार-योजना की है।[7] श्रीहर्ष की हेतूत्प्रेक्षाएँ भी सुन्दर बन पड़ी हैं। घोड़े पैरों से धूल इसलिए उड़ाते हैं कि उनकी तेजी के आगे

१. १०. १३६. २. ९. ११८।

३. विक्रीय तं हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित द्यौः ॥ (२२. १३)

४. २२.१४-१५।

५. ऊर्ध्वार्पितन्युब्जकटाहकल्पे यद्व्योम्नि दीपेन दिनाधिपेन।
न्यधायि तद्भूममिलद्गुरुत्वं भूमौ तमःकज्जलमस्खलत्किम्। (२२. ३१)

६. २. ४४, ७४, ७. १६. १०७।

पृथ्वी की यात्रा कुछ भी नही, इसलिए अच्छा हो कि धूल उडकर समुद्र मे गिर पडे, ताकि पानी को सोख कर वहाँ भी स्थल बना दे, जिससे घोडो के लिए यात्रा करने को क्षेत्र रहे।[१] घोडे अपने अगले पैरो को आकाश की ओर उठाते हैं, पर उन्हें सहसा याद आ जाता है, कि हमारे ही साथी किसी हरि ने (घोडे ने, वामनरूप में कृष्ण ने) आकाश को खाली एक पैर से नाप लिया था, इसलिये दो पैर से नापने मे हमारे लिए लज्जा की बात है, और जैसे ऐसा सोचकर वे फिर दोनो अगले पैरो को जमीन पर रख लेते हैं।[२] 'हरि' के श्लिष्ट प्रयोग पर आधृत हेतूत्प्रेक्षा नि सन्देह अनूठी कल्पना है।

श्रीहर्ष श्लेष, यमक तथा अनुप्रास के बडे शौकीन हैं। वे स्वयं अपनी कृति को 'परीरम्भक्रीडाचरणशरणा' (श्लेषक्रीडा से युक्त) मानते हैं। श्रीहर्ष के कई अर्थालङ्कार श्लेष को ही आधार बनाकर आते हैं। तेरहवें सर्ग मे तो कवि ने श्लेष का चमत्कार बताने मे अपनी कलाबाजी का पूरा परिचय दिया है। नल के साथ ही साथ इन्द्रादि देवताओ का श्लिष्ट वर्णन किया गया है। एक पद्य मे एक साथ पाँचों का वर्णन किया गया है, जहाँ पाँच-पाँच प्रस्तुत अर्थ होते है।[३] इन श्लिष्टप्रयोगो मे अधिकतर पद्य इतने जटिल हैं कि टीका के बिना समझ मे आना कठिन है, पर दो तीन पद्य कुछ सरल कोटि के हैं।[४] इन वर्णनों के विषय मे डा० कीथ ने यह शङ्का की है कि दमयन्ती को सस्कृतज्ञा मान लेने पर भी सरस्वती के द्वारा किये गये श्लिष्टवर्णनो को यह बिना टीका की सहायता से कैसे समझ

---

१. १. ६९, २. १. ७०, ३ १३. २४।

४, जैसे :—

लेखा नितबिनि, बलादिसमृद्धराज्यप्राज्योपभोगपिशुना दधते सरागम्।
एतस्य पाणिचरणं तदनेन पत्या सार्धं शचीव हरिणा मुदमुद्वहस्व॥ (१३. ७)

(इन्द्रपक्ष) हे नितंबिनि, बल आदि दैत्यों की राज्यसमृद्धि को न सह सकने वाले देवता इस इन्द्र के हाथों और पैरों को नमस्कारादि के लिए धारण करते हैं। इस इन्द्र को पति बनाकर शची की तरह आनन्द प्राप्त करो।

(नलपक्ष) इस नल के हाथों व पैरों में बल, समृद्ध राज्य, अत्यधिक भोग आदि ऐश्वर्य को व्यक्त करने वाली सामुद्रिक रेखाएँ हैं। इसका वरण कर इसके साथ उसी तरह आनन्द करो, जैसे शची इन्द्र के साथ आनन्द करती है।

सकी। निश्चित रूप से इस तरह का श्लिष्टवर्णन इतिवृत्त की स्वाभाविकता के साथ नहीं खपता। साथ ही इन वर्णनों में श्लेष के सभङ्ग भेद का आवश्यकता से अधिक प्रयोग पाठक को उबा देता है। श्रीहर्ष के यमक प्रयोग भी इसी तरह जटिल हैं,[1] पर कहीं कहीं स्वतः आए हुए यमक सुन्दर जान पड़ते हैं। (तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशंक वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि ॥ ११.१०७)

पण्डितो ने नैषध के पदलालित्य की बड़ी प्रशंसा की है— 'नैषधे पदलालित्यम्'। निःसन्देह श्रीहर्ष में अनुप्रास का चमत्कार उत्कृष्ट कोटि का मिलता है। नैषध मे ऐसे पद्य बहुत कम होंगे, जिनमें पदलालित्य न हो। साथ ही श्रीहर्ष में जहाँ शृङ्गारोपयुक्त पदलालित्य मिलता है, वहाँ वीररसोचित पदलालित्य भी बारहवें सर्ग की राजस्तुतियों मे देखा जा सकता है। वैसे सभी सर्गों में पदलालित्य की उत्कृष्टता देखी जा सकती है, फिर भी एकादश सर्ग मे पदलालित्य का अनुपम सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। दो पद्य देना पर्याप्त होगा :—

तत्रावनीन्द्रचयचंदनचंद्रलेपनेपथ्यगन्धवहगन्धवहप्रवाहम्।
आलीभिरापतदनंगशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः॥ (११.५)

'उस स्वयंवर मे आये हुए राजाओ के चन्दन व कपूर के अङ्गराग की सुगन्ध को लेकर बहनेवाले वायु का मार्ग रोककर, कामदेव के बाणों की तरह अनेक पंक्तियों में गिरता हुआ भृङ्गसमूह सुगन्ध का उपभोग कर रहा था।'

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गीसर्वानुवादविधिबोधितलाघवेयाः।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डितत्वम्॥ (११.६)

'कुण्डिनपुरी की प्रासाद-पंक्तियाँ वायु के कारण हिलती हुई ध्वजाओं के द्वारा लोगों को अपनी नृत्यकुशलता का परिचय दे रही थीं। ध्वजाएँ इस तरह हिल रही थी, जैसे सौधपंक्तियाँ स्वयंवर के समय बजाये गए मङ्गल-मृदङ्ग की गम्भीर ध्वनि के अनेक प्रकारों के अनुसार अङ्गादि का सञ्चालन करने की बुद्धि (चतुरता) का प्रदर्शन कर रही हों।'

नैषध के पद्यो मे एक से एक बढ़कर पदलालित्य के उदाहरण देखे जा सकते हैं।[2] श्रीहर्ष के समसामयिकों में इस गुण के लिए जयदेव का नाम लिया जा

१. दे० २.६६, ६७, ७३।

२. संस्कृत पण्डितों में यह पद्य श्रीहर्ष के पदलालित्य के लिए बड़ा प्रसिद्ध है:—
देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्॥
(११. ६६)

सकता है, या फिर बाद के कवियो मे पण्डितराज जगन्नाथ का। हिन्दी कवियो मे तुलसी, बिहारी तथा पद्माकर पदलालित्य के कुशल प्रयोक्ता हैं। तुलसी का पदलालित्य यदि कही देखना हो, तो कवितावली मे मिलेगा। नैषध का पदलालित्य नि.सन्देह दमयन्ती की वाणी की तरह 'श्रृङ्गारभृङ्गारसुधाकर' (२२.५७) है, जो श्रोता के कर्णकूपो को आप्यायित कर देता है। यह विशेषता श्रीहर्ष की कविता मे स्वत सङ्गीत का गुण सक्रान्त कर देती है।

श्रीहर्ष अपनी रीति को वैदर्भी बताते है।[१] पर नैषध मे सर्वत्र वैदर्भी रीति नही मिलती। नैषध के कई पद्य गौडी की गाढबन्धता लेकर आते हैं, तो कई वैदर्भी की सरस कोमलता का प्रदर्शन करते हैं। नैषध के कवि के लिए उसकी रीति कुछ भी हो, हमे उसमे पाञ्चाली के ही लक्षण विशेष दिखाई पडते हैं। नैषध की शैली का पाण्डित्य तथा पदलालित्य एक साथ कवि की दार्शनिकता और विलासिता को व्यक्त करता है। श्रीहर्ष की कविता और काव्यशैली दोनो दमयन्ती की ही भाँति 'श्रृङ्गारसर्गरसिकद्वयणुकोदरी' है। नैषध काव्य के कलापक्ष की कृति है, जहाँ भावपक्ष सर्वथा गौण हो गया है। अलङ्कारप्रदर्शन तथा *पाण्डित्यप्रकाशन की तरह कवि ने छन्दःप्रयोग की कुशलता भी व्यक्त की है।* पूरा एक सर्ग हरिणी छन्द मे है। माघ के खास छन्द १६ हैं, किन्तु नैषध के खास छन्द १९ हैं।

यद्यपि पिछले खेवे के ह्रासकालीन (१२५० ई० के बाद के) काव्यों का *खास आदर्श माघ ही रहा है, तथापि दो-एक ऐसे काव्य भी पाये जाते हैं, जिन* पर श्रीहर्ष की शैली का प्रभाव जान पडता है। अकबर के समय मे एक जैन साधु के द्वारा लिखा गया 'हीरसौभाग्य'[२] महाकाव्य नैषध से प्रभावित जान पडता है। लेखक के वृद्ध प्रपितामह प० भवानीशङ्करजी ने बूँदी के राजाओ पर इसी शैली मे एक महाकाव्य लिखा था, जो अभी अप्रकाशित है।

सस्कृत पण्डितों ने नैषध को महाकाव्यो मे अत्यधिक आदर दिया है। कुछ सीमा तक यह आदर अतिशयोक्तिपूर्ण है। किन्तु नैषध महाकाव्य सर्वथा उपेक्षणीय भी नही है, विशेष कर उस व्यक्ति के लिए जो महाकाव्यों के कृत्रिम शैली

(माघ ही) दे० १. १२, २०. ६६, २. २३, ११. २५, २६, ४१, २२. ७०, १३८, १३९ आदि पद्य।

१. ३. ११६ और १४. ९१

२. यह काव्य काव्यमाला में प्रकाशित हो चुका है।

के चरम परिपाक का गवेषणापूर्ण अध्ययन करना चाहता है, साथ ही भारत के अस्त होते हिन्दू सामन्तवाद के दीपक की बुझती लौ देखना चाहता है। श्रीहर्ष का काव्य एक ओर सूक्तिवादी कोरे चमत्कारमय काव्यों का सच्चा प्रतिनिधि है, दूसरी ओर सामन्तकालीन भारत के विलासी अभिजातवर्ग का सङ्केत देने में पूर्ण समर्थ।

●

नाटककार

भास

महाकाव्य श्रव्यकाव्यों की एक कोटि है, और उनसे दृश्यकाव्य (नाटक) में महत्त्वपूर्ण तात्त्विक अन्तर पाया जाता है। महाकाव्यों मे पठन-श्रवण के द्वारा रसचर्वणा होती है, जब कि दृश्यकाव्य अभिनय के द्वारा सामाजिक मे रसानुभूति उत्पन्न करते हैं। दृश्यकाव्य का रङ्गमञ्च बाहर होता है, वह नाटक से भिन्न वस्तु है, जिसकी सहायता के बिना नाटक की सफलता या असफलता का पूरा पता नही चल सकता। महाकाव्य का रङ्गमञ्च अपने आप में होता है, उसकी सफलता या असफलता का वर्णन शैली पर विशेषतः आधृत होती है। यही कारण है, नाटकों की आलोचना मे हम ठीक उसी कसौटी को लेकर नही चल सकते, जो हमने महाकाव्यों के अध्ययन मे अपनाई है। संस्कृत के साहित्य मे नाटकों (रूपकों) का विशाल समूह दिखाई देता है, पर जब नाटकीय अभिनय की कसौटी पर कसना पड़ता है, तो पता चलता है कि संस्कृत के अधिकाश नाटक रङ्गमञ्च पर सफलतया अभिनीत नहीं हो सकते, और हमें कई नाटकों को *पाठ्य-नाटकों की श्रेणी में रखना पड़ता है। नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का अक्षरशः* पालन करना, पाँच अर्थप्रकृति, पाँच अवस्था, पाँच सन्धि, चौंसठ सन्ध्यङ्ग या अन्य शास्त्रीय शिकञ्जों में कसने से दृश्यकाव्य प्रभावोत्पादक नहीं बन सकता। उसमें प्रभावोत्पादकता तभी सम्भव हो सकती है, जब कवि (नाटककार) ने रङ्गमञ्च को ध्यान मे रखकर नाटक की रचना की हो। कहना न होगा, संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुख काल (६५० — १२५०) के नाटकों मे इस दृष्टि से एक-दो ही नाटक सफल सिद्ध होंगे। अपवादरूप मे हम विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का नाम ले सकते हैं। *संस्कृत साहित्य के विकास काल (१०० ई०–६५० ई०)* में निःसन्देह कुछ सफल नाटक मिल सकते हैं, जैसा कि हम तत्तत् नाटककार की आलोचना मे संकेत करेंगे, और उन नाटककारों की कोटि में सबसे पहले जिनका नाम लिया जा सकता है, वे हैं भास।

संस्कृत नाटकों का उद्भव कब हुआ—यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है, हम इस प्रश्न पर यहाँ संकेत करना आवश्यक नहीं समझते।[1] यहाँ तो इतना कह देना

१. इस विषय पर हमने धनंजय के सावलोक दशरूपक की हिन्दी व्याख्या की भूमिका में विस्तार से प्रकाश डाला है। देखिये—डॉ० व्यास : हिन्दी दशरूपक—(चौखम्बा प्रकाशन)

पर्याप्त होगा कि नाटकों के बीज, विद्वानों ने वेदों तक में ढूंढ निकाले हैं। रामायण और महाभारत में नर्तकों व कुशीलवों का सङ्केत मिलता है, और पातञ्जल महाभाष्य में तो स्पष्ट रूप से 'कंसवध' तथा 'बलिबन्धन' नामक दो नाटकों का उल्लेख किया गया है। कुछ भी हो, ईसा से पूर्व भारत में नाट्यकला पूर्णतः विकसित हो चुकी थी। ईसा की प्रथम शती के अन्तिम दिनों में अश्वघोष ने नाटक लिखे थे। तुर्फान में अश्वघोष के शारिपुत्रप्रकरण, तथा अन्य दो नाटकों के अवशेष मिले हैं। प्रश्न होना सम्भव है, क्या अश्वघोष ही संस्कृत के सर्वप्रथम नाटककार हैं? अश्वघोष के नाटकों के अवशेषों के आधार पर प्राप्त जानकारी से यही निष्कर्ष होता है कि अश्वघोष सर्वप्रथम नाटककार नहीं थे, और संस्कृत के सर्वप्रथम नाटककार के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। कालिदास को अश्वघोष से पूर्व माननेवाला विद्वानों का दल, सम्भवतः अश्वघोष से पहले कालिदास के नाटकों को स्थान देगा, और उससे भी पहले भास को। किन्तु अश्वघोष को हम कालिदास का पश्चाद्भावी नहीं मानते। जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे, भास अश्वघोष के बाद किन्तु कालिदास से पूर्व रहे हैं।

भास का नाम संस्कृत साहित्य में आज से ठीक ४२–४३ वर्ष पूर्व एक समस्या-सा था। कालिदास[1], बाण[2] वाक्पतिराज,[3] राजशेखर,[4] जयदेव[5] आदि कई संस्कृत कवियों ने भास की प्रशंसा की थी, किन्तु भास की कोई रचना साहित्य-जगत् को उपलब्ध न थी। सन् १९१२–१३ के लगभग त० गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम् में भास के नाम से कुछ नाटकों को प्रकाशित किया, जो भास के तेरह नाटकों के नाम से विख्यात हैं। भास के नाम से प्रकाशित इन नाटकों की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के विषय में विद्वानों के तीन दल पाये जाते हैं। प्रथम मत के अनुसार ये नाटक निश्चित रूप से भास के ही हैं। इन नाटकों की प्रक्रिया (Dramatic Technique), भाषा,

---

१. — भास सौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्ध.. किं कृतोऽयं बहुमानः। (माल. पृ. २)

२. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥ (हर्षचरित)

३. वाक्पतिराज ने गउडवहो में भास को 'जलणमित्त' (ज्वलनमित्र) कहा है।

४. भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

५. भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ॥ (प्रसन्नराघवकार जयदेव)

शैली आदि सभी को देखने से पता चलता है कि ये सब एक ही कवि की रचना हैं, तथा कालिदास के पूर्व की जान पडती हैं। इनका रचयिता निश्चित रूप से स्वप्नवासवदत्ता वाला भास ही है। दूसरा दल इन नाटकों को भास की रचना नही मानता। उसके मत से इनका रचयिता या तो 'मत्तविलास-प्रहसन' का रचयिता युवराज महेन्द्रविक्रम था, या 'आश्चर्यचूडामणि' नाटक का रचयिता शीलभद्र। इन लोगों के मत से ये नाटक सातवी, आठवी शती के किसी दाक्षिणात्य कवि की रचनाएँ हैं।[1] प्रो० सिलवाँ लेवी, प्रो० विंतरनित्स, और प्रो० सी० आर० देवधर का यही मत है। एक तीसरा मत और है, जिसके अनुसार उपलब्ध १३ नाटक भास के ही हैं, किन्तु जिस रूप में वे मिले हैं, वह उनका संक्षिप्त (Abridged) रङ्गमञ्चोपयुक्त रूप दिखाई पड़ता है।[2] हमे प्रथम मत ही ठीक प्रतीत होता है। अधिकतर विद्वान् इन नाटकों को भास का ही मानते हैं। इन नाटकों को भास का मानने के प्रमाण निम्नलिखित है :—

(१) ये सभी नाटक "नान्द्यन्ते तत. प्रविशति सूत्रधार.' से आरम्भ होते हैं। जब कि बाद के संस्कृत नाटकों मे—कालिदास में भी—पहले नान्दी पाठ होता है, तब यह वाक्य पाया जाता है। जब बाण भास के नाटकों को 'सूत्रधारकृतारम्भ' कहता है, तो इसी विशेषता का सङ्केत करता है।

---

१. बर्नेट के मतानुसार इन नाटकों की रचना पाण्डय राजा राजसिंह प्रथम (६७५ई०) के समय हुई थी।

दे० Barnett : Bulletin of School of Oriental Studies iii. P. 35, 5.0-21.

२. Dasgupta : History of Sanskrit Literature. Vol. I, P. 107-108

इस मत में भी कई उपमत हैं, कुछ लोगों के मत से सभी नाटक भास के नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं, जो केरल के कवियों या नटों ने मञ्च के उपयुक्त बना लिये थे। अन्य लोगों के मतानुसार 'स्वप्नवासवदत्तम्' तथा 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायणम्' भास के ही नाटकों के संक्षिप्त या परिवर्तित रूप हैं, जब कि 'दरिद्रचारुदत्तम्' शूद्रक के मृच्छकटिक के आरम्भिक चार अङ्कों का संक्षिप्त रूप है। अन्य नाटकों के रचयिता के विषय में इस मत के माननेवाले विद्वान् अनिश्चित हैं।

दे० Thomas : Journal of Royal Asiatic Society 1928 P. 876 F.F.

(२) इन नाटकों में प्रस्तावना को इस पारिभाषिक संज्ञा से व्यवहृत न कर 'स्थापना' कहा गया है।

(३) अन्य संस्कृत नाटकों की तरह 'स्थापना' में नाटक तथा नाटककार के नाम का सङ्केत नहीं मिलता, जो शास्त्रीय (Classical) संस्कृत नाटकों की परम्परा है। अतः ये नाटक इस परम्परा से पूर्व के हैं।

(४) प्रत्येक नाटक का भरतवाक्य प्रायः 'इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः' से या इस भाव के अन्य पद्य से समाप्त होता है।

(५) सभी नाटकों में समान सङ्घटना पाई जाती है, तथा कुछ नाटकों के प्रारम्भिक पद्य में मुद्रालङ्कार[१] पाया जाता है।

(६) इनमें से एक नाटक, स्वप्नवासवदत्तम्, का उल्लेख राजशेखर ने किया है, और उसका वह सङ्केत इस नाटक के इतिवृत्त से मिलता है।

(७) भास के नाटकों के कई उल्लेख या उद्धरण अलङ्कार ग्रन्थों में भी मिलते हैं। वामन ने स्वप्नवा०, प्रतिज्ञायौ०, और चारुदत्त के उदाहरण दिये हैं। भामह ने प्रतिज्ञायौ० की आलोचना करते हुए उससे पङ्क्तियाँ उद्धृत की हैं। दण्डी ने बालचरित तथा चारुदत्त के 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' आदि पद्य को उदाहृत किया है और अभिनवगुप्त ने 'भारती' (नाट्यवेदविवृति) तथा 'लोचन' में स्वप्नवासवदत्तम् का उल्लेख किया है और एक पद्य (लोचन में) उद्धृत भी किया है। राजशेखर ने निश्चित रूप से स्वप्नवासवदत्तम् को भास के नाम से उल्लिखित किया है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं :—

(८) इन नाटकों की संस्कृत शुद्ध शास्त्रीय नहीं है और उनमें कई अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं। उनकी शैली सरल है, तथा कालिदास जैसी स्निग्धता (Polish) लेकर नहीं आती। इन नाटकों की प्राकृत कालिदास की प्राकृत से पुरानी है।

(९) इन नाटकों में भरत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्णतः

---

१. जैसे स्वप्नवासवदत्तम् और प्रतिज्ञायौगन्धरायण के निम्नलिखित पद्य :—
उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम्।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम्॥ स्वप्न० १.१)
पातु वासवदत्ता य महासेनोऽतिवीर्यवान्।
वत्सराजस्य नाम्ना स शक्तियौगन्धरायणः॥ (प्रति० १.१)

निर्वाह नहीं हुआ है। भरत ने जिन दृश्यो को मञ्च पर दिखाने का निषेध किया है, उनमें से कई दृश्य इन नाटको मे दिखाये गये है। इससे यह स्पष्ट है कि ये नाटक उस काल के हैं, जब भरत के सिद्धान्त पूर्णत. प्रतिष्ठित न हुए थे।

भास का समय

भास की निश्चित तिथि के विषय मे हम कुछ नही कह सकते। अनुमान होता है, भास दूसरी शती के उत्तरार्ध या तीसरी शती के पूर्वार्ध (१५० ई०-२५० ई०) मे रहे होंगे। कुछ विद्वानो की कल्पना है कि भास उज्जयिनी के निवासी थे, और सभवत इसीलिए उदयन की कथा को नाटको के लिए चुना था। इन्ही विद्वानों के मत से भास किसी क्षत्रप राजा के आश्रित थे, जिसका सङ्केत उनके भरतवाक्य के 'राजसिंह' पद से मिलता है।[१] किंवदन्तियाँ ऐसा भी कहती हैं कि भास जाति से धोबी थे, पर इसमे कोई तथ्य नही जान पड़ता।

भास के नाटको के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि कवि का जन्म उस समय हुआ था, जब ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान हो चुका था। भास कालिदास की भाँति ही पौराणिक ब्राह्मणधर्म के पोषक हैं। वे स्वय अपने नाटको के कथानक रामायण और महाभारत से भी चुनते है। भास विष्णु के उपासक जान पडते हैं, कालिदास की तरह शिव के भक्त नही।

भास की रचना

भास के नाम से जो तेरह नाटक (रूपक) प्राप्त हुए हैं, उन्हे हम दो तरह से वर्गीकृत कर सकते हैं। इनका पहला वर्गीकरण हम नाटकीय संविधान को दृष्टिकोण में रखकर करते हैं, दूसरा इतिवृत्त के मूलस्रोत को दृष्टि मे रखकर। हम देखते हैं कि भास के इन रूपको मे कुछ नाटक हैं, कुछ एकाकी। स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगंधरायण, बालचरित, पञ्चरात्र, प्रतिमा, अभिषेक, अविमारक और दरिद्रचारुदत्त पूरे नाटक हैं, जिसमे क्रमशः ६, ४, ५, ३, ७, ६, ६, और ४ अंक पाये जाते हैं। बाकी ५ नाटक - मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार और ऊरुभङ्ग केवल एक एक अङ्क के रूपक हैं।

---

१. स्टेन कोनो (Sten Konow) के मतानुसार इन नाटकों का रचयिता-भासक्षत्रप राजा रुद्रसिंह प्रथम (२ री शती ई०) के राज्यकाल में हुआ था।

दे० Konow : Indian drama. P. 51.

इन्हें हम एकाकी रूपक कह सकते हैं। इतिवृत्त के मूलस्रोत की दृष्टि से भास के नाटकों का वर्गीकरण यों होगा :—

(१) रामायण-नाटक :—प्रतिमा और अभिषेक।

(२) महाभारत नाटक :—बालचरित, पञ्चरात्र, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभङ्ग।

(३) उदयन-नाटक :—स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण।

(४) कल्पित-नाटक :—अविमारक और दरिद्रचारुदत्त। यहाँ इसी क्रम से नाटकों की कथावस्तु का सूक्ष्म सङ्केत कर देना आवश्यक होगा।

(१) प्रतिमा

इसमें रामवनवास से लेकर रावणवध तक की कथा वर्णित है। इस नाटक में दशरथ की मृत्यु मञ्च पर ही बताई गई है। नाटक का नाम 'प्रतिमा' इसलिए पड़ा है, कि अयोध्या के मृत राजाओं की प्रतिमाएं देवकुल में स्थापित की जाती थी। ननिहाल से अयोध्या आते हुए भरत को नगर के बाहर देवकुल में दशरथ की 'प्रतिमा' देखकर ही उनकी मृत्यु का अनुमान हो गया था।

(२) अभिषेक

इस नाटक में किष्किन्धा, सुन्दर तथा युद्ध काण्ड की रामायणकथा वर्णित है।

(३) बालचरित

श्रीकृष्णजन्म से लकर कंसवध तक की कृष्ण के बालचरित की समस्त कथा ५ अंकों के नाटक में निबद्ध की गई है।

(४) पञ्चरात्र

इसमें महाभारत की एक कथा को कवि ने कल्पित रूप दे दिया है। दुर्योधन ने यज्ञ के समय आचार्य द्रोण को दान देने की प्रतिज्ञा की। द्रोण ने पाण्डवों को आधा राज्य देने को कहा। दुर्योधन ने शकुनि के कहने पर यह शर्त रखी की यदि पाँच रात में पाण्डवों का पता चल गया, तो मैं राज्य दे दूंगा। द्रोण के प्रयत्न से पाण्डवों का विराटनगर में पता चल गया और दुर्योधन ने उन्हें आधा राज्य दे दिया।

(५) मध्यमव्यायोग

इसमें भीम के द्वारा राक्षस से एक ब्राह्मणपुत्र के बचाने की कथा वर्णित है।

(६) दूतवाक्य

महाभारत के युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर कौरवों के पास जाते हैं, यह कथा वर्णित है।

(७) दूतघटोत्कच

युद्ध मे अभिमन्यु के निधन के बाद श्रीकृष्ण घटोत्कच को दूत बनाकर धृतराष्ट्र और दुर्योधन के पास इसलिए भेजते हैं, कि जो दशा पुत्र के मरने से पाण्डवों की हुई है, वही तुम्हारी भी होगी। यह इतिवृत्त कवि की स्वय की उद्‌भावना है।

(८) कर्णभार

ब्राह्मण का रूप धारण कर इन्द्र कर्ण से कवच-कुण्डल मागने आता है, उस कथा को आधार बनाकर नाटक लिखा गया है।

(९) उरुभंग

भीम और दुर्योधन के गदायुद्ध, तथा दुर्योधन के उरुभङ्ग की कथा है।

(१०) स्वप्नवासवदत्तम्

यह कौशाबी के राजा उदयन की कथा पर आधृत है। उदयन का मन्त्री यौगन्धरायण उसकी महिषी वासवदत्ता के लावाणक वन मे जल जाने की झूठी खबर उड़ाकर उसे छिपे वेश मे मगधराजपुत्री पद्मावती के पास रख देता है। इधर यौगन्धरायण की ही चाल से उदयन का विवाह मगधराज दर्शक की बहिन पद्मावती से हो जाता है। पद्मावती के गृह में सोया हुआ उदयन स्वप्न मे वासवदत्ता को देखता है। वह स्वप्न यथार्थ हो जाता है। इस नाटक में भास ने शुद्ध प्रेम का सुन्दर चित्र अङ्कित किया है।

(११) प्रतिज्ञायौगन्धरायण

इसमें भी उदयन की ही कथा वर्णित है। इसे हम स्वप्नवासवदत्तम् से पहले का नाटक कह सकते हैं। कौशाम्बीराज उदयन नकली हाथी के छल से महासेन—अवन्तिराज—के द्वारा कैद कर लिया जाता है। धीरे-धीरे वह कुमारी वासवदत्ता को वीणा की शिक्षा देने लगता है। दोनों का प्रेम हो जाता है, और यौगन्धरायण की सहायता से उदयन वासवदत्ता को लेकर उज्जयिनी से भाग निकलता है।

(१२) अविमारक

इस नाटक में अविमारक तथा राजा कुन्तिभोज की पुत्री कुरङ्गी के प्रेम

की कहानी है। अविमारक का सङ्केत कामसूत्र मे मिलता है। संभवतः अविमारक की कथा भास के समय की लोककथाओं मे प्रसिद्ध रही हो। इस नाटक मे प्रेम का सुन्दर एव सरस चित्र है।

(१३) चारुदत्त

इस नाटक की कथा उज्जयिनी के सार्थवाह चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना के प्रेम को लेकर निबद्ध की गई है। सभवतः मृच्छकटिककार ने इसी नाटक को आधार बनाकर अपने प्रकरण का पल्लवन किया है। चारुदत्त की कथा का आधार भी लोककथा ही दिखाई देती है। चारुदत्त की कथा जैसी कुछ कथाएँ—किसी ब्राह्मण और गणिका के प्रेम की कथाएँ—गुणाढ्य की बृहत्कथा मे रही होंगी, ऐसा सङ्केत 'कथासरित्सागर' (सोमदेवकृत) से मिल सकता है, जो 'बड्डकहा' से अत्यन्त प्रभावित जान पडता है।

ऐसा मालूम पडता है, भास ने अपने काल की लोककथाओ पर भी नाटक लिखना चाहा होगा। मेरा अनुमान ऐसा है कि स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिज्ञा नाटक का उदयन भी उस काल मे कोरा ऐतिहासिक नायक नही था। वह लोककथाओ के 'रोमैंटिक हीरो' के रूप मे प्रसिद्ध हो चुका होगा। भास के समय उदयन, अविमारक और चारुदत्त की कहानियाँ बूढी दादी नानियो की कहानियाँ रही होगी, जैसे आज कई राजकुमारो व सेठ के लडको की 'रोमानी' कथाएँ हम सुना करते हैं। ये तीनों मध्यकाल की पद्मावती-कथाओं, या हीर-राँझा, ढोला-मारू जैसी लोककथाएँ रही हैं, और उदयन की लोक-कथा का आधार ऐतिहासिक घटना भी जान पडती है। इस तरह भास के द्वारा उस काल की समस्त कथासम्पत्ति का नाटकीय उपयोग करना, कवि की अनूठी सूझ का परिचय देता है।

भास का नाटकीय संविधान

भास के नाटको की कथावस्तु का जो सकेत ऊपर किया गया है उससे स्पष्ट है, कि भास के नाटको की वस्तु का क्षेत्र विविध है, और यह विविधता भास की प्रतिभा की मौलिकता को व्यक्त करती है। पर इतना होते हुए भी भास के सभी नाटको में एक-सी नाटय कुशलता नही मिलती। रामायण से सम्बद्ध नाटको का कथासविधान बहुत शिथिल है, तथा भास की नाटकीय कुशलता का परिचायक नही कहा जा सकता, जब की महाभारत से सम्बद्ध नाटको मे भास की प्रतिभा अधिक व्यक्त हुई है। कवि ने महाभारत से सम्बद्ध इतिवृत्तो

में विशेष दिलचस्पी दिखाई है। किन्तु भास को सबसे अधिक सफलता उदयन की 'रोमैन्टिक' कथा से सम्बद्ध नाटकों में मिली है, तथा स्वप्नवासवदत्तम् एव प्रतिज्ञायौगन्धरायण भास के नाटकों मे निश्चित रूप से उच्च कोटि के नाटक हैं।

राम के इतिवृत्त को लेकर लिखे गये दोनो नाटकों—अभिषेक तथा प्रतिमा—में भास ने किसी मौलिक नाटकीय प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं किया है। नाटकों के पढने से ऐसा जान पडता है कि इनके सविधान मे नाटककार ने कौतूहलवृत्ति को उत्पन्न नही किया है, जो नाटक की प्रभावात्मकता के लिए अत्यावश्यक है दोनों नाटकों मे रामायण की कथा का ही शुष्क सक्षेप है, जिसे मञ्च के उपयुक्त बना दिया गया है। नाटककार ने रामायण की मूल कथा मे कुछ परिवर्तन किये हैं किन्तु वे महत्त्वपूर्ण नही हैं। सुग्रीव तथा वाली के द्वन्द्व को दो बार हुआ न बताकर एक बार ही हुआ बताया गया है, तथा राम के द्वारा बिना किसी कारण के वाली का वध करना राम के चरित्र को दोषयुक्त बना देता है।[1] यहाँ यह कह देना अनावश्यक न होगा कि बाद के सस्कृत नाटककारों ने राम के चरित्र से इस दोष को हटाने के लिए मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। भवभूति के महावीरचरित मे वाली स्वय चढाई करने आता है, और युद्ध मे मारा जाता है। रामायण मे वर्णित ताराविलाप, अभिषेक नाटक मे नही पाया जाता, तथा नेपथ्य से तारा के रोने की आवाज आती है, पर वाली उसे मञ्च पर आने से मना कर देता है। वह यह नही चाहता की तारा उसे मरते हुये देखे।[2] वाली की मृत्यु मञ्च पर ही दिखाई गई है, जो नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध जान पड़ती है। प्रतिमा नाटक का क्षेत्र अभिषेक नाटक की अपेक्षा विशाल है। इस नाटक मे कवि ने दो-तीन मौलिक उद्भावनाएं की हैं। भरत को सीताहरणका पता पहले ही चल जाता है,[3] तथा राम नन्दिग्राम में ही भरत से राज्यभार संभाल लेते हैं, और उनका अभिषेक भी वही हो जाता है। राज्याभिषेक

१. रामः—हनूमन्, अलमलं संभ्रमेण। एतदनुष्ठीयते। (शरं मुक्त्वा) हन्त पतितो वाली। अभिषेक अङ्क १. पृ० ३२५.

२. वाली—सुग्रीव, संवार्यतां स्त्रीजनः। प्लवंगतं नार्हति मा द्रष्टुम् ॥

—वही पृ० ३२७.

३. सुमन्त्रः—सीता मायामुपाश्रित्य रावणेन ततो हृता ॥ (११)

के बाद वे अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं।[१] इसके साथ ही इक्ष्वाकुवंश के मृत राजाओ की प्रतिमाओ का देवकुल मे स्थापित किया जाना भी भास की निजी कल्पना है, जिसका आधार उस काल मे प्रचलित राजकीय परम्परा जान पडती है।[२] दोनों के नाटको के पात्रों का चरित्रचित्रण असफल हुआ है, और ऐसा अनुमान होता है कि ये दोनो नाटक भास की नाट्यकला के आरम्भिक विकास हैं।

महाभारत तथा कृष्ण सम्बन्धी नाटकों मे भास की नाट्यकला विशेष सुन्दर दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है, कवि स्वय कृष्णभक्त था।[३] मध्यमव्यायोग तथा दूतघटोत्कच के इतिवृत्त मे भास ने नई उद्‌भावना की है। मध्यमव्यायोग मे भीम तथा घटोत्कच का द्वन्द्वयुद्ध और घटोत्कच के द्वारा भीम को पहचाने बिना हिडिम्बा के पास ले जाना इतिवृत्त मे 'कौतूहल' का समावेश कर देता है। दूतघटोत्कच मे दुर्योधन तथा घटोत्कच के सवाद वीर रस से पूर्ण हैं। कर्णभार के द्वारा कवि ने कर्ण के दानशील चरित्र की उज्ज्वलता प्रदर्शित की है। दूतवाक्य मे एक ओर दुर्योधन और दूसरी ओर कृष्ण के चरित्रों के वैषम्य को चित्रित किया गया है। दुर्योधन की दलीलो का, जो मुँहतोड जवाब कृष्ण ने दिया है, वह नाटकीय सवाद को स्वाभाविक एव मार्मिक बना देता है।[४] श्रीकृष्ण के आयुध—सुदर्शन, कौमोदकी, शार्ङ्ग आदि

---

१. भरतः—कथ हतेति। (मोहमुपागतः)— (प्रतिमा—अङ्क ५, पृ० ३०६) वही पृ० ३९६-९७.

२ वही, अङ्क ३ पृ. २७७-७८.

३. कृष्ण की उपासना ईसा पूर्व पहली शती से ही चल पड़ी होगी, और भास के लगभग २०० वर्ष पूर्व ही कृष्ण का राजनीतिक व्यक्तित्व, आभीरों के उपास्य 'गोपाल' कृष्ण से मिला दिया गया होगा। यदि भास सचमुच क्षत्रपों के आश्रित थे, तो सम्भवतः क्षत्रप भी कृष्णभक्त रहे होंगे —क्षत्रप विष्णुभक्त थे, यह तो इतिहास प्रसिद्ध है।

४. दुर्योधनः—कथं कथं दायाद्यमिति।

वने पितृव्यो मृगयाप्रसंगतः कृतापराधो मुनिशापमाप्तवान्।
तदा प्रभृत्येव स दारनिस्पृहः, परात्मजानां पितृतां कथंव्रजेत् ॥ २१ ॥

वासुदेवः—पुराविदं भवन्तं पृच्छामि।

विचित्रवीर्यो विषयी विपत्तिं क्षयेण यातः पुनरम्बिकायाम्।
व्यासेन जातो धृतराष्ट्र एष लभेत राज्यं जनकः कथं ते ॥ २२ ॥

(दूतवाक्य. पृ० ४४८)

का मञ्च पर लाना, सम्भवतः कुछ आलोचकों को खटक सकता है, विशेषत. सुदर्शन को एक मूर्तिमान् मानवी पात्र के रूप मे उपस्थित करना। उरुभङ्ग मे दुर्योधन तथा भीम के गदायुद्ध का वर्णन है, गदायुद्ध में अनीति बरतने के कारण बलराम भीम पर क्रुद्ध हो जाते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के द्वारा शान्त कर दिये जाते हैं। अन्त में अश्वत्थामा के प्रचण्ड चरित्र को उपस्थित कर कवि ने एक मौलिक उद्भावना की है, जो मरते हुए राजा दुर्योधन को पुन. विजय की आशा दिलाता है, तथा पाण्डवो को रात्रियुद्ध में मारने का प्रण करता है। उरुभङ्ग मे भी अभिषेक के वाली की तरह दुर्योधन का देहावसान मञ्च पर ही होता है। दुर्योधन उरुभंग का नायक नही है, उसे प्रतिनायक ही मानना ठीक होगा, ठीक वैसे ही जैसे भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार' में। पर उरुभंग मे दुर्योधन का चरित्र अङ्कित करने में कवि पूर्णतः सफल हुआ है। दुर्योधन का चरित्र दुर्गुणों से युक्त होते हुए भी वह क्षत्रियोचित सम्मान के साथ मृत्यु प्राप्त करता है। पञ्चरात्र के कथानिर्वाह मे कवि ने विशेष दिलचस्पी दिखाई है। महाभारत के विराटपर्व की कथा को कवि ने अपनी कल्पना से नया रूप दे दिया है। दुर्योधन के द्वारा द्रोण के कहने से पाण्डवों को आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा, अभिमन्यु का कौरवो के साथ युद्ध में आना और भीम के द्वारा युद्ध मे बन्दी बना लिया जाना, कवि की निजी कल्पनाएँ हैं। पञ्चरात्र मे कई नाटकीय दृश्य हैं, किन्तु इतिवृत्त की दृष्टि से वह महाभारत के इतिवृत्त जैसा प्रभावोत्पादक नही बन पड़ा है।

बालचरित को इतिवृत्त की दृष्टि से हम पूरा नाटक न कहेंगे। श्रीकृष्ण के बालचरित से सम्बद्ध कई घटनाओ को यहाँ एक साथ रखकर नाटकीय रूप दे दिया गया है। नाटक मे कुछ कल्पनाएँ की गई हैं, जैसे कंस के स्वप्न में चाण्डाल युवतियों का आना, या मञ्च पर राजलक्ष्मी और शाप का मूर्त पात्रों के रूप में उपस्थित होना,[1] किन्तु इनसे नाटक की प्रभावोत्पादकता नही बढ़ी है। दूतवाक्य की ही तरह कृष्ण के आयुध यहाँ भी मूर्त रूप मे मञ्च पर प्रविष्ट होते हैं, तथा अरिष्ट दैत्य का बैल के रूप मे आने पर भी मानवी पात्र की तरह व्यवहार करना खटकता है। डॉ० कीथ का अनुमान है, कि अरिष्टनेमि का पात्र मञ्च पर केवल कृत्रिम वेश में ही आता था, और उसकी उक्ति से

१. बालचरित—द्वितीय अंक, पृ० ५२५-२८.

सामाजिकों को यह कल्पना कर लेनी पड़ती होगी कि वह बैल है।[1] ठीक यही बात कालिय के पात्र के विषय में कही जा सकती है, जो मञ्च पर उपस्थित होता है।[2] डॉ॰ कीथ का मत है कि बालचरित में भास की मौलिक प्रतिभा प्रकट हुई है, किन्तु हमें डॉ॰ डे का मत विशेष ठीक जँचता है, जो बालचरित को निर्दुष्ट नाटक नहीं मानते। वस्तुतः नाट्यकला की दृष्टि से बालचरित में व्यापारान्विति (Unity of action) का अभाव दिखाई पड़ता है।

अविमारक की वस्तु किसी लोककथा पर आधृत है। इस नाटक में किसी ऋषि के शाप से राजकुमार अविमारक अन्त्यज के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी रूप में उसका प्रेम कुन्तिभोज की पुत्री कुरङ्गी से हो जाता है। पर अविमारक नाटक के नायक के द्वारा दो बार, तथा नायिका के द्वारा एक बार आत्महत्या करने का प्रयत्न कथा की प्रभावोत्पादकता में बाधा डालता है। भास ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण की भाँति यहाँ भी विदूषक की उद्भावना की है, किन्तु अन्त्यज बने नायक के साथ विदूषक की सङ्गति ठीक बैठती नहीं जान पड़ती। नारद को उपस्थित कर दोनों नायक-नायिका का विवाह करवाना निरर्थक प्रतीत होता है। यद्यपि डॉ॰ कीथ अविमारक को प्रेमकथा के आधार पर निर्मित, सुन्दर नाटक मानते हैं, जिसकी अभिव्यञ्जना तथा घटना अप्रौढ़ है, किन्तु अविमारक में कहीं कहीं इतनी अधिक भावावेशता चित्रित की गई है, कि वह नाटक के सौन्दर्य को विकृत कर देती है। 'दरिद्रचारुदत्त' में चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रणय का 'रोमानी' वातावरण चित्रित है। चारुदत्त का संकेत हम मृच्छकटिक के सम्बन्ध में आगे के परिच्छेद में करेंगे।

स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण निश्चित रूप से भास के उच्च कोटि के नाटक हैं। इन दोनों नाटकों में कवि ने उदयन की अर्धैतिहासिक कथा को लिया है, जिसे बाद में हर्ष ने भी रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नाटिकाओं का आधार बनाया है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में महासेन के द्वारा बन्दी बनाये हुए उदयन के द्वारा वासवदत्ता को भगा ले जाने की कथा है; किन्तु

---

१. दे॰ Keith: Sanskrit Drama, p. 106.

(साथ ही) अरिष्टर्षभः—एष भोः।

शृङ्गाग्रकोटिकिरणैः स्वमिवालिखंश्च चन्द्रोर्वंधार्यमुपगम्य वृषस्य रूपम्॥

वृन्दावने सललितं मतिगर्जमानमाकम्पयन्नुमहमपयुक्तं चरामि॥ (बाल॰ ३.५)

२. बालचरित, चतुर्थ अंक पृ॰ ५४६-४७.

उदयन तथा वासवदत्ता, दोनों ही नाटक के पात्रों के रूप में नहीं आते। नाटक का प्रमुख पात्र यौगन्धरायण है, जो अपनी नीति से उदयन को महासेन के बंदीगृह से छुडाने तथा वासवदत्ता से परिणयन कराने में सफल होता है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस की भाँति प्रतिज्ञा यौगन्धरायण भी राजनीतिक चालों से भरा हुआ नाटक है। किन्तु जहाँ मुद्राराक्षस शुद्ध राजनीतिक नाटक है, वहाँ प्रतिज्ञा यौगन्धरायणमें उदयन और वासवदत्ता की प्रणयकथा के 'रोमानी' ताने-बाने को बुन दिया गया है। आलोचकों ने प्रतिज्ञा० में कृत्रिम हाथी के छल से उदयन के पकड़े जाने को, उद्भावना को, और महासेन के द्वारा प्रथम तो उदयन का आदर करने, किन्तु बाद में निष्कारण शृङ्खलाबद्ध कर दिये जाने की कल्पना को दोषपूर्ण माना है।[1] इतना होने पर भी, नाटक में यौगन्धरायण का स्वामिभक्त चरित्र अत्यधिक प्रभावशाली है, जो स्वामी के लिए प्रत्येक बलिदान करने को प्रस्तुत है। महासेन प्रद्योत के राजभवन का दृश्य, तथा तृतीय अंक का विदूषक और उन्मत्तक का वार्तालाप नाटक को मनोरञ्जक बनाने में सहायता करता है।

स्वप्नवासवदत्तम् का घटनाचक्र विशेष कुशलता से निबद्ध किया गया है। इसमें कार्यान्विति का पूर्ण ध्यान रखा गया है, तथा प्रभावात्मकता पूर्णतः पाई जाती है। कवि ने लोककथा को लेकर अपने ढङ्ग से सजाया है। नाटक की दोनों नायिकाओं—वासवदत्ता और पद्मावती—के चरित्रों को स्पष्टरूप से निजी व्यक्तित्व दिया गया है। हर्ष की नाटिकाओं का विलासी उदयन यहाँ अधिक गम्भीर रूप लेकर आता है। हर्ष का उदयन दक्षिण होते हुए भी शठ तथा धूर्त विशेष जान पड़ता है। भास के स्वप्नवासवदत्तम् का उदयन पूर्णतः दक्षिण है। वह वासवदत्ता के जल जाने पर भी उसे नहीं भूल पाता। वासवदत्ता के चरित्र को चित्रित करने में कवि ने बड़ी सावधानी और कुशलता बरती है। वासवदत्ता अपनी वास्तविकता को छिपाकर अपने पति के पराक्रम के लिए अपूर्व त्याग करती है। यौगधरायण के कहने से वह अपने को आग में जलने की खबर फैलवाकर मगधराज दर्शक के अन्तःपुर में पद्मावती के पास

---

१. नकली हाथी की कल्पना को भामह ने दोष माना है, क्योंकि जब उदयन को हस्ति विद्या में कुशल माना गया है, तो वह नकली हाथी के धोखे में कैसे आ सकता था। (भामह ४.४०) पर लोककथाओं में ऐसा चलता है, इसे मानने पर संभवतः भास की उद्भावना दोषयुक्त न दिखाई पड़ेगी।

रहना स्वीकार करती है, तथा पद्मावती के साथ उदयन का विवाह होने देती है। यही नही, वह अपने आपको उदयन के समक्ष प्रकट होने से बचाती है। नाटक अत्यधिक भावात्मक है, किन्तु कवि ने यहाँ अविमारक की तरह 'मेलोड्रैमेटिक' तत्त्व का समावेश न कर, नाटक की प्रभावोत्पादकता को अक्षुण्ण बनाये रखा है। वैसे वासवदत्ता के न मरने का पता सामाजिकों को आरम्भ मे ही चल जाता है, जो नाटक की कुतूहलवृत्ति को समाप्त कर देता है। पर ऐसा भी माना जा सकता है कि नाटककार स्वयं 'वासवदत्ता जली नही है' इस भावना को सामाजिकों मे आरम्भ से ही उत्पन्न कर देना चाहता है, और यहाँ वह 'नाटकीय आश्चर्य' (Dramatic Surprise) के स्थान पर 'नाटकीय अपेक्षा' (Dramatic Expectation) की योजना करता जान पड़ता है। यद्यपि स्वप्नवासवदत्तम् का नाटकीय संविधान प्रौढ नही है, तथापि इसके निर्वाह से नाटककार का महान् व्यक्तित्व प्रकट होता है। राजशेखर का यह कहना कि 'भास के नाटको को परीक्षार्थ (आलोचना की) अग्नि मे फेंके जाने पर, स्वप्नवासवदत्तम् न जलाया जा सका'[1] उचित जान पडता है। राजशेखर की इन पंक्तियों से स्वप्नवासवदत्तम् में रानी के जलने की झूठी खबर उडाने की भी व्यञ्जना होती है।

भास का कवित्व

संस्कृत नाटको का खास लक्ष्य चरित्र का अन्तर्द्वन्द्व बताना न होकर, रसानुभूति उत्पन्न करना होता है। यही कारण है, संस्कृत नाटको मे काव्यत्व अत्यधिक पाया जाता है। आज के यथार्थवादी नाटककारों से—जिन पर इब्सन या गाल्सवर्दी का प्रभाव पड़ा है—पुराने नाटको की पद्धति सर्वथा भिन्न है। स्वयं शेक्सपियर के नाटक भी काव्यत्व से भरे पडे हैं। संस्कृत के नाटको मे काव्यत्व खास गुण है, और ह्रासोन्मुख काल मे तो यह काव्यत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि नाटक अपने स्वत्व को खो बैठे हैं। नाटक में काव्य का समावेश करना बुरा नही है, किन्तु नाटक का स्वयं का गुण—घटनाचक्र की गत्यात्मकता, नाटकीय कुतूहल, दृश्यों का स्वाभाविक विनियोग और सामाजिकगत प्रभाव—उसके द्वारा क्षुण्ण न बना दिया जाय, इसका ध्यान रखना ही

---

१. भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥ —राजशेखर

नाटककार की सफलता है। नाटककार को कवि के भावावेश में ठीक उसी मात्रा में बहना ठीक नहीं, जैसा प्रबन्ध कवि में पाया जाता है। कालिदास के नाटकों में नाटकीयता तथा कविता का, जो सन्तुलन मिलता है, वह संस्कृत के किसी नाटक में नहीं। भवभूति केवल कविता के बहाव में बह जाते हैं। वैसे मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस, हर्ष की नाटिकाएँ आदि में भी कविता ने नाटकीयता को क्षुण्ण नहीं किया है। भास का कवित्व सदा नाटकीयता का सहायक बनकर आता है। भास के कवित्वपूर्ण पद्य ऊपर से जोड़े हुए नहीं दिखाई देते। वे नाटकीय घटनाचक्र को गति देने में सहायता करते हैं। भास के संवादों की सरल भाषा, जिसमें प्रायः समासान्तपदों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है, और पद्यों की प्रसङ्गानुकूल भावात्मकता नाटकों की प्रभावोत्पादकता में हाथ बँटाती है।

कवि की दृष्टि से भास से अश्वघोष अधिक प्रौढ़ दिखाई देते हैं। सम्भवतः भास का प्रमुख लक्ष्य नाटकीय योजना था। भास की शैली प्रसादगुणयुक्त है, किन्तु वीर रस के वर्णनों में वह ओज का भी प्रदर्शन करती है। भास शृंगार और वीर रस की व्यञ्जना करने में सफल हुए हैं। भास की कवित्व शैली के दो तीन उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा।

कामेनोज्जयिनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते,
दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषवः पातिताः।
तैरद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयं
पञ्चेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः॥ (स्वप्न० ४.१)

जब मैं उज्जयिनी में था, तो अवन्तिराज की पुत्री (वासवदत्ता) को देखकर किसी विशेष अवस्था को प्राप्त हो गया था, कामदेव ने मुझे एक साथ पाँचों बाणों से वेध दिया था। उन बाणों का घाव आज भी हृदय में बना हुआ है, और अब वासवदत्ता के वियोगरूपी बाण से फिर हमें वेध दिया गया है। यदि कामदेव के पास केवल पाँच ही बाण हैं, तो पाँच बाण तो वह पहले ही फेंक चुका था, जो अभी भी हृदय से निकले नहीं हैं, फिर यह छठा बाण उसने कहाँ से मारा है?'

चलविलुलितमौलिः क्रोधताम्रायताक्षो, भ्रमरमुखविदष्टां किञ्चिदुत्कृष्य मालाम्।
असिततनुविलम्बिस्रस्तवस्त्रानुकर्षी क्षितितलमवतीर्णः पारिवेषीव चन्द्रः॥
(ऊरुभंग० २९)

'देखो, ये बलराम चले आ रहे हैं। क्रोध के कारण इनकी लम्बी-लम्बी आँखें लाल हो गई हैं, और सिर तेजी से हिल रहा है। इनके गले में पड़ी माला की सुगन्ध से भँवरे उसके आसपास मँडराकर उसे काट रहे हैं, और भँवरों को हटाने के लिए इन्होंने माला को कुछ टेढ़ा कर लिया है। ये अपने नीले वस्त्र को, जो जमीन पर लटक रहा है, समेटते हुए आ रहे हैं, और ऐसा दिखाई देता है, जैसे परिवेष (मण्डल) से युक्त चन्द्रमा ही पृथ्वीतल पर अवतीर्ण हो गया हो।'

इन दोनों भावों से भिन्न भाव की अभिव्यञ्जना निम्न पद्य में देखिये, जहाँ लक्ष्यप्राप्ति के लिए उत्साह और कष्टसहनक्षमता पर जोर दिया गया है।

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद् भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति॥
(प्रतिज्ञा० १.१८)

'काष्ठ के मन्थन करने पर अग्नि पैदा होती है, पृथ्वी खोदे जाने पर ही जल देती है। उत्साही व्यक्तियों के लिए कोई भी वस्तु असाध्य नहीं है। कार्य को आरम्भ करने पर ही उनके सारे लक्ष्य फलीभूत हो जाते हैं।

प्रकृति वर्णन की निम्न स्वाभाविक और अनलङ्कृत शैली देखिये :—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद्रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥ (स्वप्न० १.१६)

'सायंकाल हो रहा है। पक्षी अपने नीड़ों की ओर चले गये हैं। मुनियों ने जलाशय में स्नान कर लिया है। सायंकालीन अग्निहोत्र के लिए जलाई गई अग्नि सुशोभित हो रही है, और उसका धुआँ मुनिवन में फैल रहा है। सूर्य भी रथ से उतर गया है, उसने अपनी किरणें समेट ली हैं, और रथ को लौटाकर वह धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर प्रविष्ट हो रहा है।'

अविमारक के निम्न सरस पद्य की शैली विह्लण की चौरपञ्चाशिका के पद्यों की याद दिला देती है[1] :—

---

[1] अद्यापि तामविगणय्य कृतापराधं मां पादमूलपतितं सहसा गलन्तीम्।
वस्त्राञ्चलं मम करान्निजमाक्षिपन्तीं मा मेति रोषपरुषं ब्रुवतीं स्मरामि॥
(चौरपंचाशिका)

अद्यापि हस्तिकरशीकरशीतलांगीं बालां भयाकुलविलोलविशालनेत्राम् ।
स्वप्नेषु नित्यमुपलभ्य पुनर्विबोधे जातिस्मरः प्रथमजातिमिव स्मरामि ॥
(अविमारक २.१)

अविमारक कुरङ्गी के प्रथम दर्शन को याद करता हुआ कह रहा है। मैं आज भी उस सुन्दरी का स्मरण कर रहा हूँ, जो हाथी की सूँड से छोड़े गये जलबिन्दुओं से भीग गई थी और हाथी के डर से जिसकी आँखें भय से व्याकुल, चञ्चल तथा दुःखपूर्ण दिखाई देती थी। मैं उसे आज भी इसी तरह याद कर रहा हूँ, जैसे कोई व्यक्ति किसी वस्तु को स्वप्न में देखकर जगने पर उसे याद करता है। अथवा जैसे मैं स्वयं (शाप से अन्त्यज होने के पूर्व की) अपनी पुरानी जाति को प्रतिदिन स्वप्न में प्राप्त कर जगने पर अपनी इस पुरानी जाति को याद किया करता हूँ।

इस पद्य में कुरङ्गी के पूर्वानुभूत दर्शन की स्मरणगत अनुभूति के लिए, जिस उपमा का प्रयोग किया गया है, वह कवि की मनोवैज्ञानिक सूझ का सङ्केत करती है। भास की कविता कालिदास की तरह उतनी प्रौढ़ भले ही न हो, किन्तु उसमें कवित्व की पर्याप्त मात्रा दिखाई देती है।

भास की भाषा एवं प्राकृत

भास की संस्कृत मे कई अपाणिनीय प्रयोग मिल जाते हैं। कई सन्धियाँ अशुद्ध हैं, यथा—अवन्त्याधिपतेः (पृ. ३९), तमोघम् (पृ. ३१६), विगाह्य उल्कां (पृ. ५२६)। कई स्थानों पर परस्मैपद तथा आत्मनेपद के प्रयोगो मे अपाणिनीयता दिखाई देती है, यथा—आपृच्छामि भवन्तौ (पृ. ११), इहोपलप्स्यति चिरं (पृ. ४६२), कथमगणितपूर्वं द्रक्ष्यते तं नरेन्द्रः (पृ. ६७), गमिष्ये विबुधावासम् (पृ. ५५७), कर्षमाणः (पृ. ५०५), रक्षमाणा (पृ. ५१४), प्रतिगर्जमान (पृ. ५४०)। इनमें कई प्रयोग तो छन्द की सुविधा के कारण किए गए हैं। डॉ० कीथ का कहना है कि भास के इन प्रयोगो पर सम्भवतः रामायण तथा महाभारत के आर्ष प्रयोगों का प्रभाव है।

भास के नाटकों की प्राकृत प्रायः शौरसेनी है। दूतवाक्य के अतिरिक्त अन्य सभी नाटको मे प्राकृत का प्रयोग पाया जाता है। मागधी का प्रयोग प्रतिज्ञा, चारुदत्त, बालचरित, पञ्चरात्र तथा कर्णभार में हुआ है। भास की शौरसेनी से ऐसा पता चलता है कि वह अश्वघोष तथा कालिदास के बीच की

स्थिति का सङ्केत करती है। अश्वघोष की प्राकृत में अघोष अल्पप्राण ध्वनियाँ सघोष अल्पप्राण नहीं होतीं, भास की प्राकृत में ट और त क्रमशः ड और द हो जाते हैं।[1] अश्वघोष की प्राकृत में स्वरमध्य ग व्यञ्जन लुप्त नहीं होते, जब कि भास में स्वरमध्य क, ग, च, ज, त, द, प, ब, व, य का लोप हो जाता है,[2] यद्यपि यह लोप कालिदास की अपेक्षा कम पाया जाता है। महाप्राण ख, घ, थ, ध, फ, भ भास की प्राकृत में ह हो जाते हैं,[3]। अश्वघोष में ये अपरिवर्तित बने रहते हैं। संस्कृत ज्ञ कालिदास की प्राकृत में ण्ण मिलता है, अश्वघोष में ञ्ञ; किन्तु भास की प्राकृत में इसका कभी तो ञ्ञ रूप मिलता है, कभी ण्ण। संस्कृत 'वय' का रूप अश्वघोष में अपरिवर्तित रहता है, कालिदास में इसका 'अम्हे' रूप मिलता है। भास की प्राकृत में ये दोनों रूप पाए जाते हैं, साथ ही 'वअ' रूप भी मिलता है। अस्मद् शब्द के षष्ठी बहुवचन में भास में अम्हाअ, अम्हाणं दोनों रूप मिलते हैं, अश्वघोष में अम्हाक रूप मिलता है।

भास की मागधी तथा अर्धमागधी (जो केवल वर्धमार के इन्द्र के द्वारा व्यवहृत होती है) में हमें दो रूप मिलते हैं। बालचरित तथा पञ्चरात्र में य और ओ ध्वनि पाई जाती है, प्रतिज्ञा और चारुदत्त में श और ए। मागधी में 'अह' के लिए 'अहके' का प्रयोग पाया जाता है।

भास और रङ्गमञ्च

भास के नाटक रङ्गमञ्च के उपयुक्त हैं। उनके नाटक बाद के संस्कृत नाटकों की तरह विशेष लम्बे नहीं हैं। पद्यों का प्रयोग, संवादों की योजना अस्वाभाविक नहीं है, जिससे सामाजिक ऊब जाय। घटनाचक्र की दृष्टि से महाभारत, उदयन तथा प्रणयकथावाले नाटक रङ्गमञ्च पर खेले जा सकते हैं। बाली, दुर्योधन, कंस आदि का मञ्चपर वध सम्भवतः कुछ लोगों को बुरा मालूम दे, पर ऐसा जान पड़ता है, भास पापी (क्रूर) पात्रों की मृत्यु को मञ्च पर दिखाना बुरा नहीं समझते, क्योंकि उससे सामाजिकों पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। अरिष्ट, कालिय, कात्यायनीदेवी, कृष्ण तथा देवी के आयुधों का

---

१. निक्किदा (पृ. २१७), ठाविदो (पृ. २१५), पडिहारं उवट्ठिदा (पृ. ४८) छाडिआए (पृ. ८८) आदि।

२. आअन्तुआर्ग - (पृ. २१७), गिष्पओअर्ग (पृ. १९), मोदअरअअणि (पृ. २०), आदि।

३. विहाणं (पृ. ७०), अहिमुहो गच्छइ (पृ. ८८)।

मूर्तरूप में मञ्च पर लाया जाना, और राज्यलक्ष्मी तथा शाप का मानवी रूप में आना, कुछ अखरता है। अच्छा होता, कवि इन्हें मञ्च पर न लाकर इनकी सूचना भर दे देता। दृश्ययोजना की दृष्टि से भास में ऐसी कुछ त्रुटियाँ मिल जायेंगी। यदि ऐसे दृश्यों में कुछ आवश्यक परिवर्तन कर दिये जायें, तो ये नाटक खेले जा सकते हैं। भास के कुछ नाटकों में बीच-बीच में सङ्गीत और नृत्य का समायोग किया गया है। बालचरित के तृतीय अङ्क में हल्लीशक नृत्य की योजना की गई है, जिसमें गोप और गोपिकाएँ भाग लेती हैं। ऐसे ही एक नृत्य की योजना पञ्चरात्र के द्वितीय अङ्क में की गई है। अभिषेक नाटक में गन्धर्व और अप्सराओं की विष्णु-स्तुति के द्वारा सङ्गीत का भी विनियोग किया गया है।

भास और कालिदास

कालिदास ने स्वयं मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में भास का नाम आदर के साथ लिया है। अतः भास के नाटकों का कालिदास की नाट्यकला पर प्रभाव होना सभव है। जब हम भास तथा कालिदास के नाटकीय सविधान की तुलना करते हैं, तो यह धारणा अत्यधिक पुष्ट हो जाती है। दोनों नाटककारों में कई समानताएँ दिखाई देती हैं। यह दूसरी बात है कि कालिदास की नाटकीय प्रतिभा ने भास की वस्तुसघटना को लेकर नया रूप, नई स्निग्धता दे दी है, और उसमें अधिक कलात्मक संक्रान्त कर दी है, किन्तु कालिदास के प्रति भास का ऋण असंदिग्ध है।

शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में शकुन्तला को वल्कल की वेशभूषा में देखकर राजा कहता है—'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डन नाकृतीनाम्।' इसी भाव को भास के प्रतिमानाटक (प्रथम अङ्क) में भी देखा जा सकता है, जहाँ सीता को वल्कल धारण करते देखकर उसकी सखी कहती है—सब्वसोहणीअं सरूवं णाम।[१] दोनों स्थलों को देखने से पता चलता है कि कालिदास की नाटकीय योजना विशेष सुन्दर है। शाकुन्तला नाटक के प्रथम अङ्क में शकुन्तला के द्वारा वनपादपों को सींचे जाने वाले दृश्य[२] पर प्रतिमानाटक के पञ्चम अङ्क का प्रभाव है, जहाँ सीता के द्वारा वनपादपों को सींचे जाते देखकर राम सीता के सौकुमार्य के अनुचित उपयोग के विषय में

१. प्रतिमा (पृ० २५३)

२. शाकुन्तल (१.१६)

चिन्तित होते हैं।[1] उसी नाटक के पञ्चम अङ्क में राम सीता से विन्ध्य के हरिणों, पादपों, लताओं सभी से विदा लेने को कहते हैं, क्योंकि वे हिमालय के वन में रहने के लिए वहाँ से प्रस्थित होना चाहते हैं।[2] शाकुन्तल में आश्रम से विदा होते हुए शकुन्तला से कण्व अन्तिम बार वन के साथियों–पादप, लतादि–से विदा लेने को कहते हैं। यही नहीं, हरिणों के लिए प्रतिमा नाटक में 'पुत्रकृतकान्' कहा गया है, तो शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में भी हरिण को 'पुत्रकृतक' ही कहा गया है।[3]

शाकुन्तल के प्रथम अङ्क का तपोवन वर्णन और अनुसूया के प्रति राजा के वचन 'भवतीनां सुनृतयैव गिरा कृतं आतिथ्य' स्वप्नवासवदत्तम् के प्रथम अङ्क के तपोवनवर्णन तथा तापसी के द्वारा किए गए वासवदत्ता के आतिथ्य की याद दिलाते हैं। कुछ विद्वानों ने शाकुन्तल में दुर्वासा के शाप वाली कल्पना पर भी अविमारक वाले शाप की नाटकीय संघटना का प्रभाव माना है, किन्तु इतनी दूरारूढ कल्पना हमें नहीं जँचती।

कालिदास की नाटकीय योजना जिस रूप में आज हमें मिलती है, वह निश्चित रूप से भास से भिन्न है। भास के नाटकों में नांदीपाठ नहीं पाया जाता, किन्तु कालिदास के नाटकों में नांदीपाठ पाया जाता है। वैसे दक्षिण से प्राप्त कालिदास के विक्रमोर्वशीय की कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में मङ्गलाचरण नांदीपाठ के रूप में न होकर 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' के बाद में पाया जाता है। पर इस बिन्दु पर कोई निश्चित धारणा बनाना संभव नहीं। यह तो निश्चित है कि कालिदास भास की अपेक्षा भरत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित हैं।

---

१. योऽस्याः करः श्राम्यति दर्पणेऽपि स नैति खेदं कलशं वहन्त्याः।
कष्टं वनं स्त्रीजनसौकुमार्यं समं लताभिः कठिनीकरोति॥ (प्रतिमा० ५.३)

२. आपृच्छ पुत्रकृतकान् हरिणान् द्रुमांश्च विन्ध्यं वनं तव सखीर्दयिता लताश्च।
वत्स्यामि तेषु हिमवद्गिरिकाननेषु दीप्तैरिवौषधिवनैरुपरञ्जितेषु॥ प्रतिमा ५।११

३. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥
(शाकु० ४.१३)

चाहे भास की नाटयकला में हमें संस्कृत नाटयकला का प्रौढरूप न मिले, किन्तु भास की नाटयकला उस कृत्रिमता से मुक्त है, जिसने बाद के संस्कृत नाटकों को नाम भर के लिए दृश्यकाव्य बना दिया था। इस दृष्टि से भास के नाटक मञ्चीय दृष्टिकोण को लेकर आते जान पड़ते हैं, जिन्होंने कालिदास के नाटकों की सफलता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है।

महाकवि कालिदास की नाट्यकला

कालिदास के पूर्व की नाटकपरम्परा का सङ्केत हम भास की नाट्यकला पर लिखते समय कर आये हैं। इस परम्परा से इतना सङ्केत तो मिल ही जाता है कि कालिदास के हाथों मे नाट्यकला उस समय आई जब वह समृद्ध हो रही थी, और उसे किसी महान् कलाकार के अन्तिम स्पर्श की आवश्यकता थी। भास के नाटक—यदि वे मूलतः इसी रूप मे थे, तो—शेक्सपियर के पूर्व के 'मोरेलिटी' तथा 'मिरेकिल' रूपकों (प्लेज) की तरह कलात्मक रमणीयता से रहित हैं, न उनमे कथावस्तु का नाटकीय ढङ्ग का प्रौढ संविधान मिलता है, न पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण, न काव्य की अतीव उदात्त भङ्गिमा ही। शेक्सपियर के नाटको मे ही सर्वप्रथम हमे एलिजाबेथियन काल की साहित्यिक समृद्धि का पता लगता है, जिसने कविता और नाट्यकला का अपूर्व समन्वय कर आग्ल साहित्य को नाटकों की अभिनव पद्धति दी। संस्कृत के नाटक साहित्य मे ठीक यही महत्त्व कालिदास का है। कहा जाता है कि शेक्सपियर प्रथमतः नाटककार हैं, बाद मे कवि, किन्तु कई आग्ल आलोचक शेक्सपियर को आग्ल साहित्य का सबसे बडा कवि भी मानते हैं, और इस प्रकार शेक्सपियर आग्ल साहित्य का सबसे बडा नाटककार तथा कवि दोनो है। कालिदास को, कई आलोचक प्रमुखतः कवि मानते हैं, नाटककार नही। किन्तु यह मत भ्रान्त प्रतीत होता है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल की कथावस्तु का विनियोग (Handling of plot) इस बात का प्रमाण है, कि कालिदास कवि ही नही हैं, वे जीवन के गत्यात्मक चित्र का नाटकीय निर्वाह करने मे भी उतने ही कुशल हैं। जहाँ तक नाटकीय कथावस्तु की गत्यात्मकता का प्रश्न है, कालिदास के साथ हम केवल शूद्रक के मृच्छकटिक और विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का ही नाम ले सकते हैं। भवभूति, जिन्हें संस्कृत पण्डितों ने इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, इस दृष्टि से असफल सिद्ध हो जाते हैं। भवभूति निश्चितरूप से कवि हैं, पर नाटकीय दृष्टि से उन्हें सफल नाटककार नही कहा जा सकता। कालिदास ने अपने कवित्व के भार से नाटकीय कथावस्तु को कहीं भी आक्रान्त नहीं किया है। हम देखते हैं, विक्रमोर्वशीय के

चतुर्थ अङ्कवाली पुरुरवा की भावात्मक उक्तियाँ भी नाटकीय प्रसङ्ग के उपयुक्त हैं, क्योंकि वहाँ पुरुरवा की विक्षिप्त दशा का संकेत देना कवि का अभीष्ट है। भवभूति या मुरारि की तरह कालिदास ने कहीं भी भावात्मकता या पाण्डित्य के बाँध के द्वारा कथा की सरिता के प्रवाह को नहीं रोका है। इसी तरह कालिदास के सवाद भी, जैसा कि हम देखेंगे, इतने स्वाभाविक है कि वे स्वय कथा को आगे बढाने मे सहायक सिद्ध होते हैं।

साहित्यिकों के सम्मुख महाकवि कालिदास के तीन नाटक अवतरित होते हैं—(१) मालविकाग्निमित्र, (२) विक्रमोर्वशीय, तथा (३) अभिज्ञानशाकुन्तल। कालिदास की नाट्यकला निर्दिष्ट क्रम मे ही विकसित हुई है, इसका सकेत हम पहले कर आये हैं। मालविकाग्निमित्र कवि की नाट्यकला का अंकुर है, विक्रमोर्वशीय मे वह पुष्पित हुई है, तथा अभिज्ञानशाकुन्तल के रूप मे वह समस्त सस्कृत नाट्यकला के मधुरतम फल के रूप में परिणत हुई है। मालविकाग्निमित्र की रचना कवि की सर्वप्रथम रचना है, तथा नया कवि कुछ सङ्कोच के साथ अपनी कला का प्रदर्शन करता है, पर उसे सन्तोष इस बात का है कि कोई काव्य केवल नये होने के कारण ही दुष्ट या गर्हित नहीं हो जाता (न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्)।

(१) मालविकाग्निमित्र

नान्दीपाठ में शिव की वन्दना के बाद यह नाटक आरंभ होता है। प्रस्तावना में सूत्रधार बताता है कि आज कालिदासरचित मालविकाग्निमित्र नाटक का अभिनय किया जायगा। पारिपार्श्विक नये कवि कालिदास की कृति की अपेक्षा भास, सौमिल्ल तथा कविपुत्र जैसे लब्धप्रतिष्ठ नाटककारों की कला का प्रदर्शन विशेष ठीक समझता है, पर सूत्रधार यह कहता है कि हर एक पुरानी कविता उच्चकोटि की नहीं होती, और न हरएक नई कविता बुरी ही। सज्जन व्यक्तियों का यह स्वभाव है कि प्रत्येक वस्तु को बुद्धि की तुला पर परीक्षित कर अच्छी वस्तु का प्रयोग करते हैं, जब कि मूर्ख व्यक्ति दूसरे के ज्ञान पर निर्भर रहते हैं,[१] और यही महादेवी धारिणी की दो सेविकाओं के प्रवेश की सूचना देकर वह चला जाता है। नाटक की कथावस्तु इसके बाद से आरम्भ होती है।

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥ (माल० १. २)

पहला अंक मिश्रविष्कम्भक से आरम्भ होता है। इसमें सर्वप्रथम महादेवी धारिणी की दो दासियाँ वकुलावलिका तथा कौमुदिका आकर इस बात का सङ्केत देती हैं, कि महादेवी धारिणी मालविका को राजा की दृष्टि से छिपाना चाहती है कि कहीं राजा अग्निमित्र उस पर अनुरक्त न हो जायँ। एक दिन राजा देवी के चित्र में मालविका का चित्र भी देख लेते हैं, तथा उसके बारे में पूछने पर कुमारी (राजकुमारी) वसुलक्ष्मी की बालसुलभ प्रकृति इस बात का संकेत कर देती है कि उसका नाम मालविका है। यहीं एक तीसरा पात्र और प्रवेश करता है—गणदास। गणदास के प्रवेश पर यह पता चलता है कि धारिणी ने मालविका को अपने विश्वासपात्र नाट्याचार्य गणदास के पास सङ्गीत तथा नृत्य की शिक्षा देने के लिए रख दिया है, और वह बड़ी कुशलता से नृत्य की प्रायोगिक शिक्षा ग्रहण कर रही है।

प्रथम अङ्क इस विष्कम्भक के बाद आरम्भ होता है, जहाँ पूर्वघटित मुख्य वृत्त के बाद राजा अग्निमित्र मञ्च पर प्रवेश करते हैं, तथा विदूषक के आने की बड़ी बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहे हैं। विदूषक उनका नर्मसुहृद है, और ऐसा अनुमान होता है कि वह उनके किसी कार्य की चिन्ता में किसी दूसरे (रति के) सन्धिविग्रह की चिन्ता में, इधर-उधर गया है। तब राजा के 'कार्यान्तरसचिव'[1] विदूषक गौतम प्रविष्ट होते हैं। यहीं पता चलता है कि विदूषक ने मालविका को राजा के दृष्टिपथ में अवतारित करने की कोई युक्ति सोच ली है, और इसी बीच बाहर झगड़ते हुए नाट्याचार्य गणदास तथा हरदत्त की 'तू-तू-मैं-मैं' सुनाई देती है। दर्शकों को ऐसा सन्देह हो जाता है कि कहीं यह विदूषक गौतम की कूटनीति तो नहीं है। धीरे-धीरे यह सन्देह निश्चित धारणा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। दोनों नाट्याचार्य एक दूसरे को अपने से नीचा समझते हैं, तथा एक दूसरे की निंदा करते हैं। अतः महाराज इस बात का निर्णय कर दें कि इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है। पर निर्णय तो तभी हो सकता है, जब वे अपने अध्यापन का प्रायोगिक रूप दिखाकर परीक्षा दें, और यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि विदूषक इस बहाने गणदत्त की शिष्या मालविका को राजा के लिए दिखा देना चाहता है। इसी बीच धारिणी तथा भगवती कौशिकी (एक संन्यासिनी) को बुलाया जाता है। हरदत्त राजा के

---

१. मदमरः कार्यान्तरसचिवोऽस्मानुपस्थितः (माल० प्रथम अङ्क पृ० १६)

विश्वासपात्र हैं, गणदास महारानी धारिणी के, इसलिए यह आवश्यक होता है कि प्राश्निक (न्यायाधीश) का कार्य भगवती कौशिकी करे। भगवती कौशिकी यह प्रस्ताव रखती है कि दोनों नाटयाचार्य अपने शिष्यों का प्रायोगिक प्रदर्शन करें। धारिणी इस बात को इसलिए टालना चाहती है कि कहीं राजा मालविका को देख लेंगे तो सारा मामला गड़बड़ा जायगा। यहीं सामाजिक को ऐसी कल्पना होने लगती है कि कहीं भगवती कौशिकी भी विदूषक से तो नहीं मिली है।

दूसरे अङ्क में राजा, धारिणी, भगवती कौशिकी तथा विदूषक रङ्गशाला में मालविका के नृत्य प्रदर्शन को देखते हैं, तथा प्राश्निक का निर्णय मालविका के प्रदर्शन की उत्कृष्टता के कारण गणदास के पक्ष में होता है। प्रदर्शन के बाद धारिणी इतनी उतावली में है कि मालविका को राजा के सामने अधिक देर तक रुकने का मौका न मिले। यहीं राजा तथा मालविका दोनों का पूर्वानुराग स्पष्ट दिखाई पड़ता है। तीसरे अङ्क के आरम्भ में प्रवेशक के द्वारा मधुकरिका तथा समाहितिका इस बात का सकेत देती हैं कि आजकल मालविका कुम्हलाई-सी नजर आती है, तथा राजा भी उसके प्रति आकृष्ट है। इसी अङ्क में राजा तथा विदूषक छोटी रानी इरावती की प्रतीक्षा करते हुए प्रमदवन में प्रविष्ट होते हैं। यहीं विदूषक की उक्ति से पता चलता है कि मालविका की सखी बकुलावलिका दोनों के मिलाने में प्रयत्न कर रही है, यद्यपि महारानी धारिणी की उस पर उतनी ही कड़ी नजर है, जितनी सम्पत्ति पर उसकी रक्षा करते हुए साँप की, और इसलिए उसकी प्राप्ति सहज नहीं है।[१] इसी बीच महारानी धारिणी, पैर में चोट होने के कारण, अशोक के दोहद पूरण के लिए स्वय नहीं आ पाती। वह मालविका को इसके लिए भेजती है। राजा को मालविका से मिलने का अवसर मिलता है, किन्तु इरावती आकर विघ्न डाल देती है। वह राजा को कटु शब्द सुनाती है, और रुष्ट होकर चली जाती है। चौथे अङ्क में यह पता चलता है कि धारिणी ने, सब बातें जानकर, मालविका तथा बकुलावलिका को तहखाने में कैद कर दिया है। पर विदूषक की कूटनीति सक्रिय रहती है, वह साँप के काटे जाने का बहाना बनाकर, महारानी धारिणी की अगूठी (जिसमे सर्पमुद्रा चिह्नित है) को विषप्रकोप

१. किन्तु सा तपस्विनी देव्याधिकं रक्षन्त्या नागरक्षित इव निधिर्न सुखं समासादयितव्या। तथापि घटयिष्यामि। (माल० तृतीय अङ्क पृ० ३६)

शान्त करने के बहाने लेकर उसे दिखाकर मालविका व बकुलावलिका को तहखाने से निकाल लाता है। पञ्चम अङ्क में कुछ नये पात्र आते हैं। विदर्भ देश से भेंट मे भेजी दो सेविकाएँ आती हैं और वे मालविका को पहचान लेती हैं, कि वह माधवसेन (विदर्भराजपुत्र) की बहिन है, तथा भगवती कौशिकी वहाँ के मन्त्री की बहिन। कौशिकी ने मालविका के परिचय को अभी तक गुप्त रखा, इसमें कोई खास कारण था[१]। इसके बाद धारिणी की स्वीकृति से राजा मालविका का पाणिग्रहण कर लेता है, और नाटक भरतवाक्य के साथ समाप्त हो जाता है।

कालिदास के मालविकाग्निमित्र की कथावस्तु पश्चाद्वर्ती 'नाटिका' उपरूपकों के ढङ्ग पर दिखाई देती है। यद्यपि ५ अङ्कों में विभक्त होने के कारण यह 'नाटक' की कोटि मे ही माना जायगा, पर कथावस्तु के सविधान की दृष्टि से यह 'नाटिका'—हर्ष की रत्नावली या प्रियदर्शिका—के विशेष समीप है। राजप्रासाद तथा प्रमदवन के सीमित क्षेत्र में घटित प्रणय-कथा ही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। राजा अग्निमित्र अपनी बड़ी रानी धारिणी तथा छोटी रानी इरावती से छिप-छिपकर मालविका से प्रेम करता है। नाटिका के नायक की तरह ही अग्निमित्र भी 'देवीत्रासेन शङ्कितः' है। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार अग्निमित्र 'धीरोदात्त' नायक माना जायगा, पर ध्यान से देखने पर वह 'धीरललित' कोटि का जान पड़ता है। मालविकाग्निमित्र में इसे 'नाटक' बनानेवाला तत्त्व केवल पाँच अङ्कों का विधान ही दिखाई पड़ता है। मालविकाग्निमित्र का अङ्गी रस शृङ्गार है, तथा विदूषक की उक्तियाँ इसमें हास्य रस का समावेश कर देती हैं। मालविकाग्निमित्र के विदूषक पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। महारानी धारिणी तथा इरावती के चरित्र कई चित्रों में दिखाई देते हैं। वे राजा को प्रेम करती हैं किन्तु राजा की अन्यासक्ति पसन्द नहीं करती। धारिणी का चरित्र अधिक गम्भीर, किन्तु शङ्कित चित्रित किया गया है। वह राजा के व्यवहार से सदा शङ्कित रहती है, तथा प्रथम अङ्क में भगवती कौशिकी पर भी इस बात का सन्देह करती जान पड़ती है कि कहीं वह राजा व मालविका को मिलाने मे सचेष्ट न हो।[२] मालविका इस नाटक

१. केनचन कारणेन खलु मया नैभृत्यमवलम्बितम् (माल. पंचम अं. पृ. ८९.)

२. मूढे परिव्राजिके मां जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोषि ? (माल० पृ० १८.)

(साथ ही) अहो अविनय आर्यपुत्रस्य (पृ० २१), आर्य गणदास, ननु दर्शितोपदेशा तेशिष्या (पृ० १०)।

की नायिका है, किन्तु उसका चित्रण अत्यधिक सूक्ष्म हुआ है। भगवती कौशिकी के चरित्र को कालिदास ने गम्भीरता के रङ्ग से रँग दिया है।

(२) विक्रमोर्वशीय

कालिदास का दूसरा नाटक विक्रमोर्वशीय है। इसकी कथा का स्रोत ऋग्वेद, शतपथब्राह्मण तथा मत्स्य पुराण में देखा जा सकता है। मालविकाग्निमित्र का इतिवृत्त ऐतिहासिक है, किन्तु विक्रमोर्वशीय का पौराणिक। पुरूरवा तथा उर्वशी के प्रेम से सम्बद्ध इतिवृत्त को लेकर कालिदास ने इस पाँच अङ्क के नाटक का निबंधन किया है। हिमालय-प्रदेश में शिवकी सेवा से लौटती उर्वशी के दानवों के द्वारा पकड़े जाने पर, उसकी सखियाँ चिल्लाती हैं। वहीं पास से जाते हुए पुरूरवा के कान में अप्सराओं की चिल्लाहट पहुँचती है, और वह अप्सराओं के पास आकर रुदन का कारण पूछता है। तदनन्तर वह दानवों से युद्ध कर उर्वशी की रक्षा करता है। पुरूरवा के पराक्रम के कारण उर्वशी उसके प्रति आकृष्ट हो जाती है, तथा पुरूरवा भी उर्वशी के प्रति मोहित हो जाता है। द्वितीय अङ्क में प्रवेशक के द्वारा सूचना दी जाती है कि राजा उर्वशी के प्रति मुग्ध हो गया है। तब मञ्च पर राजा तथा विदूषक आते हैं। बातचीत में राजा विदूषक को अपने प्रेम का हाल बता देता है। इसी समय उर्वशी तथा उसकी सखी चित्रलेखा उपस्थित होती हैं, तथा छिपकर राजा की बातें सुनती हैं। उर्वशी एक पत्ते पर प्रेम-सन्देश लिखकर राजा की ओर फेंक देती है। इसी बीच देवी औशीनरी वहाँ आ जाती है, तथा विदूषक की मूर्खता से वह पत्ता उड़ता हुआ औशीनरी के पैरों में उलझ जाता है। वह पत्र देख लेती है। उसे देखकर क्रुद्ध होती है, तथा राजा अनुनय-विनय करता है। तीसरे अङ्क में विष्कम्भक के द्वारा यह सूचना दी जाती है कि उर्वशी ने भरत मुनि के द्वारा प्रदर्शित नाटक में लक्ष्मी का अभिनय करते समय 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' का नाम ले लिया और इससे क्रुद्ध होकर मुनि ने उसे शाप दे दिया। पर इन्द्र ने कृपा कर उसे उतने समय तक पुरूरवा के पास रहने की आज्ञा दे दी, जब तक उसके पुत्रोत्पत्ति न हो और पुरूरवा उस पुत्र का मुँह न देखे। इसी अङ्क में उर्वशी राजा के पास आती है, तथा औशीनरी भी प्रसन्न होकर राजा को उर्वशी से प्रेम करने देती है। चतुर्थ अङ्क का प्रवेशक इस बात की सूचना देता है कि उर्वशी 'कुमारवन' में प्रविष्ट हो गई, तथा वहाँ लता के रूप में परिवर्तित हो गई। प्रवेश के बाद विक्षिप्त पुरूरवा का विलाप तथा प्रलापोक्तियाँ

है। यही राजा को सङ्गमनीय मणि प्राप्त होती है और इससे लता फिर उर्वशी बन जाती है। पञ्चम अङ्क में राजा राजधानी में लौट आता है, तथा वहाँ सङ्गमनीय मणि को एक गीध चुरा ले जाता है। इधर एक बाण आकर गीध को लगता है, वह नीचे आ गिरता है। राजा के पास जब बाण लाया जाता है, तो उसे पढ़ने से पता चलता है कि वह 'पुरूरवा के पुत्र आयुष्' का बाण है। राजा को पुत्रोत्पत्ति का पता तक न था, क्योंकि उर्वशी ने उसे च्यवन के आश्रम में इसलिए छिपा दिया था कि राजा उसका मुँह न देख सके तथा दोनों प्रेमी वियुक्त न हों। उर्वशी को इस घटना का पता चलने पर दुःख होता है, इसी बीच नारद आकर बताते हैं कि देव-दानवों के युद्ध में इन्द्र को पुरूरवा की सहायता अपेक्षित है तथा इसके फलस्वरूप उर्वशी उम्रभर तक राजा पुरूरवा के साथ रहेगी। यहाँ आकर भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

(३) अभिज्ञानशाकुन्तल

शाकुन्तल नाटक कालिदास की नाट्यकला का चरम परिपाक है। कालिदास ने महाभारत तथा पद्मपुराण से दुष्यन्त एवं शकुन्तला की कथा लेकर उसे नाटकीय ढङ्ग से सजाया है। राजा दुष्यन्त मृगया खेलते हुए कण्व के आश्रम में पहुँच जाते हैं। वहाँ पेड़ों को सींचती हुई तीन मुनि-कन्याओं को देखते हैं। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त उसके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं।[१] इसी बीच एक भौंरा उड़ता हुआ शकुन्तला के पास घूमने लगता है। शकुन्तला डरी हुई भागने लगती है, तथा दोनों सखियाँ भी चिल्लाने लगती हैं। लताओं की ओट में छिपा दुष्यन्त प्रकट होकर भौंरे को भगा देता है। यहीं शकुन्तला के हृदय में भी राजा के प्रति आकर्षण का बीज निक्षिप्त किया गया है।[२] राजा अपने परिचय में वास्तविकता छिपाकर, अपने को दुष्यन्त का सामन्त बताता है (राजपुरुषं मामवगच्छथ)। इसी अङ्क में राजा को पता चलता है कि शकुन्तला विश्वामित्र तथा मेनका की पुत्री है, और उसे शकुन्तला के 'क्षत्र-परिग्रहक्षमत्व' का दृढ विश्वास हो जाता है। द्वितीय अङ्क में राजा दुष्यन्त

१. कथमियं सा कण्वदुहिता ! असाधुदर्शी खलु तत्र भवान् काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते ॥ (शाकु० पृ० २७)

२. किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता ॥ (शाकु० पृ० १८)

माधव्य से अपने प्रेम की बात कह देता है। इसी बीच कण्व के आश्रम के तपस्वी राजा से कुछ दिनों ठहरकर राक्षसों के विघ्न को मिटाने की प्रार्थना करते हैं। इधर इन्द्रप्रस्थ से देवी वसुमती का सन्देश आता है कि उसके उपवास के पारण के दिन राजा अवश्य पहुँचे। विदूषक के शब्दों में राजा की अवस्था 'अन्तराल में स्थित त्रिशङ्कु-सी हो जाती है'।[1] अन्त में राजा विदूषक को भेजना चाहता है, पर भेजते समय वह माधव्य के दिमाग से शकुन्तलाविषयक रतिवाली बात को हटा देना चाहता है। कहीं माधव्य ये बातें जाकर देवी या अन्य किसी से न कह दें, और वह माधव्य को इस बात का विश्वास दिला देता है कि कहीं वह चक्रवर्ती राजा उस जङ्गली लड़की से प्रेम कर सकता है। राजा ने परिहास किया था, विदूषक उसे सच न समझ ले।[2] और इस तरह पञ्चम अङ्क की शकुन्तला-अस्वीकार वाली घटना की आधारभित्ति यहीं रख दी गई है। यदि माधव्य के सन्देह को न मिटाया जाता, उसे उल्टा विश्वास न दिलाया जाता, तो सामाजिक के हृदय में यह बात उठ सकती थी, कि जब माधव्य इस प्रेम को जानता था, तो शकुन्तला को पत्नी-रूप में राजा को ग्रहण करते न देखकर उसने कुछ भी नहीं कहा। इस शङ्का का निवारण द्वितीय अङ्क में ही कर दिया गया है।

तृतीय अङ्क में राजा छिप-छिपकर शकुन्तला के पूर्वरागजनित विरह का पता लगा लेता है। लतागृह में पड़ी हुई विरहविदग्ध शकुन्तला, उसे भेजने को पत्र लिखती है, इसी समय छिपा हुआ राजा प्रकट होता है और दोनों का गान्धर्व विवाह हो जाता है। पर इसके पहले कि दुष्यन्त अपनी अधरपिपासा को शान्त कर सके, सखियाँ 'चक्रवाकवधू को सहचर से विदा लेने का' संकेत देती हैं, क्योंकि रात होनेवाली है।[3] शकुन्तला चली जाती है, और राक्षसों के आने की सूचना देकर विरहव्याकुल दुष्यन्त को भी मञ्च से बड़ी कुशलता के साथ हटा दिया जाता है। चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक से पता चलता है कि राजा इन्द्रप्रस्थ लौट गया है, और शकुन्तला उसके विरह में दुखी है। इसी बीच एक दिन दुर्वासा आश्रम में उपस्थित होते हैं। शकुन्तला

---

१. त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ (शाकु० पृ० ८२)

२. क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥ (शाकु० २.१८ पृ० ८३)

३. चक्रवाकवधुः, आमन्त्रयस्व सहचरम् उपस्थिता रजनी॥ (शाकु० पृ० १११)

राजा की चिन्ता में मग्न है। दुर्वासा का आतिथ्य-सत्कार नहीं होता, वे शाप दे जाते हैं।[१] प्रियंवदा पीछे-पीछे दौड़कर दुर्वासा को प्रसन्न करती है, और वे प्रसन्न होकर कहते हैं। किसी 'अभिज्ञान' को देखकर राजा शकुन्तला को पहचान लेगा। इस प्रकार यहाँ एक ओर 'अभिज्ञान' दूसरी ओर राजा के अङ्गुलीयक की महत्ता का सङ्केत किया गया है। कण्व तीर्थयात्रा से लौट आते हैं, तथा शकुन्तला के विवाह की बात जानकर उसे दुष्यन्त के पास भेजना तय करते हैं। चतुर्थ अङ्क का उत्तरार्ध तपोवन से विदा होती हुई शकुन्तला का करुण चित्र है, जो वनवासी तपस्वी कण्व के हृदय को भी पिघला देता है।[२] पञ्चम अङ्क में शकुन्तला को लेकर गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत दुष्यन्त के दरबार में पहुँचते हैं। राजा शकुन्तला को नहीं पहचानता, शकुन्तला प्रमाणस्वरूप मुद्रिका बताने के लिए अङ्गुली टटोलती है, पर वह वहाँ मुद्रिका नहीं है। दुष्यन्त के द्वारा अनादृत शकुन्तला को शारद्वत आश्रम ले जाना अनुचित समझता है। गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत लौट जाते हैं, और बाद में पता चलता है कि कोई दैवी शक्ति अनाथ शकुन्तला को लेकर आकाश की ओर चली गई है।[३] छठे अङ्क का प्रवेशक खोई हुई मुद्रिका का अनुसन्धान करता है। एक मछुवा राजनामाङ्कित मुद्रिका बेचता पकड़ा जाता है। मुद्रिका के साथ मछुवा राजा के पास लाया जाता है। मुद्रिका देखते ही राजा की आँख की पर्तें एक-एक करके खुलने लगती हैं। उसे शकुन्तला विषयक प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। शकुन्तला के विरह में राजा तड़पने लगता है, और माधव्य के साथ बैठकर पुरानी बातें याद कर अपने निष्ठुर हृदय को कोसता है। शकुन्तला की याद में वह आश्रम के प्रान्तभाग की प्रकृति का सरस चित्र बनाकर विनोद करना चाहता है। इसी बीच इन्द्र का सारथि मातलि अदृश्यरूप धारण कर माधव्य को पकड़कर उसका गला इसलिए घोंटने लगता है कि विरह के कारण शान्त हुआ राजा का क्रोध उभरे, जिससे उसमें वीररस का सञ्चार हो और वह इन्द्र के ऊपर आक्रमण करनेवाले कालनेमि दानवों में

---

१. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥ (४.१)

२. वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः। (४.५)

३. स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमाराद् उत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम॥ (५.३०)

लड़ने जाने को सन्नद्ध हो जाय। यही होता है। सप्तम अङ्क, कालनेमि दानवों को जीतकर आकाशमार्ग से इन्द्ररथ के द्वारा लौटते दुष्यन्त के वर्णन से आरम्भ होता है। मार्ग में गन्धमादन पर्वत पर स्थित भगवान् मारीच का आश्रम दिखाई पड़ता है। मारीच के दर्शन करके आगे बढ़ना उचित होगा, यह सोचकर दुष्यन्त मातलि को रथ ठहराने की आज्ञा देते हैं। जब वे आश्रम में प्रविष्ट होते हैं, तो शेर के बच्चे से खेलते एक बालक को देखते हैं। खेलते समय उस बालक के हाथ में बँधी अपराजिता ओषधि (गण्डा) गिर जाती है। राजा उसे उठा लेता है। बालक को खेलाती हुई दो तापसकन्याएँ इसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाती हैं, क्योंकि उस ओषधि को बालक के माता-पिता के अतिरिक्त कोई नहीं उठा सकता, यदि कोई उठाता है, तो वह ओषधि सर्प बनकर उसे डस लेती है। राजा भरत को गोदी में उठा लेते हैं। इसी समय मैले-कुचैले वस्त्र पहने, खुले बालों वाली, विरहक्षाम शकुन्तला उपस्थित होती है। दोनों का करुण मिलन होता है। भरत इस नये व्यक्ति का परिचय माँ से पूछता है। *शकुन्तला उत्तर देती है 'वत्स, अपने भाग्य से पूछ'।*[1] सब मिलकर मारीच के दर्शन को जाते हैं। मारीच दोनों को आशीर्वाद देते हैं, तथा भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

कालिदास की वस्तु योजना तथा चरित्र-चित्रण

कालिदास के तीनों नाटक सुखान्त हैं, तथा इनका प्रतिपाद्य विषय शृंगार है। किन्तु मालविकाग्निमित्र की कथावस्तु की योजना उतनी प्रौढ नहीं जान पड़ती, जितनी विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल की। विक्रमोर्वशीय में कालिदास की नाटकीय वस्तु का एक खास ढङ्ग का 'पैटर्न' दिखाई देता है, जो अभिज्ञानशाकुन्तल में भी पाया जाता है। दोनों नाटकों में केवल इतनी ही समानता नहीं है कि दोनों पौराणिक इतिवृत्त को आधार बनाकर चलते हैं। सबसे बड़ी समानता, जिसका संकेत करना हमारा अभीष्ट है, दोनों नाटकों की वस्तु के सजाने का ढङ्ग है। कालिदास के तीनों नाटकों की नायिका सर्वप्रथम दयनीय अवस्था में उपस्थित होती है, तथा नायक उसकी दशा को देखकर उसके प्रति मनसा या कर्मणा उपकार करता है। मालविका जैसी सुन्दरी को दासी के रूप में देखकर अग्निमित्र उसके प्रति सदय भाव का अनु-

१. वत्स, ते भागधेयानि पृच्छ॥ (शाकु० ७.पृ० २५२)

भव करता है। विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल मे इस योजना का विस्तृत रूप दिखाई पड़ता है। विक्रमोर्वशीय की उर्वशी तथा शाकुन्तल की शकुन्तला को कवि कुछ ऐसी विपद्गत दशा मे चित्रित करता है, जिससे नायक छुड़ाता है। पुरूरवा दानवो के द्वारा अपहृत उर्वशी को युद्ध करके छुड़ा लाता है, और इस प्रकार उर्वशी को उपकृत करता है। दुष्यन्त पहले तो आश्रमजनोचित कार्य मे व्यस्त शकुन्तला को देखकर उसके भाग्य की विचित्रता के प्रति करुण सस्पृह दृष्टि से उसी तरह देखता है, जैसे कोई इन्दीवर कमल के पत्ते के कोमल किनारे (धार) से समिधा की लता को काटते व्यक्ति की निष्ठुरता को देखता है,[१] फिर वह भौंरे के विघ्न से आतङ्कित शकुन्तला की रक्षा कर उसका उपकार करता है। नायक के उपकार के प्रति कृतज्ञता के रूप मे नायिका का आकर्षण चित्रित करना कालिदास की वस्तुयोजना का प्रथम विन्दु है, जो नायक-नायिका के प्रथम मिलन से सबध रखता है। उर्वशी को लेकर जब पुरूरवा लौटता है, तो बेहोश उर्वशी होश में आने पर चित्रलेखा से पूछती है 'क्या इन्द्र ने उसकी रक्षा की है?' चित्रलेखा का उत्तर पुरूरवा के उपकार का सकेत करता है—'न महेन्द्रेण, महेन्द्रसदृशानुभावेन राजर्षिणा पुरूरवसा' (पृ० २०), और ठीक इसी के बाद की उर्वशी की स्वगत उक्ति एक ओर उपकार के दुहरेपन की कृतज्ञता प्रदर्शित करती है, दूसरी ओर पूर्वराग के बीज का उद्भेद दिखाती है—'उपकृतं खलु दानवेन्द्रसरम्भेण' (पृ० २०)। भौंरे से शकुन्तला की रक्षा करने पर इस तरह से किसी पात्र के द्वारा नायिका को नायककृत उपकार का स्मरण दिलाने की आवश्यकता न थी, किन्तु इस उपकार की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए कवि ने एक स्थल ढूँढ ही लिया है। प्रियवदा की उक्ति के द्वारा कवि ने इसका सकेत कर शकुन्तला के कृतज्ञता प्रकाशन की व्यंजना करा दी है—'हला शकुन्तले मोचितास्यनुकम्पिना आर्य्येण' (शाकु० पृ० ४९)। पर इतना होते हुए भी इन दोनो स्थलो में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। विक्रमोर्वशीय मे पुरूरवा के शौर्य तथा रूप के कारण उर्वशी पहले मोहित होती है, बाद में पुरूरवा। उर्वशी की पूर्वोदाहृत ('उपकृत' इत्यादि) उक्ति के बाद पुरूरवा के हृदय मे पूर्वराग का निबन्धन

१. ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥ (१. १६)

किया गया है, जो प्रसिद्ध पद्य[1] के द्वारा व्यक्त हुआ है। विक्रमोर्वशीय की नायिका के चरित्र को देखते हुए यही उपयुक्त दिखाई पड़ता है, जो प्रथम तो अप्सरा—सामान्या स्त्री—है, दूसरे आगे के अंकों में अभिसारिका के रूप में चित्रित की गई है, जो स्वयं राजा से मिलने के लिए चित्रलेखा के साथ राजा के प्रमदवन में आकर छिपकर राजा की चेष्टाओं का पता लगाती है। शाकुन्तल में यह बात नहीं है, वहाँ दुष्यन्त में ही पहले-पहल पूर्वराग का चित्रण किया गया है, तथा उसके बहुत बाद शकुन्तला को रागजनित विकार से युक्त निबद्ध किया गया है, जहाँ वह स्वगतोक्ति के द्वारा राजा को देखकर तपोवनविरोधी विकार की पात्र बनती व्यंजित की गई है। शाकुन्तल की यह वस्तुयोजना एक ओर शकुन्तला के भोलेपन, तथा राजा के कामुकत्व की व्यंजना करती है। किन्तु इतना होते हुए भी कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को स्थान-स्थान पर धीरोदात्तत्व को दूषित करनेवाले दोषों से बचाने का प्रयत्न किया है। कालिदास का पहला प्रयास 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तय.' के रूप में स्पष्ट है, दूसरा प्रयास दुर्वासा के शाप की योजना है। यदि दुष्यन्त की धीरोदात्तप्रकृति के लिए 'कामुक' शब्द का प्रयोग बुरा लगे, तो 'रसिक' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है; किन्तु अपनी असलियत को छिपाकर स्वयं को दुष्यन्त का राजपुरुष कहने की धोखाधड़ी क्या उसके कामुकत्व की पुष्टि नहीं करेगी ? नायक-नायिका के प्रथम दर्शन के समय की विदाई का चित्रण करते समय दोनों ही नाटकों में कवि ने नायिका के औत्सुक्य की सरल और स्वाभाविक व्यंजना में एक-सी प्रणाली का आश्रय लिया है। पुरूरवा को छोड़कर आकाश मार्ग में उड़ती उर्वशी की वैजयन्तिका (हार) लताविटप में उलझ जाती है, जिसके बहाने मुड़कर वह आखिरी बार राजा को देखना चाहती है। इस स्थल के वर्णन में कालिदास का नाटकीय संवाद (Dialogue) भी अपनी सूक्ष्मता तथा स्वाभाविकता के लिए उदाहृत किया जा सकता है:—

---

१. अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ (विक्र० १.१० पृ० २०.)

उर्वशी— अहो लताविटपे एषा एकावली वैजयन्तिका मे लग्ना । (सव्याजमुपसृत्य राजान पश्यन्ती) सखि चित्रलेखे, मोचय तावदेनाम् ।

चित्रलेखा—(विलोक्य विहस्य च) आम्, दृढं खलु लग्ना सा, अशक्य मोचयितुम् ॥ (विक्र० पृ० ३४)

[उर्वशी—अरे मेरी एकावली वैजयन्तिका लताविटप मे फँस गई। (इस बहाने से नजदीक जाकर राजा को देखती हुई) सखि चित्रलेखे, इसे सुलझा तो दे ।

चित्रलेखा—(देखकर और हँसकर) हाँ, यह तो बहुत फँस गई है, सुलझाना असम्भव है ।]

शाकुन्तल मे भी इसका सङ्केत मिलता है, पर वहाँ कवि ने हेरफेर कर उसे अधिक रमणीय रूप दे दिया है । प्रथम अङ्क की विदाई के समय शकुन्तला की इस तरह की चेष्टा का कोई सङ्केत न देकर, कालिदास ने दूसरे अङ्क में नायक दुष्यन्त के द्वारा स्मरणरूप मे शकुन्तलाविषयक औत्सुक्य की व्यञ्जना कराई है । माधव्य से अपने प्रेम की बात कहते तथा शकुन्तला का वर्णन करते समय नायक के मुख से ही निम्नलिखित उक्ति कहलाना, कवि की वस्तुयोजना को तीव्रतर बना देता है :—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥
(शाकु० २. १२)

'कोमल अङ्गोंवाली शकुन्तला कुछ दूर जाकर इस बहाने रुक गई कि उसके पैर मे दर्भ की नोक चुभ गई है । उसका वल्कल पेड़ों की शाखाओं मे नही उलझा था, फिर भी टेढ़ी गरदन करके वह जैसे उसे सुलझाने की चेष्टा कर रही थी ।'

उर्वशी की एकावली उलझती है, शकुन्तला का वल्कल, साथ ही शकुन्तला के पैर मे दर्भ की चोट लगने का बहाना तपोभूमि के कठोर वातावरण और शकुन्तला की कोमलता के अनुरूप भी जान पड़ता है । नायक की दशा भी प्रथम दर्शन के बाद की बिदाई का मार्मिक चित्र लेकर आती है । आकाश में उड़ती उर्वशी पुरूरवा के मन को शरीर से इसी तरह तेजी से खींचकर ले

जाती है, जैसे राजहंसी खण्डित अग्रभागवाले मृणाल के तन्तु को,[1] और लतामण्डप से निकलते दुष्यन्त का शरीर तो आगे बढ़ता है, पर मन पीछे की ओर, शकुन्तला की ओर, उसी तरह बहा जा रहा है, जैसे वायु की दिशा में आन्दोलित ध्वजा का रेशमी कपड़ा।[2]

दोनों नाटकों मे विदूषक का प्रवेश द्वितीय अङ्क में होता है, तथा राजा अपने प्रणय को व्यक्त करता है, किन्तु शाकुन्तल मे कवि ने बड़ी कुशलता से इस प्रणयव्यक्ति को अन्यथा भी कर दिया है। विक्रमोर्वशीय में यही राजा पुरूरवा की पत्नी औशीनरी का प्रवेश कराकर कवि ने मालविकाग्निमित्र जैसी प्रणय-द्वन्द्व की स्थिति उपस्थित कर दी है। शाकुन्तल में कवि ने इस योजना को हटाकर एक नया रूप दिया है। दुष्यन्त की रानी वसुमती मञ्च पर कहीं नहीं आती, तथा छठे अङ्क मे एक स्थान पर उसके आने की सूचना देकर भी उसका प्रवेश न कराना कवि की बहुत बड़ी सतर्कता है। शकुन्तला के 'शुद्धान्तदुर्लभ' सौन्दर्य को छोड़ मे कवि किसी सुन्दरी का चित्रण करना अनावश्यक समझता है; साथ ही शाकुन्तल का प्रमुख प्रतिपाद्य पिछले दो नाटकों की तरह प्रणय-द्वन्द्व न होकर नियति-द्वन्द्व हो गया है। शकुन्तला तथा दुष्यन्त के मिलन में धारिणी या औशीनरी जैसा मूर्त विघ्न न होकर, दुर्वासा के शाप के रूप में अमूर्त नियतिचक्र ही बाधक दिखाई पड़ता है। शापवाले नियति तत्त्व की योजना विक्रमोर्वशीय मे भी देखी जा सकती है, जहाँ उर्वशी लता बन जाती है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने कालिदास के शाकुन्तल (तथा मेघदूत में भी) की शापवाली कल्पना की आलोचना की है, जो नायक के अन्तर्द्वन्द्व को उभरने नहीं देती, तथा कथा मे अमानवीय शक्तियों के हाथ बँटाने का सङ्केत करती है। पर कालिदास के इतिवृत्त की पौराणिकता को ध्यान में रखने पर यह कल्पना ठीक बैठ जाती है।

दोनों नाटकों मे नायक या नायिका मे से कोई एक दूसरे की चेष्टाओं को छिप-छिपकर देखता है। विक्रमोर्वशीय की उर्वशी छिपकर आती है, शाकुन्तल का दुष्यन्त तीसरे अङ्क में (प्रथम में भी) छिप-छिपकर विरहक्षाम शकुन्तला

---

१. एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुःपदं मध्यमनुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी॥ (विक्र० १.२०)

२. गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥ (शाकु० १. ३०)

विघ्नों को मिटाने के लिए, देवताओं के शत्रु दानवों का संहार करने के लिए, सदा प्रस्तुत रहता है। दुष्यन्त के उदात्त चरित्र की पराकाष्ठा में कवि सहज शृङ्गारी नायक का चित्र उपस्थित नहीं करना चाहता, अपितु वर्णाश्रमधर्म के व्यवस्थापक राजा का आदर्श भी रखना चाहता है। उसके चरित्र का एक पहलू शृंगारी रसिकता भी हो सकती है; पर उसके चरित्र का दूसरा पहलू भी कवि की दृष्टि में कम महत्त्वपूर्ण नहीं दिखाई देता। मालविकाग्निमित्र की नायिका धारिणी की सेविका बनी भोली राजकुमारी है, तो विक्रमोर्वशीय की नायिका रतिविशारदा उर्वशी। शाकुन्तल की नायिका भोली तो है, पर आरम्भ के तीन अङ्कों में जिस तेजी से प्रणय-व्यापार करती है, उस दोष को तपस्या की आंच में तपाकर कालिदास ने उसके स्वर्णिम चरित्र की भास्वरता को स्पष्ट कर दिया है।

रसव्यञ्जना

कालिदास मूलतः शृङ्गार के कवि हैं। पर पिछले दोनों नाटकों में शृङ्गार के फलस्वरूप आयुष् तथा भरत की पात्रयोजना कर नाटक को ही नहीं, शृङ्गार की धारणा को भी कवि ने नया दृष्टिकोण दिया है। सम्भवतः शृङ्गार के विषय में कालिदास का लक्ष्य (मोटो) 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' रहा है, तथा अफल (पुत्रोत्पत्तिरहित) शृङ्गार को वे वासना मानते जान पड़ते हैं। शृंगार, करुण, वात्सल्य, वीर तथा भयानक के सुन्दर स्थल कालिदास के नाटकों में पाये जाते है। दो तीन उदाहरण देना पर्याप्त होगा। भौंरा उड़-उड़कर शकुन्तला की चञ्चल कनखियोंवाली दृष्टि का स्पर्श करता है, मानो कोई गुप्त बात कहने के लिए उसके कानों के पास शब्द कर रहा है, तथा हाथों को फटकारती हुई नायिका के रतिसर्वस्व अधर का पान कर रहा है। भौंरे की इस दशा को देखकर राजा सोचता है कि जैसे भौंरा एक रसिक की भाँति शकुन्तला का उपभोग कर रहा है, जब कि वह स्वयं शकुन्तला के विषय में वस्तुवृत्तान्त (तत्त्व) के जानने के ही फेर में पड़ा रहा है।

> चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
> रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
> करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
> वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥[1] (१.२०)

---

१. व्याख्याकारों ने इस पद्य के 'तत्त्वान्वेषात्' में अपूर्व व्यञ्जना शक्ति मानी है, जो भ्रमर पर कामी का आरोप कर दुष्यन्त के कामी हृदय की अभिलाषाओं को व्यंजित करती

वात्सल्य का सरस चित्र शाकुन्तल मे सप्तम अंक के भरत वर्णन मे देखा जाता है, जहाँ दुष्यन्त बताता है कि बिना बात हँसकर नन्हीं-नन्हीं दँतुलियों को दिखानेवाले, तुतलाती अव्यक्त मनोहर वाणी बोलते हुए बालकों को गोदी मे लेकर उनके शरीर में लगी हुई धूल से मलिन होने वाले लोग धन्य हैं।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ॥ (७.१७)

शाकुन्तल का चतुर्थ अंक तपोवन से शकुन्तला की बिदाई का चित्र है। शकुन्तला को तपोवन से सदा के लिए जाते देखकर हिरनियों ने मुँह में चबाई घास वापस गिरा दी है, मोरों ने नाचना बन्द कर दिया है, और लताएँ पीले पत्तों को गिरा रही हैं, जैसे दुख से आँसू टपका रही हों।[1] जब प्रकृति की यह दशा है, तो करुणहृदय काश्यप को पीड़ा का अनुभव भला क्यों न होता? शकुन्तला आज चली जा रही है, इस बात का विचार ही उनके हृदय को उत्कण्ठा से भर देता है, उनका रुआँसा गला रुँध जाता है, और आँखों में चिन्ता की झाईं आने लगती है।

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठस्तंभितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ (४.५)

शकुन्तला-वियोगजनित दशा का अनुभव करते समय तपस्वी काश्यप यह सोचने लगते हैं कि जब स्नेह के कारण वनवासी व्यक्ति की यह दशा है, तो पुत्री के विरह के दुख का अनुभव करते समय गृहस्थों की क्या दशा होती होगी?

भयानक का मार्मिक उदाहरण दुष्यन्त के बाण से डर कर भागते हिरन के चित्र के रूप मे रखा जा सकता है। आगे हिरन दौडता जा रहा है, पीछे-

---

१। टीकाकारों ने इस पद्य के 'वयं' के बहुवचन और 'त्वं' के एक वचन के द्वारा राजा की उदात्तता तथा भ्रमर की निकृष्टता द्योतित की है। विशेष जानकारी के लिए दे० राघवभट्ट कृत व्याख्या पृ० २४-२५।

१. उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥ (४.१२)

पीछे रथ। रथ को देखने के लिए हिरन गरदन को मोड़कर पीछे देख रहा है, और कहीं उसके शरीर के पिछले भाग में बाण न लग जाय, यह सोचकर अपने आगे के भाग में जैसे-तैसे उसे समेट लेना चाहता है। थकावट के कारण खुले मुख से अर्धचवलित दर्भ गिरकर मार्ग में बिखर गया है और डर के मारे वह इतनी तेजी से छलांगें मारकर दौड़ रहा है कि जमीन पर कम और आकाश में अधिक जा रहा है।

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यंदने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

कालिदास के नाटकों में हास्यरस की योजना करने वाला पात्र विदूषक है। विदूषक राजा का नर्मसचिव, विश्वासपात्र मित्र तथा हँसोड़ पात्र है, जो व्यंग तथा हास्यपूर्ण उक्तियों से राजा को प्रसन्न भी करता है। विदूषक बदसूरत ब्राह्मण होता है, जो पेटूपन के लिए मशहूर है, पर उसमें बुद्धिमत्ता तथा बेवकूफी जैसे दो विरोधी गुणों का समावेश पाया जाता है। वह राजा का विश्वासपात्र होते हुए भी कभी-कभी राजा के गुप्त प्रणय की बातों को नहीं पचा पाता और अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास उसमें बड़े सतर्क रहे हैं। सामाजिकों को विदूषक की चटपटी उक्तियाँ समय-समय पर मनोरञ्जन प्रदान करती हैं। कालिदास के तीनों नाटकों में विदूषक के कथनोपकथन बड़े सूक्ष्म किंतु व्यंग्यप्रधान हैं। मालविकाग्निमित्र का विदूषक भगवती कौशिकी को 'पीठमर्दिका'[1] कहकर उसकी खिल्ली उड़ाता है, तो गणदास और हरदत्त की लड़ाई को मेंढ़ों की लड़ाई बताता है।[2] पर उसे सबसे अधिक चिन्ता लड्डुओं की है, और सरस्वती की भेंट में चढ़े लड्डुओं को पचाते गणदास से ईर्ष्या है।[3] विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल का विदूषक भी व्यंग व हास्यप्रधान उक्ति का प्रयोग करने में दक्ष है। औशीनरी के द्वारा उर्वशी के भूर्जपत्रलेख के पकड़े जाने पर राजा विदूषक से धीमे से बचने का कुछ बहाना पूछता है। विदूषक

१. माल० (पृ० १४)

२. भवति पश्याम उरभ्रसंवादम्। किं मुधा वेतनदानेन? (पृ० १६)

३. भो गणदास, संगीतपदं लब्ध्वा सरस्वत्युपायनमोदकास्वादनः किं ते छन्दमनिमहेन विवादेन? (पृ० १७)

की इस समय की उक्ति बड़ी सुन्दर है—'चुराई हुई वस्तु के साथ पकड़ा गया चोर क्या जवाब दे सकता है?' (लोप्त्रेण सूचितस्य कुम्भीरकस्य अस्ति वा प्रतिवचनम् वि० पृ० ९३)। शाकुन्तल का माधव्य शकुन्तला के प्रति राजा का प्रेम वैसा ही समझता है, जैसे पिण्डखजूर से अघाये हुए व्यक्ति की इमली खाने की इच्छा (यथा कस्यापि पिंडखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्, तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना शा० पृ० ७१)। राजा के मुख से शकुन्तला के 'अनाघ्रातं पुष्पं' वाले सौंदर्य की गाथा सुनकर ब्राह्मण माधव्य को भी दया हो जाती है कि कहीं वह बेचारी किसी इंगुदी के तेल से चिकने सिर वाले तपस्वी के हाथ न पड़ जाय (मा कस्यापि तपस्विन इंगुदीतैलमिश्र-चिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति। पृ० ३७)। षष्ठ अङ्क में जब मातलि आकर अदृष्ट रूप में मेघप्रतिछन्न प्रासाद पर विदूषक को दबोच लेता है, तो भीत विदूषक की उक्तियाँ सकरुण होते हुए भी व्यंग्य तथा हास्य को नहीं छोड़ पातीं।

(१) अरे मुझे कोई अदृष्ट व्यक्ति इसी तरह तीन टुकड़ों में गरदन घुमा-कर मरोड़े डालता है, जैसे ईख को तोड़ा जाता है। (एष मा कोऽपि प्रत्यवन-तशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभंग करोति—पृ० २२४)

(२) मैं अपने जीवन की आशा उसी तरह छोड़ चुका हूँ, जैसे बिडाल के द्वारा पकड़ा हुआ चूहा (बिडालगृहीत मूषिक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः—पृ० २२६)

(३) राजा को मातलि का स्वागत करते देखकर तो विदूषक और बुरा मानता है। जिसने मुझे यज्ञ के बलिपशु की तरह मारा, यह राजा उसी का स्वागत कर रहा है (अहं येनेष्टिपशुमार मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते। पृ० २२७)

विदूषक की उक्तियाँ ओकोक्ति, व्यंग्य, हास्यपूर्ण अनूठी उपमाएँ तथा संवाद की स्वाभाविक शैली से भरी पड़ी हैं, और कालिदास के नाटकों के संवाद (Dialogue) तत्त्व के अनुपम उदाहरण हैं।

संवाद की स्वाभाविकता के एक दो उदाहरण दे देना और ठीक होगा।

(१) बकुला—एष उपारूढरागः उपभोगक्षमः पुरतस्ते वर्तते।

मालo—किं भर्ता?

बकु०—न तावद्भर्ता। एषोऽशोकशाखावलंबी पल्लवगुच्छः॥

(मा० पृ० ५०)

(२) चित्र०—कः पुनः सख्या तत्र प्रथमं प्रेषितः ?
 उर्वशी—ननु हृदयम् ।
 चित्र०—को नु त्वां नियोजयति ?
 उर्वशी—मदनः खलु मां नियोजयति । (विक्र० पृ० ६१)

(३) सख्यौ-(जनान्तिकम्) हला शकुन्तले, यदि अत्राद्य तातः संनिहितो भवेत् ।
 शकु०—तत: किं भवेत् ?
 सख्यौ—इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति ।

(शाकु० पृ० ४०)

रङ्गमञ्च की दृष्टि से कालिदास नाटक के उपयुक्त जान पड़ते हैं। यह दूसरी बात है कि आकाश में उड़ते रथ के वर्णन[१] आदि की दृश्ययोजना को कुछ विद्वान् मञ्चीय सफलता में बाधक मानें। पर उनको मञ्च पर कल्पना से व्यक्त किया जा सकता है, आज की विकसित मञ्चीय प्रक्रिया के लिए उन्हें

---

१. ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास को आकाशमार्ग की गत्यात्मक (Dynamic) यात्रा का वर्णन करने का बड़ा शौक है। मेघदूत में इसका एक पहलू है, रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में दूसरा। विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल में कवि अपनी इस रमणीय कल्पना के मोह को नहीं रोक सका है। विक्रमोर्वशीय के पहले अङ्क में, पुरूरवा के रथ के वेग से आगे आने वाले बादल चूर्ण-चूर्ण होकर धूल की तरह रथ के पीछे बह रहे हैं, रथ का पहिया इतनी तेजी से घूम रहा है कि देखने वाले को उसके अरों में दूसरी आवली की सत्ता प्रतीत होती है। घोड़ों के सिर पर बाँधा गया बड़ा चामर रथ की तेजी के कारण निश्चल तथा चित्रलिखित-सा हो गया है और वायु के वेग से रथ के प्रान्तभाग में उड़ता हुआ ध्वजवस्त्र रथ की तेजी से पुनः रथमध्य में आकर स्थित हो गया है :—

> अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घनाः
> चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम् ।
> चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
> यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात् ॥ (वि० १.५)

शाकुन्तल के सप्तम अङ्क में दुष्यन्त मातलि के साथ रथ के द्वारा आकाशयान से पृथ्वी को लौट रहा है। रथ के आकाशमार्ग में उड़ने के कारण उसके पहियों के अरविवरों में से चातक इधर से उधर निकल रहे हैं। मेघों के घर्षण से चमकती बिजली के तेज से रथ के घोड़े प्रदीप्त हो उठे हैं और रथ के पहियों की नेमि पानी से भरे बादलों पर चलने के कारण सीकर-कण से गीली हो गई है।

> अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः ।
> गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः ॥ (७.७)

दिखाना संभव भी है। कालिदास के नाटकों की दृश्य काव्य की दृष्टि से आँकी गई सफलता के मुख्य कारण दो हैं। भवभूति या मुरारि की तरह कालिदास की नाटकीय कथावस्तु की गत्यात्मकता मालतीमाधव के से समास्त पदावली वाले लम्बे-लम्बे संवादों के द्वारा, या उत्तर-रामचरित के-से अतिशय भावोद्रेक या प्रकृतिवर्णन के द्वारा, या मुरारि के-से पाण्डित्यप्रदर्शन के द्वारा नहीं रोकी जाती। कालिदास की नाट्यकला' की वस्तुयोजना का संकेत देते समय हमने बताया है कि कालिदास ने कहीं भी सामाजिक की औत्सुक्य-प्रवृत्ति को खण्डित नहीं किया है, तथा कवि ने उसे उभारने के लिए नई-वस्तु-विधान कल्पना का समावेश किया है। कालिदास के संवाद सूक्ष्म तथा प्रसङ्गोपयुक्त (Short and up-to date) हैं, तथा उसके भावात्मक पद्य भी कथाप्रवाह को आगे बढ़ने में सहायता देते हैं। इन्हें देखकर कालिदास की नाट्यकला की प्रथमकोटिकता के विषय में किसी सन्देह का अवसर नहीं रहता।

कालिदास के शिष्ट तथा पुरुष पात्रों की भाषा संस्कृत है। बाकी पात्र प्राकृत बोलते हैं। शाकुन्तल के षष्ठ अङ्क के प्रवेशक को छोड़कर सभी स्थानों पर कालिदास ने शौरसेनी[1] प्राकृत का प्रयोग किया है। उसकी प्राकृत गाथाएँ 'महाराष्ट्री' में हैं। शाकुन्तल के छठे अङ्क के प्रवेशक में मछुवा मागधी[2] प्राकृत का प्रयोग करता है। विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क में पुरूरवा की प्रलापोक्तियों में कई स्थानपर अपभ्रंश की छाया दिखाई पड़ती है।[3] कर्ता

इसी वर्णनपद्धति से रघुवंश के त्रयोदश सर्ग के कई वर्णन मिलाये जा सकते हैं। यथा—

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते॥ (१३.२१)
अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम्।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम्॥ (१३.३३)

१. इमं अभिणवमलिणविणि पिअवदं अच्छाए गोदमीए णिवेदइस्सं। (पृ० ४६)

२. तदो उदलब्भन्तले एदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देक्खिअ पच्छा अहके दे विक्कअत्थं दंशअन्ते गहिदे भावमिस्सेहिं। मालेह वा मुञ्चेह वा (पृ० १८४)

३. हउं पइं पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु ललिअपहारें णासिअतरुवरु।
दूरविणिज्जिअससहरकन्ती दिट्ठी पिअ पइं संमुह जन्ती॥ (वि० ४.४५)
(अहं त्वां पृच्छामि आचक्ष्व गजवर ललितप्रहारेण नाशिततरुवर।
दूरविनिर्जितशशधरकान्तिर्दृष्टा प्रिया त्वया संमुखं यान्ती॥)

कारक के ए० व० का अपभ्रंश विभक्तिचिह्न 'उ' वहाँ पाया जाता है, जो प्राकृत की प्रकृति के अननुकूल है साथ ही वहाँ प्रयुक्त छंद भी अपभ्रंश के ही छंद हैं। क्या ये पद्य कालिदास के स्वयं के ही हैं, या प्रक्षेप हैं; वे राजा की उक्तियाँ हैं, या नेपथ्य-गीत (Play back song) से हैं, इस पर विद्वानों का मतभेद है। डॉ० पी० एल० वैद्य के मतानुसार ये कालिदास के काल में प्रचलित लोकगीत माने जा सकते हैं, जिन्हें कालिदास ने यहाँ रख दिया है। डॉ० वैद्य का मत समीचीन जान पड़ता है।

यद्यपि कालिदास के नाटक भावनावादी अधिक हैं; काव्य की भाँति आदर्शवादी वातावरण की सृष्टि करते हैं, किन्तु वे यथार्थवादिता से अछूते नहीं, भले ही मृच्छकटिक जैसी कठोर यथार्थता वहाँ न मिले। कालिदास के नाटक काव्य की दृष्टि से तो अनुपम हैं ही, जिसके कारण शकुन्तला की गेटे ने दाद दी थी, पर नाट्यकला की दृष्टि से भी वे प्रथम कोटि के नाटक अवश्य हैं।

मृच्छकटिक और उसका रचयिता

संस्कृत के नाट्य-साहित्य में मृच्छकटिक का महत्वपूर्ण स्थान है। मृच्छकटिक अपने ढङ्ग का अकेला नाटक है, जिसमें एक साथ प्रणयकथात्मक प्रकरण, धूर्तसंकुल भाण, तथा राजनीतिक नाटक का वातावरण दिखाई देता है। यही अकेला ऐसा नाटक है, जो उस काल के मध्यवर्ग की सामाजिक स्थिति को पूर्णतः प्रतिबिंबित करता है। किंतु मृच्छकटिक कब लिखा गया, किसने लिखा, इन दो प्रश्नों की समस्या अभी तक पूरी तरह नहीं सुलझ सकी है। कुछ विद्वानों के मतानुसार मृच्छकटिक ही संस्कृत का सर्वप्रथम नाटक है, तथा इसकी रचना कालिदास से पहले की है। किन्तु यह मत समीचीन नहीं जान पड़ता। जैसा कि हम आगे संकेत करेंगे, मृच्छकटिक के नाटकीय सविधान, शैली, भाषा, और विशेषतः उसकी प्राकृत के आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि वह कालिदास के बाद की रचना है।

मृच्छकटिक प्रकरण शूद्रक की कृति के रूप में प्रसिद्ध है। इसकी प्रस्तावना में बताया गया है कि इसकी रचना 'द्विजश्रेष्ठ' शूद्रक ने की थी, जो ऋग्वेद, सामवेद, हस्तिशिक्षा आदि विद्याओं और कलाओं में पारङ्गत था, जिसने अपने पुत्र को राजा बनाकर सौ वर्ष से अधिक उम्र में अग्निप्रवेश किया था।[१] उसी राजा शूद्रक ने उज्जयिनी के सार्थवाह दरिद्र चारुदत्त तथा वसन्तसेना की प्रणय-गाथा को लेकर इस प्रकरण की रचना की है।[२] किन्तु शूद्रक को इसका रचयिता मानने में कई आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। क्या प्रस्तावना के पद्य भी शूद्रक के हैं? यदि नहीं, तो ये पद्य किसने जोड़े और क्यों? साथ ही, क्या शूद्रक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, यदि हाँ तो वे कब हुए हैं? इन प्रश्नों के विषय में विद्वानों ने अलग-अलग उत्तर दिए हैं, और शूद्रक के व्यक्तित्व तथा इस नाटक के रचयितृत्व के विषय में कोई ऐकमत्य नहीं हो सका है।

---

१. मृच्छकटिक, प्रथम अङ्क (पद्य ३, ४, ५)

२. मृच्छ० प्रथम अङ्क (पद्य ६, ७)

शूद्रक संस्कृत साहित्य का 'रोमैंटिक' व्यक्तित्व रहा है। स्कन्दपुराण मे एक शूद्रक का उल्लेख मिलता है। उसके बाद वेतालपञ्चविंशति, कल्हणकृत राजतरङ्गिणी और कथासरित्सागर मे शूद्रक के सवन्धमें कथाएँ पाई जाती हैं। बाण के हर्षचरित से ज्ञात होता है कि शूद्रक ने अपने शत्रु चन्द्रकेतु—चकोर के राजा—से किस तरह छुटकारा पाया। कादम्बरी मे शूद्रक विदिशा का राजा है। दण्डी के दशकुमारचरित मे भी शूद्रक का संकेत मिलता है। ऐसा अनुमान होता है कि बाद मे जाकर शूद्रक भी उदयन की भांति लोककथाओं का नायक बन गया था, और उसके साथ कई कहानियाँ जोड़ दी गई होंगी। पर क्या असली शूद्रक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था? डॉ० स्मिथ के मतानुसार शूद्रक आन्ध्रवंश के राजा सिमुख से अभिन्न व्यक्ति है, जिसका समय (२४० ई० पू०) है। प्रो. स्टेन कोनो के मतानुसार आभीरवंश के राजा शिवदत्त (२४८ ई०) का ही दूसरा नाम शूद्रक था। कुछ लोग आन्ध्रवंश के वासिष्ठिपुत्र पुलुमावि को ही शूद्रक मानते हैं। कुछ भी हो, इस विवाद से हमें यहाँ विशेष प्रयोजन नही। *हमें तो यहाँ मृच्छकटिक तथा शूद्रक के परस्पर सवन्ध के विषय* मे जो मत प्रचलित हैं, उन्ही का संकेत करना है:—

१. *पिशेल के मतानुसार मृच्छकटिक के रचयिता दण्डी हैं। उनका कहना* है कि दण्डी ने तीन कृतियाँ लिखी थी (त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च)। दशकुमारचरित तथा काव्यादर्श उसकी दो रचनाएँ हैं, और तीसरी कृति मृच्छकटिक है। *यदि यह दण्डी की ही कृति होती, तो शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध* क्यों होती?

२ डॉ० सिलवाँ लेवी के मत से मृच्छकटिक शूद्रक की रचना नही है। *किसी अन्य कवि ने इसे शूद्रक के नाम से इसलिए चला दिया कि इसे पुरानी* कृति माना जाय और इसका सम्मान हो जाय।

३. डॉ० कीथ भी इसे शूद्रक की रचना नहीं मानते। वे शूद्रक को ऐति-*हासिक व्यक्ति मानने के पक्ष मे नहीं हैं। उनके मतानुसार किसी कवि ने भास* के 'चारुदत्त' मे आर्यक के विद्रोह की कथा का मिश्रण कर मृच्छकटिक की रचना की है।

४. *नवीन मत यह है, कि शूद्रक तो ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हैं, किन्तु* बाद मे उनका व्यक्तित्व लोककथाओं के घटाटोप से आच्छन्न कर दिया गया

है। पर मृच्छकटिक निःसन्देह शूद्रक की कृति नही है। इसका रचयिता कोई दूसरा ही कवि है। भास के 'दरिद्रचारुदत्त' की अपूर्णता को देखकर किसी कवि ने उसमे आवश्यक परिवर्तन कर, कुछ नई कल्पनाओं का समावेश कर 'मृच्छकटिक' का ढाँचा खडा कर दिया है। *गोपालदारक, आर्यक तथा पालक* वाली कहानी इसी कवि का समिश्रण है, जिसका बीज उसे गुणाढ्य की बृहत्कथा से अथवा उस काल की लोककथाओ से मिला होगा। पर कृति के साथ वह किन्ही कारणों से अपना नाम नही देना चाहता था, इसलिए उसने *शूद्रक के नाम से कृति को प्रसिद्ध किया। प्रस्तावना के अतर्गत शूद्रक के* परिचय वाले पद्यों मे शूद्रक का वर्णन परोक्षभूते लिट् के द्वारा *किया गया है*, तथा इन पद्यों से ऐतिह्यसूचक 'किल' का प्रयोग भी किया गया है। किन्तु इस पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, कि कवि ने अपना नाम क्यो नहीं दिया? ऐसे कौन से कारण थे, जिन्होने उसे अपना नाम प्रकट न करने दिया। इस संबन्ध मे दो कारण दिखाई देते हैं :—प्रथम तो मूल नाटक, जिसको *आधार बनाकर मृच्छकटिक का पल्लवन किया गया है*, वह भास की रचना थी, अत. उसे आमूलचूल अपनी रचना के रूप मे प्रसिद्ध करने मे कवि को हिचकिचाहट हुई होगी। दूसरे, नाटक मे जिन नवीन सामाजिक और राजनीतिक कल्पनाओं को समाविष्ट किया गया है, वे उस काल के राजवर्ग तथा समाज की खिल्ली उडाती नजर आती हैं। मृच्छकटिक मे क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, सभी समाज गिरा हुआ दिखाया गया है। ब्राह्मण चोर, जुआरी और चापलूस बताये गये हैं, तो क्षत्रिय क्रूर और दुराचारी। राजा नीच जाति की रखैलियों को रखता है, नीच जाति के लोग राज्य में उच्च पदो पर हैं, और न्याय कुछ नहीं, राजा की इच्छा पर निर्भर है। ऐसा अनुमान है, कवि ने तात्कालिक मध्यवर्ग तथा राजवर्ग की स्थिति पर व्यग्य कसते हुए इस कृति का पल्लवन किया है। ऐसा क्रान्तिकारी कवि उस काल मे राजदण्ड से बचने के लिए अपना नाम छिपा न देता, तो करता क्या?

इतना होने पर भी मृच्छकटिक के अन्तरङ्ग प्रमाणों के आधार पर हम उसके *रचनाकाल और रचयिता के व्यक्तित्व का अनुमान कर सकते हैं। भारवि* के परिशीलन में हम गुप्तोत्तरकाल की सामाजिक दशा का सङ्केत कर चुके हैं। वहीं हमने यह भी संकेत किया था कि गुप्तों के बाद हर्षवर्धन तक कोई भी सार्वभौम राजा उत्पन्न नही हुआ था। उत्तरी भारत में कई छोटे-मोटे

राजा थे, गुप्तो का राज्य नाममात्र को मगध मे शशाङ्कगुप्त तक बना रहा, और उज्जयिनी से भी गुप्तों के पैर उखड चुके थे। मालव मे उस समय की राजनीतिक स्थिति अत्यधिक शोचनीय थी, गुप्तो की शक्ति का ह्रास होने के कारण और हूणो के आक्रमण के कारण उत्तरी भारत मे अराजकता-सी फैली हुई थी। राजाओ का चारित्रिक अधःपतन हो चुका था। वे वीरता से हाथ धो बैठे थे, और विलास मे इतने मग्न हो गये थे कि राजमहिषियों के अतिरिक्त कई रखेलें भी रखते थे, जिनमे कई भुजिष्याएँ तो निम्न जाति की होती थी। मृच्छकटिक के राजा पालक ने भी ऐसी रखेलें रख रखी हैं, जिनमे एक शकार की बहिन है। शकार उच्चकुलोत्पन्न पात्र न होकर व्यभिचारिणी का पुत्र (काणेलीमातृक) है। राजाओ की विलासिता के कारण राज्य की शासन-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चली थी। न्याय समाप्त हो चुका था, और राजा की इच्छा के अनुकूल न्याय हो रहा था। राजा के सगे-सम्बन्धी न्यायाधीशो को पद से हटा दिये जाने की धमकी दिखाकर मनमाना न्याय करवा लेते थे। प्रजा राजा से असन्तुष्ट थी। राजा स्वय अपने शत्रुओं से शङ्कित रहता था, और मौका पाकर अपने शत्रुओ को निगडबद्ध करने की ताक मे रहता था। राज्यव्यवस्था इतनी खराब हो गयी थी कि राज्य मे किसी भी समय विद्रोह हो सकता था, और पुराने राजा को चन्द घण्टों मे हटाकर नए राजा को सिंहासनारूढ किया जा सकता था। राजा के विरुद्ध कई शक्तियाँ षड्यन्त्र किया करती थी, जिनमे चोर, जुआरी, लुच्चे, लफंगे तक शामिल थे।[1] नगर की रक्षा-व्यवस्था बिगडी हुई थी। कोई भले घर की बहू-बेटी शाम के बाद घर से निकलने का साहस नही कर सकती थी। राजमार्ग पर शाम पडते ही वेश्याएँ, विट, लफंगे, जुआरी लोग घूमने लग जाते थे।[2] कभी-कभी राजमार्ग पर ही इन लोगो मे मार-पीट भी हो जाती थी।

---

१. ज्ञातीन्विटान्स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान् राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः॥
(मृच्छ० ४. २६)

२. अन्यच्च, एतस्यां प्रदोषवेलायां इह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषाः सञ्चरन्ति। तन्मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इवाभिमुखापतितो वध्य इदानीं भविष्यामि। (मृच्छकटिक, प्रथम अङ्क)

उस काल की आर्थिक दशा अत्यधिक समृद्ध थी। चारुदत्त स्वयं सम्पत्तिशाली सार्थवाह था, जो दानशीलता के कारण दरिद्र हो गया था। गणिका वसन्तसेना की समृद्धि का जो वर्णन किया गया है, वह समाज में गणिकाओं के सम्मान का संकेत करता है। वसन्तसेना गणिका थी, वेश्या नहीं। संभवतः उस काल में वेश्याओं के दो वर्ग थे। गणिकाएँ नृत्यगीतादि के द्वारा जीविकोपार्जन करती थीं, वेश्याएँ रूप-यौवन के द्वारा। गणिकाओं और वेश्याओं से समाज के प्रतिष्ठित लोगों का भी संबंध रहता था। गणिकाएँ अपना पेशा छोड़कर कुल-वधुएँ भी बन सकती थीं, और ब्राह्मण तक उनसे विवाह कर सकते थे। मृच्छकटिक में एक नहीं, दो-दो ब्राह्मणोंका गणिकाओं से विवाह कराया गया है। चारुदत्त का विवाह वसन्तसेना से होता है, शर्विलक मदनिका को अपनी वधू बनाता है।

उस काल में भारत में दास प्रथा प्रचलित थी। दास स्वामी की संपत्ति थे। मदनिका वसन्तसेना की दासी थी, और शर्विलक ने उसे दासत्व से छुड़ाने के लिए ही चारुदत्तके घर पर सेंध लगाकर चोरी की थी। चारुदत्त और शकार के चेट भी गुलाम थे। मालिक का रुपया चुकने पर दास गुलामी से छुटकारा पाकर स्वतन्त्र नागरिक बन सकता था। मालिक स्वयं भी किसी दास को स्वतन्त्र कर सकता था। चारुदत्त स्थावरक चेट को स्वतन्त्र कर देता है–'मुक्त, अदासो भवतु' (दशम अंक)।

मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग समाज में जुआ खेलने का आम प्रचार था। जुआ खेलने के अड्डे होते थे, जिनका मुखिया सभिक कहलाता था। द्यूत को राज्य की ओर से वैधानिक मान्यता प्राप्त थी। अगर कोई जुआ खेलने में बेईमानी करता या हारकर रुपया न देता, तो न्यायालय में दावा किया जा सकता था। संवाहक के भाग जाने पर द्यूतकार माथुर से कहता है—'एहि राजकुलं गत्वा निवेदयावः' (द्वितीय अंक)। कई लोग आजीविका न मिलने पर द्यूत को ही आजीविका बना लेते थे। संवाहक अपने आपको 'द्यूतोपजीवी' कहता है।

इस समय बौद्ध धर्म की स्थिति लड़खड़ा रही थी। बौद्ध भिक्षुओं का चारित्रिक पतन नहीं हुआ था, पर वे सशंक दृष्टि से देखे जाते थे। वैदिक ब्राह्मणधर्म ही राजधर्म था। इसी काल में शैवों तथा शाक्तों का भी उत्थान होने लग गया था, जो भवभूति के समय में परिपक्व रूप में सामने आता है। ऐसा प्रतीत होता है, मृच्छकटिक का रचयिता स्वयं शैव था।

मृच्छकटिक मे प्राप्त कई प्रयोगों से ऐसा अनुमान किया जाता है, कि मृच्छकटिक का रचयिता दाक्षिणात्य था। वसन्तसेना के हाथी का खुण्टमोडक' नाम दाक्षिणात्य नाम है। पैसे के लिए मृच्छकटिक मे 'नाणक' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस नाटक का रचयिता सिद्धहस्त कवि है, उसे संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रौढ ज्ञान है। केवल शौरसेनी और मागधी प्राकृत ही नही, चाण्डाली, शकारी, ढक्की जैसी विभाषाओं और देशभाषाओं का प्रयोग उसके इस ज्ञान का प्रमाण है। प्राकृतों का प्रयोग मृच्छकटिक के रचयिता के काल का संकेत कर सकता है। मृच्छकटिक की ढक्की, जिसका प्रयोग माथुर ने किया है, अपभ्रश का ही एक रूप है। सभवतः अपभ्रश को ही पृथ्वीधर (मृच्छकटिक के टीकाकार) ने ढक्की कहा है। मृच्छकटिक के माथुर की उक्तियाँ उकारबहुला हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मृच्छकटिक की रचना कालिदास तथा हर्षवर्धन के बीच के समय की विभाषाओं का सकेत करती हैं।

उपर्युक्त सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थिति को ध्यान मे रखते हुए हम मृच्छकटिक को ईसा की पाँचवी शती के उत्तरार्ध या छठी शती के पूर्वार्ध की रचना कह सकते हैं।

मृच्छकटिक की कथा

मृच्छकटिक एक सकीर्ण कोटि का प्रकरण[१] है। इसमे चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रेम की कल्पित कथा है। इसी के साथ कवि ने पालक तथा गोपालदारक आर्यक की कथा को जोड दिया है। सम्पूर्ण प्रकरण दस अङ्कों में विभक्त है।

प्रथम अङ्क मे विदूषक चारुदत्त के मित्र चूर्णवृद्ध के द्वारा भेजा हुआ शाल लेकर आता है। चारुदत्त विदूषक को चौराहे पर मातृवलि अर्पण करने जाने को कहता है। विदूषक रात मे चौराहे पर जाने से डरता है। चारुदत्त उसके साथ रदनिका को भेजता है। इसी अङ्क मे राजमार्ग पर वसन्तसेना का पीछा करते हुए शकार, विट और चेट प्रविष्ट होते हैं। शकार के कथन से वसन्तसेना को यह पता चल जाता है कि वह चारुदत्त के मकान के पास ही है। शकार से बचने के लिए वह चारुदत्त के घर मे घुस जाती है। इधर रदनिका को लेकर मैत्रेय मातृबलि देने जाता है, तो शकार रदनिका को वसन्त-

१. संकीर्णं धूर्तसंकुलम्—दशरूपक।

सैना समझकर पकड़ लेता है। मैत्रेय उसे डांटता है। वसन्तसेना चारुदत्त के घर मे प्रविष्ट होकर अपना गहना वहाँ रख देती है, और चारुदत्त उसे घर तक पहुँचा आता है। इसी अङ्क में यह भी सकेत मिलता है कि वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यान मे चारुदत्त को देखकर उसके प्रति अनुरक्त हो गई थी।

द्वितीय अङ्क में प्रात.काल दो घटनाएँ होती हैं। सवाहक पाटलिपुत्र का सभ्य नागरिक था। भाग्य-विपर्यय से वह उज्जयिनी मे आकर सवाहक का काम सीखकर चारुदत्त का नौकर बन जाता है। चारुदत्त के दरिद्र बन जाने पर वह जुआरी बन जाता है। जुए मे दस मोहर हार जाता है, और माथुर को नहीं चुका पाता। द्यूतकार और माथुर उसका पीछा करते हैं। वह वसन्तसेना के घर मे घुस जाता है। वसन्तसेना सोने का गहना देकर उसे छुड़ाती है। सवाहक को ग्लानि होती है, और वह बौद्धभिक्षु बन जाता है। उसी दिन वसन्तसेना का हाथी छूट जाता है, वह रास्ते में एक भिक्षु को कुचलना ही चाहता है कि वसन्तसेना का चेट कर्णपूरक उसे बचा लेता है। इससे प्रसन्न होकर पास मे खड़ा हुआ चारुदत्त खुश होकर उसे दुशाला पुरस्कार में दे देता है। तीसरे अङ्क मे शर्विलक वसन्तसेना की दासी मदनिका को गुलामी से छुड़ाने के लिए चारुदत्त के घर पर सेंध लगाकर चोरी करता है। वसन्तसेना के (धरोहर) गहने चुरा लिये जाते हैं। चतुर्थ अङ्क मे शर्विलक गहने लेकर वसन्तसेना के घर पहुँचता है। वसन्तसेना मदनिका तथा शर्विलक की बातों को छिपकर सुन लेती है। उसे सारी बात का पता लग जाता है। फलतः वह मदनिका को शर्विलक के हाथों सौंप देती है। इधर चारुदत्त वसन्तसेना के गहने चोरी मे चले जाने से दुखी होता है, वह अपनी पत्नी धूता की बहुमूल्य रत्नावली को लेकर मैत्रेय को वसन्तसेना के घर भेजता है। मैत्रेय यह कहता है कि चारुदत्त वसन्तसेना के गहनों को जुए में हार गया है, इसलिए बदले मे यह रत्नावली भेजी है। पञ्चम अङ्क में वसन्तसेना विट को साथ लेकर चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती है। चारुदत्त उसकी प्रतीक्षा करता है। बादल गरज रहे हैं, बिजली कड़क रही है, पानी से तरबतर वसन्तसेना चारुदत्त के यहाँ पहुँचती है। वसन्तसेना उस रात वहीं रहती है। छठे अंक में चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक बगीचे मे चला जाता है, और जाते समय वसन्तसेना से वहीं मिलने को कहलवा जाता है। इधर वसन्तसेना अपने लिए भेजी गई गाड़ी मे न बैठकर भूल से पास में खड़ी दूसरी गाड़ी में बैठ जाती है, जो शकार

की है। इसी अङ्क में गोपालदारक आर्यक कैदखाने से भागकर आता है, वह चारुदत्त की खाली गाड़ी में बैठ जाता है। गाड़ीवान उसे वसन्तसेना समझकर गाड़ी हाँक देता है। रास्ते मे रक्षक, चन्दन और वीरक गाड़ी को देखना चाहते हैं। चन्दन उसे देखने जाता है और पहचान कर अभय देता है। इधर वीरक भी गाड़ी को देखना चाहता है, तो वह झगड़ा कर बैठता है। आर्यक उद्यान मे आकर चारुदत्त से मिलता है।

अष्टम अक मे वसन्तसेना उद्यान मे पहुँचती है, पर वहाँ शकार को देखकर सहम जाती है। शकार उसके प्रति प्रेम प्रदर्शन करता है और स्वीकार न करने पर उसका गला घोंटकर मार डालता है। शकार वहाँ से भाग जाता है। इधर संवाहक, जो बौद्ध भिक्षु है, वसन्तसेना को मरी पाकर पास मे पहुँचता है, उसे होश मे लाकर समीप के विहार मे ले जाता है। नवम अक मे शकार कचहरी मे जाकर चारुदत्त पर यह अभियोग लगाता है कि उसने वसन्तसेना को मार डाला है। कचहरी मे चारुदत्त का मामला पेश होता है। इसी समय विदूषक आता है, और उसके पास से वसन्तसेना के गहने बरामद होते हैं। प्रमाण मिलने पर चारुदत्त को फाँसी का दण्ड दे दिया जाता है। दशम अक में चाण्डाल चारुदत्त को फाँसी देने श्मशान की ओर ले जाते हैं। इसी बीच भिक्षु वसन्तसेना को ले आता है। इधर राज्य मे विप्लव होता है। शर्विलक राजा पालक को मारकर आर्यक को राजा बना देता है। चारुदत्त को फाँसी से छुटकारा मिल जाता है, शकार को झूठे अभियोग के लिए फाँसी की आज्ञा होती है, पर चारुदत्त उसे क्षमा दिलवा देता है। चारुदत्त और वसन्तसेना का विवाह हो जाता है और भरतवाक्य के साथ प्रकरण समाप्त होता है।[1]

मृच्छकटिक का नाटकीय संविधान

मृच्छकटिक प्रकरण संस्कृत रूपकों मे घटनाचक्र की दृष्टि से अपूर्व नाटक है। घटना-चक्र की गत्यात्मकता इस रूपक की खास विशेषता है, और इसकी सफलता तथा प्रसिद्धि का मुख्य कारण यही है। संस्कृत के रूपकों का घटनाचक्र बड़ा कच्चा रहता है। कालिदास, शूद्रक (?), तथा विशाखदत्त के अतिरिक्त बाकी सभी नाटककारों के घटनाचक्र बड़े शिथिल होते हैं। नाटक में प्रमुख वस्तु 'व्यापार' (Action) है, वही नाटक को गति देता है। उसमें कथनोप-

१. मृच्छकटिक के अतिरिक्त शूद्रक के नाम से एक और रूपक प्राप्त हुआ है—पद्मप्राभृतक भाण।

कथन की अपेक्षा अभिनय के द्वारा कथा को अधिक बढ़ाना चाहिए। मृच्छकटिक की कथा अभिनय के द्वारा आगे बढ़ती है। इसके साथ इस प्रकरण में नाटककार ने सामाजिक की 'कौतूहल' वृत्ति को आगे से बढ़ने के अवसर दिये है।

प्रस्तुत प्रकरण का शीर्षक तो अजीब है ही, साथ ही इसकी कथावस्तु और उसके निर्वाह का ढङ्ग भी बड़ा अद्भुत है। 'मृच्छकटिक' नाम प्रकरण की एक घटना से लिया गया है। चारुदत्त का पुत्र मिट्टी की गाड़ी से खेलना मना कर देता है, वह भी पड़ोसी के लड़के की तरह सोने की गाडी मे खेलना चाहता है। रोते-रोते वह रदनिका के साथ वसन्तसेना के पास आता है, वसन्तसेना उसे अपने सोने के गहने दे देती है। ये गहने ही बाद में विदूषक के पास पकड़े जाते हैं, और दरिद्र चारुदत्त के द्वारा सुवर्ण के लिए वसन्तसेना की हत्या किये जाने का प्रमाण मिल जाता है।

मृच्छकटिक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस रूपक में संस्कृत नाटक-साहित्य सर्वप्रथम राजाओ की कथा को छोड़कर मध्य वर्ग से कथावस्तु को चुनता है। उज्जयिनी के मध्यवर्ग-समाज की दैनन्दिनचर्या को रूपक का आधार बनाकर कवि ने इसे अत्यधिक स्वाभाविकता दे दी है। मृच्छकटिक संस्कृत का एकमात्र यथार्थवादी नाटक है। कालिदास और भवभूति मे हमें काव्य और भावना का उदात्त वातावरण मिलता है, जब कि मृच्छकटिक मे जीवन की कठोर वास्तविकता के दर्शन होते हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह नाटक काव्य तथा भावना की उदात्तता से रहित है। यद्यपि इस रूपक का जगत्, चोर, जुआरी, बदमाश, राजनीतिक षड्यन्त्री, भिक्षु, राजसेवक, निठल्ले, बेकार लोग, पुलिस कर्मचारी, नौकरानियाँ, विट और गणिकाओ का विचित्र जगत् है, तथापि इसमे अनेको रमणीय स्थल हैं जो काव्य की दृष्टि से निम्न कोटि के नही। इसका प्रणय-चित्रण दुष्यन्त तथा तपोवन-सुन्दरी शकुन्तला का विषादपूर्ण प्रेम नही है, न वह भवभूति के राम तथा सीता का गम्भीर आदर्श प्रेम ही है, वह तो एक नागरिक और गणिका के प्रेम का चित्र है, जो पवित्रता, गम्भीरता और कोमलता मे किसी दशा में न्यून नही। प्रकरण की विचित्र सृष्टि इस प्रेम की आधारभित्ति के रूप मे आती है। नाटककार ने इस प्रणय-कथा के साथ राजनीतिक षड्यन्त्र की कथा को मिलाने में एक कुशल नाटककर्तृत्व का परिचय दिया है। भास के 'चारुदत्त' में कथा का यह राज-

नैतिक भाग नही पाया जाता। कुछ विद्वानो के मतानुसार[1] पालक की कथा इस प्रकरण की मुख्य कथा मे ठीक नही बैठती, किन्तु यह मत ठीक नही जान पडता। पालक और आर्यक वाली राजनीतिक कथावस्तु, चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रणय-कथा से इतनी सश्लिष्ट दिखाई देती है, कि वह एक पूर्णतः विकसित प्रासङ्गिक इतिवृत्त जान पडती है। इसकी गतिविधि को देखने पर पता चलता है कि यह सम्पूर्ण रूपक में अनुस्यूत दिखाई पडती है। इतना ही नही, उस काल की सामाजिक अस्तव्यस्तता की वातावरण-सृष्टि मे भी यह उप-कथावस्तु बहुत हाथ बंटाती है। मृच्छकटिक में समाज के सभी वर्गों से चुने हुए पात्र मिलते है :—अत्यधिक सभ्य ब्राह्मण और पतित चोर, पतिव्रता पत्नी और गणिका, पवित्र भिक्षु और पापी शकार तथा लुच्चे-लफंगे। मृच्छकटिक के चरित्रो की एक प्रमुख विशेषता है, जो अन्य संस्कृत रूपकों में नही मिलती। सस्कृत के रूपको के पात्र प्रायः 'प्रतिनिधि-पात्र' (Type) होते हैं। किन्तु मृच्छकटिक के पात्र 'व्यक्ति' (Individuals) हैं। प्रत्येक पात्र अपना निजी व्यक्तित्व लेकर सामने आता है। पवित्रहृदय विट, जिसे रोजी के लिए नीच शकार का नौकर बनना, और अपमान सहना पडता है, ब्राह्मणपुत्र शर्विलक, जिसे प्रेम के कारण न चाहते हुए भी चोरी तक करनी पडती है; सुवर्णलोभ को छोडकर दरिद्र ब्राह्मण युवा चारुदत्त से प्रेम करने वाली गणिका वसन्तसेना, सभी पात्र अपनापन लेकर आते हैं, जो उसी वर्ग के अन्य लोगो में मिलना कठिन है। साराश यह है कि मृच्छकटिक मे एक साथ प्रहसन और विषादमय नाटक, व्यग्य और करुण, काव्य और प्रतिभा, दया और मानवता का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है।

मृच्छकटिक के पात्रों मे नायक चारुदत्त और नायिका वसन्तसेना के चित्रण मे कवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। चारुदत्त का अभिजात चरित्र एक विचित्र रूप लेकर आता है। वह ब्राह्मण युवा है, किन्तु व्यवहार से ब्राह्मण न होकर श्रेष्ठी है। चारुदत्त को हम मध्यवर्गीय नागरिकवर्ग का 'प्रतिनिधि' (Type) नही मान सकते। मालतीमाधव के माधव से चारुदत्त मे बहुत बड़ा भेद है। चारुदत्त माधव की तरह प्रणयव्यापार मे स्वय क्रियाशील नही है। मृच्छकटिक का चारुदत्त वसन्तसेना को प्राप्त करने के लिए स्वय कोई

1. Charpentier : Journal of Royal Asiatic Society, 1925, P.604

प्रयत्न नही करता जान पडता। मृच्छकटिक की प्रणय-लीला मे चारुदत्त 'उदासीन' (Dummy) नायक-सा दिखाई पडता है। प्रणयलीला मे जो कुछ प्रयत्न होता है, उसका सारा श्रेय वसन्तसेना को मिलता है। इस दृष्टि से मृच्छकटिक के चारुदत्त मे सस्कृत नाटको के अन्य नायको की तरह न तो हमे विलासी शृङ्गारिता की ही अत्यधिक सरस झांकी मिलेगी, न वीरता या साहसशीलता का उदात्त चित्र ही। इतना होते हुए भी चारुदत्त के चित्र मे कुछ ऐसी मार्मिक रेखाएँ हैं, जो उसे उत्कृष्ट कलात्मकता दे देती हैं। चारुदत्त कुलीन, सभ्य एवं सच्चरित्र युवक है, उसमे कुछ ऐसे महार्घ गुण है, जिनसे उसने समस्त उज्जयिनी के मन को जीत लिया है। अपनी त्यागशीलता के कारण चारुदत्त समृद्ध श्रेष्ठी से दरिद्र बन गया है, और दरिद्र हो जाने पर भी चारुदत्त को दुःख इस बात का है कि याचक उसके घर को सम्पत्तिहीन पाकर अब नही आते। वह अपने को उस हाथी के समान समझता है, जिसने मदजल से अनेकों भौंरो को तृप्त किया है, किन्तु अब गण्डस्थल के शुष्क हो जाने पर कोई भौंरा आता ही नही।[१] कभी-कभी दरिद्रता चारुदत्त के मन को विक्षुब्ध भी कर डालती है। वह गरीबी को मौत से बढ़कर समझता है। किन्तु इतना होते हुए भी दरिद्रता ने चारुदत्त के मानसिक सन्तुलन को अस्त-व्यस्त नहीं किया है, अपितु वह जीवन की वास्तविकता को समझने लगता है। चारुदत्त दूसरे सस्कृत नाटकों के नायकों की तरह कोरा 'आदर्श' नायक नहीं है। वह उच्च मध्यवर्ग के वैयक्तिक चित्र को उपस्थित करता है, जो साहित्य, सङ्गीत और कला का प्रशंसक है, द्यूतक्रीडा करने मे नही हिचकिचाता (या द्यूतक्रीडा करने के विषय मे कहने से नहीं डरता। विदूषक की तरह वह गणिका वसन्तसेना को सशक दृष्टि से नही देखता, और गणिका-प्रेम को चरित्र का दोष नही मानता।[२]

वसन्तसेना का चरित्र दृढ़ सत्य और विशुद्ध प्रेम, अपूर्व त्याग और गुण-

---

१. एतत्तु मां दहति यद् गृहमस्मदीयं क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम्॥
(१. १२)

२. मया कथमीदृशं वक्तव्यम्, यथा गणिका मम मित्रमिति। अथवा यौवनमत्रापराध्यति न चारित्रम्। (मृच्छकटिक नवम अङ्क)

स्पृहा की आँच में तपकर, गणिकावृत्ति के कालुष्य को छोड़कर, शुद्ध भास्वर स्वर्ण के समान उपस्थित होता है। गणिका वसन्तसेना न सीता की तरह गम्भीर पत्नी है, न मालती की तरह पिता की परतन्त्रता में आबद्ध किशोरी ही, न वह शकुन्तला की तरह बालसुलभ मुग्ध मनोहारिता से युक्त है, न मालविका की तरह अस्थान में फेंका गया हीरे का टुकड़ा। विक्रमोर्वशीय की उर्वशी की तरह होते हुए भी वसन्तसेना में उससे एक तात्त्विक भेद है। उर्वशी वसन्तसेना से कहीं अधिक विलासिनी दिखाई पड़ती है, जब कि वसन्तसेना त्याग में उर्वशी से बढ़कर है, चाहे उर्वशी ने अपने पुत्रको छिपाकर प्रणय के लिए स्वार्थत्यागकी एक झलक दिखा दी हो। वैसे वसन्तसेना उर्वशी की ही तरह जीवन के अनेक अनुभव लेकर सामाजिकों के समक्ष अवतीर्ण होती है, पर बुद्धिमत्ता, प्रत्युत्पन्नमतित्व और शालीनता में वह उर्वशी से कुछ बढ़कर ही दिखाई देती है। गणिका होते हुए भी—जिसे विट वापी, लता या नौका के समान सर्वभोग्या समझता है[1]—वह सस्थानक जैसे राजवल्लभ को ठुकराकर अपने शुद्ध एवं गम्भीर प्रेम का परिचय देती है। गणिकावृत्ति के कारण उसे विपुल सम्पत्ति प्राप्त है, किन्तु उसका हृदय इस गर्हित जीविका के प्रति विद्रोह कर उठता है। राजश्याल सस्थानक के द्वारा भेजी गई स्वर्णराशि का तिरस्कार करते हुए वह शकार की सिफारिश करती हुई माँ से यही कहलाती है कि यदि वह उसे जिंदा देखना चाहती है, तो इस तरह का प्रस्ताव कभी न रखे।[2] अपने गर्हित जीवन को छोड़कर वह चारुदत्त के प्रति आसक्त होती है, किन्तु उसका मन इस शङ्का से अभिभूत रहता है कि कहीं उसकी अकुलीनता तथा गणिका-वृत्ति उसके शुद्ध प्रणय में बाधक न बन जाय। चारुदत्त को पहले-पहल ही देखकर वह अनुरक्त हो जाती है, और वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति उत्पन्न अनुराग संस्थानक के साथी विट के मुँह तक से प्रशंसा के दो शब्द निकलवा ही देता है 'सुष्ठु खल्विद उच्यते-रत्न रत्नेन सङ्गच्छते' (प्रथम अङ्क)। इतना ही नहीं, चारुदत्त के नाम को सुनकर विट का व्यवहार सर्वथा परिवर्तित हो जाता है, वह

१. त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेदयासि सर्वं भज। (१. ३२)

२ 'यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदा एवं न पुनरहं आज्ञापयितव्या।' (मृच्छ० चतुर्थ अङ्क)

बसन्तसेना को परेशान करने की बजाय शकार से बचने मे सहायता भी करता है।[1] वसन्तसेना अपनी लक्ष्यप्राप्ति मे सफल होती है। वह उज्जयिनी के आभरणभूत चारुदत्त के हृदय को जीत लेती है और प्रथम दर्शन की रात्रि के बाद उसे अभी तक अपने प्रति चारुदत्त के प्रेम के विषय मे पूरा विश्वास नही होता, क्योंकि वह उसे बहुत बडा सौभाग्य समझती है। उसे इस बात का रत्ती भर भी शोक नही कि वह दरिद्र व्यक्ति से प्रेम करती है। मदनिका से बात करते समय वह साफ कहती है कि दरिद्र पुरुष के प्रति अनुरक्त गणिका निन्दनीय नही होती। उसे इस बात का सन्तोष है कि वह उन मधुकरियों (भ्रमरियो) की तरह नहीं, जो आम के पेड से फूल झडते ही उसे छोड़कर भाग जाती हैं।[2]

इनके बाद मृच्छकटिक का महत्त्वपूर्ण पात्र 'देवपुरुष मनुष्य वासुदेव' (देवपुलिशे मणुश्शे वाशुदेवके) राष्ट्रियश्याल संस्थानक शकार है। बेवकूफी, कायरपन, हठधर्मिता, दम्भ, क्रूरता तथा विलासिता के विचित्र समवाय को लेकर शकार का चित्र उपस्थित होता है। उसे इस बात का घमण्ड है, कि उसकी बहिन राजा पालक की रखैली है, वह चाहे तो माँ और बहिन से कहकर न्यायाधीश तक को पद से हटवा सकता है। नवम अङ्क में वह नये न्यायाधीश को नियुक्त करने की धमकी देता है। शकार नीच कुलोत्पन्न है, उसके बाप तक का पता नही, इसीलिए वह 'काणेलीमातृक' (व्यभिचारिणी का पुत्र) कहलाता है। यद्यपि वह मूर्ख और कायर है, तथापि लोगों के सामने अपनी विद्वत्ता और वीरता प्रदर्शित करना चाहता है। वह वसन्तसेना के बजाय रदनिका को बालों मे ठीक वैसे ही पकड लेता है, जैसे चाणक्य ने द्रौपदी को बालो मे पकड कर घसीटा था।[3] वह वसन्तसेना को पकड़ कर

---

१. कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं सौदामिनीव जलदोदरसन्धिलीना।
त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं गंधश्च भीरु मुखराणि च नूपुराणि॥
(१.३५)
धूर्तं वसन्तसेने ? (मृच्छ० प्रथम अङ्क)

२. दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोके अवचनीया भवति।...अतएव ता मधुकर्य उच्यन्ते। (मृच्छ० द्वितीय अङ्क)

३. केशेष्वेषा परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी (२.३९)

ठीक उसी तरह मार डालेगा, जैसे हनुमान् ने विश्वावसु की वहिन सुभद्रा को मार डाला था।[१]

उसका अभिनय, चाल-ढाल, बातचीत सब सामाजिकों मे हास्य की वातावरण-सृष्टि करने मे समर्थ है। स्वय विट और चेट भी उसे मूर्ख तथा डरपोक समझते हैं, पर उसके जिद्दीपन से वे शङ्कित हैं। विट न चाहते हुए भी पेट के लिए उसकी सेवा करता है।

अप्रधान पात्रों में विदूषक मैत्रेय का पात्र हास्यसृष्टि के लिए महत्त्वपूर्ण है। शकार वाला हास्य बेवकूफी से भरा है, पर विदूषक का हास्य बुद्धिमत्ता का परिचय देता है। मैत्रेय पेटू ब्राह्मण होते हुए भी चारुदत्त का पक्का मित्र है। वह दरिद्रता मे भी उसका साथ देता है। चारुदत्त के शब्दो मे वह 'सर्वकालमित्र' है (अये ! सर्वकालमित्र मैत्रेयः प्राप्तः), और यद्यपि चारुदत्त की दरिद्रता के कारण अब मैत्रेय को उसके यहाँ अनेक पक्वान्न नही मिलते, ताकि वह पहले की तरह चौराहे के बैल की तरह जुगाली करता रहे; तथापि वह इतना सच्चा मित्र है कि खाने का बन्दोबस्त और जगह कर रात को घोसले की ओर लौटते कबूतर की तरह सोने के लिए चारुदत्त के घर आ जाता है। चारुदत्त के लिए कोई भी त्याग करने को वह प्रस्तुत है। अन्य २७ पात्रों मे जन्मना ब्राह्मण किन्तु कर्मणा स्तेन बना हुआ शर्विलक, बौद्ध भिक्षु बना हुआ मालिश करने वाला सवाहक, जुआरियो का सभिक माथुर और दोनों रक्षक—चन्दन तथा वीरक—प्रभावोत्पादक हैं। आर्यक का चरित्र बहुत सूक्ष्म होते हुए भी प्रभावशाली है। स्त्रीपात्रो मे धूता (चारुदत्त की पत्नी) भारतीय पतिव्रता नारी का ज्वलन्त आदर्श है, उसे चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम के प्रति कुछ भी शिकायत नहीं है।

मृच्छकटिक के चरित्रचित्रण मे निःसंदेह एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य सस्कृत नाटको में नही मिलती। इसलिए रेडर ने मृच्छकटिक के पात्रो को सार्वदेशिक (Cosmopolitan) पात्र कहा था। डॉ० कीथ ने इस मत का *खण्डन किया है, तथा वे इस बात पर जोर देते हैं कि संस्थानक, मैत्रेय,* मदनिका, जैसे पात्र, जिन्हे रेडर ने 'कोसमोपोलिटन' माना है, ठीक ऐसे नही जँचते। उन्हे मृच्छकटिक पूरी तरह भारतीय विचार और भारतीय जीवन का

---

१. मृच्छकटिक (१.२५)

प्रकरण दिखाई पड़ता है। उनका मत है कि कालिदास के पात्र मृच्छकटिक के पात्रों से कही अधिक 'कोसमोपोलिटन' हैं। इतना होते हुए भी मृच्छकटिक के पात्रों में सार्वदेशिकता का अभाव नही है। भवभूति के माधव या राम शुद्ध भारतीय पात्र हैं, किन्तु मृच्छकटिक में हमें कई ऐसे पात्र मिलते हैं, जो विश्व के किसी भी कोने में चलते-फिरते दिखाई दे सकते हैं। यह दूसरी बात है कि हमें ऐसे पात्र देखने को न मिले हों, पर हम आज भी बम्बई के बाजारों में या लन्दन के ईस्ट एण्ड मे किसी भी शहर के मशहूर अड्डों पर सस्थानक, शर्विलक, सभिक, माथुर जैसे पात्रों के कई पहलू देख सकते हैं।

शूद्रक (?) की नाट्यकला और रसव्यञ्जना

काव्य की प्रतिभा की दृष्टि से चाहे संस्कृत आलंकारिक शूद्रक (?) को उच्च कोटि का कवि न मानें, किन्तु मृच्छकटिक में काव्यप्रतिभा की व्यंजना निम्न कोटि की नहीं जान पड़ती। मृच्छकटिक मे निसंदेह वर्णनों का वह विस्तृत चित्र नही दिखाई पड़ता जो कालिदास तथा भवभूति के नाटकों में उपलब्ध होता है। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वर्णनों की प्रचुरता कभी-कभी नाटकीय प्रवाह को रोक कर उसकी प्रभावोत्पादकता मे बाधक भी बन जाती है। भवभूति के मालतीमाधव में—और कुछ सीमा तक उत्तररामचरित में भी—यह दोष स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जो काव्य की दृष्टि से गुण होते हुए भी नाटक की दृष्टि से दोष ही है। कालिदास मे यह बात नहीं है, वहाँ हमें काव्यत्व तथा नाटकत्व दोनों का अपूर्व समायोग दिखाई पड़ता है। मृच्छकटिक यद्यपि नाटक के घटनाचक्र की दृष्टि से भी पूर्णतः निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता, तथापि कवि ने नाटकीय संविधान को गति देने के लिए ही काव्य-प्रतिभा का प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार मृच्छकटिक में कवि को एक आध स्थल ऐसे मिले हैं, जहाँ यदि चाहता तो प्रचुर प्रकृतिवर्णन कर सकता था। अष्टम अंक के जीर्णोद्यान का वर्णन प्रकृतिचित्रण का सुन्दर स्थल था, पर कवि ने उसे हाथ से खो दिया। हमें यह मत ठीक नहीं जंचता। मृच्छकटिक का कवि जहाँ वर्षा के वर्णन मे (पंचम अङ्क मे) अधिक विस्तृत हो गया है, यह काव्य की दृष्टि से कितना ही सुन्दर हो, नाटकीय दृष्टि से कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होता है। चारुदत्त के पास अभिसरण करती हुई वसन्तसेना के मुँह से

संस्कृत की कविता कहलवाना—एक ही नहीं, लगभग एक दर्जन पद्यों का प्रयोग करना—नाटकीय दृष्टि से खटकता है। काव्य की दृष्टि से मृच्छकटिक का पंचम अंक निःसंदेह अतीव सुन्दर है, किन्तु दृश्य काव्य की दृष्टि से दोष-रहित नहीं कह सकते। इतना ही नहीं, मृच्छकटिक के चौथे अंक में वसन्तसेना के महल के सातों आँगन का वर्णन भी जो उबा देने वाला है, चाहे यत्र तत्र 'हिंगुतैल' की सुगंध को पाकर, लड्डू और मालपुवे बनते देखकर, प्रसन्न हुए पेट् ब्राह्मण मैत्रेय की उक्तियाँ हास्य का पुट दे देती हों। इन दृष्टियों से शूद्रक (?) की रचना रंगमंच के पूरी तरह तो उपयुक्त नहीं कही जा सकती। जहाँ तक शूद्रक (?) कथावस्तु का प्रश्न है, यह प्रकरण १० अंकों का एक विशाल नाटक है, जो कम से कम एक बैठक में तो मंच पर अभिनीत हो ही नहीं सकता। सामाजिकों की दृष्टि से यह दो बैठक तक अभिनीत होने पर पूरा हो सकता है। मृच्छकटिक ही नहीं, संस्कृत के कई नाटक—जिनमें प्रायः सात अंकों वाले नाटक भी शामिल हैं—इस अभिनय-काल की दृष्टि से निर्दुष्ट नहीं हैं। इस दृष्टि से हर्ष की नाटिकाएँ फिर भी मजे की हैं, जो सुगमता से दो-ढाई, अधिक से अधिक तीन घंटे में, खेली जा सकती हैं। मृच्छकटिक के मंचीय विनियोग में एक और भी अड़चन आ सकती है। मृच्छकटिक के प्रत्येक अंक में केवल एक ही दृश्य न होकर अनेक दृश्य पाये जाते हैं। कालिदास के नाटकों में यह बात नहीं है। उसके प्रत्येक अंक में केवल एक ही दृश्य है। मृच्छकटिक का पहला अंक ही चार दृश्यों में विभक्त दिखाई पड़ता है। उसी अंक में एक साथ चारुदत्त के घर का दृश्य, और साथ ही गली में वसन्तसेना का पीछा करते शकार का दृश्य दिखाने में मंच को निःसंदेह असुविधा होगी। ऐसे कई दृश्य हमें अन्य अंकों में भी मिलते हैं।

इतना होते हुए भी मृच्छकटिक की अपनी निजी विशेषता है, और वह है, मृच्छकटिक के घटनाचक्र की गतिशीलता और पाश्चात्य ढंग की 'कॉमिडी' का मनोरञ्जक वातावरण। कुछ विद्वानों के मतानुसार मृच्छकटिक में कार्यान्विति (Unity of action) का अभाव है, किन्तु दूसरे विद्वान् इसमें कार्यान्विति का अस्तित्व मानते हैं। वे पालक की कथा को प्रेम कथा का अविच्छेद्य अङ्ग मानते जान पड़ते हैं। सामाजिकों को मृच्छकटिक में एक ऐसा वातावरण दिखाई पड़ेगा, जो संस्कृत के अन्य नाटकों में नहीं है। यदि कहीं बाद के साहित्य में

कुछ मिल सकता है, तो भाण-रूपकों में। किंतु यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि भाणरूपकों ने जिस शैली को अपनाया, वह हमें इतनी रूढ दिखाई देती है कि वे पाठ्य-रूपक का रूप लेकर आते हैं। सतरहवीं शती में लिखे गये युवराज रामवर्म आदि के भाणरूपक इसके प्रमाण हैं। मृच्छकटिक एक ऐसा नाटक है, जो हमे पाश्चात्य 'कॉमेडी' नाटकों का वातावरण देने में समर्थ है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने मृच्छकटिक में यूनानी रङ्गमञ्च (नाटकों) का प्रभाव माना है। संभवतः ईसा से पहले ही भारत में सदा के लिए बसे यूनानियों ने अपने ग्रीक मञ्च को तथा नाटकों को यहाँ भी पल्लवित किया हो। यदि अश्वघोष ही सबसे प्रथम नाटककार हैं, तथा उनके प्रकरणों में भी प्राप्त धूर्तसङ्कुलत्व यूनानी 'कॉमेडी' नाटकों का प्रभाव है, तो संस्कृत नाटकों के विकास में यूनानी प्रभाव ढूँढ़ना कोई दूरारूढ कल्पना न होगी। किन्तु, हमे ऐसा जान पड़ता है कि मृच्छकटिक के मूलाधार भास के 'दरिद्रचारुदत्त' में ही यूनानी 'कॉमेडी' का प्रभाव ढूंढना अधिक जरूरी होगा, जिसे मृच्छकटिक के रचयिता ने विस्तृत रूप दे दिया है।

लोगों का मत है कि मृच्छकटिक की शैली काव्य की दृष्टि से कालिदास की अपेक्षा अधिक सरल दिखाई पड़ती है, और यही कारण है कि विद्वानों का एक दल मृच्छकटिक को कालिदास के पूर्व की रचना मानता है। पर 'दरिद्र-चारुदत्त' को मृच्छकटिक का मूलस्रोत मान लेने पर इस सरलता का श्रेय हम भास को ही देना जरूरी समझते हैं। मृच्छकटिक के भासोत्तर पद्यों में कई पद्य कालिदास की शैली के बाद की शैली का प्रदर्शन करते हैं,[1] जो मृच्छकटिक को बाद की रचना मानने के मत को और पुष्ट कर देते हैं। यद्यपि मृच्छकटिक में ऐसे पद्य बहुत कम हैं, तथापि ये कालिदासोत्तर काल की कृत्रिम काव्यशैली का संकेत दे सकते हैं। इतना होते हुए भी, समग्ररूप में मृच्छकटिक की शैली सरल ही है। मृच्छकटिक का प्रमुख रस शृङ्गार है, तथा शृङ्गार के कई सरस चित्र मृच्छकटिक में उपलब्ध होते हैं :—

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम्।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥ (५.४९)

१. देखिये—५.२२, ५.२४, ९.१४ आदि।

'उन प्रेमियों का जीवन धन्य है, जो घर पर आई हुई प्रेयसियों के वर्षा के पानी से भीगे हुए शरीर को अपने शरीर से भेंट कर आलिङ्गन करते हैं।'

वसन्तसेना की शृङ्गारोद्दीपक ललित गति का वर्णन विट की निम्न उक्ति में सुन्दरता व सरसता लेकर आया है :—

किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती।

रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा॥ (१.२०)

'हे वसन्तसेना ! पवन से फहराते हुए चञ्चल रक्त उत्तरीय को धारण करती हुई, काँपती हुई सरस कोमल कदली के समान तुम तेजी से क्यों चली जा रही हो ? जब तुम चलती हो, तो ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे अपने पैरों से राजमार्ग के कुट्टिम पर लाल कमलों के समूह (पदचिह्नों) को छोड़ती चली जा रही हो, और तुम्हारी अरुणिम शोभा जैसे मनःशिल की गुहा हो, जिसे छेनी से टाँका जा रहा हो, और उससे लाल रङ्ग का मन शिल उड़-उड़कर इधर-उधर बिखर रहा हो।'

पञ्चम अंक में उद्दीपनरूप प्रकृति का सुन्दर वर्णन है। आकाश में नाना प्रकार का रूप धारण करते मेघों का चित्र अच्छा बन पड़ा है। हवा के चलने से कभी मिलाए हुए और कभी अलग किए हुए मेघ कई तरह का रूप धारण कर लेते हैं। दो मेघ-खण्ड आपस में मिलकर ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जैसे चक्रवाक के जोड़े आपस में मिल गए हों। कभी वे उड़ते हंसों-से दिखाई देते हैं, तो कभी क्षुब्ध सागर या नदी की सतह पर उठे हुए मगर और मछलियों-से लगते हैं। वायु के द्वारा कभी-कभी उनकी आकृति ऐसा बना दी जाती है, जैसे कोई बड़ी-बड़ी प्रासादश्रेणियाँ हों। पवन के द्वारा इधर-उधर छिटकाए हुए, आकाश में उठे हुए, बादल इस तरह की अनेकों आकृतियाँ बदलते रहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वायु आकाश के चित्रपट पर अनेक प्रकार की डिजाइन (पत्रच्छेद्य) चित्रित कर रहा है, और आकाश का चित्रफलक उससे सुशोभित हो रहा है।

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव
व्याविद्धैरिव ! मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना॥ (५५)

चारुदत्त को आकाश मे छिटके बादल चित्र की डिजाइन से लगें, काले घने मेघो से भीषण रात्रि वसन्तसेना को सौत-सी दिखाई पड़ती है, जो ईर्ष्या से उसकी हँसी उडाती हुई उसके मार्ग को रोक रही है :—

मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र ।
मां गर्जितैरिति मुहुर्विनिवारयन्ती मार्गंरुणद्धिकुपितेव निशा सपत्नी ॥ (५.१५)

'यह रात क्रोधी सौत की तरह मेरे रास्ते को मेघ की गरज से बार-बार रोकती हुई, मानो मुझे इस बात का सकेत दे रही है कि जब प्रिय नायक (चारुदत्त) जल से गम्भीर मेघों वाली (पुष्ट स्तनो वाली) मुझ रात (सौत) के साथ आनन्द से क्रीडा कर रहा है, तो तुम्हारा अब क्या प्रयोजन है ? जब कान्त को रमण सामग्री उपलब्ध है ही, तो तुम्हारी कौन पूछ करेगा, तुम्हारा अभिसरण व्यर्थ है ।'

चारुदत्त की दरिद्रता का संकेत करते हुए प्रथम अक के कुछ पद्यों मे करुण और विषाद का गीलापन दिखाई दे सकता है, जो पाठक के हृदय को अत्यधिक प्रभावित करता है । चारुदत्त को इस बात का दुःख नहीं है कि वह गरीब हो गया है । पैसा आता है, और चला जाता है, यह तो सब भाग्य का खेल है । पर उसे सबसे अधिक सन्ताप इस बात का है कि लोग किसी व्यक्ति की दरिद्र दशा देखकर उसकी मित्रता से भी शिथिल हो जाते हैं ।

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य यत्सौ-
हृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥ (१.१३)

चोरी करने को लोग बुरा समझते हैं, लेकिन शर्विलक उसे एक गुण मानता है । लोग इसे इसलिए बुरा समझते हैं कि लोगों के सो जाने पर उन्हें विश्वास में डालकर उनके साथ धोखाधडी की जाती है, और इसीलिए उसे वीरता नही माना जा सकता । किन्तु शर्विलक को चोरी में कुछ गुण दिखाई देते हैं । यह कार्य निन्दनीय है, पर इसको आजीविका बनाने वाला व्यक्ति किसी की नौकरी बजाने के लिए हाथ जोड़े नही रहता, और फिर यह कार्य तो पौराणिक व्यक्तियों ने भी किया है । द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा इसके प्रमाण हैं,

जिन्होंने रात को सेंध लगाकर पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों को मारा था। भला, यह काम बुरा होता, तो क्या अश्वत्थामा इसे कभी करते ?

> काम नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्धते,
> विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं हि तत्।
> स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलि-
> र्मार्गश्चैव नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना ॥ (३.११)

सच है शर्विलक नौकरी में हाथ जोड़े हुए पराधीन व्यक्ति को बुरा समझता है। व्यवहार के नियम पालन में पराधीन आधिकरणिक (जज) को भी अपनी पराधीनता खलती है। लोग उसके पास मुकदमे लेकर आते हैं, पर न्यायविरुद्ध असली बात को छिपाकर झूठी बातें बताते हैं, और अपने अपराध को छिपाने की प्रवृत्ति से अभिभूत होकर उसके सामने अपने दोषों को कभी नहीं कहते। इस तरह दोनों दलों—वादी-प्रतिवादी—का पक्ष खूब बड़े-बड़े दोषों से युक्त होकर राजा तक पहुँचता है। इस आधार पर दिये गये निर्णय से न्यायाधीश की निन्दा तो एकदम हो जाती है, पर कीर्ति होना बड़ा दूर है।

> छिन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं
> स्वान् दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूताः स्वयम्।
> तैः पक्षापरपक्षवर्द्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते
> संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः ॥ (९.३)

सच है, न्यायाधीश का पद कठिन उत्तरदायित्व से समवेत है।

मृच्छकटिक की प्राकृत

प्राकृत के प्रयोग की दृष्टि से मृच्छकटिक का संस्कृत नाटकों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट प्राकृत भाषाओं का जो प्रयोग तत्तद् पात्र के लिए मृच्छकटिक में पाया जाता है, वह अन्य नाटकों में उपलब्ध नहीं होता। मृच्छकटिक के टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार इस नाटक में शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की इन सात प्राकृतों का प्रयोग मिलता है। इनमें शौरसेनी, मागधी, प्राच्या तथा अवन्तिका को वह प्राकृत मानता है, शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की को विभाषा। मृच्छकटिक की शौरसेनी तथा मागधी परिनिष्ठित रूप की प्राकृत हैं, तथा वररुचि

आदि प्राकृत वैयाकरणों से प्रमाणित मानी जा सकती है। वसन्तसेना, मदनिका धूता, कर्णपूरक आदि पात्र इसका प्रयोग करते हैं।[1] संवाहक (बौद्धभिक्षु), स्थावरक तथा अन्य चेट मागधी का प्रयोग करते हैं।[2] विदूषक की भाषा प्राच्या है, तो चन्दनक और वीरक की आवन्ती। ऐसा प्रतीत होता है, आवन्ती और प्राच्या दोनों शौरसेनी के ही अवान्तर भेद हैं। पृथ्वीधर के मतानुसार आवन्ती की खास विशेषता 'ल' के स्थान पर 'र' का उच्चारण तथा लोकोक्ति-बहुलता है, तो प्राच्या में स्वार्थिक ककार बहुत पाया जाता है। पर पृथ्वीधर के ये दोनों लक्षण मृच्छकटिक के वीरक-चन्दनक या विदूषक की भाषा में नहीं मिलते।[3] ध्यान से देखने पर आवन्ती में मध्यग 'त' का लोप देखा जाता है, तो प्राच्या में वह 'द' पाया जाता है। शकारी तथा चाण्डाली जिनका प्रयोग क्रमशः शकार तथा चाण्डालों के द्वारा किया गया है, मागधी की विभाषाएँ हैं। शकारी की खास विशेषता उटपटांग उक्तियाँ मानी गई हैं। मागधी की ही तरह इन दोनों में 'श' 'ष' 'स' के स्थान पर केवल 'श' पाया जाता है, तो 'र' का 'ल' हो जाता है। इसी तरह मागधी के प्रथमा ए० व० रूपों की तरह यहाँ भी 'एकारान्त' रूप ही पाये जाते हैं:—मनुश्शे (सं० मनुष्यः, (पृ० ४४) शन्ते किलिन्ते म्हि संवुत्ते [श्रान्तः क्लान्तोऽस्मि संवृत्तः] (पृ० ४९), एशे शत्यवाहविणअदत्तश्श णत्तिके शाअलदत्तश्श पुत्तके अज्ज चालुदत्ते नाम [एष सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य पुत्रश्चारुदत्तो नाम]। (पृ० ५२८)

द्यूतकार सभिक माथुर की उक्तियों में पृथ्वीधर ने ढक्की मानी है। ढक्की का नाम भरत में कहीं नहीं मिलता।[4] कुछ लोगों के मत से भरत की वनेचर-भाषा ही ढक्की है, पर हमें यह मत ठीक नहीं जँचता। भरत के

---

१. अम्हो, णिक्खित्तामिमादं पक्खदुआरअ क्खु एदं (मृच्छ० प्रथम अंक)

२. तदो, तेण अज्जेण धारिदि उज्जिदाणके किदेम्हि चडिघादवदोदे अ नन्तेन जुदीअ-अम्हि सवुत्ते (द्वितीय अंक)

३. (मदनिका) अरे वीरअ, मए चन्दणकेण पच्चोइस पुच्छेदि तुमं पच्चोदरि, को तुमं। (अंक ६) (प्राच्या) मम दा वम्हणस्स सव्वं ज्जेव विवरीदं परिणमदि, आदंसगदा विअ छाआ, वामदो दक्खिणादो वामा। (अंक १)

४. दे० नाट्यशास्त्र. (१८. ३५-३६)

द्वारा सकेतित 'उकार बहुला' विभाषा का सकेत जरूर किया जा सकता है।[१] माथुर की उक्तियों मे हमे यही उकार बहुलता मिलती है।

अले, विप्पदीवु पादु। पडिमाशुण्णु देउलु। धुत्त जूदअरु विप्पदीवेहि पादेहि देउल पविट्टो। (अरे विप्रतीपौ पादौ। प्रतिमाशून्यं देवकुलम्। धूर्तो द्यूतकरो विप्रतीपाभ्यां देवकुलं प्रविष्टः—द्वितीय अक)

यद्यपि माथुर की उक्ति मे अपभ्रश की उकार बहुला प्रवृत्ति मिलती है, किंतु ध्यान से देखने पर हम उसमे शौरसेनी अपभ्रश के बीज नहीं पाते। इस लक्षण के अतिरिक्त उसमे अन्य लक्षण मागधी के भी पाये जाते हैं। इस तरह माथुर की इबकी अपभ्रश का सङ्केत तो करती है, पर वह उस काल की कोई 'असस्कृत विनिमय भाषा' (लिंग्वा फ्रैंका) सी दिखाई पडती है, जिसका आधार उस काल की जनभाषा (सभवत· शौरसेनी अपभ्रंश का आदिम रूप) रहा हो, किन्तु माथुर मे उसका वैसा ही रूप मिलता है, जैसा बगालियों के द्वारा उच्चरित हिन्दी का रूप।

उपसंहार

मृच्छकटिक प्रकरण ने जो परम्परा संस्कृत नाटक साहित्य को दी, उस अनुपम दाय को सँभालने वाला कोई नहीं मिला। मृच्छकटिक के लावारिस रचयिता की विरासत कुछ लोगो ने अपनानी चाही, पर वे मृच्छकटिक के रचयिता की अमूल्य निधि का दुरुपयोग करनेवाले निकले। भवभूति ने मालतीमाधव प्रकरण के द्वारा सम्भवतः इसी तरह की वातावरण-सृष्टि करनी चाही थी, पर भवभूति की गम्भीर प्रकृति धूर्तसकुल प्रकरण के उपयुक्त न होने से उसने हास्य के पुट को छोड दिया। फलतः भवभूति का प्रकरण 'कॉमिडी' के उस वातावरण तक न उठ सका। हास्य की कमी को पूरा करने के लिए भवभूति ने रौद्र और वीभत्स का समावेश किय·, पर उसने प्रकरण के प्रभाव को गया बीता बना दिया है। भवभूति की ही नकल करने वाले उद्दण्डी (१७वी शती) का 'मल्लिकामारुत' भी इसी ढर्रे का है। देखा जाय, तो वह कुछ नहीं मालतीमाधव की हूबहू नकल है, न केवल कथा-वस्तु मे ही, अपितु भाषा, भाव तथा सवाद मे भी। सस्कृत साहित्य के ह्रास·

---

१. हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्॥ (वही, १८. ४७)

काल मे (१२ वी शती के बाद) दो तीन प्रकरण लिखे गये,[1] पर वे भी मृच्छकटिक की रमणीयता से शून्य हैं। प्रहसनो और भाणो ने मृच्छकटिक की एक विशेषता को आगे बढाया, किन्तु आगे जाकर भाण केवल गणिकाओ और विटों, वेश्यागणो और कोठो के इर्द-गिर्द ही घूमते रहे, मध्यवर्ग के जीवन की विविधता का इनमें दिग्दर्शन न हो सका, और सस्कृत के विपुल नाटकसाहित्य में मृच्छकटिक अपने बेजोडपन के लिए आज भी गर्वोन्नत स्थिति में खडा जैसे संस्कृत नाटक-साहित्य को जीवनरस से अछूती कृतियो की विडम्बना कर रहा है।

---

१. हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र (नाट्यदर्पण के रचयिता) का कौमुदीमित्रानन्द, दूसरे रामचन्द्र मुनि का प्रबुद्धरौहिणेय, तथा यशश्चन्द्र का मुद्रितकुमुदचन्द्र प्रकरण और देखने में आये हैं। पहले दो भावनगर से प्रकाशित हुए हैं, तीसरा बनारस से।

हर्षवर्धन

भास, कालिदास तथा मृच्छकटिक के रचयिता ने संस्कृत नाटकों को विकसित किया। नाटकीय संविधान में उन्होंने गहरी सूझ का परिचय दिया और भरत के नाट्यसिद्धान्तों की लीक पर कदम-ब-कदम चलना पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। कला-कौशल तथा पाण्डित्य के कारण दृश्यकाव्य में सैद्धान्तिक 'टेकनीक' के पूरी तरह पालन करने की ओर नाटककारों का ध्यान जाने लगा होगा। हर्षवर्धन के अन्तिम नाटक रत्नावली में पण्डितों ने इसी प्रवृत्ति को ढूँढा है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने रत्नावली तथा वेणीसंहार को नाट्यशास्त्र की शास्त्रीय 'टेकनीक' के प्रति विशेष उन्मुख बताया है। निःसन्देह रत्नावली का वस्तुसंविधान न केवल मञ्चीय गत्यात्मकता की दृष्टि से ही, अपितु शास्त्रीय सैद्धान्तिक दृष्टि से भी कसा हुआ जान पड़ता है। पर शास्त्रीय प्रभावके होने पर भी हर्षवर्धन की कला भट्टनारायण की भाँति नाटकीय ह्रास की ओर नहीं गई, यह हर्षवर्धन की सबसे बड़ी सफलता है। मुझे तो इस बात में भी सन्देह है, कि हर्ष ने 'रत्नावली' के सध्यङ्गों का विनियोग भरत के द्वारा निर्दिष्ट अर्थप्रकृति, अवस्था, सन्धि या तत्तत् सध्यङ्ग को ही निगाह में रखकर किया था। ऐसा होने पर हर्ष की नाटिका में संभवतः यह चुस्ती न आ पाती। पर इतना माना जा सकता है कि हर्ष के समय नाटककारों का ध्यान नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों की ओर अधिक जाने लगा था। कुछ भी हो, यद्यपि हर्ष के तीन नाटकों में—जिनमें प्रियदर्शिका मालविकाग्निमित्र की नकल दिखाई पड़ती है, और नागानन्द भी इतनी उच्च कोटि की प्रभावात्मकता लेकर आता नहीं दिखाई देता – रत्नावली को ही पहले दर्जे के संस्कृत रूपकों में माना जा सकता है, तथापि वह अकेली हर्ष की नाट्यकला को प्रतिष्ठित करने में अलम् है।

गुप्तों के स्वर्णिम सूर्य के अस्त होने पर इतिहास फिर अन्धकार में डूब गया, पर एकाएक वर्धन साम्राज्य का अरुणोदय हुआ। प्रभाकरवर्धन और उसके दोनों पुत्रों का नाम नभोमण्डल में चमक उठा। हर्ष के व्यक्तित्व ने पुनः गुप्तों की जयलक्ष्मी और वीणापुस्तकधारिणी शारदा को लौटाया। संस्कृत

साहित्य का तेज जैसे ढलते सूर्य की स्थिति से पहले एक बार और चमकना था, तथा भारत के अन्तिम हिन्दू सार्वभौम सम्राट् की विजयघोषणा आविन्ध्य-हिमाचल एक बार फिर निनादित होनी थी। हर्षवर्धन के आस्थानमण्डप में आये हुए कई सामन्तों और राजाओं के मुकुटमणिचक्र के द्वारा उसके चरणनख चुम्बित होते थे, और उसकी राज-सभा में पण्डितों व कवियों, बौद्ध, जैन और ब्राह्मण विद्वानों को एक-सा व्यवहार मिलता था। उसकी सभा में एक बार सरस्वती-वरद पुत्र बण्ड (बाण) की कलाबाजियाँ और भावुकता प्रदर्शित होती थी तथा उन्हें भावुक श्रोताओं और कवियों को विमद करना था (केवलोऽपि स्फुरन्बाणः करोति विमदान् कवीन्), मयूर की केका ध्वनित होती थी, दिवाकर के प्रकाश का प्रसार होता था,[१] और ईशान की मधुर लोकभाषा का काव्य संस्कृत के साथ-साथ समादृत होता था। हर्षवर्धन जहाँ वीर था, विजयशील था, वहीं स्वयं विद्वान् था, कवि था, और कवियों का आश्रयदाता था। इतना ही नहीं, वह इतिहास के पृष्ठों में महान् दानशील सम्राट् है, एक ऐसा सहिष्णु सम्राट् है, जिसकी दृष्टि में बुद्ध, विष्णु, शिव (संभवतः जिन भी) समान रूप से आदरणीय थे। अन्तिम दिनों में संभवतः वह बौद्ध हो गया था, पर फिर भी कट्टरपन उसे छू तक न गया था।

हर्षवर्धन का व्यक्तित्व इतिहास के पृष्ठों में अत्यधिक स्पष्ट है। इसका बहुत कुछ श्रेय बाण के 'हर्षचरित' तथा ह्वेनसांग के यात्राविवरण को है। हर्षवर्धन प्रभाकरवर्धन का कनिष्ठ पुत्र था। इसका बड़ा भाई राज्यवर्धन था, जो पिता के पश्चात् सिंहासन पर बैठा, पर कुछ ही दिन बाद मर गया। इसके बाद हर्ष (६०६ ई०-६४७ ई०) राजा हुआ। हर्ष की बहिन राज्यश्री थी, जिसकी कथा बाण ने अपने 'हर्षचरित' के चतुर्थ उच्छ्वास में निबद्ध की है। हर्ष के व्यक्तित्व पर विशेष सङ्केत अन्यत्र देखा जा सकता है। हर्षवर्धन की तीन रूपक कृतियाँ प्रसिद्ध हैं :—प्रियदर्शिका तथा रत्नावली, ये दो नाटिकाएँ, और नागानन्द नाटक। प्रश्न हो सकता है, हर्ष के नाटकों का क्रमिक विकास क्या रहा है? हमारा मत ऐसा है कि प्रियदर्शिका सबसे प्रथम कृति है, रत्नावली सबसे अन्तिम। यद्यपि कुछ विद्वानों ने नागानन्द को अन्तिम कृति स्वीकार

---

१. अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥

किया है, तथापि रत्नावली की नाटयकला तथा कविता, दोनो की प्रौढि, उसे अन्तिम रचना सिद्ध करती है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने हर्ष के कवित्व को सन्देह की दृष्टि से देखा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार हर्ष के नाटक उसकी स्वयं की रचनाएँ नही हैं, तथा किसी कवि ने उन्हे लिखकर प्रचुर धन लेकर राजा के नाम पर प्रसिद्ध कर दिया है। टीकाकारो ने काव्यप्रकाशकार मम्मट की पङ्क्ति 'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' की यही व्याख्या की है, और कई लोगो ने तो रत्नावली को धावक की कृति माना है। कुछ लोगों ने बाण का ही दूसरा नाम 'धावक' मानने की अटकलपच्चू लगाई है, जो नि.सार दिखाई पडती है। मेरी समझ में मम्मट की पंक्ति का अर्थ इतना ही है कि काव्य की रचना से कवियो को अर्थलाभ भी होता है (अर्थकृते), जैसे धावक आदि कवियो को श्रीहर्ष आदि राजाओं ने धन दिया (इसका अर्थ काव्य को बेचना नही जान पड़ता)। श्रीहर्ष के द्वारा बाण को प्रचुर द्रव्य देने का सङ्केत तो 'उदयनसुन्दरीकथा' के रचयिता सोड्ढल ने भी किया है।[1] इन कृतियों को हर्षवर्धन की न मानने के विषय में जब तक कोई प्रबल प्रमाण उपस्थित न किए जायें, तब तक इन्हे हर्षवर्धन की कृतियाँ मानना ही होगा।

हर्ष की नाट्यकला को मिली विरासत

हर्ष के रूपको, विशेषत. दोनो नाटिकाओ के पढने पर स्पष्ट प्रतीत होता है, कि हर्ष कालिदास से बहुत प्रभावित हैं। हर्ष की नाटिकाओं की रचना को प्रोत्साहित करने मे मालविकाग्निमित्र का पूरा हाथ है। प्रियदर्शिका तो हर्ष की उस समय की कच्ची कृति है, जब मालविकाग्निमित्र का असर बहुत दिखाई पडता है। कथावस्तु की दृष्टि से मालविकाग्निमित्र का अन्त.पुर प्रणय ही इन दोनो नाटिकाओं में मिलेगा। उदयन और अग्निमित्र दोनो विलासी ललित नायक हैं, महादेवी से डरकर छिप-छिपकर अन्तःपुर की लावण्यवती सुन्दरियो से प्रणय करने में दत्तचित्त। दोनो मे दक्षिण, शठ तथा धृष्टनायक का अजीब मिश्रण है। हमने बताया था कि मालविकाग्निमित्र मे नाटक बनने का केवल एक ही गुण है, कि वह पाँच अङ्को मे विभक्त है, बाकी सभी लक्षणों की दृष्टि से

---

१. श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
श्रीहर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥
काव्यमीमांसा की भूमिका पृ० X (गायकवाड सिरीज)

वह नाटिका कोटि के उपरूपकों मे आता है। प्रियदर्शिका और रत्नावली उसी की पद्धति से प्रभावित हैं। प्रियदर्शिका या सागरिका को राजा से छिपाकर रखने की वस्तु-विहित का सकेत हर्ष को मालविकाग्निमित्र से ही मिला जान पडता है। (साम्प्रत मालविका सविशेष भर्तृदर्शनपथात् रक्ष्यते – अङ्क १) *मालविकाग्निमित्र के द्वितीय अङ्क के उद्यानदृश्य ने प्रियदर्शिका तथा रत्नावली* दोनो के दूसरे अङ्क के उपवन वाले दृश्य को प्रेरणा दी है। मालविका को छिपकर राजा के द्वारा देखा जाना, विदूषक का दोनों को मिलाने में चालाकियाँ करना, मालविका को तहखाने मे डाल देना, ये सब विन्दु रत्नावली मे भी उपयुक्त हुए हैं। सम्भवतः हर्ष भास के स्वप्नवासवदत्तम् से भी प्रभावित हुआ है। स्वप्नवासवदत्तम् वाली लावाणकदाह की घटना का सकेत रत्नावली मे मिलता है। यह भी संभव है कि हर्ष ने यह सकेत भास से न लिया हो, और गुणाढ्य की बृहत्कथा, तथा उस काल मे प्रचलित उदयन सम्बन्धी लोककथाओं को इसका आधार बनाया हो।

हर्ष के नाटकों का वस्तुसंविधान

यद्यपि रचना के कालक्रम की दृष्टि से हमे प्रियदर्शिका के पश्चात् नागानन्द और उसके बाद रत्नावली के वस्तुसंविधान की मीमांसा करना चाहिए, तथापि दोनों कृतियों मे वस्तुविन्यास, तथा 'टैकनीक' की समानता होने के कारण, *हमने नागानन्द को ही बाद मे लेना ठीक समझा है।* हम पहले *प्रियदर्शिका*, फिर रत्नावली, तदनन्तर नागानन्द के वस्तुविन्यास, और चारित्र्य-सृष्टि का परिशीलन करेंगे। रत्नावली का परम्परागत परिशीलन, सन्धियों व सन्ध्यङ्गों का नाम निर्देश रहा है, हम उस ढंग की दृष्टि न लेकर दूसरी ही दृष्टि से देखना चाहेंगे, और अन्त में रत्नावली के शास्त्रीय महत्त्व पर दो शब्द कहना जरूरी समझेंगे।

(१) प्रियदर्शिका

प्रियदर्शिका चार अङ्को की छोटी-सी नाटिका है। हर्ष ने उदयन की कथा को लेकर इसकी रचना की है। उदयन की कथा कथासरित्सागर (२.१-६; ३.१-२) तथा बृहत्कथामञ्जरी (२.३) मे मिलती है। यही नहीं, उदयन की कथा *कालिदास के पूर्व ही लोककथा के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी।*[1] सम्भवतः

१. प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् (३०) साथ ही पद्य ३१ (पूर्वमेघ)।

वत्सराज उदयन उस काल के 'रोमैंटिक' लोककथा नायकों में खास था, और प्रो॰ सुरु ने तो उसे 'पूर्व का डोन जुआन' (Don Juan of the East) कहा है। उदयन के प्रणय संबन्धी वृत्त को लेकर नाटकीय वस्तु की योजना स्वत आकर्षक है (लोके हारि च वत्सराजचरितं)। प्रियदर्शिका नाटिका की सत्ता नायिका के नाम से सबद्ध है। दृढवर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका को वत्स का सेनापति विजयसेन वत्सराज उदयन के दरबार मे लाता है। वे उसे आरण्यकाधिपति विध्यकेतु की पुत्री समझकर रख लेते हैं। राजा उसे महारानी वासवदत्ता को सौंप देता है, जिससे उसकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध हो सके। साथ ही वह यह भी कह देता है कि उसके विवाहयोग्य होने पर राजा को सूचना दे।[1] वासवदत्ता उसकी शिक्षा की व्यवस्था कर देती है। द्वितीय अङ्क में राजा उदयन विदूषक के साथ घूमते हुए उपवन मे पहुँचते हैं, वहाँ प्रियदर्शिका को कमल तोडते देखते हैं, जो वासवदत्ता के लिए कमल लेने आई है। प्रियदर्शिका कमलों पर उडते भौरो मे परेशान होती है, और चिल्लाने लगती है। राजा लताकुञ्ज से प्रकट होकर भौरों को उडा देता है। दोनो का प्रथम दर्शन तथा पूर्वराग का बीज यही निक्षिप्त हुआ है।[2] इस तरह नाटिका का प्रथम अङ्क इसी बीज के परिपार्श्व रूप मे विन्यस्त हुआ है। तृतीय अङ्क में प्रियदर्शिका तथा उदयन दोनो की परस्परानुरागजनित व्याकुलता का सङ्केत मिलता है। मनोरमा (आरण्यका-प्रियदर्शिका-की सखी) तथा विदूषक के प्रयास से दोनो के मिलन की योजना बनाई जाती है। रानी वासवदत्ता उदयन-कृत प्रणय की पुरानी कहानी के आधार बनाए नाटक (रूपक) को अभिनीत कराना चाहती है। उस नाटक मे मनोरमा को उदयन बनना है, आरण्यका को वासवदत्ता। मनोरमा की चाल से नाटक मे स्वयं उदयन ही पहुँच जाता है,[3] और मनोरमा उदयन की भूमिका मे नहीं आती। वासवदत्ता को शक हो जाता है, पर इसी अङ्क के अन्त मे मनोरमा की सारी चाल पकडी जाती है। वासवदत्ता राजा से रुष्ट हो जाती है। तृतीय अङ्क मे हर्ष ने गर्भाङ्क—नाटिका मे

१. यदा वरयोग्या भविष्यति तदा मां स्मारयेति (प्रियदर्शिका पृ ८)
२. वयस्य धन्यःखल्वसौ य एतद्दृष्टस्पर्शसुखभाजनं भविष्यति ॥ (पृ. १९ अङ्क २)
(साथ ही) आरण्यका—अयं खलु स महाराजो यस्याहं तातेन दत्ता।
स्थाने खलु तातस्य पक्षपातः ॥ (अङ्क २ पृ. १८)
३. मनोरमा—भर्तः सत्यमेव। मण्डय एनैराभरणैरात्मानम् ॥ (अङ्क ३ पृ. ३६)

नाटक— की योजना की है। चतुर्थ अङ्क मे पता चलता है कि वासवदत्ता प्रिय दर्शिका पर बड़ी नजर रखे हुए है। पर एकाएक उसकी माता अङ्गारवती का पत्र उसकी मनोदशा को बदल देता है। उसे अपने मौसे दृढवर्मा की याद आती है, जो सालभर से कलिंगराज के द्वारा निगडबद्ध है। राजा आकर उसकी इस चिंता को दूर करता है कि उसने सेना भेजी है। इसी बीच दृढवर्मा का कचुकी आता है। वह प्रियदर्शिका को पहचान लेता है। वासवदत्ता उसे पहिचानकर राजा के साथ विवाह करा देती है।

प्रियदर्शिका की कथावस्तु बड़ी शिथिल है। प्रथम अङ्क मे नायक-नायिका के पूर्वराग का बीज निक्षिप्त न करना कवि की कमजोरी है। ऐसा प्रतीत होता है, हर्ष को, स्वयं यह कमजोरी मालूम हो गई थी, तभी तो रत्नावली के वस्तुविधान मे कामदेव पूजा वाले दृश्य की योजना कर उसने इस दोष को हटा दिया है। प्रियदर्शिका मे गर्भाङ्क की कल्पना अनूठी है, पर उसे मालविकाग्निमित्र के नृत्यवाले दृश्य की प्रेरणा का फल कहा जा सकता है, जो कवि ने परिवर्तित रूप मे रखा है। नायिका को भौंरो के द्वारा त्रस्त दशा मे रखना निश्चित रूप से शाकुन्तल का प्रभाव है।[1] प्रियदर्शिका मे पहले नायक में रागोद्‌बोध होता है, नायिका मे बाद में, किन्तु रत्नावली मे इस क्रम को बदल दिया गया है, वहाँ पहले सागरिका में रागोद्बोध होता है। प्रियदर्शिका में रत्नावली की परिपक्व नाटकीय 'टेकनीक' का पूर्वरूप ही नही, रत्नावली की कई उक्तियाँ भी हूबहू मिलती हैं, जो कवि के खास प्रयोग प्रतीत होते हैं।

(२) रत्नावली

रत्नावली नाटिका भी उदयन से ही संबद्ध चार अङ्को की नाटिका है। इसका प्रमुख प्रेरक पात्र यौगन्धरायण है, जो लावाणक मे वासवदत्ता के जलने की झूठी खबर उड़ाकर सिंहलराजदुहिता रत्नावली को उदयन के विवाहार्थ इसलिए माँगता है, कि ज्योतिषियो ने रत्नावली को उदयन की पत्नी बनने

---

१. आरण्यका—इंदीवरिके, स्पु उपसर्प, स्पु उपसर्प। आकुलीकृतास्मि मधुकरैः।
राजा—(स्वोत्तरीयेण भ्रमरान्निवारयन्)
अयि विसृज विषादं भीरु भृङ्गास्तवैते परिमलरसलुब्धा वक्त्रपद्मे पतन्ति।
विकिरसि यदि भूयस्त्रासलोलायताक्षी कुवलयवनलक्ष्मीं तत्कृतस्त्वा त्यजन्ति ॥
(प्रियदर्शिका २.८)

की भविष्यवाणी की थी, तथा यह भी कहा था कि ऐसा होने पर राजा उदयन को चक्रवर्तित्वप्राप्ति होगी। दैववश रत्नावली को लेकर आनेवाला जहाज टूट जाता है, पर फिर भी रत्नावली तख्ते के सहारे बहती हुई बच जाती है, और यौगन्धरायण के समीप लाई जाती है।[1] यौगन्धरायण उसके व्यक्तित्व को छिपाकर वासवदत्ता के पास रख देता है, और इस बात की प्रतीक्षा करता है कि उदयन स्वयं उसकी ओर आकृष्ट हो। यहीं से नाटिका आरम्भ होती है।

प्रथम अङ्क मे सागरिका (रत्नावली) कामदेवपूजा के समय राजा उदयन को देखकर अनुरक्त हो जाती है, यही उसे यह भी पता लगता है कि यह वही उदयन है, जिसके लिए उसके पिता सिंहलराज ने उसे भेजा है।[2] यहीं नायिका के हृदय मे भी सर्वप्रथम प्रणय बीज बोया गया है। द्वितीय अङ्क के आरम्भ का प्रवेशक सागरिका की विरहविक्लवता का सङ्केत देता है। चित्र-विनोद के लिए वह कदलीगृह मे बैठी उदयन का चित्र लिखती है, उसकी सखी सुसङ्गता उसी चित्र मे सागरिका का भी चित्र बना देती है। इसी समय घूमते हुए राजा और विदूषक वसन्तक उपवन मे आ जाते हैं। सागरिका की सारी बातों को सुनकर एक मैना उन बातो को कहने लग जाती है। राजा मैना की बातो को सुनकर सारा पता चला लेता है। इस बीच पिंजड़े से छूटी मैना को पकडने के लिए सागरिका और सुसङ्गता चित्र को वहीं भूलकर चली जाती हैं। कदलीगृह मे राजा और विदूषक वह चित्र देख लेते हैं, इधर इसी बीच सुसङ्गता चित्र को लेने के बहाने राजा और सागरिका का प्रथम साक्षात्कार करा देती है। ठीक इसी समय वासवदत्ता आ पहुँचती है। चित्रपट को देखकर वह क्रुद्ध होती है, और राजा के मनाने पर भी चली जाती है। तीसरे अङ्क मे राजा सागरिका से मिलने की चिन्ता मे है। विदूषक सुसङ्गता के साथ यह योजना बनाता है कि सागरिका वासवदत्ता का वेश बनाकर राजा

१. द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥
(रत्नावली १.६ साथ ही दे० १.७)

२. कथं प्रत्यक्ष एव भगवान् कुसुमायुध इह पूजां प्रतीच्छति। (रत्ना० पृ० ४६)
(साथ ही) कथमयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता। (रत्ना० पृ० ४९)

के पास अभिसरण करे।[१] इधर इस योजना का पता वासवदत्ता को लग जाता है। वह उचित समय पर पहुँच जाती है। राजा उसे सागरिका समझ बैठता है। वासवदत्ता के प्रकट होने पर राजा क्षमा माँगने लगता है। वह नाराज होकर राजा को कटूक्तियाँ सुनाकर वहाँ से चली जाती है। सागरिका इन सारी बातों को जानकर लतापाश से गला घोंटकर मरना चाहती है, पर राजा पहुँचकर बचा लेता है। इसी समय वासवदत्ता वहाँ भी आ जाती है। वह सागरिका और विदूषक को पकड़कर ले जाती है।[२] चतुर्थ अङ्क मे पता लगता है कि सागरिका उज्जयिनी भेज दी गयी है। पर यह खबर झूठे ही उड़ा दी गई है। असल में सागरिका को तहखाने में बन्द कर दिया गया है। इसी अङ्क मे एक जादूगर राजा को अपना जादू दिखाने आता है। जब वह जादू दिखा रहा है, ठीक उसी समय अन्त.पुर में आग लग जाती है। वासवदत्ता को सागरिका को बचाने की याद आती है, वह राजा से उसे बचाने के लिए कहती है।[३] राजा आग में कूदकर उसे बचा लाता है। इधर दो नये पात्र—बाभ्रव्य तथा वसुभूति—प्रविष्ट होते हैं। ये दोनो रत्नावली को पहचान लेते हैं। वासवदत्ता उसे उदयन के हाथों सौंप देती है।

रत्नावली की कथावस्तु प्रियदर्शिका की अपेक्षा अधिक चुस्त और गठी हुई है। घटना गतिशीलता के साथ आगे बढ़ती है। रत्नावली के चतुर्थ अङ्क का ऐन्द्रजालिक वाला दृश्य हर्ष की सूझ का परिचय देता है। इसी तरह द्वितीय अङ्क में मैना के पिंजरे से निकलने, सागरिका के वचनों को दुहराने तथा राजा के द्वारा सुने जाने की कल्पना अनूठी है, जो मूल घटना तथा नाटिका की गति में सहायक सिद्ध होती है। इसी प्रकार वासवदत्ता तथा सागरिका के वस्त्रादि परिवर्तन वाले दृश्य की योजना स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है। वैसे रत्नावली तथा प्रियदर्शिका की कई कल्पनाएँ माल-

---

१. अथ खलु देव्या चित्रफलकवृत्तान्तशंकितया सागरिकां रक्षितुं मम हस्ते समर्पयन्त्या यन्नेपथ्यं मे प्रसादीकृतं तेनैव विरचितभट्टिनीवेषां सागरिकां गृहीत्वाहमपि काञ्चनमाला-वेषधारिणी भूत्वा प्रदोष इहागमिष्यामीति ॥ (रत्ना० पृ० ११२)

२. काञ्चनमाले, एतेनैव लतापाशेन बद्ध्वा गृहाणैनं ब्राह्मणम्। एतां च दुर्विनीतां कन्यकामग्रतः कुरु ॥ (रत्ना० पृ० १५३)

३. एषा खलु मया निर्घृणयेह निगडेन संयमिता सागरिका विपद्यते। तत्तां परित्रायस्वार्यपुत्रः (रत्ना० पृ० १९०)

विकाग्निमित्र के प्रभाव हैं। रत्नावली के द्वितीय अङ्क में बन्दर छूटने की खलबली का वर्णन[१] सम्भवतः मालविका के उस सङ्केत का पल्लवन है जहाँ बन्दर राजकुमारी को डराता है। प्रियदर्शिका की सांस्कृत्यायनी तो पूरी तरह मालविकाग्निमित्र की कौशिकी की याद दिलाती है। पर इतना होते हुए भी हर्ष एक कुशल नाटककार है, जो दूसरे की कल्पना को लेकर अपने साँचे में ढालना जानता है। हर्ष ने दोनों नाटिकाओं, विशेषतः रत्नावली में अन्तःपुर प्रणयकी सुन्दर सुखान्त सृष्टि की है। सम्भवतः कालिदास के साथ तुलना करने के कारण ही हर्ष को उसका समुचित यश न मिल पाया हो। वैसे एक ही वस्तु को लेकर थोड़े से हेरफेर से दो नाटिकाओं को लिखने की कल्पना को कुछ विद्वानों ने दोष बताया है[२] किन्तु मेरी ऐसी धारणा है कि प्रियदर्शिका की कमजोरी को सुधारने के लिए ठीक वैसी ही कथा लेकर हर्ष ने रत्नावली की रचना की है। ऐसा मान लेने पर इस दोष का परिमार्जन हो सकता है। यही नहीं, यद्यपि ये दोनों नाटिकायें एक-सी ही कथा को लेकर आती हैं, साथ ही उनकी 'टेक्नीक' भी एक-सी है, तथापि इन दोनों का स्वतन्त्र रूप में आनन्द उठाया जा सकता है। दोनों नाटिकायें कोमल प्रणयचित्र हैं, और राजमहल के भीतर की गुप्त प्रणय-लीला का चित्र अङ्कित करने में सम्भवतः हर्ष की तूलिका कहीं-कहीं अपने ढङ्ग में कालिदास की कूँची से भी अधिक गहरे रंग भर सकी है। नाटिकाओं में ही नहीं, नागानन्द के फलक पर भी नाटककार ने इस प्रणयचित्र का आलेखन किया है, और नागानन्द के पहले तीन अङ्कों का वातावरण पूरी तरह 'रोमानी'-पन लिये है, जो पिछले दो अङ्कों में दयावीरता का समावेश कर लेता है।

हर्ष की दोनों नाटिकाओं के चरित्र 'टाइप' अधिक हैं। उदयन ललित प्रकृति का विलासी राजा है, जो मन्त्री पर समस्त राज्यभार छोड़कर निश्चिन्त हो गया है और अपना समय कला और प्रणय में व्यतीत करता है। उसका मित्र वसन्तक (विदूषक) बेवकूफ होते हुए भी समय-समय पर अपनी गहरी

---

१. कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्,
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः संभ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवंगः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः॥ (रत्ना० २.२)

२. दे० Keith : Sanskrit Drama P. 176.

सूत्र का परिचय देता है, और नायक का 'नर्मसाचिव्य' करने में कुशल है। वासवदत्ता का चरित्र ईर्ष्यालु ज्येष्ठा का 'टाइप' उपस्थित करता है, तो दोनों नायिकायें (प्रियदर्शिका व रत्नावली) सुन्दर और भोली, मुग्धा नायिका हैं: जो राजा के प्रणय को स्वीकार करती हैं। वे स्वयं इस बात को जानती हैं कि यह वही उदयन है जिसको उनका पिता उनका पति बनाना चाहता है। पर वे इतनी भोली हैं कि परिस्थितियों के कारण उनकी वास्तविकता छिपी रहती है, जो नाटकीय वस्तु को आगे बढ़ाने का मूल कारण है। भास तथा हर्ष के उदयन-रूपकों की तुलना करने पर पता चलेगा कि स्वप्नवासवदत्तम् का उदयन हर्ष के उदयन से सर्वथा भिन्न प्रकृति का है। इस दृष्टि से उदयन का चरित्र वहाँ विशेष गम्भीर है और भास के उदयन के आगे हर्ष का उदयन फीका दिखाई पड़ता है। पर नाटिकाओं के गुप्तप्रणय वाले वातावरण को देखते हुए यह चारित्र्यसृष्टि आवश्यक भी जान पड़ती है। भास की वासवदत्ता भी हर्ष की वासवदत्ता से सर्वथा भिन्न प्रकृति की है। भास की वासवदत्ता गम्भीर है, तथा पति के लिए त्याग करने को प्रस्तुत है, हर्ष की वासवदत्ता ईर्ष्यालु। वासवदत्ता के चरित्र में भी हर्ष का परिवर्तन नाटिका के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर पाता है।

रत्नावली की शास्त्रीय टेकनीक

नाट्यशास्त्रियोंने रत्नावली को उन रूपकों में से एक माना है, जिनमें नाट्यशास्त्र के नियमों की पूरी पाबन्दी की गई है। दशरूपक साहित्यदर्पण या अन्यत्र भी रत्नावली और वेणीसंहार को ही आधार बनाकर नाटकीय वस्तु के तत्तद् विभाग की मीमांसा की गई है। पर उदाहरणों को देखने से पता चलता है कि धनिक और विश्वनाथ ने रत्नावली के पद्यों को अपने शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप ढाला है, न कि वे शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर हूबहू बने हैं। दशरूपकावलोक आदि में उद्धृत कई उदाहरणों से यह सङ्केत मिलता है। हम एक दृष्टान्त देना पर्याप्त समझेंगे। मुख सन्धि के बारह संध्यङ्गों में एक संध्यङ्ग 'विलोभन' (गुणाख्यानं विलोभनं) है, दूसरा करण (करणं प्रकृतारम्भः)। विलोभन इस सन्धि का चौथा और करण बारहवाँ संध्यङ्ग है। जब हम धनिक तथा विश्वनाथ के दिये हुए रत्नावली के उदाहरणों को देखते हैं, तो पता चलता है कि वहाँ करण का

उदाहरण[1] नाटक मे पहले पडता है, विलोभन का[2] बाद में। यह गड़बड़ी क्यों? या तो आचार्यो ने उदाहरण देने मे भूल की है, या नाटिका पूरी तरह शास्त्रीय टेकनीक को लेकर नही चलती। हमे दूसरा मत ही मान्य है। लेकिन शास्त्रीय सिद्धान्तो की पूरी पाबन्दी न करने का मतलब यह नही कि नाटिका असफल है। हमे तो यह बताना है कि रूपक की सफलता घटना की गत्यात्मकता पर, व्यापार की स्वाभाविकता पर, वस्तु की चुस्ती पर, निर्भर होती है, शास्त्रीय सिद्धान्तों की नकल पर नही।

(३) नागानन्द

विद्याधरराज जीमूतकेतु वृद्ध होने पर वानप्रस्थ ले लेते हैं। अपने पुत्र जीमूतवाहन को राज्य सौंप कर वे वन मे जाना चाहते हैं, पर पितृभक्त जीमूतवाहन को जो आनन्द पिता के चरणसंवाहन मे मिलता है,[3] वह राज्यपालन मे नही। फलत वह भी अपने मित्र आत्रेय (विदूषक) के साथ पिता की सेवा के लिए वन को चल पडता है। पिता के निवास के उपयुक्त स्थान की तलाश मे वह मलय पर्वत पर घूमते हुए देवी गौरी के मन्दिर मे उपासना करती हुई सिद्धराजपुत्री मलयवती को देखता है। गौरी के दर्शनार्थ दोनों मित्र मन्दिर मे जाते हैं, वही नायक व नायिका का साक्षात्कार होता है। यहीं जीमूतवाहन को यह भी पता लगता है कि गौरी ने मलयवती को स्वप्न मे यह कहा है कि विद्याधरराज उसका पति होगा। द्वितीय अङ्क मे नायिका की विरहकथा का पता चलता है। वह उपवन मे 'संतापनोदन' कर रही है। इसी बीच नायक और विदूषक प्रविष्ट होते हैं। वही सिद्धराजपुत्र मित्रावसु आकर जीमूतवाहन के सामने अपनी बहिन के विवाह का प्रस्ताव रखता है पर जीमूतवाहन इस-

---

१. नमस्ते कुसुमायुध तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति ॥

(रत्नावली पृ० ४६)

२. अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायतने सम्पतन् ।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादास्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥ (१. २१)

सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य राजानं सस्पृहं पश्यन्ती) कथमयं स. राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता। (रत्नावली पृ० ४८)

३. यत्संवाहयतः सुखं च चरणौ तातस्य किं राजके। (नागानन्द १.७)

लिए अस्वीकार कर देता है कि वह अन्य को प्रेम करता है। जीमूतवाहन को यह पता नहीं था कि जिसे उसने गौरी-मन्दिर में देखा था, वह मित्रावसु की बहिन ही है। इसे सुनकर मलयवती अपने कण्ठ में पाश बाँधकर आत्महत्या करना चाहती है,[१] पर नायक समय पर पहुँचकर उसे बचा लेता है, और मलयवती को अपने प्रणय का विश्वास दिलाता है। तृतीय अङ्क में दोनों का विवाह हो जाता है। तृतीय अङ्क के बाद ही नाटक नया मोड़ लेता है। जीमूतवाहन घूमने के लिए समुद्रतट पर जाता है, तो वहाँ शङ्खचूड नाग की माँ को रोते देखता है। उससे पता चलता है कि गरुड के आहारार्थ एक नाग प्रतिदिन भेजा जाता है, और आज उसके इकलौते पुत्र की बारी है। जीमूतवाहन शङ्खचूड को बचाने के लिए अपना बलिदान देने को प्रस्तुत होता है।[२] वह शङ्खचूड के स्थान पर वध्यशिला पर जा बैठता है। गरुड आता है और जीमूतवाहन को चोंच से उठाकर मलय पर्वत पर ले जाता है। पाँचवें अङ्क में पुत्र को लौटा हुआ न पाकर जीमूतकेतु तथा विश्वावसु चिन्तित होते हैं। इसी बीच मांस से लथपथ जीमूतवाहन की चूडामणि पृथ्वी पर आकर गिरती है।[३] ये सब लोग उसे खोजने निकल पड़ते हैं। उन्हें शङ्खचूड मिलता है, जो सारी बात बताता है। उसके साथ वे मलय पर्वत पर पहुँचते हैं, जहाँ शङ्खचूड नाग गरुड को उसकी भ्रान्ति का सङ्केत करता है, और बताता है कि गरुड ने गलती से एक परोपकारी को कष्ट दिया है। गरुड को पश्चात्ताप होता है। इधर जीमूतवाहन की मरणप्राय अवस्था को देखकर जीमूतकेतु आदि भी मरना चाहते हैं। इतने में गौरी प्रकट होकर जीमूतवाहन को पुनरुज्जीवित कर देती है। गौरी प्रसन्न होकर जीमूतवाहन को विद्याधरों का चक्रवर्ती भी बना देती है।

नागानन्द की कथावस्तु तथा उसका विनियोग भिन्न प्रकार है। यह पांच अङ्कों का नाटक है, जिसमें बोधिसत्व की कथा को आधार बनाया गया है। इस कथा का सङ्केत बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर में मिलता है।

---

१. परित्रायतां परित्रायतामार्यः एषा भर्तृदारिका उद्बध्य आत्मानं व्यापादयति।
(द्वितीय अङ्क पृ० ८८)

२. ममैतद्भ्यार्पय वध्यचिह्नं प्रावृत्य यावद्विनताऽऽत्मजाय।
पुत्रस्य ते जीवितरक्षणाय स्वदेहमाहारयितुं ददामि ॥ (४. १४)

३. महाराजपुत्रस्यैव मे एतच्चूडारत्नम्। (पञ्चम अङ्क पृ० १८६)

नाटक की प्रस्तावना में विद्याधर जातक का संकेत मिलता है, पर इस नाम का कोई जातक नहीं मिलता। यद्यपि नाटक के मङ्गलाचरण में भगवान् बुद्ध की वन्दना है,[1] पर नाटक मे पूर्णत. बौद्ध प्रभाव नहीं है। गौरी को नाटकीय गति में महत्त्वपूर्ण स्थान देने से नाटक पर पौराणिक ब्राह्मण प्रवृत्ति का पर्याप्त प्रभाव है। नागानन्द के प्रथम तीन अङ्कों का निर्वाह दोनों नाटिकाओं के ढङ्ग पर है। मलयवती के द्वारा गले में पाश डालकर आत्महत्या करने की चेष्टा का नाटकीय प्रयोग हर्ष की रत्नावली मे भी मिलता है, जहाँ तीसरे अङ्क में सागरिका लतापाश को कण्ठ में डालकर आत्महत्या करने को तैयार होती है। दोनों स्थानों पर वह नायक के द्वारा बचा ली जाती है, पर रत्नावली मे वासवदत्ता के प्रवेश मे नाटकीय संघर्ष जारी रहता है, जब कि नागानन्द में संघर्ष (प्रणय कथा के संघर्ष) का यहीं अन्त हो जाता है। पर मलयवती वाली प्रणयकथा नागानन्द का आनुषंगिक व्यापार है, यद्यपि उसने नाटक के अधिकांश को समेट लिया है। नाटक का मुख्य व्यापार चतुर्थ तथा पञ्चम अङ्क में ही मिलता है, जो नायक की दयावीरत्व का द्योतक है। हर्ष ने पहले तीन अङ्कों के व्यापार को बड़े सूक्ष्म सूत्र से जोड़ा है, और यदि यह रूपक तीसरे अङ्क में ही समाप्त हो जाता, तो भी अपने आप में प्रियदर्शिका तथा रत्नावली की तरह प्रणय-रूपक (Love comedy) माना जा सकता था। यही कारण है कि नाटक के दोनों भागों मे परस्पर सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता है, और नाटक व्यापारान्विति (Unity of action) के अभाव में शिथिल हो गया है। बाद के दो अङ्कों में ऐसा एक भी स्थल नहीं, जो पिछले अङ्कों से शृङ्खला जोड़ सके। जीमूतवाहन की अपूर्व दानशीलता और दृढ़ निश्चय, उसके पिछले प्रणयचित्र से ठीक नहीं बैठ पाता। सम्भवतः हर्ष अपनी प्रणयाभिरुचि को नहीं छोड़ पाया और उसने प्रियदर्शिका के प्रभाव से नागानन्द में भी उसका समावेश कर दिया। कुछ विद्वानों के मतानुसार नागानन्द का उपसंहार (Denouement) भी त्रुटि-रहित नहीं है। जीमूतवाहन के त्याग की सच्ची झाँकी नाटक के दुःखान्त होने में थी। किन्तु भारतीय नाट्यपद्धति के द्वारा दुःखान्त नाटकों के निषेध के

---

१. ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्रातापि नो रक्षसि।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः पुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बुद्धो जिनः पातु वः॥ (नागानन्द १.१)

कारण हर्ष ने गौरी का प्रवेश कराकर नायक को पुनरुज्जीवित कर दिया है। यद्यपि संस्कृत नाटकों में अलौकिक (दैवी) तत्त्व का प्रयोग चलता है, तथापि इस परिवर्तन में सुखान्तरूप देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जिसने नाटक की गम्भीरता को समाप्त कर दिया है।[1] साथ ही तृतीय अंक की हास्य-योजना भी सफल नहीं हो पाई है। परिपार्श्व के त्रुटिपूर्ण होने पर भी पिछले दो अंकों में नायक का चरित्र उदात्त है। जीमूतवाहन त्यागशीलता का आदर्श है, और प्रणयपूर्ण तथा करुण वातावरण में उसका त्याग अच्छा अंकित हुआ है। नागानन्द के नायक को लेकर प्राचीन विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। कुछ लोग उसे धीरप्रशान्त मानने के पक्ष में थे। दशरूपक के वृत्तिकार धनिक ने इस मत का खण्डन कर इस बात की प्रतिष्ठापना की है कि नागानन्द का अंगी रस वीर—दयावीर है, तथा नायक धीरोदात्त। उसने यह भी बताया कि नायक का मलयवतीप्रेम तथा चक्रवर्तित्वप्राप्ति उसे धीरोदात्त मानने के प्रमाण हैं।[2]

हर्षवर्धन की काव्यप्रतिभा

हर्ष की काव्यप्रतिभा निःसन्देह प्रथम कोटि की है। वह कालिदास के मार्ग का ही पथिक है, और उसके समकालीन मयूर के पद्य या बाण के गद्य का प्रभाव उसकी शैली पर नहीं। हर्ष की शैली स्फीत, सरल तथा कोमल है। प्रणय और प्रकृति के कोमल चित्रों को सजाने में हर्ष कुशल चित्रकार है। वह निश्चित रूप से एक दक्ष कलाकार है, जिसकी कोमल अँगुलियाँ प्रणय कथा के ताने-बाने को बुनकर उसमें बेलबूटे काढ़ना खूब जानती हैं। उसके प्रकृतिवर्णन संक्षिप्त होते हुए भी रंग और ध्वनि का वातावरण सजाने में पूरे समर्थ हैं, और उसके अन्तःपुर का चित्र विलास और प्रमोद से रञ्जित है। नाटककारों में हर्ष की शैली प्रसादशैली का अन्तिम रूप कही जा सकती है। यद्यपि विशाखदत्त की शैली भी विशेष जटिल नहीं है, पर उसकी गम्भीर वस्तु-योजना उसकी शैली में स्वतः गम्भीरता का वातावरण ला देती है। भट्टनारायण, भवभूति तथा मुरारि की शैली हर्ष की अपेक्षा अधिक कृत्रिम है। हर्षवर्धन के प्रणयचित्र, प्रकृतिवर्णन तथा दो-एक अन्य चित्रों के कुछ उदाहरण यहाँ उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे हर्ष की काव्यप्रतिभा पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

---

1. Dr. S. K. De : History of Sanskrit Literature, P. 260.
२. दे० डॉ० भोलाशंकर व्यास : हिन्दी दशरूपक (भूमिका) पृ. ४८।

हर्ष प्रणय के सफल चित्रकार हैं। प्रियदर्शिका, नागानन्द और रत्नावली में कई सुन्दर स्थल हैं। जो कवि की भावुकता का रोमानी सङ्केत देने में समर्थ हैं। विवाह के बाद प्रथम समागम के समय लजाती हुई मलयवती को देख कर जीमूतवाहन की यह उक्ति कालिदास के कुमारसम्भव की 'सा तथापि रतये पिनाकिनः' पंक्ति की याद दिला देती है। निम्नलिखित पद्य में नवोढ़ा के अनुभाव तथा सञ्चारी भाव का बड़ा सरस वर्णन है—

> दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता,
> शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते।
> निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
> जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥
>
> (नागानन्द ३. ४)

'जब मैं उसकी ओर देखता हूँ, तो वह (लज्जा से) आँखें झुका लेती है। जब मैं उससे बात करता हूँ, तो वह कोई उत्तर नहीं देती (बातचीत नहीं करती)। शय्या पर मुँह फेरकर बैठी रहती है, और आलिङ्गन करने पर काँपने लगती है, (और काँप कर आलिङ्गन में विघ्न डाल देती है)। जब उसकी सखियाँ उसे छोड़कर शयनकक्ष से जाना चाहती हैं, तो वह भी बाहर जाना चाहती है। इस तरह नवोढा मलयवती मेरे प्रत्येक प्रणयव्यापार के प्रतिकूल आचरण करती है, पर इतना होने पर भी मुझे आज वह इसी प्रतिकूलता के कारण अधिक प्रिय लगती है।'

इस पद्य में नायक जीमूतवाहन की रसप्रवणता व्यक्त होती है। दूसरे चित्र में रसलुब्ध उदयन की तृषित दृष्टि की पर्वतयात्रा का वर्णन है, जो 'पानिप' की खोज में चढाई पार कर रही है—

> कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
> मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निःस्पन्दतामागता।
> मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
> साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥
>
> (रत्नावली २. ११)

उदयन सागरिका को देख रहा है। उसके पैरों से लेकर सिर तक एक साथ उनकी दृष्टि नीचे से ऊपर तक उठ जाती है। सागरिका के

सुडौल शरीर को देखकर उदयन की दृष्टि एकदम स्तब्ध हो गई है। उदयन को ऐसा प्रतीत होता है, जैसे जाँघो से लेकर सागरिका के नेत्रो तक पहुँचने के लिए उसकी दृष्टि को कई उबड़-खाबड पार्वत्यप्रदेशों को पार करना पडा है, पर फिर भी गिरती-पड़ती वह किसी कदर ऊपर चढती ही रही है, ताकि उसकी प्यास वुझ सके। सागरिका की मोटी, सुडौल और गोल जांघो को पार करने मे दृष्टि को बडा कष्ट हुआ (प्रत्येक व्यक्ति को ढाल पर चढने मे कुछ दिक्कत होती ही है)। उसके बाद दृष्टि नितम्बस्थल पर पहुँची, जहाँ ढाल को चढ लेने पर कुछ चौरस स्थल आ गया था, इसलिए वहाँ बहुत देर तक घूमती रही (नायक ने बहुत देर तक नितम्ब के सौन्दर्य का अवलोकन किया) उसके बाद वह और आगे बढ़ी, और त्रिवली को लहरो से विषम (उतार-चढ़ाव वाले) मध्यभाग मे पहुँची। त्रिवली के तरंगो के उतार-चढ़ाव मे फँस कर उसकी दृष्टि निश्चल हो गई, वह उन लहरो मे इतनी फँसी कि आगे न बढ पाई। किसी तरह लहरो से वचकर पहाड पर इसलिए चढी कि वहाँ पानी मिलेगा। उदयन को दृष्टि पानी की खोज मे चल ही पड़ी, उन्होने धीरे-धीरे (बड़े परिश्रम से) उत्तुग (पर्वत के समान) स्तनो को पार किया, और अब वे अश्रुकणों से युक्त (पानी की बूँदों को बहाते हुए) सागरिका के नेत्रों को साभिलाष होकर वैसे ही देख रही हैं, जैसे वे प्यासी हों, और पानी के उस सोते को देख रही हो, जो पर्वत की कष्टसाध्य यात्रा के बाद दिखाई दिया है।

चाटुकार उदयन की उक्ति के द्वारा एक साथ वासवदत्ता के सौन्दर्य तथा सन्ध्याकालीन प्रकृति की झाँकी निम्नलिखित पद्य में मिलेगी—

> देवि ! त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
> पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
> श्रुत्वा त्वत्परिवारवारवनितागीतानि भृङ्गाङ्गना
> लीयन्ते कुसुमान्तरेषु शनकैः सञातलज्जा इव॥ (रत्ना० १.२५)

हे देवी, देखो तो सही चन्द्रमा की शोभा का तिरस्कार करने वाले तुम्हारे मुखकमल से हारे हुए ये कमल एकदम फीके पड रहे हैं (बन्द हो रहे हैं), और ये भ्रमरियाँ तुम्हारी दासियों और वारवनिताओं के गीतों को सुनकर लजाती हुई चुपके से फूलों की ओट मे छिप रही हैं। वासवदत्ता का मुख-कमल और कमलों से इसलिए बढकर है कि चन्द्रमा का उदय होने पर वे मुरझा जाते हैं, किन्तु वासवदत्ता का मुख-कमल सदा विकसित रहकर अपनी कान्ति से चन्द्रमा

को चुनौती देता है, उसका तिरस्कार करता है (वह चन्द्रमा से भी बढ़कर है)। इस विशेषता से पराजित होकर कमलों का मुँह फीका पड़ जाता है। जब भ्रमराङ्गनायें वासवदत्ता की दासियों का सङ्गीत सुनती हैं, तो अपने संगीत का गर्व भूल जाती हैं, वे इतनी झेंप जाती हैं कि कहीं छिपना चाहती हैं। पद्य में 'प्रतीप' अलंकार के अनुष्ठान के द्वारा प्रकृतिवर्णन तथा वासवदत्ता मे वदन-सौन्दर्य की सुन्दर व्यञ्जना है।

सन्ध्याकाल के बाद पूर्वदिशा से नभोमण्डल में धीरे-धीरे फैलते हुए अन्धकार का स्वाभाविक वर्णन रमणीय है।

पुरः पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
क्रमात्क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति ।
उपेतः पीनत्वं तदनु च जनस्येक्षणफलं
तमःसङ्घातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहरः ॥ (रत्ना० ३.७)

'महादेव के नीले कण्ठ की कान्ति को हरने वाला (उसके समान नीला) यह अँधेरा पहले-पहल केवल पूर्व दिशा को ही आच्छादित करता है, फिर दूसरी दिशा को भी ढँक लेता है। धीरे-धीरे यह पर्वत, वृक्ष, नगर सभी को समेट लेता है। इसके बाद यह घना होता है और लोगों की दृष्टि के फल को (दृष्टि-पथ को) हर लेता है। अन्धकार के घने हो जाने पर लोगों की दृष्टि की गति रोक दी जाती है।'

हर्ष की कृतियों मे चन्द्रमा, वसन्त, उपवन, मदनमहोत्सव (होली)[1] आदि का सुन्दर वर्णन देखा जा सकता है। प्रियदर्शिका में ग्रीष्म की दुपहरी का यह वर्णन मालविकाग्निमित्रके ग्रीष्म वर्णन से प्रभावित होते हुए भी अपनी नवीनता मे शून्य नहीं।

आभात्यर्कांशुतापक्वथदिव शफरोद्वर्तनैर्दीर्घिकाम्भ-
श्छत्राभं नृत्तलीलाशिथिलमपि शिखी बर्हभारं तनोति।

---

१. नागरिकों के होली खेलने का सुन्दर वर्णन रत्नावली के प्रथम अङ्क के १०, ११ तथा १२ इन तीन पद्यों में मिलता है।
धारायन्त्रविमुक्तसन्ततपयःपूरप्लुते सर्वतः, सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्राङ्गणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः, सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम् ॥
(रत्नावली १.११)

छायाचक्रं तरूणां हरिणशिशुरुपैत्यालवालाम्बुलुब्धः
सद्यस्त्यक्त्वा कपोलं विशति मधुकरः कर्णपाली गजस्य ॥ (प्रिय.१.१२)

'मछलियों के द्वारा हिलाया हुआ बावलियो का पानी ऐसा प्रतीत होता है, जैसे सूर्य की किरणो की गर्मी से क्वथित हो रहा हो। दुपहर की गर्मी से परेशान मोर अपने पङ्खो को छतरी की तरह फैलाये हुए है, ताकि वह सूर्य के ताप से वच सके, वैसे उसके पङ्ख नृत्य-लीला से युक्त नही है तथा मोर की नाचने के समय की मस्ती का सङ्केत नही देते, फिर भी गरमी से बचने के लिए वे फैले हुए हैं। हिरन का बच्चा आलवाल के पानी को पीने के लिए वृक्षों की छाया के घेरे मे चला गया है, और भौरा (जो हाथी के कपोल पर मदपान कर रहा था) सूर्यताप से उद्विग्न होकर, हाथी के कपोल को एक दम छोड़ कर उसके कान मे घुस गया है।'

युद्ध का ओजोमय वर्णन करने मे भी हर्ष असफल नही कहा जा सकता—

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्बलद्वह्निनि ।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भङ्गप्रतीपीभव-
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः ॥ (रत्ना० ४.६)

'सेनापति रुमण्वान् ने हाथी पर बैठे हुए कोसलपति को, जो पराजय का निवारण करने की भरसक चेष्टा कर रहा था, ललकारा और उस युद्ध में सैकड़ों बाणों से मार गिराया, जहाँ बाणों के द्वारा योद्धाओं के कनटोप दूर फेंके जा रहे थे, और तलवारो के द्वारा उनका सिर काटा जा रहा था, जहाँ रुधिर की नदी बह रही थी, शस्त्र शब्द कर रहे थे, और शस्त्रों की चोट से योद्धाओं के कवच से आग की चिनगारियाँ निकल रही थी।'

अन्तःपुर की भगदड़ का वर्णन करने मे हर्ष अत्यधिक कुशल हैं। रत्नावली में बन्दर के छूटने की भगदड़ और अन्त.पुर मे आग लगने का वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी सस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। कालिदास के शाकुन्तल (तथा रघुवंश पञ्चम सर्ग) के हाथी वाले आतङ्क से इसकी तुलना की जा

जा सकती है। यहाँ हम अन्तःपुर में आग लगने के कारण मचे हुए आतङ्क का चित्र उपस्थित करते है[१]—

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव निचयैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन् क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै–
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः। (रत्ना० ५.१४)

'अरे, अन्तःपुर मे एक दम आग लग गई है, जिससे अन्तःपुर की स्त्रियाँ डर के मारे चिल्ला रही हैं। आग की लपटें फैलकर राजप्रासादों के शिखर को छू रही हैं, और ऐसा मालूम होता है, जैसे वे प्रासादो के सुनहरे शिखर हो। उसने सघन उद्यान के द्रुमों को झुलसाकर अपने तीव्र ताप का परिचय दे दिया है। आग से उठा हुआ धुआँ क्रीडापर्वत का स्पर्श कर ऐसा मालूम हो रहा है जैसे क्रीडापर्वत पानी से भरे बादल की तरह काला हो गया है।'

रङ्गमञ्च की दृष्टि से हर्ष के रूपक ह्रासोन्मुखी नाटकों की अनभिनेयता से रहित है। हर्ष की कृतियाँ बड़ी छोटी हैं, इसलिए उनके अभिनय मे कोई दिक्कत नही होती, साथ ही मञ्चीय व्यवस्था मे भी कोई जटिल सविधान नही दिखाई देता। हर्ष के सवाद छोटे, मार्मिक और प्रभावोत्पादक हैं, जिससे अभिनय मे सहायता मिलती है।

संस्कृत साहित्य को हर्ष ने एक नई परम्परा दी है, वह है नाटिकाओं की परम्परा। राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका और कर्पूरमञ्जरी (सट्टक), विल्हण की कर्णसुन्दरी और ह्रासकाल की दो तीन और नाटिकायें, जिनमे प्रमुख कायस्थ मथुरानाथ की वृषभानुजा नाटिका है, हर्ष के ही पदचिन्हो पर चलती दिखाई पडती हैं। केवल नाटिकाओ की परम्परा के लिए ही नहीं, नाटकीय गुणो की दृष्टि से भी हर्ष की रत्नावली संस्कृत साहित्य की बेजोड़ कृतियों मे से एक है।

●

१. इन्दर वाली मगादड के दो पद्यों में से एक पद्य (कण्ठे कृत्वावशेषं आदि) हम रत्नावली की आलोचना के समय पादटिप्पणी में दे चुके हैं।

भट्टनारायण

हर्षवर्धन की रत्नावली में, जिस सैद्धान्तिक प्रवृत्ति का प्रभाव देखा जाता है, वह भट्टनारायण की एकमात्र उपलब्ध कृति वेणीसंहार में और अधिक स्पष्ट है। पण्डितों ने वेणीसंहार के नाटकीय सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर लिखा गया नाटक माना है। पर नाटकीय सिद्धान्तों को विशेष ध्यान में रखने के ही कारण भट्टनारायण का वेणीसंहार नाटकीय गतिशीलता से रहित हो गया है, तथा संस्कृत के शिथिल नाटकों में एक है। स्वयं संस्कृत आलङ्कारिकों ने भी वेणीसंहार में कुछ दोष देखे हैं, जिनका संकेत हम यथावसर करेंगे। संस्कृत के अलङ्कार ग्रन्थों तथा नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में वेणीसंहार के कई पद्य उद्धृत मिलते हैं, जो इस नाटक की सैद्धान्तिक महत्ता के प्रमाण हैं, किन्तु वेणीसंहार को नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में जो सम्मान मिला, वह आवश्यकता से अधिक जान पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वेणीसंहार में कोई गुण है ही नहीं। वस्तु-संघटना का दोष होते हुए भी वेणीसंहार का चरित्रचित्रण और काव्य अपने विषय के उपयुक्त है। वीर तथा रौद्र रस के उपयुक्त ओजोमय शैली के प्रयोग में भट्टनारायण सिद्धहस्त हैं, उनके पद्यों में तेज और टर्रापन है, पर ये सब गुण काव्य-पक्ष के अधिक हैं, नाटकीय पक्ष के कम।

वेणीसंहार के रचयिता भट्टनारायण के जीवनसम्बन्धी विवरण का पूरा पता नहीं चलता। उनकी तिथि के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना तो निश्चित है कि वे काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्तिकार वामन तथा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन से प्राचीन हैं। वामन तथा आनन्दवर्धन दोनों ने भट्टनारायण के वेणीसंहार से पद्यों को उदाहृत किया है। इस प्रकार भट्टनारायण का समय ८०० ई० से पूर्व का होना चाहिए। किंवदन्तियों के अनुसार भट्टनारायण उन ब्राह्मणों में से एक थे, जिन्हें बंगाल के राजा आदिसूर ने कान्यकुब्ज से बुलाया था। आदिसूर उस राजवंश का प्रतिष्ठापक था, जिसने बंगाल में पालवंश के पूर्व राज्य किया था। पाल राजाओं का शासन आठवीं शती के मध्य से आरम्भ हुआ था। कोनो के मतानुसार आदिसूर अन्तिम गुप्त राजा

माधवगुप्त का पुत्र था, उसने कान्यकुब्ज (हर्ष की अधीनता) से स्वतन्त्र होकर आदिसूर आदित्यसेन के नाम से मगध मे स्वतन्त्र राज्य की उद्घोषणा की थी। आदिसूर आदित्यसेन ६७१ ई० तक विद्यमान था। इसके आधार पर इतना अनुमान किया जा सकता है कि भट्टनारायण का समय सम्भवतः सातवीं शती का उत्तरार्ध है। भट्टनारायण के वंश के विषय मे या जीवनवृत्त के सम्बन्ध मे उनकी कृति में कोई संकेत नही मिलता। इतना पता अवश्य चलता है कि वे 'मृगराजलक्ष्मा' की उपाधि से प्रसिद्ध थे।[1]

भट्टनारायण ने अपने नाटक 'वेणीसंहार' की कथावस्तु महाभारत से चुनी है। संस्कृत नाटककारो ने रामायण, महाभारत या बृहत्कथा को अपनी कथावस्तु का आधार बनाया है। दशरूपककार धनञ्जय ने इसीलिए कहा था—'रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथाञ्च।' वेणीसंहार, जैसा कि इसका शीर्षक स्वयं व्यक्त करता है, द्रौपदी की खुली वेणी के संहार (सँवारे जाने) की घटना से सम्बद्ध है। राजसभा में दुःशासन के द्वारा अपमानित होने पर द्रौपदी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह तब तक अपनी वेणी को खुली रखेगी जब तक इस अपमान का बदला न ले लिया जायेगा। वनवास की शर्तें पूरी कर लेने के बाद युधिष्ठिर कृष्ण को दूत बनाकर सन्धि के लिए दुर्योधन के पास भेजता है। इस खबर को सुनकर भीम तथा द्रौपदी दोनो ही रुष्ट होते हैं, क्योंकि वे दोनों कौरवो को हराकर बदला लेना चाहते हैं, और यही से नाटक का आरम्भ होता है।

प्रथम अङ्क में नान्दी के बाद सूत्रधार श्लिष्ट पद्य के द्वारा इस बात की सूचना देता है कि पाण्डव तथा कौरव में सन्धि कराने के लिए माधव गये हुए हैं। सूत्रधार के इस वचन को लेकर ही क्रुद्ध भीमसेन का प्रवेश कराया गया है, जो पाण्डव को लाक्षागृह में जलाने वाले, विष देने वाले तथा द्रौपदी के वस्त्र एवं बालों को खीचने वाले कौरवो के साथ सन्धि नहीं करना चाहता। भला उसके जीते रहते अपकारी कौरव स्वस्थ कैसे रह सकते हैं ?[2] प्रस्तावना

१. यदिदं कवेर्मृगराजलक्ष्मणो भट्टनारायणस्य कृतिं वेणीसंहारनामकनाटकं प्रयोक्तुमुद्यता वयम्। (वेणीसंहार, प्रथम अङ्क पृ. ७)

२. लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान् स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥
(१. ८)

के बाद नेपथ्य से यह उक्ति पढ़ता हुआ भीम सहदेव के साथ क्रुद्धमुद्रा में मञ्च पर प्रविष्ट होता है। उसे युधिष्ठिर के प्रति भी रोष है कि वह केवल पांच गाँव के लिए सन्धि करने को तैयार है। भीम सन्धि की वार्ता से अप्रसन्न होकर युधिष्ठिर की आज्ञा का केवल एक दिन के लिए उल्लंघन करने को तैयार है। आखिर कौरवों के साथ उसका निर्जी वैर जो है, ऐसा वैर जिसमें न युधिष्ठिर ही कारण हैं, न अर्जुन ही, न दोनों माद्रेय ही और आज वह अपने वैर का बदला दुर्योधन से अवश्य चुकायेगा, सिर्फ एक दिन के लिए, बस आज भर के लिए, युधिष्ठिर उसके पूज्य नहीं, न वह उनका आज्ञाकारी ही।[1] सहदेव भीम को शान्त करना चाहता है, पर इसी बीच नाटककार ने द्रौपदी का प्रवेश कराकर वेणीसंहार कार्य के बीज रूप भीम-रोष को भड़का दिया है। द्रौपदी स्वयं सन्धि की बात से रुष्ट है। द्रौपदी से बातचीत करते समय भीम उसे इस बात का आश्वासन दिलाता है कि वह अपने दोनों हाथों से गदा को घुमाकर दुर्योधन की जाँघों को अवश्य तोड़ेगा और उसके खून से सने हाथों से शीघ्र ही द्रौपदी की वेणी सँवारेगा। इसी बीच नेपथ्य से सूचना मिलती है कि कृष्ण असफल प्रयत्न होकर लौट आये हैं। कौरवों ने सन्धि प्रस्ताव ठुकरा दिया है। इस घटना से रुष्ट होकर युधिष्ठिर ने कौरवों के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी है। रणदुन्दुभि का शब्द सुनकर भीम और द्रौपदी प्रसन्न होते हैं और भीम तथा सहदेव द्रौपदी से युद्ध भूमि में जाने के लिए विदा लेते हैं।

द्वितीय अङ्क में दुर्योधन की पत्नी भानुमती रात में देखे हुए अमङ्गल स्वप्न से शङ्कित होकर देवपूजन कर रही है। स्वप्न में उसने देखा कि एक नकुल ने सौ सर्पों को मार डाला है, और इसके द्वारा नाटककार ने भावी घटना की सूचना दी है। राजा छिपकर भानुमती के स्वप्न के विषय में सुनता है, पहले तो वह भी शङ्कित होता है, पर बाद में शङ्का हट जाती है।[2] सूर्य की पूजा करती हुई भानुमती की दासी ज्यों ही किसी दूसरी परिचर्या में व्यस्त होती है, वह अर्घ्यपात्र लेकर रानी के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। सूर्य-पूजा के बाद ही झञ्झावात आता है, और दुर्योधन तथा भानुमती राजमहल में चले जाते हैं। यहाँ उनमें प्रेमलाप होता है। इसी बीच जयद्रथ की माता

---

१. अद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥ (१. १२)

२. नकुलेन पन्नगशतवधः स्तनांशुकापहरणं च नियतमनिष्टोदर्कं तर्कयामि।

(द्वितीय अङ्क पृ० ६६)

आकर यह खबर देती है कि अभिमन्यु के वध से दुखी अर्जुन ने जयद्रथ का वध करने की प्रतिज्ञा की है। राजा को जयद्रथ की रक्षा का उपाय करना चाहिए। दुर्योधन उसके भय को शान्त करता है, तथा युद्ध के लिए प्रस्थान करता है।

तीसरे अङ्क के प्रवेशक में राक्षस-राक्षसी के द्वारा युद्धभूमि की भीषणता और द्रोण के वध की सूचना दी जाती है। इसी अङ्क में पितृवध के शोक से सन्तप्त क्रुद्ध अश्वत्थामा का प्रवेश होता है। कृपाचार्य अश्वत्थामा को सान्त्वना देते हैं। इधर कर्ण दुर्योधन को यह समझा देता है कि द्रोण ने स्वयं लड़ना छोड़ दिया था, और इसीलिए वे मारे गए। द्रोण अश्वत्थामा को समस्त पृथिवी का राजा बनाना चाहते थे और अब अश्वत्थामा के मारे जाने से वृद्ध ब्राह्मण द्रोण का शस्त्रग्रहण करना व्यर्थ है, यह सोचकर ही द्रोण ने दुःखी होकर शस्त्र त्याग किया था।[1] इसी बीच कृप और अश्वत्थामा दुर्योधन के पास आते हैं और अश्वत्थामा दुर्योधन से उसे सेनापति बना देने को कहता है, जिससे वह पिता की मृत्यु का बदला ले सके। पर दुर्योधन ने कर्ण को सेनापति बनने का वचन दे दिया है। अश्वत्थामा और अधिक क्रुद्ध होता है, कर्ण और अश्वत्थामा में वाग्युद्ध होता है। अश्वत्थामा तब तक के लिए शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा करता है जब तक कर्ण जीवित रहेगा। इसी बीच नेपथ्य से भीम की गर्वोक्ति सुनाई देती है कि दुःशासन उसके भुजपञ्जर में आबद्ध हो गया है और वह उसका खून पीने जा रहा है, यदि कोई कौरव रक्षा कर सकें तो करें।[2] दुःशासन की विपत्तिगत अवस्था को सुनकर अश्वत्थामा को यह चेतावनी दी जाती है कि उसे अपनी प्रतिज्ञा को खण्डित नहीं करना चाहिए। अश्वत्थामा का इस बात का दुःख है कि वह दुःशासन की रक्षा नहीं कर पाता और देवता भी पाण्डवों के पक्षपाती हैं। (सर्वथा पाण्डवपक्षपातिनो देवाः)।

चतुर्थ अङ्क में सारथि युद्ध मे आहत दुर्योधन को युद्धस्थल से बचा ले जाता है। होश में आने पर उसे दुःशासन के वध का पता चलता है। सुन्दरक

---

१. एवं किलास्याभिप्रायो 'यथाश्वत्थामा मया पृथिवीराज्येऽभिषेक्तव्य' इति तस्याभावाद् वृद्धस्य मे ब्राह्मणस्य वृथा शस्त्रग्रहणमिति तथा कृतवान्।

(तृतीय अङ्क पृ० १२९)

२. यस्योरःस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्
सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवाः। (३.४७)

नामक दूत आकर उसे कर्ण के पुत्र के वध की सूचना देता है तथा बहुत लम्बे प्राकृत कथनोपकथन के द्वारा युद्धस्थल की गतिविधि से अवगत कराता है। दुर्योधन पुनः युद्धभूमि के लिए प्रस्थान करना चाहता है, किन्तु इसी बीच धृतराष्ट्र तथा गान्धारी आ जाते हैं। पंचम अङ्क में यही दृश्य चलता रहता है। धृतराष्ट्र और गान्धारी दुर्योधन को समझा-बुझाकर सन्धि करवाना चाहते हैं, किन्तु वह इसके लिए तैयार नहीं होता। इसी बीच कर्ण के निधन की सूचना मिलती है, और दुर्योधन लड़ने को जाने की तैयारी करता है। भीम और अर्जुन रणभूमि में दुर्योधन को न पाकर ढूंढते हुए वहीं आ निकलते हैं। भीम धृतराष्ट्र तथा गान्धारी को प्रणाम करते समय कटूक्तियों का प्रयोग करता है।[१] दुर्योधन भीम को फटकारता है, और दोनों में वाग्युद्ध होता है। दुर्योधन भीम को द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारता है, किन्तु अर्जुन रोक देता है, और इसी बीच युधिष्ठिर की आज्ञा आती है कि वह भीम और अर्जुन को बुला रहे हैं। यहीं अश्वत्थामा आता है, और दुर्योधन के साथ वापस समझौता कर लेता है।

छठे अङ्क में कृष्ण की इस आज्ञा का पता चलता है कि दुर्योधन तथा भीम का गदायुद्ध हो रहा है। इस युद्ध में भीम की विजय निश्चित है, अतः युधिष्ठिर राज्याभिषेक की तैयारियाँ करें और द्रौपदी अपने 'वेणीसंहार' की खुशी में उत्सव मनाये। पर इसी बीच नाटकीय कथा-वस्तु एक बार घुमाव लेती है। दुर्योधन का एक मित्र राक्षस चार्वाक मुनि का वेश धारण कर युधिष्ठिर के पास आता है। वह इस बात का ढोंग रचता है कि वह भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध देखकर समन्तपञ्चक से आ रहा है, उसे इस बात का दुःख है कि शरद् ऋतु की प्रचण्ड धूप के कारण वह अर्जुन और दुर्योधन का गदायुद्ध पूरा न देख पाया।[२] युधिष्ठिर अर्जुन और दुर्योधन के गदायुद्ध की बात सुनकर चौंकता है। प्रश्न करने पर पता चलता है कि गदायुद्ध में भीम मारा गया है। युधिष्ठिर और द्रौपदी शोकाविष्ट हो जाते हैं, और मरने को तैयार होते हैं। इधर चार्वाक वहाँ से चला जाता है। इसी बीच नेपथ्य

१. चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाञ्चति ॥ (५.८)

२. अद्य तु बलवत्तया शरदातपस्यापर्याप्तमेवात्रभवतोस्य गदायुद्धमर्जुनसुयोधनयो-रालोकितोऽस्मि।
(छठा अङ्क पृ० २७२)

में कोलाहल सुनाई पड़ता है। युधिष्ठिर इसे दुर्योधन का आगमन समझता है, और शस्त्र धारण करता है, द्रौपदी छिपने की चेष्टा करती है। खून से लथपथ शरीर वाला भीम मञ्च पर आता है और द्रौपदी के बालों को बाँधने के लिए उसे पकड़ लेता है। युधिष्ठिर उसे दुर्योधन समझकर लड़ना चाहता है।[1] तब वास्तविकता का पता चलता है कि वह दुर्योधन नहीं, भीम है। द्रौपदी प्रसन्नता से वेणी बाँधती है। वासुदेव और अर्जुन मञ्च पर आते हैं और भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

संस्कृत के प्राचीन नाट्याचार्यों ने वेणीसंहार की कथावस्तु को तत्तद् सन्ध्यादि की दृष्टि से विश्लेषित किया है। अतः संक्षेप में यहाँ उनके मत का सङ्केत कर देना अनावश्यक न होगा। वेणीसंहार नाटक की वस्तु का प्रधान कार्य द्रौपदी के बालों का संयमन (बाँधना) है। इस कार्य का बीज युधिष्ठिर का क्रोध है, जिसके बिना युद्ध-घोषणा नहीं हो सकती, क्योंकि द्रौपदी के वेणीसंहार का सम्पादन वही कर सकता है। प्रथम अङ्क में 'मन्थायस्तार्णवाम्भः' आदि पद्य (१.२२) के द्वारा नाटककार ने युधिष्ठिर के क्रोधरूप बीज का निक्षेप किया है। नाट्यशास्त्र में नाटकीय कथावस्तु को पाँच सन्धियों में विभक्त किया जाता है- मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण। वेणीसंहार के प्रथम अङ्क में मुखसन्धि है। प्रतिमुख सन्धि में युधिष्ठिर-क्रोधरूपी बीज बिन्दु के रूप में फैलने लगता है, उसका उद्भेद होता है। द्वितीय अङ्क में सन्धि का विधान हुआ है, जहाँ भीष्म के वध की सूचना मिलती है, और कञ्चुकी की उक्ति के द्वारा नाटककार ने इस बात की सूचना करा दी है कि युधिष्ठिर शीघ्र ही सुयोधन को युद्ध में मार डालेगा।[2] वेणीसंहार में गर्भसन्धि बहुत लम्बी चलती है, तीसरे, चौथे और पाँचवें तीनों अङ्कों में गर्भसन्धि ही है। नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में वेणीसंहार के गर्भसन्धिगत उदाहरणों को स्पष्ट रीति से नहीं समझाया गया है। दशरूपक में केवल तोटक, उद्वेग, सम्भ्रम और आक्षेप इन्हीं चार गर्भाङ्कों के उदाहरण मिलते हैं अवमर्श तथा निर्वहण दोनों सन्धियाँ वेणीसंहार के छठे अङ्क में पाई जाती हैं। छठे अङ्क

---

१. दुरात्मन्, भीमार्जुनशत्रो, सुयोधनहतक! (पृ० ३१५)

२. सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम्॥ (२.५)

का आरम्भ ही युधिष्ठिर की सदेह-दशा को लेकर होता है, जो अवमर्श का सकेत करती है।[1] चार्वाक वाली घटना इसी अवमर्श का अङ्ग है, और यह भीम के पहचाने जाने तक चलती है। जब कञ्चुकी भीम को पहचान लेता है, तो नाटकीय कथावस्तु निर्वहण की ओर बढती है।[2] इतना होने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्रियों को अपने भेदोपभेदो के उपयुक्त सभी उदाहरण वेणीसहार में नहीं मिल सके हैं। यही कारण है कि दशरूपक और साहित्यदर्पण मे जितना जोर रत्नावली के उदाहरणो पर दिया गया है, उतना वेणीसहार पर नहीं। फिर भी रत्नावली के बाद इस दृष्टि से वेणीसहार का नाम लिया जा सकता है।

नाटकीय सविधान की दृष्टि से देखने पर वेणीसंहार को ठीक वही प्रशंसा नहीं मिल सकती, जो उसे प्राचीन विद्वानों ने वितरित की है। भट्टनारायण के वेणीसहार की कथा महाभारत की एक प्रमुख घटना— भीम-प्रतिज्ञा—से संबद्ध है, पर फिर भी नाटक में उसने समस्त महाभारत युद्ध का संकेत किया है। भास के बाद यह पहला नाटक है, जिसने महाभारत से अपना इतिवृत्त चुना है। नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का पालन करने के कारण नाटककार ने वीररस-पूर्ण नाटक मे भी प्रेम-व्यापार का चित्रण करना जरूरी समझा है, और दूसरे अङ्क में दुर्योधन तथा भानुमती के प्रेम व्यापार की योजना की है। भट्टनारायण की यह प्रणययोजना नाटकीय कथावस्तु के अनुपयुक्त है, और प्राचीन पण्डितों ने भी इसको दोष घोषित किया है। युद्ध के लिए प्रस्तुत दुर्योधन को इस प्रकार के चित्र मे उपन्यस्त करना नाटकीय प्रभावोत्पादकता में बाधक होता है। तीसरे अङ्क का कर्ण और अश्वत्थामा का कथनोपकथन अत्यधिक मार्मिक होते हुए भी अनावश्यक जान पड़ता है, और कर्ण तथा अश्वत्थामा के झगड़े के विषय मे किसी नाटकीय सभावना का सकेत नहीं मिलता। अन्तिम अङ्क में चार्वाक राक्षस के द्वारा जिस वस्तु-योजना का प्रयोग किया गया है, वह ठीक

---

१. भीमेन प्रियसाहसेन रभसात्स्वल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितमर्पयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥ (६.१)

२. महाराज, दिष्ट्या वर्धसे। अयं खल्वायुष्मान्भीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः अलमधुना सन्देहेन ॥ (६ अङ्क पृ. ३१६)

नहीं है। साथ ही उसी अङ्क मे फिर से भीम को दुर्योधन समझे जाने की योजना कर नाटककार ने उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति की है। नाटककार के ये दोनो वस्तु-कौशल सफल नही हो सकते हैं।

वेणीसहार मे व्यापार बहुत है, किन्तु उसमे अन्विति का अभाव है। साथ ही उस व्यापार को नाटकीय ढङ्ग से नहीं सजाया गया है। समस्त महाभारत युद्ध को नाटक मे वर्णित करना भी इसमे बाधक हुआ है। नाटक के मूल कार्य में ये सब व्यापार सहायक होते हुए भी एक कडी मे अनुस्यूत नही जान पडते। वेणीसंहार के कुछ दृश्य सुन्दर और प्रभावोत्पादक हैं, किन्तु उनकी यह प्रभावोत्पादकता व्यस्त रूप मे ही है, समग्र नाटक की प्रभावात्मकता में वे योग नहीं दे पाते। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टनारायण ने महाभारत की घटना को ज्यों-का-त्यों नाटक मे अपना लिया है, उसने उसे नाटकीयता के उपयुक्त साँचे में नहीं ढाला है। नाटकीय गत्यात्मकता के अभाव के कारण वेणीसंहार नाटक के रूप मे सफल नही हो सका है, यद्यपि काव्य की दृष्टि से उसे निम्न कोटि का नहीं कहा जा सकता। नाटककार ने कहीं-कहीं व्यापार को भी ठेस पहुँचाई है। चौथे अङ्क में सुन्दरक का लम्बा वर्णन घटनाओं का केवल सकेत देता है, और उस अङ्क मे नाटकीय व्यापार बहुत कम पाया जाता है। नाटक मे व्यापार के द्वारा कथा को अग्रसर करना ठीक होता है, वर्णन के द्वारा नही। वर्णन के द्वारा कथा को अग्रसर करने की कहानी वाली शैली नाटकीय प्रभावोत्मकता मे बाधक होती है। वेणीसहार में इस कहानी वाली शैली का प्रयोग दूसरे और छठे अङ्क मे मिलता है, जो नाटक की गत्यात्मकता को रोकता है।

कथावस्तु की नाटकीय गत्यात्मकता के शिथिल होते हुए भी इसका चरित्रचित्रण सुन्दर बन पड़ा है। वेणीसहार के पात्र यद्यपि तत्तत् स्वभाव के पात्रो के प्रतिनिधि-पात्र (टाइप) हैं, तथापि उनमें सजीवता पाई जाती है, नाटककार ने इन पात्रों को कहीं से बटोर कर वैसे ही नहीं ला रखा है। इतना होते हुए भी उदात्त भूमि तक केवल दो ही पात्रों का चरित्र-चित्रण पहुँच पाया है। युधिष्ठिर और कृष्ण दोनो का ही चरित्र नाटक के चित्रपट पर बड़े सूक्ष्म रूप में अङ्कित हुआ है, पर इतना होते हुए भी वह स्पृहणीय बन पडा है। युधिष्ठिर एक शान्त न्यायशील पात्र है, जो सावधानी के साथ अपने क्रोध को

दबाये रखता है, इसलिए कि लोग उसे न्याय के मार्ग का उल्लंघन करने वाला न समझ लें। कृष्ण राजनीति में सिद्धहस्त हैं, और नाटक के सूत्र का सञ्चालन उन्हीं के हाथ मे है। नाटककार ने अन्त में कृष्ण के मुख से *'तत्कथय महाराज, किमस्मात्पर समीहितं सम्पादयामि'* कहलवा कर शत्रुवध, वेणीसंहार और राज्यलाभ का सारा श्रेय कृष्ण को दिया है। यद्यपि कृष्ण और युधिष्ठिर दोनों ही नाटक के केवल छठे अङ्क में ही मञ्च पर प्रविष्ट होते हैं, पर नाटक की कथावस्तु इन्ही दोनों पात्रों को केन्द्र बनाकर घूमती जान पडती है। संभवतः यही कारण है, भारतीय नाट्यशास्त्र की पद्धति युधिष्ठिर को ही इस नाटक का नायक मानेगी। भीम और दुर्योधन इस नाटक के वे प्रमुख पात्र हैं, जिनका व्यापार मञ्च पर अधिक प्रदर्शित किया गया है। भीम रोष, स्फूर्ति और उत्साह का मूर्तरूप है। युधिष्ठिर के शब्दों में वह 'प्रियसाहस' है। भीम के चित्रण में, विशेषतः उसके रोषपूर्ण स्वभाव के प्रदर्शन तथा गर्वोक्तियो में, भट्टनारायण ने अपनी शैली की पटुता का पूरा परिचय दिया है। पर भीम का चरित्र किन्हीं 'अतियों' के कारण इतना मार्मिक न हो पाया है, उसमें कुछ दोष आ गये हैं। भीम का चरित्र असंयत, उच्छृङ्खल, दर्पोन्मत्त और कुछ-कुछ असभ्य-सा दिखाई देता है। धृतराष्ट्र तथा गान्धारी को प्रणाम करते समय भीम का यह स्वभाव इतना बढ़ा-चढ़ा दिखाई देता है कि दर्शकों को खटकने लगता है। सारे नाटक के प्रत्येक अङ्क में—दूसरे अङ्क के सिवाय—भीम की गर्वोक्ति मञ्च पर या नेपथ्य से सुनाई देती है, और ये गर्वोक्तियाँ निःसन्देह नाटक में रौद्र रस की वातावरण-सृष्टि करने में सफल होती हैं। दुर्योधन का चरित्र भी भीम से किसी दशा में कम रोषपूर्ण नहीं है। दुर्योधन का यह रूप हमें पञ्चम अङ्क में मिलता है। दुर्योधन का चरित्र स्वार्थपूर्ण है। अश्वत्थामा के साथ किया गया दुर्योधन का व्यवहार दुर्योधन के चरित्र को नीचे गिरा देता है। इसके साथ ही द्वितीय अङ्क में दुर्योधन का जो रूप मिलता है, वह वीर रस के वातावरण के उपयुक्त नहीं दिखाई देता। वहाँ दुर्योधन एक शृङ्गारी नायक के रूप में चित्रित किया गया है। यद्यपि नाटक मे प्रणय-चित्र को उपस्थित करने की भावना ने नाटककार को प्रेरणा दी हो, तथापि उस समय, जब युद्ध में भीष्मादि का निधन हो रहा है, दुर्योधन का भानुमती के साथ इस प्रकार का प्रेमालाप करना अस्वाभाविक-सा जान पड़ता है। वैसे कुछ

विद्वानों ने भट्टनारायण के इस दोष को बचाने के लिए एक युक्ति दी है। उनका कहना है कि प्रणय-चित्र को स्वाभाविक मानते हुए भी भट्टनारायण ने अपने नाटक में उसे इसलिये समाविष्ट किया है कि वह इस चित्र के द्वारा प्रतिनायक दुर्योधन के चारित्रिक पतन का संकेत करना चाहता है। पर यह दलील केवल लीपा-पोती करना भर है। नाटक के अन्य पुरुष पात्रों में कर्ण और अश्वत्थामा का चरित्र भी मार्मिक हैं, किन्तु उनका प्रदर्शन इतना थोड़ा है कि वह नाटकीय स्वाभाविकता को विकसित नहीं कर पाता। स्त्रीपात्रों में द्रौपदी और भानुमती प्रमुख हैं। द्रौपदी का रोष सुन्दर ढङ्ग से व्यञ्जित हुआ है, पर नाटक का बीज द्रौपदी का रोष नहीं जान पड़ता। द्रौपदी की बदला लेने की भावना नाटक का अवान्तर बीज दिखाई पड़ता है, प्रधान बीज नहीं। ऐसा जान पड़ता है, पाण्डव पत्नी के अपमान के लिए, या केवल उसकी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए लड़ रहे हैं। यह दूसरी बात है कि फलरूप में द्रौपदी की इच्छा भी पूर्ण हो जाती है, पर नाटक की गतिविधि को देखते हुए 'वेणीसंहार' वाली घटना आनुषङ्गिक दिखाई पड़ती है। द्रौपदी का बदला लेने की भावना और कौरवों के प्रति रोष अत्यधिक तीव्र दिखाई पड़ता है।

वेणीसंहार के विषय में एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इसका नायक कौन है। दुर्योधन तो इस नाटक का प्रतिनायक स्पष्ट ही है, पर नायक भीम को माना जाय या युधिष्ठिर को। भारतीय परम्परा युधिष्ठिर को ही नायक मानती जान पड़ती है. स्वयं भट्टनारायण को भी यही अभीष्ट है। नाटककार ने भरतवाक्य का प्रयोग युधिष्ठिर से ही करवाया है।[1] संस्कृत नाटकों में भरतवाक्य का प्रयोग प्रायः नाटकादि का नायक ही करता है। साथ ही आरम्भ में युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि को बीजरूप में उपन्यस्त कर नाटककार ने इस बात को और अधिक पुष्ट कर दिया है। तीसरे, नाटक का फलभोक्ता युधिष्ठिर ही है। नाटक का नाम 'वेणीसंहार' है, किन्तु नाटक का प्रमुख फल द्रौपदी के केश का संयमन न होकर शत्रु-संहार तथा राज्यप्राप्ति है। इस फल का भोक्ता भी युधिष्ठिर है। नवीन विद्वान् वेणीसंहार का नायक युधिष्ठिर को

---

१. अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुषं भवतु भगवन्भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे।
दयितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्सततसुकृती भूयाद्भूपः प्रसाधितमण्डलः॥
(६.४६)

नहीं मानना चाहते। इसके दो कारण हैं 'वेणीसंहार' की घटना मूलतः द्रौपदी और भीम से सबद्ध है युधिष्ठिर से नहीं। वेणीसंहार के लिए दुर्योधन की जाँघों को तोडकर उसके खून से रँगे हाथो द्रौपदी के बालो को सँवारने की भीम की प्रतिज्ञा बीज दिखाई देती है। भीम इस प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए प्रथम अङ्क से लेकर छठे अङ्क तक तत्पर देखा जाता है। हर अङ्क में उसकी रोषपूर्ण गर्जना और प्रतिज्ञा को दुहराती हुई आवाज सुनाई देती है। यद्यपि दूसरे, तीसरे और चौथे अङ्क मे भीम मञ्च पर नहीं आता, तथापि भीम की गतिविधि का पूरा परिचय दर्शकों को मिलता रहता है। दूसरे अङ्क मे कञ्चुकी राजा को सूचना देता है कि भयङ्कर (भीम) वायु ने उसके रथ की ध्वजा तोड डाली है।[1] तीसरे अङ्क मे भीम की ही वाणी नेपथ्य से सुनाई देती है कि वह दु.शासन का खून पीने जा रहा है, और चौथे अङ्क मे भी भीम के पराक्रम का परिचय सुन्दरक की उक्तियो से मिलता है। दोषपूर्ण होते हुए भी भीम का चरित्र सारे नाटक की जान दिखाई देता है। भीम को नायक मानने मे हम भारतीय कसौटी नहीं अपना सकते। भीम धीरोद्धत कोटि का नायक है और नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। साहित्यदर्पणकार ने बताया है कि घमण्डी और शेखीबाज (विकत्थन) होना धीरोद्धत के लिए गुण है, किन्तु धीरोदात्त के लिए वह दोष है, उसे तो 'अविकत्थन'[2] होना चाहिए। युधिष्ठिर मे धीरोदात्त के सभी लक्षण मिल जाते हैं। हमारे मत से वेणीसंहार का नायक युधिष्ठिर को ही मानना ठीक होगा। भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा भी यही है, और स्वयं भट्टनारायण की भी यही सम्मति है।

वेणीसंहार का प्रमुख रस वीर है, तथा शृङ्गार एवं रौद्र इसके अङ्ग-रस हैं। तीसरे अंक मे राक्षस-राक्षसी वाले प्रवेशक के द्वारा नाटककार ने बीभत्स रस की भी योजना की है। नाटक का वातावरण गंभीर होने के कारण इसमें प्रणय-नाटकों के उपयुक्त हास्य की योजना नहीं पाई जाती, जो वहाँ विदूषक की सृष्टि के द्वारा निबद्ध की जाती है। भट्टनारायण ने भावी

---

१. भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।
पतितं किङ्किणीक्वाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥ (२.२४)

२. अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ (सा० द० तृतीय परिच्छेद)

घटनाओं का संकेत देने के लिए पताकास्थानक और गण्ड जैसे नाटकीय संकेतों— ड्रेमेटिक आइरनी— का भी प्रयोग किया है। नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में वेणीसंहार का वह स्थल 'ड्रेमेटिक आइरनी' के लिए विशेष प्रसिद्ध है, जहाँ दुर्योधन अपनी दोनों जाँघों को भानुमती के बैठने के उपयुक्त घोषित करता है, इसी बीच कञ्चुकी आकर कहता है कि इसे तोड़ डाला गया है। इस स्थल में दर्शक एकदम 'भग्न' का अन्वय 'ऊरुयुग्मम्' से लगा लेता है, और इस प्रकार दर्शक को दुर्योधन की जाँघों के टूटने की भावी घटना का संकेत मिल जाता है :—

राजा—तत्किमित्यनास्तीर्णं कठिनशिलातलमध्यास्ते देवी।
लीलांशुकस्य पवनाकुलितांशुकान्तं त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य।
अध्यासितुं तव चिरं जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु! ममोरुयुग्मम्॥ (२.२३)

(प्रविश्य पटाक्षेपेण संभ्रान्तः)

कञ्चुकी—देव, भग्नं भग्नम्।

राजा—केन?

कञ्चुकी—भीमेन।

राजा—कस्य?

कञ्चुकी—भवतः।

राजा—आः किं प्रलपसि।

भानुमती—आर्य, किम् अनिष्टं मन्त्रयसे।

राजा—धिक्प्रलापिन्, वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः। (द्वितीय अंक)

राजा—तो देवी इस बिना आसन के कठोर शिलातल पर क्यों बैठती हैं। तुम्हारे इस जघनस्थल के बैठने के लिए मेरी दोनों जाँघें (ऊरु युग्म) यथेष्ट हैं, जिसका वस्त्र हवा के झोंके के कारण हिल रहा है, और जो मेरी आँखों के आकर्षण का केन्द्र बन रहा है।

कञ्चुकी—देव, तोड़ डाला, तोड़ डाला।

राजा—किसने?

कञ्चुकी—भीम ने।

राजा—किसका?

कञ्चुकी—आपका।

राजा—अरे! क्या बकता है।

भानुमती—आर्य ! क्या अनर्थ-मन्त्रणा करते हो ।

राजा—व्यर्थ बकने वाले, नीच बुड्ढे, यह तुम्हें आज क्या हो गया है ।

इसके बाद कञ्चुकी के मुँह से पता चलता है कि भयङ्कर वायु ने दुर्योधन के रथ का केतन तोड़ डाला है। इस उक्ति के पूर्व तक नाटक का दर्शक ही नहीं, अन्य पात्र भी सन्देह की अवस्था में रहते हैं और 'तोड़' आने का सम्बन्ध दुर्योधन के ऊरुयुग्म से लगा लेते हैं। नाटककार इस प्रकार की योजना कर नाटकीय कुतूहल को जन्म देता है। भवभूति ने भी अपने उत्तररामचरित में एक स्थान पर ऐसी ही योजना की है, जहाँ राम के यह सोचते हुए कि 'सीता का विरह परम असह्य है', दुर्मुख के आने की सूचना देने के लिए कञ्चुकी आकर कहता है—'देव उपस्थितः' दर्शक 'विरहः' का अन्वय एकदम 'उपस्थितः' से लगा लेता है। यह नाटकीय योजना नाट्यशास्त्र में 'गण्ड' कही जाती है।[1]

काव्य-प्रतिभा और शैली

वेणीसंहार उन नाटकों में प्रथम है, जो दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य का मिश्रण लेकर आते हैं। यही कारण है कि वेणीसंहार की आलोचना करते समय इस बात का ध्यान रखना होगा कि यह नाटक दृश्यकाव्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, पर काव्य की दृष्टि से सुन्दर बन पड़ा है। जहाँ तक काव्य-पक्ष का प्रश्न है, भट्टनारायण उस शैली के जन्मदाता कहे जा सकते हैं, जिसका एक रूप हमें माघ, मुरारि (कुछ-कुछ भवभूति में भी) या अन्य गौडी रीति के कवियों में दिखाई पड़ता है। भट्टनारायण कृत्रिम शैली को पसन्द करते हैं। समासान्त पदों का चयन, गम्भीर ध्वनि वाले शब्दों का निर्वाह कर वे 'ओज' गुण की प्रचुर व्यञ्जना कराते हैं। सम्भवतः वेणीसंहार के वीररसपूर्ण वातावरण की सृष्टि में वे इसे आवश्यक मानते हैं। किन्तु जहाँ तक दृश्यकाव्य का प्रश्न है, इस प्रकार की उदात्त गौडी शैली नाटक के अनुपयुक्त जान पड़ती है, और कभी-कभी नाटकीय प्रभावात्मकता में बाधक होती है। संस्कृत में ही नहीं, चतुर्थ अङ्क की सुन्दरक की गद्यमय प्राकृत उक्तियों में भी समासान्त पदावली का प्रयोग किया गया है, जो खटकता है।[2] अनुप्रास के निर्वाह, पदों के उदात्त-

1. गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥ (दशरूपक ३. १८)

2. तदो देव, एदस्सिं अन्तरे वेहुन्त करुणो परिक्कमंदिस पराक्कम बलणिव- दणिवडंतसमिद्धणिवहअक्कन्तहिदअइवमारो दुरंतमन्तहदवंदिअवहुदेवसद- कब्भिदणिरन्तरचअभणुहसदो अप्परिहवप्पदसक्कदरतणिहदसिरमरि- ददक्कम्भुदहुदो परिदो दं वरेहं रहवरो ॥ (चतुर्थ अङ्क पृ० १७५)

चढाव और छन्दों की लय के द्वारा वीर और रौद्र की व्यञ्जना पूरी तरह कराई गई है। इन दोनों के अतिरिक्त नाटक में करुण वातावरण की सृष्टि करने वाले भी कई स्थल हैं। आरम्भ मे द्रौपदी की दशा, दूसरे अङ्क मे भानुमती का चित्र और छठे अङ्क मे भीम के वध की झूठी खबर पाकर दुखी युधिष्ठिर की अस्तव्यस्तता नाटक में करुण की मार्मिक योजना करती है। भट्टनारायण की काव्य कुशलता का परिचय आगे के कतिपय पद्यो से मिल सकता है।

भीम एवं दुर्योधन की उक्तियों मे कई स्थानों पर वीर रस की अच्छी व्यञ्जना हुई है। द्रौपदी इस बात से परेशान है कि सन्धि हो जाने पर उसकी वेणी खुली ही रहेगी। भीम उसे आश्वासन दिलाते हुए कहता है :—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः। (१.२१)

'हे देवि! तुम निश्चिन्त रहो। यह भीम इस बात की प्रतिज्ञा करता है कि शीघ्र ही अपने दोनों हाथो से घुमाई हुई कठोर गदा की चोट से दुर्योधन की दोनो जांघो को तोड़कर उसके गाढ़े चिकने खून से रँगे हाथो से तुम्हारे बालो को सँवारेगा।'

भीम के क्रोध को देखकर द्रौपदी को इस बात का डर है कि कही भीम और अन्य पाण्डव भी बदला लेने की भावना के कारण युद्ध में अपने शरीर की उपेक्षा न कर डालें। भीम के दर्पोन्मत्त स्वभाव को यह सुनकर ठेस पहुँचती है, वह द्रौपदी को इस बात का विश्वास दिलाता है कि पाण्डव युद्धभूमि के भीषण समुद्र मे पैठना खब जानते हैं—

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामांसमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः॥ (१.२७)

'द्रौपदी! चिन्ता करने की कोई बात नही। पाण्डव उस सग्राम रूपी समुद्र के गभीर जल के बीचोबीच विचरण करने में बड़े कुशल हैं, जिसमें एक दूसरे से टकराकर आहत हाथियों के रुधिर, वसा, मांस और मस्तिष्क का कीचड़ हो रहा हो, और उस कीचड़ में मग्न रथों पर पैर रखकर पदाति सेना लड़ रही

हो, जहाँ यथेष्ट रक्तपान से प्रसन्न होकर शब्द करती हुई अमङ्गल शृगालियों के चिल्लाने के तूर्यनाद की लय पर कबन्ध नाच रहे हों।'

भीम की कटु दर्पोक्तियों को सुनकर दुर्योधन चुप नहीं रह पाता। दुर्योधन को जीते बिना ही भीम इतना दर्प करने लगा है। उसकी आज्ञा से पाँचों पाण्डवों की; अर्जुन की, इस नीच भीम की, उस राजा की और उन दोनो (नकुल-सहदेव) की पत्नी द्रौपदी को -जो जुए में जीती हुई दासी थी—सब लोगों के सामने सभा में बाल पकड़कर घसीटा गया। यह अनिष्ट तो दुर्योधन ने किया था। यदि भीम को बदला लेने का घमण्ड है, तो उन राजाओं ने क्या बिगाड़ा था, जो युद्ध में मारे गये। भीम का दर्प तब माना जा सकता है, जब वह दुर्योधन से बदला ले सके। अपने भुजदण्ड के अतिशय पराक्रम के कारण अहङ्कारपूर्ण दुर्योधन को जीते बिना ही इतना घमण्ड ?

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्ष भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
अस्मिन्वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः॥ (५.३०)

क्षत्रिय के द्वारा अपमानित पिता के वध से परशुराम के समान क्रुद्ध अश्वत्थामा की निम्नलिखित उक्ति में अपमानजनित रोष तथा वीरता की ऊष्मा का अच्छा परिपाक पाया जाता है—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रौणायनिः क्रोधनः॥ (३.३३)

'यह वही देश है, जहाँ परशुराम ने तालाबों को शत्रुओं के रक्त से भर दिया था। परशुराम के पिता की भाँति मेरे पिता का अपमान भी क्षत्रिय जाति ने ही किया है। परशुराम के जैसे ही शत्रुओं का भक्षण करने में समर्थ जाज्वल्यमान अस्त्र मेरे पास भी है। क्रुद्ध परशुराम ने जो कुछ किया, ठीक वही आज क्रुद्ध अश्वत्थामा (द्रोण का पुत्र) करने जा रहा है।'

भारतीय आलङ्कारिकों ने अश्वत्थामा की इस उक्ति को रसप्रतिकूलवर्णना के दोष-प्रकरण में उदाहृत किया है। उनके मत में यहाँ अश्वत्थामा की उक्ति

में विकट समानता होनी चाहिए थी, ताकि वह अश्वत्थामा के रोष की व्यञ्जना कर पाती।[1] जब कि उपर्युद्धृत पद्य की शैली गौडी रीति नहीं बन पाई है। आलङ्कारिकों का मत ठीक है। अनेकों स्थलों पर विकटसमासबन्ध के प्रति अभिरुचि दिखाते हुए भी, इस आवश्यक स्थल पर उसका प्रयोग न करना कवि की कमजोरी है।

द्वितीय अङ्क की दो-तीन शृङ्गारी उक्तियाँ सरस हैं :—

प्रेमाबद्धस्तिमितनयनापीयमानाब्जशोभं
लज्जायोगादविशदकथं मन्दमन्दस्मितं वा।
वक्त्रेन्दुं ते नियममुषितालक्तकाग्राधरं वा
पातु वाञ्छा परनसुलभं किं न दुर्योधनस्य॥ (२.१८)

'हे प्रिये! प्रेम से परिपूर्ण निश्चल नेत्रों के द्वारा जिसने कमल की शोभा को पी लिया है (जिसने कमलों को नेत्रों से जीत लिया है), लज्जा के कारण जिस मुख से स्पष्ट वचन नहीं निकल रहे हैं, और मन्द-मन्द मुस्कुराहट प्रकट हो रही है, ऐसे तुम्हारे मुखरूपी चन्द्रमा को—जिसके अधर का लाक्षारस व्रत के कारण लुप्त हो गया है—पीने की (चुम्बन करने की) इच्छा क्या दुर्योधन को न होगी?'

भट्टनारायण का प्रकृति के प्रति विशेष मोह नहीं है, किन्तु नाटक में कुछ प्रकृति-चित्र देखे जा सकते हैं। प्रातःकाल भ्रमरियों के साथ कमलिनी के कोश को छोड़ते हुए पराग से लिप्त भौंरे ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे सूर्य की किरणों के द्वारा स्पर्श किए हुए ईषत् अङ्गरागयुक्त राजा अपनी रानियों के साथ शय्या का त्याग कर रहे हों।[2] द्वितीय अङ्क के झंझावात का वर्णन उसकी चण्डता और गम्भीरता का वातावरण उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है। प्रकृति के कठोर रूप का यह चित्र सफल बन पड़ा है। दीर्घसमासता और विकट-वर्णत्व इस चित्र के रङ्ग को और गहरा बना देते हैं—

---

१. अत्र हि विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्वं चोचितम्। (काव्यप्रकाश पृ० २९१)

२. जृम्भारम्भप्रविततदलोपान्तजालप्रविष्टै र्हस्तैर्भानोर्नृपतय इव स्पृश्यमाना विबुद्धाः।
स्त्रीभिः सार्धं घनपरिमलस्तोकलक्ष्याङ्गरागा मुञ्चन्त्येते विकचनलिनीगर्भशय्यां द्विरेफाः।
(२.८)

दिक्षु व्यूढाङ्घ्रिपाङ्गस्तृणजटिलचलत्पांशुदण्डोऽन्तरिक्षे
झांकारी शर्कराल: पथिषु विटपिनां स्कन्धकोषैः सधूमः ।।
प्रासादानां निकुञ्जेष्वभिनवजलदोद्‌गारगम्भीरघोर-
श्चण्डारम्भ: समीरो वहति परिदिशं भीरु किं सम्भ्रमेण ।। (२.१६)

'भीरु, डरने की कोई आवश्यकता नहीं । यह तेज झझावात चारों दिशाओं मे बह रहा है। तूफान की तेजी के कारण पेड़ों की शाखाएँ इधर-उधर विक्षिप्त हो गई हैं, उडे हुए तिनके और धूल के साथ उसने आकाश में चक्र की सृष्टि कर दी है । तेज चलने के कारण यह झाँ-झाँ ऐसा शब्द कर रहा है, और इसके साथ छोटी-छोटी कड्कड़ियाँ उड़कर आ रही हैं । पेडो के साथ सघर्ष करने के कारण यह धुआं-सा हो गया है, और प्रासादों के निकुञ्जों में नये बादल के समान गम्भीर गर्जना कर रहा है ।'

भट्टनारायण का दार्शनिक पाण्डित्य बताने के लिए पण्डितो ने प्रायः इस पद्य का सकेत किया है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयमनुं वेत्तु देवं पुराणम् । (१.२६)

'आत्मा में रमण करने वाले, तमोगुण रहित सत्त्वगुण से सम्पन्न योगी, जिन परमपुरुषरूप कृष्ण का साक्षात्कार निर्विकल्प समाधि में इसलिए किया करते हैं कि उनका परमपुरुष के प्रति प्रेम हो गया है और ज्ञान का उदय हो गया है; उन अन्धकार तथा प्रकाश से परे स्थित पुराण पुरुष परमात्मरूप कृष्ण को मोह के अज्ञान से अन्धा दुर्योधन कैसे जान सकता है ?'

भट्टनारायण की गौडी शैली का खास उदाहरण निम्नलिखित है—

मन्थायस्तार्णवाम्भः-प्लुतकुहर-चलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दभिस्ताडितोऽयम् ।। (१. २२)

'यह हमारे सिंहनाद के समान आवाज वाला दुन्दुभि किसने बजाया है। इसका घोर तथा गंभीर शब्द मंथन के समय चञ्चल तथा क्षुब्ध समुद्र-जल से

छिद्रो (गुफाओ) के भरने से शब्द करते हुए मंदराचल के गंभीर गर्जन के सदृश है, और एक जब साथ सैकडों ढक्काएं तथा हजारों भेरियां बजाई जाती हैं, तो ऐसी प्रचण्ड आवाज पैदा होती है, जैसे गरजते हुए प्रलयकालीन मेघ परस्पर टकरा रहे हों। यह रणदुन्दुभि कौरवों के प्रति उत्पन्न द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत है, और कुरुकुल के भावी विनाश का उत्पातसूचक प्रलयकालीन झञ्झावात है।'

वेणीसंहार में शौरसेनी तथा मागधी इन दो प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। मागधी का प्रयोग केवल तृतीय अंक के विष्कम्भक में पाया जाता है, जहाँ राक्षस राक्षसी मागधी प्राकृत मे बोलते हैं। ग्रिल के मतानुसार यह मागधी न होकर अर्धमागधी है, क्योंकि वहाँ 'श' के स्थान पर 'स' पाया जाता है, तथा कर्ता के स्थान मे 'ए' के स्थान पर 'ओ' 'अ' पाया जाता है। डॉ० कीथ के मतानुसार राक्षसों की भाषा मागधी ही है, और ग्रिल के द्वारा बत ई गई विशेषताओं का कारण हस्तलिखित प्रतियों के लेखकों का वैभाषिक परिवर्तन जान पड़ता है। भट्टनारायण ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है; जिनमे प्रमुख वसन्ततिलका (३९), शार्दूल-विक्रीडित (३२), शिखरिणी (३५), और स्रग्धरा (२०) हैं।

भट्टनारायण के विषय मे हम डॉ० डे के साथ यही कह सकते हैं:—

'यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भट्टनारायण की कृति निम्न कोटि का नाटक है, तथापि उसके नाटक में सुन्दर कविता विद्यमान है, किन्तु कविता मे भी, ठीक नाटक की ही तरह, भट्टनारायण की सशक्त कृति को विकृत बनाने वाला तत्त्व यह है कि उसकी शैली अत्यधिक कृत्रिम तथा अलंकृत होना उदात्त काव्य या नाटक से मेल नही खाता।'

——

विशाखदत्त

भट्टनारायण के वेणीसंहार में नाटक का जो तथाकथित शास्त्रीय वातावरण देखा जाता है, ठीक उसका उलटा रूप लेकर विशाखदत्त का मुद्राराक्षस आता है। सम्भवत. जिन दिनों एक ओर पण्डित लोग नाटक को दृश्यकाव्य की परम्परा से हटाकर श्रव्यकाव्य के समीप ले जा रहे थे, तथा भरत के नियमों का पालन करना भर दृश्यकाव्यत्व के लिए यथेष्ट समझते थे, कुछ लोग दृश्यकाव्य को वास्तविक रूप देना चाहते थे, जो यथार्थ अधिक हो, जिसमें वीर रस का कल्पित आदर्शात्मक घटाटोप, या श्रृङ्गार का रोमानी नन्दनकानन भले ही न हो, पर जीवन के गुरु गम्भीर कठोर दार्शनिक पहलू का विचार हो। विशाखदत्त ने एक ओर कालिदास या शूद्रक (?) की परम्परा का अनुसरण करते हुए नाटक के दृश्यकाव्यत्व को भट्टनारायण की तरह क्षुण्ण नहीं किया, और न भट्टनारायण की कृत्रिम शैली के अकाण्ड ताण्डव की ओर ही सदा ध्यान रखा, साथ ही दूसरी ओर उसने कालिदास और शूद्रक (?) की प्रणयकथा के राजमार्ग को छोड़कर राजनीति की उतार चढ़ाव वाली कुटिल पद्धति को अपनी 'सिंह ठवनि' का आदर्श बनाया। शूद्रक (?) ने भी राजनीति को अपनाया है, पर उसकी राजनीति बुद्धि का खेल इतना नहीं है। शूद्रक (?) का मृच्छकटिक मूलतः रोमानी वातावरण का ही नाटक है। कालिदास के नाटक और मृच्छकटिक दोनों में भावपक्ष के चित्र अधिक हैं, जब कि विशाखदत्त की दृष्टि विचार-पक्ष की गम्भीरता से सवलित है। सम्भवतः यह भी उन कारणों में एक है, जिसके कारण विशाखदत्त को आज का आलोचक अधिक सम्मान देगा। पर इतना ही नहीं, विशाखदत्त की कृति का सबसे बड़ा महत्व तो इसमें है कि उसने हर कदम पर इस बात को ध्यान में रखा है कि वह दृश्यकाव्य-की रचना कर रहा है, श्रव्य काव्य को नहीं; और अपनी गम्भीर प्रभावात्मकता को नाटकीय योजना के द्वारा उत्पन्न करना चाहता है, महज कवित्व या वैदग्ध्य भङ्गीभणिति या अनुप्रास और वर्णाडम्बर की पद-घटा के द्वारा नहीं। कुछ विद्वानों के मत से दृश्यकाव्य की कसौटी पर संस्कृत नाटकों की परख करते समय आलोचक का सिर सबसे पहले मुद्राराक्षस की अङ्गुली पकड़ लेगा।

विशाखदत्त भी संस्कृत कवियों के संबन्ध में प्रसिद्ध इस नियम के अन्तर्गत आ जाते हैं कि संस्कृत कवियों की तिथि और जीवन के विषय में हम कुछ नहीं जानते। विशाखदत्त इस नियम के कतिपय अपवादरूप व्यक्तित्वों की श्रेणी में नहीं बैठ सके हैं। इनके विषय में जो कुछ पता चलता है, उसका एकमात्र साधन मुद्राराक्षस की प्रस्तावना है, अन्य कुछ नहीं, और वह इतनी संक्षिप्त है कि हमें केवल इतना ही पता चलता है कि विशाखदत्त के पिता का नाम 'महाराज पृथु' (या नाटक की कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'महाराज भास्करदत्त') था, तथा उनके पिता का नाम 'सामन्त बटेश्वरदत्त'।[1] पर ये कहाँ के सामन्त थे, किस राजा या सम्राट के अधीन थे, इसका कोई निश्चय नहीं हो पाता। साथ ही स्वयं अपने नाम के साथ महाराज आदि उपाधि न लगाने से यह भी प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या ये सामन्त न थे? पर इसका समाधान एक ढङ्ग से हो सकता है। सम्भवतः कवि विशाखदत्त की कृति पिता पृथु के विद्यमान होते हुए लिखी गई थी, नहीं तो संस्कृत परम्परा के नाटकों में सूत्रधार के मुँह से अपने नाम के साथ महाराज कहलवाना कोई गर्वोक्ति न थी। यह भी अनुमान अनुचित न होगा कि विशाखदत्त अपने पिता के आश्रय किसी राजा यहाँ राज्यादि के संचालन में रहे हों तथा उन्हें राजनीति का पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान रहा हो, जैसा की उनके नाटक में प्रतिपद पर लक्षित होता है। सम्भवतः विशाखदत्त ने भी राजनीति की शतरञ्ज के कई खेल खेले हों, और गुप्तचर के मुहरों से किलेबन्दी कर शत्रु को शै देकर मात कर देने का उन्हें प्रायोगिक ज्ञान रहा हो। पर यदि ऐसा है, तो ये किस राजा के सामन्त थे, यह प्रश्न उठना संभव है, और इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि नाटक के भरतवाक्य से 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' के स्थान पर कई हस्तलेखों में 'पार्थिवो दन्तिवर्मा' भी पाठ मिलता है। इस नाम का एक राजा ७ वी शती में पल्लववंश में हुआ। श्री रामस्वामी ने इसीके साथ विशाखदत्त का सम्बन्ध जोड़ा है। पर पल्लववंशी राजा कट्टरशैव थे, और यह बात भरतवाक्य में राजा को विष्णु का अवतार मानने की कल्पना से ठीक नहीं बैठ पाती। हमारा एक अनुमान है कि विशाखदत्त दक्षिण या मध्य-

---

१. 'अद्य सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिर्मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्य'मिति। (मुद्राराक्षस, प्रथम अङ्क पृ० ७)

देश के न होकर बङ्गाल के निवासी थे, और उस समय उत्पन्न हुए थे, जब एक ओर हर्ष का ज्वलन्त प्रताप बढ़ रहा था, और गुप्त-साम्राज्य का प्रकाश प्रभातवाताहत दीपशिखा की तरह बुझने का बाट देख रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष, भट्टनारायण और विशाखदत्त तीनों कुछ ही वर्षों के हेरफेर में हुए हैं। इन सभी का काल सातवी सदी रहा है। यदि विशाखदत्त की रचना हर्ष के प्रताप-काल की न रही हो, तो उस काल की अवश्य है, जब हर्ष का पतन हो चुका हो, और कवि बङ्गाल के तत्कालीन राजा को प्रभुशक्ति के साथ मन्त्रशक्ति की सुदृढ़ भित्ति स्थापित कर हिमालय से दक्षिण समुद्र तक एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने का प्रोत्साहन दे रहा हो।[1] यह हो सकता है कि विशाखदत्त की मन्त्रशक्ति का समुचित उपयोग न हुआ हो, राजा को प्रभुशक्ति पर ही पूरा भरोसा हो, और विशाखदत्त ने मन्त्रशक्ति की व्यावहारिक महत्ता पर जोर देने का नाटकीय प्रयोग किया हो। कुछ भी हो, अनुमान-परम्परा को इससे अधिक आगे बढ़ाना खतरे से खाली नही।

विद्वानों ने मुद्राराक्षसकार की तिथि के विषय मे एक अंत साक्ष्य की ओर ध्यान दिलाया है। याकोबी के मतानुसार मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में एक चन्द्रग्रहण का सकेत मिलता है, जो केवल इसलिए नही हो पाता कि चन्द्र के साथ बुध ग्रह की स्थिति के कारण ग्रहणयोग ठीक नही बैठता।[2] याकोबी के मतानुसार यह तिथि २ दिसम्बर ८६० ई० थी और याकोबी ने इस आधार पर इस नाटक को नवी सदी के उत्तरार्ध का माना है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल नाटक के भरतवाक्य में सङ्केतित 'चन्द्रगुप्त' पद के आधार पर नाटक की रचना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ही काल की मानते हैं। डॉ० कीथ किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये हैं, पर वे इतना संकेत करते हैं कि नाटक नवीं सदी से पूर्व का है। यही मत दासगुप्ता का है। इधर कुछ लोगों ने फिर

---

१. आशैलेन्द्राच्छिलान्तःस्खलितसुरधुनीशीकरासारशीता—
दातीरान्नैकरागस्फुरितमणिरुची दक्षिणस्यार्णवस्य।
आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां
चूडारत्नांशुगर्भास्तव चरणयुगस्यांगुलीरन्ध्रभागाः ॥ (३. १९)

२. क्रूरग्रहः स केतुश्चन्द्रमसं पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥ (१. ६)

डॉ० जायसवाल के मत को दुहराना आरंभ किया है। इन लोगो की खास दलीलें ये हैं.—

(१) विशाखदत्त की शैली छठी सदी के बाद की नही है।

(२) विशाखदत्त ने भरतवाक्य मे जिस आसेतुहिमाचल साम्राज्य की कल्पना की है, वह गुप्तो के ही समय था। अतः नाटक की राजनीतिक कल्ना चौथी पाँचवी सदी की ही परिस्थिति का चित्र है। विशाखदत्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के युग मे रहे हैं।

(३) यदि विशाखदत्त बाण के बाद मे या समसामयिक थे तो दोनों को एक दूसरे का पता क्यो नही था।

ये तीनो दलीलें ठोस नही जान पडती। विशाखदत्त की शैली निश्चित रूप से कालिदासोत्तर काल की शैली है, कालिदास से दस-बीस वर्ष बाद की ही नही, लगभग दो सदी बाद की। कोई भी पाठक ध्यान से पढने पर इस निर्णय पर पहुँच सकता है कि विशाखदत्त की शैली भारवि के भी बाद की है। सम्भवतः कवि भारवि के काव्य मे प्रयुक्त राजनीति सम्वन्धी पाण्डित्य से भी प्रभावित हुआ है। मैं यह नही कहता कि विशाखदत्त मे प्रसादवृत्ति वाले पद्य नही हैं पर यह नहीं भूलना होगा कि मुद्राराक्षस मे ऐसे अनेकों पद्य हैं, जो हर्षोत्तर काल की या उसके आसपास की कृत्रिम शैली का प्रचुर प्रभाव व्यक्त करते हैं। विशाखदत्त राजनीति की पारिभाषिक पदावली, न्याय के अनुमान सम्वन्धी पारिभाषिक शब्दो और समासान्त पदों का जो प्रयोग करते हैं, वे उनके कालिदास का समसामयिक होने मे बाधक हैं। समझ में नही आता, विशाखदत्त के इन पद्यो से विद्वान् क्यों आँखें मूँद लेते हैं। यह दूसरी बात है कि भावपक्ष में न बहने के कारण, साथ ही कलापक्ष का व्यर्थ निर्बन्ध न होने के कारण विशाखदत्त की शैली की एक ऐसी विशेषता है कि वह विषय के अनुरूप बदलती है, साथ ही *'मैटर-आव् फेक्ट' अधिक है। इस शैलीगत गुण के* कारण ही विद्वान् सन्देह में पड जाते हैं। पर विशाखदत्त में गौडी रीति का प्रयोग कम नहीं हुआ है यह ध्यान में रखने की बात है। दूसरी दलील आसेतुहिमाचल साम्राज्य की कल्पना से सम्बद्ध है। आसेतुहिमाचल साम्राज्य का आदर्श गुप्त साम्राज्य के ज्वलन्तयुग का ही नहीं, बारहवीं सदी के छोटे सामन्तों तक का भी रहा है। सोलहवी सदी तक मे राणा साँगा का ऐसा ही आदर्श था। साथ ही गिरती दशा वाला राज्य भी महान् आदर्श को लेकर

चलता है। भरतवाक्य के अर्थ को अक्षरशः लेना ठीक नही जान पड़ता। तीसरी दलील भी निस्सार है। बाण को तो भारवि तक का पता न था, जो उससे पूर्व हो चुका था और यदि उसे भारवि का पता भी हो तो उसे अपने काव्य की प्रस्तावना मे सङ्केत करने लायक व्यक्तित्व न समझा हो। जहाँ तक विशाखदत्त का प्रश्न है, हमने जिस तिथि (६००–७००) का अनुमान किया है, उसके अनुसार भी समसामयिक होने के कारण विशाखदत्त का नाम प्रसिद्ध न हुआ हो। दूसरे बाण के पास कोई प्रसङ्ग भी न था, जहाँ वह विशाखदत्त का सङ्केत कर पाता। ठीक यही बात विशाखदत्त के विषय में कही जा सकती है। इन पंक्तियों के लेखक का पूरा विश्वास है कि विशाखदत्त को बाण का अवश्य पता था, चाहे वह समसामयिक हो पूर्ववर्ती, पर विशाखदत्त के नाटक में उसके उल्लेख करने का प्रयोजन? संकेत के लिए किसी प्रसङ्ग का होना भी तो जरूरी है। इन दलीलो में कोई सार नही है। यह निश्चित है कि विशाखदत्त हर्ष के बाद, किन्तु कुछ ही दिनो बाद रहे है, सम्भवतः उन्होने अपने आरम्भिक जीवन में हर्ष के साम्राज्य का स्वर्णिम युग देखा हो, वे एक बार फिर उसी साम्राज्य को अपने आश्रयदाता के द्वारा स्थापित किया हुआ देखना चाहते हों।

विशाखदत्त की केवल एक ही कृति—मुद्राराक्षस—हमे उपलब्ध है, पर विशाखदत्त के नाम से एक दूसरे नाटक का भी पता चलता है—देवीचन्द्रगुप्तम्। देवी चन्द्रगुप्तम् का उल्लेख रामचन्द्र-गुणचन्द्र-कृत नाट्यदर्पण मे मे मिलता है, जहाँ विशाखदत्त के इस नाटक के पांचवें अङ्क से एक प्राकृत गाथा उदधृत की गई है।[1] देवीचन्द्रगुप्तम् शृङ्गाररस परक नाटक था, तथा इसमे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और ध्रुव-स्वामिनी के प्रणय की, रामगुप्त एवं शकराज के वध की कथा रही होगी, जिसे प्रसाद जी ने अपने हिन्दी नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का भी आधार बनाया है। विशाखदत्त

---

१. यह प्राकृत गाथा निम्नलिखित है :—
एसो सिअकरसत्थप्पणासिआसेसवेरितिमिरोहो।
णिअविहवएण चन्दो गअणं गहलंघिओ विसइ॥
(एष सितकरसार्थप्रणाशिताशेषवैरितिमिरौघः।
निजविभवकेन चन्द्रो गगनं ग्रहलंघितो विशति॥)

दानजल से युक्त, बलवान् मस्त जङ्गली हाथी को जञ्जीर मे बाँध लेता है।[1]

मुद्राराक्षस की सारी लड़ाई चाणक्य जैसे कुशल महावत और राक्षस जैसे स्वच्छन्द वन्यगज की लड़ाई है। एक राक्षस को अपनी मुट्ठी में बाँधना चाहता है, दूसरा उनकी चालो मे नही फँसना चाहता। पर चाणक्य इतना कुशल है कि वह अनेकों तृणाच्छादित गर्तों को खोदकर राजनीति की कृत्रिम हथिनी को उस मस्त हाथी को फँसाने का साधन बनाता है, और लाख बचने की कोशिश करने पर भी एक दिन वह इन गर्तों मे से एक मे आ ही गिरता है, चाणक्य की 'गुणवती' नीतिरज्जु उसे बाँध ही लेती है। दूसरे अङ्क मे ही राक्षस की वे कशिशें क्रियाशील देखी जाती है, जिनके द्वारा वह चाणक्य के जाल से बचना चाहता है, इतना ही नही, वह उलटे चाणक्य पर लुक-छिप कर आक्रमण करने की तैयारी मे है।

द्वितीय अङ्क मे राक्षस की राजनीति-विशारदता सामने आती है। वह भी राजनीति के खेल मे कच्चा नही है, चाहे चाणक्य उसमे बीस भले ही साबित हो गया हो। राक्षस का गुप्तचर—जो सँपेरे के वेष में पाटलिपुत्र से आया है—मञ्च पर प्रविष्ट होता है, और राक्षस से मिलना चाहता है। इसी अङ्क मे राक्षस की बातचीत से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त को मारवाने की उसकी समस्त योजनायें चाणक्य ने असफल कर दी हैं। उसके सारे गुप्तचर, जो चन्द्रगुप्त को मारने के लिए नियुक्त किये थे, स्वयं मौत के शिकार बन गये हैं। अब उसे केवल एक ही उपाय सूझता है कि किसी तरह चन्द्रगुप्त और चाणक्य मे भेद करा दे। वह चन्द्रगुप्त के वैतालिकों को, जो उसी के गुप्तचर हैं, चन्द्रगुप्त को जोश दिलाने वाले प्रशस्ति पाठ सुनाने को कहला भेजता है, और उसे इस बात का पूरा विश्वास है कि अब वह समय आ गया है, जब चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनो में मजे से भेद हो सकता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त राज्यप्राप्ति के कारण सुखी है, और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने के कारण घमण्ड मे चूर हो रहा है।[2]

---

१. स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्तिमुत्सेकिना बलमदेन विगाहमानम् ।
बुद्धया निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियायाम रण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥ (१.२७)

२. मौर्यस्तेजसि सर्वभूतमनुजामाज्ञापको वर्तते
चाणक्योऽपि मदाश्रयादयमभूद्राजेति जातस्मयः ।
राज्यप्राप्तिकृतार्थमेकमपरं तीर्णप्रतिज्ञार्णवं
सौहार्दान्निकृतकृत्यमेव नियतं लब्धान्तरा भेत्स्यति ॥ (२. २१)

पर चाणक्य कोई कच्चा खिलाड़ी नहीं है। उसने राक्षस की चाल को पहले ही समझ लिया है कि अब वह किस मोहरे को चलना चाहता है, और राक्षस की चाल के पहले ही वह मजबूत किलेबन्दी कर लेता है ऐसी किलेबन्दी कि राक्षस समझता रहे कि जीत उसी की हो रही है, पर उसे आगे बढ़ने पर उसे पता चले कि शतरञ्ज के बादशाह को शै देना टेढ़ी खीर है, और उल्टे उसे खुद ही मात खानी पड़े। तीसरा अङ्क चाणक्य की इसी मंत्रशक्ति का परिचय देता है। वह स्वयं चन्द्रगुप्त को समझा देता कि वह चाणक्य से इस तरह व्यवहार करे, जैसे दोनों में अनबन हो गई है। चाणक्य पाटलिपुत्र में कौमुदीमहोत्सव को मनाने की मनाही कर देता है। उसे इस बात की शङ्का है कि कहीं कौमुदीमहोत्सव के कारण प्रमत्त पुष्पपुर पर राक्षस और मलयकेतु की सेना आक्रमण न कर दे। चन्द्रगुप्त इस मनाही से नाराज होने का रूपक रचता है, और चाणक्य को इसका कारण जानने को बुलाता है। बात-चीत में दोनों क्रोध को प्रदर्शित करते हैं। चाणक्य का क्रोध का अभिनय इतना स्वभाविक होता है कि चन्द्रगुप्त को इस बात का डर हो जाता है कि कहीं आचार्य सचमुच क्रुद्ध नहीं हो गये हैं।[1] इधर वैतालिक इस मौके को पाकर चन्द्रगुप्त को उत्तेजित करने वाले प्रशस्ति-पाठ का प्रयोग करते हैं। सब लोग यही समझ बैठते हैं कि दोनों में झगड़ा हो गया है और राजा ने शासन की बागडोर हाथ में संभाल ली है। पर यह भी चाणक्य की एक चाल है। तृतीय अङ्क में चाणक्य की कूटनीति-कुशलता अपने गम्भीरतम रूप में व्यक्त होती है।

चतुर्थ अङ्क मे राक्षस का पक्षभेदन होने लगता है। भागुरायण, जो पुष्पपुर से भागकर मलयकेतु के पास आ गया है, उसे यह समझा देता है कि राक्षस का सच्चा शत्रु चन्द्रगुप्त नहीं, चाणक्य है। यदि चाणक्य का काँटा मार्ग से हट जाय, तो वह चन्द्रगुप्त से मिल जायेगा। इसी बीच शकटदास पुष्पपुर से आता है, और वह राक्षस को चाणक्य और चन्द्रगुप्त की अनबन का समाचार देता है, जिससे खुश होकर राक्षस कहता है कि अब चन्द्रगुप्त हमारी मुट्ठी मे आ गया।[2] भागुरायण और मलयकेतु इस वार्तालाप को सुन लेते हैं, और मलयकेतु को राक्षस की नीति का पता लग जाता है। इधर राक्षस और मलयकेतु

---

१. अये, तत् कथं सत्यमेव कुपित आर्यः ! (पृ. १६१)

२. सखे शकटदास, हस्ततलगतो मे चन्द्रगुप्तो भविष्यति। (चतुर्थ अङ्क पृ. १८५)

पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने की योजना बनाते हैं और क्षपणक से मुहूर्त पूछते हैं।

पाँचवें अङ्क में जीवसिद्धि (क्षपणक) शिविर से पुष्पपुर जाने के लिए भागुरायण से मुद्रा लेने के लिए आता है। वह बताता है कि राक्षस उसे मारना चाहता है, तथा यही यह भी कहता है कि राक्षस ने ही पर्वतेश्वर को मरवा डाला था। मलयकेतु इसे छिप कर सुन लेता है। इसी बीच चाणक्य के द्वारा प्रथम अङ्क में लिखाये गये नकली पत्र और राक्षस के द्वारा पारितोषिक रूप में दिये गये आभूषणों को लेकर शिविर से आने की चेष्टा करता हुआ सिद्धार्थक पकड़ लिया जाता है। उसे मलयकेतु के सामने लाया जाता है। सच-सच बात बताने के लिए उसकी मरम्मत होती है, और उस नकली पत्र के विषय में वह यह कह देता है कि यह राक्षस का पत्र है जिसे वह चन्द्रगुप्त के पास ले जा रहा है। मलयकेतु के मन में राक्षस के विश्वासघात की धारणा बैठ जाती है। राक्षस बुलाया जाता है, और मलयकेतु उसे विश्वासघाती समझकर फटकारता है।[1] राक्षस का रहा-सहा आधार भी भग्न हो जाता है। मलयकेतु को इस बात का पूरा विश्वास हो जाता है कि पर्वतेश्वर को राक्षस ने ही मरवाया है, क्योंकि राक्षस पर्वतेश्वर का आभूषण पहने पाया जाता है, जिसे असल में राक्षस ने दूसरे अङ्क के अन्त में एक बनिये से खरीदा था। चाणक्य की चाल से चन्द्रगुप्त और चाणक्य का भेदन तो दूर रहा, मलयकेतु और राक्षस का भेदन हो जाता है।[2]

अन्त में राक्षस चन्दनदास को चाणक्य की चाल से बचाना अपना परम कर्तव्य समझता है। छठे अङ्क में वह पाटलिपुत्र पहुँचकर जीर्णोद्यान में लम्बी स्वगतोक्ति के द्वारा अपनी चालों की असफलता एवं भाग्यविपर्यय पर विचार करता देखा जाता है।[3] इसी बीच चाणक्य का एक गुप्तचर वहाँ आकर गले में रस्सी डालकर मरना चाहता है। राक्षस उसे बचाना चाहता है, पर वह बताता है

१. चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुरधिकं लाभमिच्छतः।
कल्पिता मूल्यमेभिर्वा क्रूरेण भवता वयम्॥ (पञ्चम अङ्क पृ० २४१)

२. कथं जीवसिद्धिरपि चाणक्यप्रणिधिः ! हन्त, हृदयमपि मे रिपुभिः स्वीकृतम्।
(पञ्चम अङ्क पृ. २४५)

३. अहो अलक्षितोपनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशाविभागपरिणतयो भवन्ति।
(पृ० २६७)

कि उसके मित्र चन्दनदास के वध से दुखी होकर वह ऐसा कर रहा है। राक्षस चन्दनदास को बचाने दौड़ पडता है।

सातवें अंक मे चाणक्य अपने जाल को समेटता दिखाई देता है, शिकार फँस चुका है। चाणक्य के दो गुप्तचर झूठे चाण्डाल बनकर चन्दनदास को शूली पर चढाने ले जा रहे हैं। चन्दनदास की पत्नी और पुत्र विलाप करते हैं। वध्यस्थल पर राक्षस आकर चाण्डालो को डराता है, वे भाग खड़े होते हैं। इसी बीच मञ्च पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त आते हैं। चाणक्य अपनी सारी कूटनीति को स्पष्ट कर राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनने को मजबूर करता है, लाचार होकर राक्षस को स्वीकार करना पडता है। 'नरेन्द्र' चन्द्रगुप्त चाणक्य की मन्त्रशक्ति के द्वारा तन्त्रावाप से युक्त होकर राक्षस के दर्पोन्मत्त 'नाग' को वश मे कर लेता है, और वह मन्त्रस्द्धवीर्य की भाँति नतानन हो जाता है।[1] चाणक्य की विजय सामाजिक को प्रभावित करती है, पर राक्षस की महान् तपस्विता; त्याग और नियति अथवा चाणक्य के पुरुषकार के द्वारा डाली गई विषम परिस्थिति दर्शक मे एक साथ राक्षस के प्रति सम्मान और दया के संमिश्रित भाव को उत्पन्न कर देती है। शतरञ्ज के खेल मे राक्षस हार जाता है, पर हार कर भी उसका मान बना रहता है, उस हार मे भी अपनी विशेषता है, और चाणक्य का कुशल खिलाड़ी खून का एक कतरा गिराये बग़ैर ही चन्द्रगुप्त के लिए एक महान् युद्ध जीत लेता है, मलयकेतु की वे वाहिनियाँ, जिनकी तुरगवर-घटाओ के द्वारा खुरपुटों से उडाई हुई धूल गौडाङ्गनाओं के कपोलों और काले केशो को धूमिल बनाने में समर्थ है, धरी की धरी रह जाती है। विशाखदत्त की मन्त्रशक्ति नाटक के नायक चाणक्य की नीति की तरह, भट्टनारायण और उसके भीम की उत्साह शक्ति की अपेक्षा नि.सन्देह शत्रुविजय के नाटक में अधिक सफल हुई है।

कथावस्तु, शैली एवं टेकनीक की दृष्टि से मुद्राराक्षस सभी संस्कृत नाटको से भिन्न है। इसका संविधान संस्कृत नाटकों के परपरागत ढर्रे पर नहीं चलता।

---

१. संकेत—तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः॥ (माघ)
तवाभिधानाद्व्यथते नतानना: सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥ (भारवि)
जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति।
ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति॥ (मुद्राराक्षस २.१)

मुद्राराक्षस मे ऐसी निजी मौलिकता है, जो उसे अन्य सब संस्कृत नाटकों से अलग कर देती है। यह मौलिकता ही किसी हद तक मुद्राराक्षस की उस उपेक्षा का कारण रही है, जो इसे पुराने पण्डितों के हाथों मिली है। मृच्छकटिक भी संस्कृत नाटको के लिए मौलिक वातावरण लेकर आता है, पर संस्कृत पण्डितों ने उसे उसका समुचित स्थान घोषित किया है, किन्तु मुद्राराक्षस का वातावरण मृच्छकटिक वाला न होकर गम्भीर होने के कारण सम्मान न पा सका। संस्कृत नाटकों की रोमानी परम्परा और प्रणय-चित्रण को छोड़कर गम्भीर विषय को अपना लक्ष्य बनाना मुद्राराक्षस की पहली विशेषता है। मुद्राराक्षस में कोई नायिका नही है, न प्रणय का कोमल वातावरण ही। सारे नाटक में केवल एक स्त्री पात्र मञ्च पर प्रवेश करता है—चन्दनदास की पत्नी। यह दृश्य प्रभावात्मक है, किन्तु कथावस्तु के विकास मे विशेष महत्त्व नही रखता। विशाखदत्त ने भट्टनारायण की तरह गम्भीर नाटक में प्रणयचित्र की रूढ़िगत थिकली लगाने की मूर्खता नही की है। मुद्राराक्षस राजनीतिक षड्यन्त्र का, कूटनीति के दाँव-पेंच का नाटक है, जहाँ वस्तु का निर्वाह दृढ़निर्बन्ध वाले व्यापार-चक्र से ही हो सकता है। पर मुद्राराक्षस का व्यापार सतत क्रियाशील होते हुए भी रक्तपातविहीन है, उसमे तलवारों की झनझनाहट, कबन्धो का नृत्य, या रुधिर की सरिता का चित्र नही आता, चाहे वाणी की उत्तेजना भले ही मिल जाय। साथ ही मुद्राराक्षस की लड़ाई इस तरह चलती है कि चाणक्य का प्रतिनायक राक्षस सावधान रहते हुए भी चारो ओर से घेर लिया जाता है, और उसे यह पता नही कि वह जाल मे फँसने जा रहा है, उसे सारा पता तब चलता है, जब वह फँस चुका है। मुद्राराक्षस की लड़ाई चाणक्य और राक्षस की लड़ाई नहीं, उनकी मन्त्रशक्तियो की लड़ाई है, और नाटक का सारा कुतूहल दोनों की चाल और अपने मोहरों को बचाकर दूसरी चाल चलने की चतुरता मे है, दर्शक पास में बैठा इन शतरञ्ज के खिलाड़ियों की चालें देखकर अभिभूत होता रहता है। सम्भवतः सहृदय भावुक ऐसे नाटक की प्रभावात्मकता के विषय में शङ्का करें, जिसमें न प्रेम की मधुरिमा है, न सङ्गीत की तान, न नृत्य का लास्यमय पदविक्षेप, न सीन-सिनेटरी से रमणीय प्रकृति-परिवेश हो, किन्तु इसमें कोई शक नहीं है कि नाटक की वस्तुयोजना इस खूबी से की गई है कि व्यापार की गत्यात्मकता कहीं क्षुण्ण नहीं होती, और पात्रों का प्रवेश उस व्यापार को गति देने के ही लिए कराया जाता है। नाटक की शैली इतनी गम्भीर, सशक्त,

स्पष्ट और साक्षाल्लक्ष्यमूलक है कि उससे नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता को सहायता मिलती है। नाटककार के गम्भीर उत्तरदायित्व का निर्वाह कितना क्लेशपूर्ण है, उसे विशाखदत्त अन्य संस्कृत नाटककारों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह जानते थे। विशाखदत्त ने स्वय एक स्थान पर राक्षस के मुँह से राजनीतिज्ञ की क्लेशपूर्ण स्थिति का सङ्केत कराते हुए नाटककार की स्थिति से तुलना की है। नाटककार पहले छोटे से कार्य का बीज रूप में (मुखसन्धि में) उपक्षेप करता है, तदनन्तर प्रतिमुखसन्धि में उनका विस्तार करना चाहता है, इसके बाद वह गर्भसन्धि में नाटकीय कथावस्तु के कार्य-बीजों के छिपे हुए गम्भीर फल को प्रगट करता है, फिर अपनी बुद्धि से विमर्श की रचना कर, फैले हुए व्यापारो को समेट कर उपसहार करता है। सचमुच नाटककार को बहुत बड़े क्लेश का सामना करना पड़ता है।[१] इस क्लेश का अनुभव या तो विशाखदत्त जैसे सफल नाटककार को ही हो सकता है, या राजनीति में खेलने वाले राक्षस को ही।

मुद्राराक्षस के नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता, घटना-चक्र का उतार-चढ़ाव, चाणक्य तथा राक्षस के परस्पर प्रयुक्त षड्यन्त्रों के साथ चलता है। प्रत्येक अङ्क व्यापार की दृष्टि से स्वत. पूर्ण है, किन्तु एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं है। हर कड़ी स्वत: पूर्ण होते हुए भी दूसरी मे जुड़कर नाटकीय व्यापार-शृंखला की निर्मिति में सहयोग देती है, महाकार्य की ओर नाटकीय वस्तु को अग्रसर करती है। नाटक मे ऐसी कोई घटना या परिस्थिति नही, जिसे जबर्दस्ती रख दिया गया हो और वह अस्वाभाविक जान पड़ती हो। नाटक की समस्त घटनाएँ, पात्र, संवाद और योजनाएँ केवल एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ती दिखाई गई हैं, ये सारे नद-नाले एक ही सरिता मे गिरकर महासमुद्र की ओर बहते हैं। विशाखदत्त का वस्तु-निर्वाह बड़े ध्यान से नियोजित किया गया जान पड़ता है तथा एक कुशल कलाकार की कृति है। मुद्राराक्षस की व्यापारान्विति का जो सुगठित सुष्ठुरूप दिखाई पडता है, वह अन्य किसी संस्कृत नाटक मे नही है।

---

१. कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभविता क्लेशमस्मद्विधो वा॥ (४. ३)

नाटक का नायक कौन है, चन्द्रगुप्त या चाणक्य ? संस्कृत नाट्यशास्त्र की परम्परा शायद चन्द्रगुप्त को ही नायक मानना चाहे, पर विशाखदत्त स्वयं चाणक्य को नायक मानने के पक्ष में मत देंगे। नायक की दृष्टि से भी विशाखदत्त संस्कृत नाटकों की रूढिगत परम्परा का भङ्ग करते दिखाई देते है। सारे नाटक में चाणक्य निःसन्देह प्रमुख पात्र है, जो पहले अङ्क से अन्त तक अपने गम्भीर व्यक्तित्व में दिखाई पडता है। विशाखदत्त का एकमात्र उद्देश्य चाणक्य के चरित्र के गहन पक्ष को सामने रखना है। नाटक में स्थान-स्थान पर विशाखदत्त ने ऐसे सङ्केत किये हैं,[1] जो चाणक्य को नायक मानने के पक्ष को पुष्ट करते हैं। यद्यपि राक्षस को वश में कर लेने से चन्द्रगुप्त को अमात्य लाभ हुआ है, पर चाणक्य को भी फलागम हुआ है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता और इसी फलागम का विशेष महत्व है। चाणक्य जैसे निःस्वार्थ राजनीतिज्ञ के लिए, अपने लिए फलप्राप्ति करना अभीष्ट न था, उसका लक्ष्य था, चन्द्रगुप्त के लिए निष्कण्टक राज्य की स्थापना और राक्षस को मन्त्री बनाना; और वह इस कार्य मे सफल होता है।

चाणक्य का पात्र निःस्वार्थ, दृढप्रतिज्ञ, कूटनीति-विशारद एवं महान् राजनीतिज्ञ है। वह चन्द्रगुप्त का गुरु, मन्त्री, पथप्रदर्शक सभी कुछ है, उसी की एकमात्र कृपा से वृषल चन्द्रगुप्त नन्द के सिंहासन पर बैठा सका है। मौर्य-साम्राज्य के मन्त्रित्व का उपभोग करते हुए भी चाणक्य नगर से बाहर एक कुटी मे रहता है जहाँ एक ओर कण्डों को तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा है, दूसरी ओर शिष्यों के द्वारा लाई हुई दर्भ का ढेर लगा है, कुटी की छत सुखाई हुई समिधाओं के भार से झुकी हुई है, और दीवारें जीर्ण-शीर्ण हो रही हैं।[2] कहाँ चन्द्रगुप्त का मन्त्रिपद और कहाँ यह दरिद्र वातावरण ? पर चाणक्य को अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, उसका एकमात्र लक्ष्य चन्द्रगुप्त के राज्य को

१. जयति जलदनीलः केशवः केशिघाती जयति सुजनदृष्टिचन्द्रमाश्चन्द्रगुप्तः ।
जयति जयनसज्जं यत्कृता येन मैत्री प्रतिहतरिपुपक्षा चाणक्यनीतिः ।
(१.१)

चन्द्रगुप्तमदोगमुदा अवाप्तसिंहासनदीपदिनकरम् ।
चाणक्यनीतिरज्जुः रिपुसंहमनस्तुरा जयति ॥ (१,४)

२. उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः ।
शरणमपि समिद्भिश्शुष्यमाणाभिराभिर्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥
(३.१५)

निष्कंटक बना देना है। इस लक्ष्य के लिए चाणक्य पुरुषार्थ को अपना साधन बनाता है। दैव के प्रति विश्वास करना चाणक्य जानता ही नहीं, उसे अपने उद्यम पर, अपने पुरुषकार पर अटल विश्वास है। तीसरे अङ्क मे चन्द्रगुप्त नन्दवंश के नाश का कारण दैव को बताता है, इसे सुनकर चाणक्य नाराज हो जाता है, और कहता है कि मूर्ख व्यक्ति ही दैव में विश्वास करते हैं।[1] चाणक्य इतना महान् राजनीतिज्ञ है कि उसके मित्र एवं शत्रु सभी उसकी नीति की प्रशंसा करते हैं। भागुरायण को चाणक्य की राजनीति नियति की तरह चित्र-विचित्र रूप वाली दिखाई देती है। कभी तो चाणक्य की चालें प्रकाशित होती दिखाई देती हैं, तो कभी इतनी गहन बन जाती हैं कि बुद्धि भी उन्हे नही पकड पाती, कभी वह सम्पूर्ण रूप में दिखाई देती है, तो कभी किसी कार्य से अत्यधिक क्षीनी बन जाती है, कभी ऐसा प्रतीत होता है, जैसे चाणक्य की नीति का बीज तक नष्ट हो रहा है, तो कभी फिर पूर्णतः सफल होती दिखाई देती है। नियति की तरह चाणक्य की नीति अनेकों तरह के खेल दिखाती है, और अपना असली रूप प्रकट नही करती।[2] चाणक्य को अपनी बुद्धि और नीति पर पूरा भरोसा है, कोई भी उसका शत्रु बन बैठे जब तक उसके पास बुद्धि है, वह सैंकडों सेनाओं की भी परवाह नहीं करता उसकी अकेली बुद्धि इन्हें परास्त करने में अलम् है।[3] चाणक्य निःसन्देह बुद्धि से ही मलयकेतु की सेनाओ को जीत लेता है। चाणक्य का पात्र क्रोधी है, किन्तु वह क्रोध का आश्रय लेता तब देखा जाता है, जब उसके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है, अथवा उसकी योजनाओं को अफल बनाने की चेष्टा की जाती है। उसने चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया है, उसकी इस योजना को भग्न करने की चेष्टा में रत मलयकेतु को वह कैसे बर्दाश्त कर सकता है? पहले अङ्क में ही चाणक्य का यह रूप दिखाई देता है। तीसरे अङ्क में जब चन्द्रगुप्त के द्वारा चाणक्य के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाई जाती है, तो वह उबल पडता

---

१. दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति। (तृतीय अङ्क)

२. मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना,
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्भ्रश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥ (५.३)

३. एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम॥ (१.२६)

है। चाणक्य की (कृत्रिम) क्रोधमुद्रा का गम्भीर वर्णन उसके स्वभाव का परिचय दे सकता है चाणक्य की क्रोधमुद्रा को देखकर चन्द्रगुप्त को ऐसा प्रतीत होता है मानो पृथ्वी चाणक्य के प्रहारों को सह कर ताण्डव नृत्य के समय रौद्ररस का अभिनय करते हुए रुद्र के पादविक्षेप को याद कर रही हो।[1] पर चाहे चाणक्य को बाहर से क्रोधी बनना पड़ता हो, वह हृदय से कोमल है। उसका चरित्र पत्थर से भी ज्यादा सख्त और मोम से भी ज्यादा मुलायम है। वह लोकोत्तर चरित्र है, जो वज्र से भी अधिक कठोर है, कुसुम से भी अधिक कोमल। पर राजनीति की कठोर वनस्थली पर चलते-चलते उसके अपने पैर भी कठोर हो गए हैं। चाणक्य को स्वयं भी कभी-कभी यह विचार आ जाता है कि राजनीति में व्यस्त रहने के कारण बटुओं के साथ उसका बर्ताव शुष्क हो गया है, और वह कह ही उठता है :—'वत्स मेरा शिष्यों के प्रति कोई स्वभावतः रूखा व्यवहार नहीं है, किन्तु कार्य में व्यग्र होने के कारण मैं व्याकुल रहता हूँ। इसलिए तुम यह न समझना कि उपाध्याय का व्यवहार शुष्क एवं कटु है। परिस्थितियों ने मुझे ऐसा बना रखा है।[2] चाणक्य के स्वभाव का कोमल पक्ष ही उसे राक्षस की प्रशंसा करने को बाध्य करता है।

राक्षस भी चाणक्य की तरह महान् राजनीतिज्ञ अवश्य है, पर राक्षस के चरित्र में कुछ ऐसे गुण (या दोष) विद्यमान हैं, कुछ ऐसी मानवोचित उदात्तता वर्तमान है, जो उसके कठोर राजनीतिज्ञ को उस बुद्धि की भूमि से उतार कर हृदय के कोमल तल पर खड़ा कर देती है। चाणक्य की तरह वह हृदय को पूर्णतः वश में नहीं कर पाया है। राक्षस के चरित्र की यह भावुकता ही राक्षस के पराजय का कारण बनती है। राक्षस भी चाणक्य जैसा ही निःस्वार्थ, स्वप्रतिज्ञ राजनीतिज्ञ है, जिसके डर से राज्यलक्ष्मी अभी पूरी तरह चन्द्रगुप्त का आलिङ्गन नहीं कर पाई है।[3] पर चाणक्य और राक्षस के चरित्रों में बड़ा

---

१. संरम्भस्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयापि
भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं ज्वलितमिव पुरः पिङ्गया नेत्रभासा।
मन्ये रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या
संजातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः॥ (३.३०)

२. वत्स, कार्याभिनिवेश एवास्मानाकुलयति न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता। (प्रथम अङ्क)

३. ३.१२।

भेद है। चाणक्य स्पष्टबुद्धि, आत्मविश्वासी तथा अप्रमत्त है, राक्षस भावुक, कोमल तथा गलती करने वाला। चाणक्य की नीति गुप्त है, वह किसी पर विश्वास नही करता, राक्षस स्पष्ट है, दयापूर्ण है, तथा हर एक पर विश्वास करता है। यह हर एक पर विश्वास करना ही राक्षस का पतन कराता है। चाणक्य का व्यक्तित्व इतना गम्भीर तथा कठोर है, कि उसके मित्र तथा अनुयायी भी उससे डरते हैं, राक्षस के मित्रादि उसे प्रेम करते हैं। राक्षस के इन्ही गुणो के कारण चाणक्य उसे जीतना चाहता है, उसका हृदय-परिवर्तन करना चाहता है, और इसमें वह पूर्णत. सफल होता है। राक्षस भी चाणक्य की योजनाओं को भङ्ग करने के लिए कूटनीतिपूर्ण चालें चलता है, पर वह राजनीति के ही जगत् मे नहीं रहता, जब कि चाणक्य उसी जगत् में उठता-बैठता है, राजनीति के अतिरिक्त चाणक्य को और कुछ सूझता ही नही।

चन्द्रगुप्त और मलयकेतु दोनों ही नाटक मे अधिक शक्तिशाली चरित्र भले ही न हो, पर उन्हें चाणक्य या राक्षस की कठपुतली नही कह सकते। चन्द्रगुप्त आदर्श राजा है, जो आचार्य चाणक्य की आज्ञा का पालन करता है, और प्रभुशक्ति के साथ मन्त्रशक्ति की उपयोगिता को भलीभाँति समझता है। वह चाणक्य के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने को सदा तैयार है' तथा उसके कहने पर उससे लड़ाई करने का बहाना भी बनाता है, पर उसे यह खटकता है कि उसे आचार्य से झगड़ा (चाहे कृत्रिम ही क्यों न हो) करना पड़ेगा। मलयकेतु ठीक उसी तरह चन्द्रगुप्त का उलटा चरित्र है, जैसे राक्षस चाणक्य का उलटा। चन्द्रगुप्त शान्त व गम्भीर है, मलयकेतु अशान्त, उद्धत और उजड्ड। उसे पाटलिपुत्र के गांग प्रासाद में स्थित सिंहासन पर बैठने की लालसा है, वह मौर्य को हटाकर सम्राट् बनना चाहता है, पर वह अविवेकी है, और भावावेश में आकर पता नहीं क्या कर देता है। चाणक्य के गुप्तचरो के जाल मे फँसकर वह राक्षस का घोर अपमान करता है, जिसे देख कर राक्षस उसके अज्ञानी होने की घोषणा करता है।[1] विशाखदत्त के छोटे-छोटे पात्र भी सशक्त है—विरुद्धक, सिद्धार्थक, निपुणक, आहितुण्डिक आदि चाणक्य और राक्षस के गुप्तचर, शकटदास और चन्दनदास, सभी पात्र चाहे सूक्ष्म हों, किन्तु नाटककार के चित्रकार की कूँची ने उनमें भी जीवन-रस भर दिया है। विशाखदत्त के चरित्र मृच्छकटिक की

---

१. अहो विवेकशून्यता म्लेच्छस्य। (पञ्चम अङ्क)

भाँति जीवन्त चरित्र हैं, किसी हद तक मृच्छकटिक के चरित्रों से भी अधिक स्पष्ट, अधिक सशक्त, अधिक यथार्थ ।

मुद्राराक्षस की काव्य-शैली

मुद्राराक्षस की रचना कवि की उत्कृष्ट कलात्मकता का परिचय देती है, यह एक ऐसे कलाकार की कृति है, जिसने प्रत्येक पद पर औचित्य का ध्यान रखा है । यही कारण है, विशाखदत्त की काव्यशैली सशक्त, गम्भीर एवं प्रवाहमय है, उसमे परवर्ती कवियो की परिश्रमसाध्य कृत्रिम शैली नही दिखाई पडती । अभिव्यञ्जना की दृष्टि से चाहे उसे माघ जैसे कवियों के साथ नही रखा जा सके, पर विशाखदत्त के कई पद्य सस्कृत साहित्य की अपूर्व निधि हैं । विशाखदत्त मे चाहे कालिदास जैसी उदात्त कल्पना तथा सरस भावतरलता न हो, हर्ष जैसा कोमल एव विलासी प्रणय-चित्र न हो, शूद्रक जैसा व्यंग्य, हास्य एव करुण का वातावरण न हों, भट्टनारायण जैसी शक्ति तथा उष्मा न हो, न भवभूति जैसी करुणहृदय की वेदना हो; फिर भी विशाखदत्त की अपनी शैली उसके विषय के अनुरूप हैं, और इस दृष्टि से वह निम्न कोटि का कलाकार नही । विशाखदत्त की उपमाएँ, अप्रस्तुत, चित्रविधान अत्यधिक सतर्कता से सँजोये गये हैं, और वह निरर्थक कलापक्ष के जाल मे इसलिए नही फँसता कि नाटकीय प्रवाह एवं प्रभाव को अक्षुण्ण बनाये रखने की भावना उसे सदा बचाती रही हैं । सम्भवतः कुछ लोग प्रथम अङ्क की चाणक्य की स्वगतोक्ति तथा षष्ठ अङ्क की राक्षस की स्वगतोक्ति के लम्बेपन को नाटकीय दोष मानें, किन्तु इनके द्वारा एक स्थान पर वह चाणक्य के चरित्र की सशक्तता को पूर्णतः व्यक्त करना चाहता हैं, दूसरे स्थान पर राक्षस की भावुक प्रकृति को ।

मुद्राराक्षस का अङ्गीरस वीर है । शृंगार का अभाव होने के कारण, तथा विषय के बौद्धिक स्तर के होने के कारण मुद्राराक्षस कुछ नीरस (प्रोजेक) भले हो लगे, काव्योचित उदात्तता की इसमें कमी नहीं । चाणक्य की उक्तियों मे वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ हैं चाणक्य की उत्साहशक्ति अदम्य हैं । वह, वह शेर हैं, जिसके जबड़े मे हाथ डाल कर उसकी डाढ को उखाड़ने की हिम्मत कोई नहीं कर सकता । अप्रस्तुत-प्रशसा अलङ्कार के द्वारा व्यञ्जित वीर रस का यह चित्र निम्नलिखित पद्य में मिलता हैं :—

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य ।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ।।(१.८)

'वह कौन व्यक्ति है, जो जँभाई के कारण मुँह को फाड़ते हुए शेर की उस दाढ़ को बलात्कार से उखाड़ लेना चाहता है, जो हाथी के खून को चखने के कारण लाल कान्ति से युक्त, ठीक उसी तरह हो गई, जैसे सन्ध्याकालीन चन्द्रमा की लाल कान्ति ।'

चाणक्य के शेर ने अपनी डाढ़ों को उखाड़ने का साहस करने वाले मूर्खों का नाश कर दिया है। उसने राक्षस के देखते हुए, संसार के समक्ष, यह भयङ्कर प्रतिज्ञा की थी कि वह नन्द का मूलोच्छेद कर देगा, जिस प्रतिज्ञा के कारण क्रोध के आवेश में काँपते हुए शरीर की उद्विग्न अँगुलियों ने तेजी से शिखा खोल डाली थी; और जिस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए उसने असंख्य धन-सम्पत्ति के स्वामी, घमण्डी नन्दों को बलिपशु की तरह मार डाला था ।

आरुह्यारूढकोपस्फुरणविषमिताग्रांगुलीं मुक्तचूडां
लोकप्रत्यक्षमुग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञाम् ।
केनाप्येनावलिप्ता नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरास्ते
नन्दाः पर्यायभूताः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य ।। (३.२७)

वीर रस का परिपाक राक्षस तथा मलयकेतु की उक्तियों में भी देखा जाता है। मुद्राराक्षस में संग्राम की लड़ाई वाले वीर रस के चित्र नहीं मिलते, पर मलयकेतु की उक्तियों में कहीं-कहीं सेनाओं की दौड़-धूप का संकेत मिल सकता है ।

गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहुलान् धूम्रयन्तः कपोलान्
क्लिश्नन्त. कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य ।
पांशुस्तम्बा बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमाङ्गे गजमदमलिनच्छिन्नमूलाः पतन्तु ।। (५.२३)

'सेना के घोड़ों के खुरपुटों से चूर्णित रणभूमि से उठकर पुष्ट हुई धूल गौड़ देश की स्त्रियों के लोध्रधूलि से सुगन्धित कपोलों को धूमिल बनाती हुई, उनके भौंरे जैसे काले, घुंघराले बालों की कृष्णिमा (कालेपन वाले सौन्दर्य) को मलिन बनाती हुई, हाथियों के मदजल से मलिन कीचड़ को उछालती हुई, शत्रुओं के मस्तकों पर जाकर गिरे, (और उनके अमङ्गल का कारण बने) !'

राक्षस की वीरता का मार्मिक चित्र हमें षष्ठ अङ्क में मिलता है। परिस्थितियों ने उसे मलयकेतु से अलग कर दिया है, अब उसका कोई साथी नहीं, किन्तु फिर भी चन्दनदास की विपत्ति की खबर सुनकर उसका खून खौल उठता है, वह अभी भी अपने परम मित्र खड्ग के साथ है, वह उसकी सहायता करेगा।

निस्त्रिंशोऽयं विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्ति–
र्युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यः करेण।
सत्त्वोत्कर्षात् समरनिकषे दृष्टसारः परैर्मे
मित्रस्नेहाद्विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते॥ (६.१६)

'जलरहित आकाश की तरह चमकने वाली यह तलवार, जो युद्ध में श्रद्धा रखने के कारण रोमान्चित हो गई है, जिसने मेरे हाथ से मित्रता प्राप्त कर ली है, तथा जिसकी वीरता को शत्रुओं ने युद्धभूमि की कसौटी पर परखा है, आज मुझे मित्र चन्दनदास के स्नेह के कारण साहस की ओर बढ़ने को प्रेरित कर रही है।'

वीरता के इस गम्भीर वातावरण में प्रणय की कोमलता, रोमानी तस्वीरों का हल्का-फुल्कापन मिलना कठिन है। चाणक्य की नीति की तरह विशाखदत्त की कला भी शृङ्गार के कौमुदी-महोत्सव को निषिद्ध कर देती है। वैसे मुद्राराक्षस में एक-दो शृङ्गारी चित्र देखे जा सकते हैं। इनमें निम्नलिखित दो चित्र खास हैं, एक में शृङ्गारी चित्र अप्रस्तुत के रूप में उपस्थित हुआ है, दूसरे में निषेध-पद्धति का आश्रय लेकर। इन दो चित्रों को देखकर कहा जा सकता है कि विशाखदत्त का गम्भीर कवि शृङ्गारी चित्रों में असफल नहीं कहा जा सकता।

वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहितयाप्यङ्के पतन्त्या मुहुः।
गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं यस्योद्यमाशङ्किनो
मौर्यस्योरसि नाधुनापि कुरुते वामेतरं श्रीः स्तनम्॥
(२.१२)

'यही वे अमात्य राक्षस हैं, जिनके पराक्रम से शङ्कित होकर मौर्यों की राज्यलक्ष्मी मौर्य चन्द्रगुप्त का पूरी तरह आलिङ्गन नहीं कर पाती। उसने अपनी बाँयी बाहुलता चन्द्रगुप्त के गले में डाल तो दी है, पर वह शिथिल है,

उसने अपना मुँह चन्द्रगुप्त की ओर से फेर रखा है, उसकी दाहिनी बाँह जबर्दस्ती उसके कन्धे पर रखी जा रही है, और वह बार-बार नीचे गिर रही है, ताकि मौर्य का आलिङ्गन न कर सके, वह अपने दाहिने स्तन को मौर्य के वक्षःस्थल से सटाकर अभी भी उसे गाढालिङ्गन का सुख नहीं दे पाती।'

चन्द्रगुप्त को इस बात का खेद है कि कौमुदीमहोत्सव के होते हुए भी पुष्पपुर निवासी उत्सव नहीं मना रहे हैं।

धूर्तैरन्वीयमानाः स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यो
नालङ्कुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तमन्दप्रयातैः।
अन्योन्यं स्पर्द्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशङ्काः
साकं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौरमुख्याः॥ (३.१०)

'चतुर कथाओं में निपुण विटों के द्वारा अनुगत वारनारियाँ आज अपने पुष्ट जघनभार से दबी हुई मन्थर गति से पाटलिपुत्र की गलियों को सुशोभित नहीं कर रही हैं, साथ ही समृद्धि से एक दूसरे की स्पर्द्धा करनेवाले श्रेष्ठ नागरिक भी निःशङ्क होकर अपनी स्त्रियों के साथ कौमुदीमहोत्सव के अभिलषित उत्सव को नहीं मना रहे हैं।

प्रकृति वर्णन के एक अलंकृत चित्र का नमूना निम्नलिखित है :—

आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लिन्दती कृत्तिमैभीम्।
कापालीमुद्वहन्ती स्रजमिव धवलां कौमुदीमित्यपूर्वा
हासश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः॥ (३.२०)

'महादेव की मूर्ति के समान रूपवाली यह अपूर्व शरद ऋतु आप लोगो के कष्ट का निवारण करे। महादेव काशपुष्पों की शोभा को तिरस्कृत करने वाली भस्म से आकाश को धवल बनाते हैं, शरद् भस्म के समान सफेद काशपुष्पों की कान्ति से आकाश को धवल बनाती है, महादेव मस्तक पर धारण किए हुए चन्द्रमा की किरणों से मेघ के समान काले गजचर्म को गीला बनाते हैं तो शरद् चन्द्रमा की किरणों से गजचर्म के समान काले मेघों को निर्मल बनाती है, महादेव चन्द्रमा के समान धवल कपाल-माला को धारण करते हैं, तथा राजहंस के समान धवल अट्टहास से सुशोभित हैं, शरत् कपाल-माला के समान श्वेत चन्द्रिका धारण करती है, और राजहंसो की हास्य-श्री से सम्पन्न है।'

विशाखदत्त के कई पद्यो से राजनीति, न्यायशास्त्र आदि का प्रगाढ पाण्डित्य

प्रकट होता है। पण्डितों ने विशाखदत्त के निम्नलिखित पद्य को उसकी विद्वत्ता का प्रदर्शक माना है :—

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तञ्च विपक्षतो भवति यत् तत् साधनं सिद्धये ।
यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धञ्च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥ (५. १०)

'न्याय की वाद-प्रणाली में वादी सदा ऐसा हेतु (साधन) चुनता है, जो साध्य के साथ निश्चित रूप से अन्वित हो, अर्थात् जिसका साध्य के साथ निश्चित व्याप्ति सम्बन्ध हो, जैसे धुएँ का आग के साथ। साथ ही वह हेतु ऐसा हो जो सपक्ष (महानसादि) में रहता हो, और विपक्ष (जलहृदादि) में नहीं पाया जाता हो। ऐसा होने पर ही कोई साधन (हेतु) अनुमिति कराने में सफल हो सकता है। पर ऐसा साधन जो सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में एक-सा रहता है, तथा पक्ष (पर्वत) में भी विरुद्ध पड़ता है, उसका आश्रय लेने वाले वादी का निग्रहस्थान (पराजय) करा देगा। इसी प्रकार अमात्य को भी स्वामी के लिए ऐसी सेना (साधन) चुननी चाहिए, जो साध्य (जय) को प्राप्त कराने में निश्चित रूप से समर्थ हो, जो मित्रों से मिली हो, और शत्रुओं से विरुद्ध हो। मित्र तथा शत्रु दोनों के प्रति समान बर्ताव करने वाली तथा पक्ष (स्वामी) के प्रति विरोधी रहने वाली, सेना के आश्रय लेने से तो स्वयं स्वामी की ही पराजय होगी।'

मुद्राराक्षस में शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी तीनों प्राकृतों का प्रयोग हुआ है, क्षपणक, सिद्धार्थक, चाण्डाल आदि मागधी का प्रयोग करते हैं, अन्य पात्रों की भाषा शौरसेनी है। पद्य में महाराष्ट्री का प्रयोग हुआ है। विशाखदत्त की प्राकृत, व्याकरण के नियमों को दृष्टि में रखकर लिखी गई प्रतीत होती है। विशाखदत्त ने अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है, पर उनका सबसे अधिक मोह शार्दूलविक्रीडित तथा स्रग्धरा के प्रति है, जो क्रमशः ३९ तथा २४ बार प्रयुक्त हुए हैं। विशाखदत्त के गम्भीर विषय के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने में ये दोनों छन्द हाथ बँटाते हैं। नाटक में एक बार सुवदना (४.१६) का भी प्रयोग किया गया है।

कुल मिलाकर विशाखदत्त का मुद्राराक्षस सफल नाटक है, जिसे हम नाटकीय दृष्टि से प्रथम कोटि के नाटकों में रख सकते हैं।

महाकवि भवभूति

विशाखदत्त नाटककार हैं, तो भवभूति नाटककारो के कवि हैं। विशाखदत्त की पद्धति का निर्वाह भले ही भवभूति में न भी मिले, भावपक्ष की अपूर्व तरलता दिखाई पड़ती है, और यही कारण है कि भवभूति को कालिदास के बाद नाटककारो की पंक्ति मे पहला सम्मानित स्थान मिलता रहा है। पर भवभूति के नाटककर्तृत्व का परिशीलन करते समय हमें यह न भूलना होगा, कि भवभूति को हम शुद्ध नाटककार नही कह सकते। भवभूति वस्तुतः गीतिनाट्य (Lyric drama) के रचयिता हैं। उनकी कृतियां—विशेषतः उत्तररामचरित, जिसके कारण भवभूति को इतना आदर प्राप्त हो सका है—गीति-नाट्य की भावप्रवणता को लेकर आती हैं, और उन्हें इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। वैसे तो संस्कृत के प्रायः सभी नाटक काव्यमय अधिक हैं। डॉ० डे ने संस्कृत नाटकों की विशेषताओं का सङ्केत करते हुए इस बात को ओर भी ध्यान दिलाया है कि संस्कृत नाटको की प्रकृति भावुक अधिक है। यहाँ के नाटककार प्रथमतः कवि हैं, बाद मे नाटककार और यह बात कालिदास पर भी पूरी तरह घटित होती है। कालिदास मूलतः कवि ही हैं, पर कालिदास का सबसे बड़ा गुण यह है कि उनका कवि नाटकीय सविधान पर हावी होकर उसे विकृत नहीं बना देता। बाद के कवियों मे कवित्व अधिक हावी हो गया है। भवभूति में यह कवित्व भावमय है, भट्टनारायण या मुरारि में अलङ्कारप्रिय तथा पाण्डित्यपूर्ण। वैसे भवभूति भी कलापक्ष के मोह से छूटे हुए नहीं हैं, किन्तु ज्यो-ज्यो भवभूति की भारती परिपक्व होती रही है, त्यो-त्यों भवभूति की भावप्रवणता व्यक्त होती गई है, और जहाँ भाव फूट पड़ना चाहते हैं, वहाँ भवभूति का पाण्डित्य भी रस-प्रवाह में बह निकलता है। भवभूति के कवि की यह सबसे बड़ी विशेषता है, जो उन्हें संस्कृत साहित्य में अमर बना देती है।

भवभूति के जन्मस्थान एवं वंश-परम्परा के विषय में उनके नाटको की प्रस्तावना से ही संकेत मिलता है। वे पद्मपुर के निवासी थे तथा उदुम्बर कुल के ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम भट्ट गोपाल था, जो स्वयं महाकवि थे,

और इनके पिता का नाम नीलकण्ठ तथा माता का नाम जतुकर्णी था। भवभूति का दूसरा नाम 'श्रीकण्ठ' भी था।[1] कुछ विद्वान् कवि का वास्तविक नाम भवभूति न मानकर श्रीकण्ठ ही मानते हैं। किंवदन्तियो के अनुसार कवि का 'भवभूति' नाम एक सुन्दर प्रयोग के कारण चल पड़ा था। देवी पार्वती की वन्दना मे बनाये हुए एक पद्य में श्रीकण्ठ ने 'भवभूति' का प्रयोग किया था, उससे चमत्कृत होकर सहृदय पण्डितों ने कवि का उपनाम ही 'भवभूति' रख दिया।[2]

इसी सम्बन्ध मे एक और प्रश्न उपस्थित होता है। मालतीमाधव की एक हस्तलिखित प्रति में तृतीय अङ्क की पुष्पिका मे उसे उम्वेकाचार्य की कृति माना गया है। उम्वेक प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट के शिष्य थे तथा स्वयं मीमांसा शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। उम्वेक ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक की टीका की है। तो, क्या भवभूति और उम्वेकाचार्य एक ही हैं, और क्या भवभूति कुमारिल के शिष्य थे? विद्वानो ने चित्सुखी आदि कुछ अवान्तर ग्रन्थो से इस बात के उद्धरण दिये हैं कि वे भवभूति तथा उम्वेक को एक मानते हैं।[3] पर केवल एक ही सङ्केत पर इस निश्चय पर पहुँच जाना ठीक नही जान पड़ता। हो सकता है, भवभूति के पाण्डित्य तथा 'पदवाक्य-प्रमाणज्ञत्व' को देखकर किंवदन्तियों ने उनका सम्बन्ध कुमारिल और उम्वेक से जोड़ दिया हो। इतना मानने में तो हमे भी कोई सन्देह नहीं कि भवभूति अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे और मीमांसा शास्त्र के अच्छे जानकार रहे होंगे जैसा कि यत्र-तत्र किये गये सङ्केतों से पता चलता है। उन्होंने वेद, उपनिषद्, सांख्य योग आदि शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया था और व्याकरण, साहित्यशास्त्र तथा तर्कशास्त्र में वे निष्णात थे।

---

१. तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पंचमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकण्ठस्यात्मसम्भवः श्रीकंठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः कविर्मित्रधेयमस्माकमिति विदांकुर्वन्तु।

(महावीरचरित पृ० ८)

२. भवभूति का वह पद्य यह है :—

गिरिजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ।
तपस्वी कांगतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव॥

३. पं० बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-कवि-चर्चा (पृ० ३०५)

यद्यपि भवभूति इतने गम्भीर विद्वान् थे, और कई स्थानों पर वे पाण्डित्य-प्रदर्शन मे फँसे भी हैं, तथापि उनकी कविता कोरा पाण्डित्य-प्रदर्शन नही बन पाई, यह सबसे बडा हर्ष का विषय है। भवभूति शिव के भक्त थे और उनके तीनों नाटकों की प्रस्तावना में सङ्केत मिलता है कि वे कालप्रियानाथ (सम्भवतः उज्जयिनी के महाकाल) के समक्ष खेले जाने के लिए लिखे गये थे।[१]

भवभूति ने स्वयं अपना पूरा परिचय अपने नाटकों की प्रस्तावना में दिया है, किन्तु किसी आश्रयदाता का कोई संकेत नही किया। इसीलिए भवभूति किस समय विद्यमान थे, इसका कोई स्पष्ट संकेत भवभूति के नाटकों मे नहीं मिलता। भवभूति के विषय में सबसे पहला उल्लेख हमे वाक्पतिराज के 'गउडवहो' मे मिलता है जहाँ भवभूति रूपी सागर से निकले हुए काव्यामृत—रसकणों की प्रशंसा की गई है।[२] वाक्पतिराज कान्यकुब्जाधीश यशोवर्मा (७५० ई०) के आश्रित थे, और यह अनुमान किया जाता है कि वे भवभूति के शिष्य थे। भवभूति भी अपने अन्तिम दिनों मे यशोवर्मा के ही आश्रित थे। यशोवर्मा स्वयं विद्वान् एवं कवि था। उसने खुद 'रामाभ्युदय' नामक नाटक की रचना की थी। यह नाटक उपलब्ध नही है, पर साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। राजतरङ्गिणी के अनुसार यशोवर्मा के दरबार मे भवभूति आदि कई कवि थे।[३] इस आधार पर भवभूति का समय (७५० ई०) के लगभग मानते हुए उनका रचनाकाल (७००-७५० ई०) मानना होगा। भवभूति को यशोवर्मा का आश्रय अन्तिम दिनों में मिल पाया था, जब भवभूति की कृतियों ने उन्हें प्रसिद्ध बना दिया था। जीवन के मध्यकाल मे भवभूति किसी राजा के आश्रित न थे और यही कारण है कि उनके किसी नाटक मे किसी भी राजा का संकेत

---

१. दे० महावीरचरित पृ० ६, मालतीमाधव पृ०७, उत्तररामचरित पृ० ३।
२. भवभूतिजलधि निर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
 यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु॥
 (भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा एव फुरन्ति।
 जस्स विसेसा अज्जवि विअडेसु कहाणिवेसेसु॥)
३. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
 जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

नही मिलता। यह अनुमान करना भी अप्रासङ्गिक न होगा कि भवभूति को जीवन मे कई प्रताड़नाएँ और अनादर सहने पड़े होगे। श्रीमन्तों ने भवभूति के कवित्व और पाण्डित्य की उपेक्षा की होगी। भवभूति ने अपने जीवन का अधिकाश दुःख और दरिद्रय मे बिताया जान पडता है फलतः भवभूति का स्वभाव गम्भीरता धारण करता पाया जाता है। कालिदास मे जो आह्लाद और उल्लास, जो आशावादी दृष्टिकोण है, वह भवभूति मे नही मिलता। भवभूति की परिस्थितियों ने उन्हे निराशावादी बना दिया था, वे करुणा और वेदना को अधिक प्यार करने लग गये थे, जीवन के गम्भीर पहलुओं मे अधिक दिलचस्पी लेने लगे थे। भवभूति ने स्वय एक स्थल पर उन लोगो को चुनौती दी थी, जो उनके मूल्य को नही आँक सके थे। दुःखी भवभूति को बाहर से फिर भी एक आशा थी कि कभी न कभी इस मोती के मूल्य को समझनेवाला कोई जौहरी पैदा होगा, पृथ्वी बहुत बडी है और काल अनन्त है। भवभूति ने इसीलिए रचनाएँ उन लोगो के लिए नही की, जो उनके समसामयिक थे और उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। वे अपनी कृतियाँ भावी भावुकों के लिए, भवभूति के किसी 'समानधर्मा' के लिए, लिखते रहे।[१] भवभूति की इस वाणी में उपेक्षा करनेवालो को फटकार हो, पर कवि की वेदना, पीड़ा, और उसे समाज के हाथो मिला दुर्व्यवहार स्पष्ट ध्वनित हो उठता है।

भवभूति की रचनाएँ

भवभूति की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं, और तीनो रूपक (नाटक) हैं, मालतीमाधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित। भवभूति के इन तीन रूपकों मे प्रथम प्रकरण है, अन्य दो नाटक। कुछ विद्वानो के मतानुसार भवभूति की सबसे प्रथम रचना महावीरचरित है, और अन्तिम उत्तररामचरित। उत्तररामचरित को अन्तिम रचना मानने मे तो किसी को आपत्ति नही है, किन्तु महावीरचरित को मालतीमाधव से पहले की कृति मानने का कोई प्रमाण नहीं है। सम्भवतः मालतीमाधव ही पहली रचना है। मालतीमाधव की वस्तुयोजना की अधिक विशृङ्खलता भी इसका सङ्केत कर पाती है। वैसे तो भवभूति के सभी

---

१. ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥
(मालती० १. ६)

रूपक नाटकीय संविधान की दृष्टि से शिथिल जान पडते हैं, किन्तु इनमें भी मालतीमाधव अधिक शिथिल है। महावीरचरित मे मालतीमाधव की अपेक्षा कुछ कम शिथिलता पाई जाती है।

१. मालतीमाधव

मालतीमाधव १० अङ्कों का प्रकरण है, जिसमें भवभूति ने कल्पित इतिवृत को आधार बनाकर वस्तुसविधान किया है। मालतीमाधव में कवि ने प्रणय-कथा को चुना है और सम्भव है, माधव तथा मालती की इस प्रणय-कथा का सङ्केत भवभूति को बृहत्कथा से मिला हो। कथा मे प्रयुक्त रूढ़ियाँ और मुख्य-मुख्य घटनाएँ बृहत्कथा के प्रणय-वृत्तो मे देखी जा सकती हैं। पर वहाँ माधव और मालती कहानी नहीं मिलती। भवभूति ने बृहत्कथा अथवा किन्हीं लोक-कथाओं से कथा के बीज लेकर कथा को स्वय पल्लवित किया है। प्रकरण में प्रयुक्त कामन्दकी की कूटनीति और अघोरघण्ट तथा कपालकुण्डला वाली विपत्ति की कल्पना भवभूति की अपनी है। भवभूति के ही शब्दों मे कवि ने इस कृति मे रस की प्रचुरता से युक्त गम्भीर अभिनय, नायकादि के मित्रतापूर्ण व्यवहार शृङ्गार रस के साथ नायक का वीर, वीभत्सादि वाला उद्धतरूप, सुन्दर कथा और वाणी की चतुरता का निबन्धन किया है।[1]

भूरिवसु और देवरात क्रमशः पद्मावती और विदर्भ के राजमन्त्री हैं। विद्यार्थी जीवन मे ये दोनों मित्र थे और इन दोनों ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वे अपने पुत्र-पुत्रियों का परस्पर विवाह करेंगे। समय पर देवरात को पुत्र उत्पन्न होता है, भूरिवसु को पुत्री। देवरात अपने पुत्र माधव को इस आशा से पद्मावती भेज देता है कि भूरिवसु अपनी पुरानी बात को याद कर अपनी पुत्री मालती का विवाह माधव के साथ कर दे। इस कार्य मे कामन्दकी, जो भूरिवसु की मित्र और एक तापसी है, हाथ बँटाती है। वह यह चाहती है कि मालती और माधव परस्पर एक दूसरे के प्रति अनुरक्त हो जायें। अपनी योजना को सफल बनाने के लिए वह माधव से भूरिवसु के मकान के छज्जे के नीचे गली से प्रतिदिन गुजरने को कहती है। माधव भी कामन्दकी के कथनानुसार प्रतिदिन भूरिवसु के मकान के पास की गली से गुजरता है, और मालती उसे देखकर

---

१. भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं चित्राः कथा वाचि विदग्धता च ॥ (मालती० १.४)

अनुरक्त होती है। यहाँ तक कि मालती उसे प्रतिदिन टहलते देखकर अतिशय उत्कण्ठित हो जाया करती है।[१] मालतीमाधव के प्रथम अङ्क का विष्कम्भक कामन्दकी और उसकी शिष्या अवलोकिता की बातचीत के द्वारा इस योजना का सङ्केत करता है। यहीं इस बात की भी सूचना मिलती है कि मकरन्द तथा मदयन्तिका का भी विवाह हो जाय, तो ठीक हो। मकरन्द माधव का मित्र है, मदयन्तिका मालती की सखी। मदयन्तिका नन्दन की बहिन है। माधव और मालती के विवाह होने मे सबसे बड़ी अड़चन यह आ पड़ती है कि नन्दन राजा का नर्मसुहृद् है, और वह राजा से कहकर भूरिवसु के समक्ष मालती के साथ उसके विवाह का प्रस्ताव रखता है। भूरिवसु पेशोपेश में फँस जाता है। राजा की आज्ञा का भङ्ग करना मामूली खेल नहीं। कामन्दकी अपनी चालाकी से इस सारे विघ्न को हटाकर माधव और मालती का विवाह करा देती है।

प्रथम अङ्क मे मदनोद्यान के उत्सव मे माधव तथा मालती एक दूसरे को देखकर मोहित हो जाते हैं। इसी अङ्क मे मालती तथा उसकी सखियो के चले जाने पर मकरन्द आता है और माधव अपनी विरहविदग्ध अवस्था का वर्णन करता है। द्वितीय अङ्क में मालती के पिता नन्दन के साथ उसका विवाह करने को राजी हो जाते हैं, और कामन्दकी इस बहाने मालती को माधव से छिपकर विवाह करने को तैयार कर लेती है। तृतीय अङ्क में कामन्दकी माधव और मालती को शिवमन्दिर के निकट अशोककुञ्ज मे मिलने की योजना करती है। माधव अशोककुञ्ज मे छिपा बैठा रहता है। मालती को लेकर लवङ्गिका आती है। इसी बीच पिंजड़े से एक शेर निकल आता है और मकरन्द उसे मार डालता है, पर स्वयं मूर्छित हो जाता है। चतुर्थ अङ्क मे सिंह के प्रहार से मूर्छित मकरन्द को देखकर मूर्छित हुए माधव को होश मे लाया जाता है। मकरन्द को भी जलसिंचन आदि से होश में लाते हैं। होश में आने पर मकरन्द मालती के साथ मदयन्तिका को देखता है। दोनों एक दूसरे के प्रति अनुरक्त हो जाते हैं। इसी बीच नेपथ्य से खबर मिलती है कि मालती के साथ

---

१. भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुंगवातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति॥
(१. १६)

नन्दन के विवाह की बातचीत ठीक हो गई है, इसलिए नन्दन ने अपनी बहन को बुलाया है।

पञ्चम अङ्क के विष्कम्भक में कपालकुण्डला का प्रवेश होता है। इसी अङ्क में पता चलता है कि कराला देवी को बलि देने लिए कापालिक अघोरघण्ट मालती को पकड़कर ले आया है। इधर माधव श्मशान मे नरमास वेचता घूम रहा है, उसे किसी स्त्री की चिल्लाहट सुनाई पडती है। पास जाने पर वह मालती को मारे जाते देखकर अघोरघण्ट से लड़ता है। माधव अघोरघण्ट का वध कर देता है। छठे अङ्क के विष्कम्भक में कपालकुण्डला अपने गुरु के वध का बदला लेने की घोषणा करती है।[१] इसी अङ्क में राजा के सिपाही विवाह के अवसर पर खोई हुई मालती को ढूंढते-ढूंढते श्मशान मे पहुँचते हैं और कराला देवी के मन्दिर को घेर लेते हैं। मालती मिल जाती है और शादी की तैयारी होती है, पर कामन्दकी की चालाकी से मकरन्द मालती के वेश में चला जाता है, और उसी के साथ नन्दन की शादी हो जाती है। इधर देवी के मन्दिर में मालती को ले जाकर कामन्दकी माधव के साथ उसका गान्धर्व विवाह करा देती है। सप्तम अङ्क मे सुहागरात के समय मालती बना हुआ मकरन्द नन्दन को पीट डालता है। नन्दन मालती को दुश्चरित्र समझ कर गालियाँ देता भाग जाता है। भाभी की इस दुश्चेष्टा को सुनकर मदयन्तिका समझाने आती है और मकरन्द अपने रूप को प्रकट कर देता है। अपने प्रिय को पहचानकर मदयन्तिका उसके साथ उद्यान की ओर चली जाती है। अष्टम अङ्क मे माधव तथा मालती उद्यान में मकरन्द और दमयन्तिका की प्रतीक्षा करते हैं। इसी बीच कलहस आकर सूचना देता है कि आधीरात में राजमार्ग पर मदयन्तिका को भगाते मकरन्द को देखकर सिपाहियो ने घेर लिया है, और वह सिपाहियों से लड़ रहा है। माधव मित्र को बचाने के लिए दौड़ पडता है। अवसर पाकर कपालकुण्डला मालती को भर्त्सना देकर श्रीपर्वत ले जाती है।[२] इधर युद्ध होता है। माधव और मकरन्द अपूर्व वीरता प्रदर्शित

---

१. शांतिः कुनलास्य भुजङ्गशत्रोर्यस्मिन्निबद्धानुनाया सदैव।
जागर्ति दंशाय निशातदंष्ट्राकोटिर्विषोद्गारगुरुर्भुजङ्गी॥ (६.१)

२. यावच्छ्रीपर्वतमुपनीयप्रतिपर्व तिलशः एनां निकृत्य दुःखमारिणीं करोमि।
(अष्टम अङ्क)

करते हैं, जिसे देखकर राजा प्रसन्न होकर उन्हे अभयदान दे देते हैं। लौटने पर माधव को मालती नही मिलती। नवम अक मे वह मकरन्द के साथ विक्षिप्त अवस्था में विन्ध्यपर्वत पर मालती को ढूंढने निकल पड़ता है। इसी दशा में उसे कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी मिलती है। सौदामिनी कपालकुण्डला से मालती को बचा चुकी थी, और मालती उसी की कुटी मे थी। वह माधव को इस बात की सूचना देती है।[1] दशम अक मे मकरन्द कामन्दकी के पास आकर मालती के मिलने की सूचना देता है। इधर अमात्य भूरिवसु, कामन्दकी, लवङ्गिका, मदयन्तिका सभी मालती के शोक से आत्म-हत्या करना चाहते हैं। मकरन्द आकर उन्हे माधव और मालती का समाचार देता है। वे आ जाते हैं मकरन्द तथा मदयन्तिका का विवाह करा देते हैं। कामन्दकी की सारी नीति सफल होती है।[2]

यह अनुमान करना असङ्गत न होगा कि भवभूति को मालतीमाधव की रचना मे मृच्छकटिक से प्रेरणा मिली होगी। इतना होने पर भी भवभूति ने इसे मृच्छकटिक वाले 'धूर्तसकुल' सकीर्ण प्रकरण का रूप नही दिया, इसके कुछ कारण हैं। भवभूति प्रकृति से अत्यधिक गम्भीर हैं, उनके जीवन की कटुता ने भी सम्भवतः उन्हें ऐसा बना दिया हो। इसीलिए भवभूति मृच्छकटिक जैसे हास्यमय वातावरण की सृष्टि करने मे असमर्थ थे। स्वयं भवभूति को भी अपनी इस प्रकृति का पूरा पता था। उन्होंने अपने नाटकों मे विदूषक का समावेश नही किया है। मृच्छकटिक में नाटकीय घात-प्रतिघात तथा सघर्ष हास्य और करुण के परिवेश का आधार बनाकर आते हैं, जब कि मालतीमाधव में इस कमी को कपालकुण्डला और अघोरघण्ट जैसे पात्रों एवं श्मशान के वीभत्स वर्णन का समावेश कर पूरा करने की चेष्टा की गई है। मालतीमाधव की कथावस्तु बड़ी शिथिल दिखाई देती है। नाटक मे अन्विति का अभाव है। साथ ही नाटक मे वस्तु-सविधान की रूढ़ पुनरुक्ति पाई जाती है। मकरन्द मालती का वेश बनाता है, और माधव लवङ्गिका का, इसी तरह माधव मालती

१. अकरिष्यदसौ पापमतिनिष्करुणैव सा। नाभविष्यमहं तत्र यदि तत्परिपन्थिनी(८.५२)

२. यत्प्रागेव मनोरथैर्वृतमभूत्कल्याणमायुष्मतो-
स्तत्पुण्यैर्मदुपक्रमैश्च फलितं क्लेशैरिव मच्छिष्ययोः।
निष्णातश्च समागमोऽपि विहितस्त्वत्प्रेयसा कान्तया
संप्रीतौ नृपनन्दनौ यदपरं प्रेयस्तदप्युच्यताम्॥ (१०.२४)

को अघोरघण्ट के पञ्जे से छुड़ाता है, मकरन्द मदयन्तिका को शेर से। मालती-माधव में कवि ने औत्सुक्य-वृत्ति को जागृत रखने की चेष्टा की है, जिसमें वह सफल भी हुआ है। किन्तु आधिकारिक कथा के चित्रण में सतर्कता बरतने से प्रासङ्गिक कथा अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है, फलतः नाटक की अन्विति में बाधा उपस्थित हुई है। नाटक का व्यापार कुछ उत्तेजक घटनाओं का सङ्कलन-सा बन गया है, और नाटकीय प्रभावात्मकता में प्रकारान्तर से बाधक बना है। काव्य की दृष्टि से निःसन्देह मालतीमाधव एक उत्कृष्ट कृति कही जा सकती है।

२ महावीरचरित

मालतीमाधव की कथावस्तु वाली शिथिलता महावीरचरित में नहीं मिलती। ऐसा जान पड़ता है, मालतीमाधव की कमजोरी को समझकर भवभूति ने महावीरचरित में नाटकीय प्रक्रिया पर विशेष ध्यान दिया है। महावीरचरित सात अङ्कों का नाटक है, जिसमें राम के जीवन की कथा वर्णित है। रामायण की विशाल कथा को लेकर नाटककार पूरी तरह उसका प्रदर्शन नहीं कर सकता, उसे उसकी कुछ ही घटनाओं को चुनना पड़ता है। भवभूति ने रामायण की कथा को लेकर उसमें अन्विति बनाये रखने के लिए कुछ आवश्यक परिवर्तन किये हैं। आरम्भ में ही रावण को सीता के साथ विवाह करने का इच्छुक बताकर भवभूति ने रामायण की कथा के नाटकीय सङ्घर्ष का बीज बो दिया है। राम धनुष तोड़कर सीता से विवाह करते हैं, फलतः सीता के साथ अपना विवाह न होने से रावण क्रुद्ध होता है। ताड़का, सुबाहु तथा अन्य राक्षसों के वध से भी वह रुष्ट होता है और रावण का मन्त्री माल्यवान् अपनी कूटनीति का जाल फैलाता है।[१] माल्यवान् ही परशुराम को उभारता है, और शूर्पणखा को मन्थरा के वेश में भेजकर कैकेयी के द्वारा राम को वनवास दिलाने का षड्यन्त्र रचता है। माल्यवान् की पहली चाल असफल होती है, पर दूसरी चाल में वह सफल हो जाता है। वन में रहते हुए राम को कष्ट देने के लिए माल्यवान् सीता का अपहरण कराता है और बाली को उकसाता है। बाली राम से युद्ध करने आता है, और मारा जाता है। अन्त में सुग्रीव की सहायता से राम लङ्का पर चढ़ाई करते हैं। युद्ध होता

१. हतजामिनिरराक्षिभिः सलज्जो यदि मृत्युः शरणं ततोऽन्यथा तु।
अजितो मृत एव निष्प्रतापः परितप्तो यदि वा घटेन संधौ॥ (महा० ४.५)

है, रावण मारा जाता है। राम सीता के साथ पुष्पक विमान से अयोध्या लौट आते हैं।

यद्यपि नाटकीय 'टेकनीक' की दृष्टि से भवभूति के महावीरचरित की कथावस्तु मालतीमाधव से अधिक गठी है, तथापि इस नाटक की कथावस्तु हमें प्रभावित नही कर पाती। नाटकीय सङ्घर्ष की मूलभित्ति दुर्बल दिखाई पड़ती है। माल्यवान् की कूटनीति की असफलता का कारण राम की शक्तिमत्ता नही जान पड़ती, अपितु भवितव्यता ही दिखाई गई है। उत्तररामचरित के राम की भाँति महावीरचरित के राम भी मानवी रूप में ही हमारे सामने आते हैं, किन्तु उन्हे शक्ति, कुलीनता और शौर्य का आदर्श नायक मानकर चित्रित किया गया है। फलतः राम का जो मानवोचित रूप हमे भवभूति की अमरकृति 'उत्तररामचरित' मे मिलता है, वह यहाँ नहीं है। माल्यवान् राजनीति पटु है, किन्तु वह विशाखदत्त के चाणक्य और राक्षस के स्तर तक नहीं पहुँच पाता। परशुराम के क्रोधी स्वाभाव का चित्रण करने मे भवभूति सफल कहे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, भवभूति करुण जैसे कोमल भावों के चित्रण मे जितने सिद्धहस्त हैं, उतने वीर रस के चित्रण मे नही। राम की महावीरचरित वाली वीरतापूर्ण झाँकी हमे उतना प्रभावित नही कर पाती। महावीरचरित मे भवभूति की कलात्मक सशक्त शैली अवश्य देखी जा सकती है, और यहाँ भवभूति का भावुक व्यक्तित्व प्रकट न होकर रीतिवादी (Rhetoric) व्यक्तित्व ही अधिक व्यक्त हुआ जान पड़ता है। यहाँ भवभूति पर संस्कृत काव्यो की ह्रासोन्मुखी परम्परा का प्रभाव पड़ा है। वर्णनों के प्रति भवभूति की विशेष रुचि दिखाई पड़ती है पर इस नाटक में समासान्त पदावली और विकटबन्धता भले ही हो उत्तररामचरित वाला प्रवाह नही मिलता।

३. उत्तररामचरित

भवभूति की तीसरी कृति उत्तररामचरित है। यह कृति भवभूति के जीवन के प्रौढ अनुभवों की देन है। मालतीमाधव और महावीरचरित की अपेक्षा उत्तररामचरित की कथावस्तु नाटकीय 'टेकनीक' तथा चरित्र चित्रण की दृष्टि से और अधिक प्रौढ़ है। इतना होते हुए भी उत्तररामचरित मे भी नाटकीय व्यापार की कमी दिखाई पड़ती है। इसका खास कारण भवभूति की

अत्यधिक भावुकता है। यही कारण है कि उत्तररामचरित गीति-नाटच (Lyric drama) की दृष्टि से विशेष सफल माना जा सकता है, कोरे नाटक की दृष्टि से नही। काव्य की दृष्टि से भवभूति की यह कृति नि.सन्देह महान् है, और हम इनका नाम कालिदास के साथ मजे से ले सकते हैं। किन्तु ऐसा जान पडता है, भवभूति के जिस गुण के कारण पुराने पण्डितो ने उन्हे उच्चकोटि का कवि माना है, वह उनका भावपक्ष न होकर कलापक्ष दिखाई देता है। भवभूति की पाण्डित्यपूर्ण शैली ने ही इन पुराने आलोचकों के हाथो उन्हें सम्मान दिलाया है।

उत्तररामचरित ७ अङ्कों का नाटक है, जिसमे राम के जीवन के उत्तर भाग की कथा है। लङ्का से लौटकर आने पर राम का राज्याभिषेक होता है। राज्याभिषेक के समय आए हुए जनक मिथिला लौट जाते हैं, और उनके जाने से सीता दु खी हो जाती है। गर्भिणी सीता के उदास मन को बहलाने के लिए राम चित्रशाला मे चित्रित अपने जीवन से सम्बद्ध घटनाओ को सीता को दिखाते हैं। इसे देखकर गर्भिणी सीता के मन में एक बार फिर तपोवनों को देखने का दोहद उत्पन्न हो जाता है। चित्र देखते-देखते सीता थक जाती है और वह राम के वक्ष पर सिर रखकर सो जाती है। इसी समय दुर्मुख आकर सीता के विषय मे जनापवाद की सूचना देता है। राम पर जैसे वज्रपात हो गया हो।[1] प्रथम अङ्क की योजना मे भवभूति ने एक भावुक कलाकार का परिचय दिया है। सीता के भावी विरह की अनुभूति की तीव्रता को उभारने के लिए चित्रशाला वाले दृश्य की योजना एक गहरी सूझ है। प्रथम अङ्क मे प्रेम और कर्तव्य-पालन का जटिल संघर्ष दिखाया गया है। अन्त में कर्तव्यपालन विजयी होता है, पर इतना होने पर भी राम का दिल टूट जाता है, और वे न चाहते हुए भी कठोर गर्भ के बोझवाली सीता को हिंसक पशुओ के लिए वन मे उसी तरह छोड़ देते हैं, जैसे कोई बलि दी जा रही हो।[2]

दूसरा अङ्क ठीक बारह वर्ष बाद की घटना से आरम्भ होता है। विष्कम्भक से पता चलता है कि सीता के दो पुत्र हो गए हैं और वे

१. अहह अनित.जाउय वाग्वज्र:। (प्रथम अङ्क)

२. विस्रम्भादुरसि निपत्य जातलज्जामुन्मुच्य प्रियगृहिणी गृहस्य शोभाम्।
आतंकस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं क्रव्याद्भ्यो बलिमिव निर्घृणः क्षिपामि ॥ (१.४९)

वाल्मीकि के पास विद्याध्ययन कर रहे हैं। इसी मे यह भी सूचना मिलती है कि शूद्रमुनि शम्बूक का वध करने के लिए राम इस वन में आए हुए हैं। द्वितीय अङ्क मे राम प्रविष्ट होते हैं, वे शम्बूक का वध करते है और शम्बूक दिव्य रूप को धारण कर लेता है। द्वितीय अङ्क में शम्बूक के मुँह से दण्डकारण्य (जनस्थान) की प्रशान्त और गम्भीर प्रकृति का सुन्दर वर्णन कराया गया है।[१] प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से यह अङ्क अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु नाटकीय व्यापार अवरुद्ध हो जाता है।

तृतीय अङ्क इस नाटक का सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्क है। राम जनस्थान मे आते हैं, वनदेवी वासन्ती उनका स्वागत करती है। इधर तमसा (नदी की अधिष्ठात्री देवी) सीता को लेकर आती है और सीता भगवती गोदावरी की कृपा से अदृश्य शक्ति प्राप्त करती है। इस अक मे सीता छिपी रहकर राम की विरह-दशा को देखती है। वासन्ती के साथ वन में घूमते हुए राम जनस्थान के पूर्वानुभूत दृश्यो को देखकर सीता की स्मृति से तड़प उठते हैं। इधर सीता भी उनकी इस अवस्था को देखकर दुःख का अनुभव करती है। सीता की याद मे राम के विरह का जलसङ्घात बाँध को तोड़कर निकल पडता है, उनके रोने को सुनकर दण्डकारण्य के पत्थर भी पिघल जाते हैं, और एक स्थान पर तो राम मूर्छित हो जाते हैं। राम की यह दशा देखकर सीता भी मूर्छित हो जाती है। तमसा उसे होश मे लाती है, और फिर सीता अपने अदृश्य स्पर्श से राम को सज्ञायुक्त बना देती है।

उत्तररामचरित के चतुर्थ अक मे एक ओर जनक और कौशल्या का विषादमय चित्र दूसरी ओर लव का वीरतापूर्ण दर्प दिखाई पड़ता है। लव की वीरता का पूर्ण प्रस्फुटन पचम अक मे होता है। चन्द्रकेतु तथा लव के वाद-विवाद के द्वारा भवभूति ने लव के वीरोचित दर्प का सुन्दर चित्र अंकित किया है। षष्ठ अंक में विद्याधरो के द्वारा चन्द्रकेतु तथा लव के युद्ध का वर्णन कराया गया है, और इसी अक मे राम का प्रवेश होता है। राम के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर लव युद्ध करना बन्द कर देता है। इसी अंक में

---

१. अथैतानि मदकलमयूरकण्ठकोमलच्छविभिरवकीर्णानि पर्यन्तैरविरलनिविष्टनीलबहुलच्छायतरुषण्डमण्डितान्यसंभ्रान्तविविधमृगयूथानि पश्यतु महाभागः प्रशान्तगम्भीराणि श्वापदकुलशरण्यानि महारण्यानि।　　　　(द्वितीय अंक)

जनक, वसिष्ठ, अरुन्धती, कौशल्यादि राजमाताएँ मञ्च पर आती हैं। अन्तिम अंक में भवभूति ने रामायण की कथा में परिवर्तन कर दिया है। रामायण की कथा के अनुसार लव-कुश अश्वमेध के समय रामायण का गान करते हैं और राम उन्हें पहचान लेते हैं। भवभूति ने अपना वस्तुसविधान दूसरे ही ढङ्ग से विन्यस्त किया है। सप्तम अंक में एक दूसरे नाटक—गर्भांक—की योजना की गई है। इस नाटक के द्वारा एक ओर फिर से राम के सीता-वियोग को उभारा गया है, दूसरी ओर लव-कुश का प्रत्यभिज्ञान कराया गया है, तीसरी ओर सीता तथा राम का मिलन करा कर नाटक[१] को सुखान्त बना दिया गया है।

उत्तररामचरित नाटक मे राम और सीता के चरित्रों को सुचारु रूप से चित्रित किया गया है। सीता का चरित्र आत्मा की पवित्रता, दृढ़ता और सहनशीलता में बेजोड़ है, तो राम का चरित्र कर्तव्यनिष्ठा के आदर्श वातावरण से सम्पन्न दिखाई देते हुए भी मानव सुलभ भावात्मक दुर्बलताओं से समवेत है। अन्य पात्रों में लव का वीरतापूर्ण चरित्र, जनक और कौशल्या के विषादमय चित्र मार्मिक बन पड़े हैं, किन्तु अन्य पात्रों के अकन में कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। भवभूति के अन्य पात्र केवल व्यापारादि को गति देने के ही लिए आते हैं, और उनमें अपना निजी व्यक्तित्व नहीं दिखाई देता। काव्य के रूप में उत्तररामचरित निःसन्देह उच्चकोटि की कृति है। जीवन के उदात्त रूप का वर्णन भवभूति की प्रकृति के अनुरूप दिखाई पड़ता है। उत्तररामचरित में वियुक्त सीता के करुण भाग्य, लव की अद्भुत वीरता तथा प्रथम तीन अकों में वन, पर्वत, नदी आदि का प्रकृति-वर्णन नाटक में एक साथ कोमल तथा कठोर भावों को अंकित करता है। इस दृष्टि से भवभूति में हमें कुछ ऐसा वातावरण देखने को मिलता है, जो कालिदास में भी नहीं है, जहाँ केवल सरस प्रणय-चित्र ही दिखाई पड़ते हैं। उत्तररामचरित के सप्तम अंक का राम-सीता-मिलन भी दुष्यन्त तथा शकुन्तला के मिलन से कहीं अधिक गम्भीर और भावप्रवण बन पड़ा है। इन सब का एक मात्र रहस्य भवभूति की दाम्पत्य-प्रणय के पवित्र आदर्श रूप को अंकित करने की कुशलता है।

---

१. नियोजय यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे॥ (पृ० ७.२०)

भवभूति का प्रणय-चित्रण

भवभूति आदर्श दाम्पत्य-प्रणय के सफल चित्रकार हैं। कालिदास की 'रोमैण्टिक' प्रकृति उन्हें स्वच्छन्द प्रणय की ओर अधिक उन्मुख करती है। भवभूति के पूर्व के साहित्य की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि क्या कालिदास, क्या हर्ष, क्या मुक्तक कवि सभी ने स्वच्छन्द प्रणय को विशेषतः अङ्कित किया है। विद्वानों ने इसका कारण तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ मानी हैं। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था के साथ ही साथ नारी को समाज में अपने समुचित स्थान से वञ्चित कर दिया गया था। सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ कुछ इस तरह की हो गई थी कि स्त्रियों का पहले वाला सम्मान और स्वतन्त्रता लुप्त हो चुकी थी। फलतः उन्मुक्त दाम्पत्य प्रणय का वातावरण असम्भाव्य था, वह यथार्थ जीवन में न उतर पाया। भारतीय समाज का कौटुम्बिक वातावरण भी इस प्रणय मे बाधक होता था, क्योंकि भारतीय नारी पिता के घर को छोडने पर जहाँ प्रवेश पाती थी, वह श्वशुर का घर था, जिसमे उसका पति केवल एक नगण्य व्यक्ति के रूप मे था। ऐसी स्थिति मे वह वहाँ अपनी रुचि के अनुकूल वातावरण नही पा सकती थी। वैवाहिक प्रणय को आदर की दृष्टि से देखा जाता था, किन्तु उसका लक्ष्य पुत्रोत्पत्ति ही था, जिससे पितरों का ऋण चुकाया जा सके। नारी के द्वारा अपने लिए पति का वरण यद्यपि कामशास्त्र में विहित माना था, तथापि स्मृति और धर्मशास्त्र का उस पर कड़ा नियन्त्रण था और वह बुरा समझा जाता था। बौद्ध धर्म ने नारी को अवश्य कुछ स्वतन्त्रता दी, किन्तु महाभारत-रामायण और धर्मशास्त्रो का दृष्टिकोण धार्मिक ही नही व्यावहारिक भी था, जो कौटुम्बिक सुख शान्ति के लिए पतिव्रता पत्नी का आदर्श सामने रखते थे। पर दूसरी ओर बहुपत्नी प्रथा ने नारी की स्थिति को और अधिक विचित्र बना दिया था। मालविकाग्निमित्र, रत्नावली आदि नाटक-नाटिकाओं मे हम इस वातावरण को देख सकते हैं। पति को अन्यनायिकासक्त देखकर भारतीय नारी खुलेआम विद्रोह नही कर पाती, भले ही वह कुछ समय के लिए इरा-वती या वासवदत्ता की तरह जल-भुन उठे, पर धारिणी की तरह वह यह खूब जानती है कि उसका ईर्ष्या करने का समय चला गया, और वह इसी में सन्तुष्ट बनी रहती है कि उसके सम्मान की रक्षा बनी रहे। पर इस संतोष के

पीछे भारतीय नारी की लाचारी और दु.ख-दर्द भरी कहानी छिपी रहती है। परिस्थितियों ने भारतीय नारी को असहाय बना दिया है, और मृच्छकटिक की धूता की भाँति हमें उसका करुण तथा उदात्त चित्र कुछ नहीं, इसी असहायता का परिचायक प्रतीत होता है।

इस प्रकार की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के प्रति खुले आम विद्रोह करना तो असम्भव था, पर किसी तरह हृदय की आवाज नहीं रुक सकती थी। यही कारण है कि संस्कृत काव्य की कुछ धाराओं में उन्मुक्त प्रणय बह निकला था। कामसूत्र के द्वारा सङ्केतित सरणियों का प्रदर्शन होने लगा था। लोक-कथाओं, प्राकृत साहित्य के लोककाव्यों (तथा हाल की गाथाएँ) तथा संस्कृत के मुक्तकों में भी धूर्त पत्नी के गुप्त प्रणय के कई चित्र पाये जाते हैं, और भवभूति के बाद में तो एक संस्कृत कवयित्री ने समस्त उपकरणों के उपस्थित होने पर भी रेवातट पर चौर्यसुरत की इच्छा प्रकट की थी।[1] इसी तरह एक दूसरी कवयित्री ने पति की तुलना नाटक के नायक से की थी, जो सब दृष्टि से पूर्ण तो होता है, किन्तु प्रेमी की भाँति पूर्ण सुख नहीं दे पाता। यही कारण है कि वैवाहिक जीवन के सदा एकरस रहने वाले, काल तथा परिचय से भी अक्षुण्ण होने वाले प्रेम का रूप आदर्श ही बना रहा। भवभूति ने इस वातावरण को देखकर एक बार उसी आदर्श दाम्पत्य प्रणय की उज्ज्वलता और उदात्तता की पताका फहराई है। उन्होंने दाम्पत्य-प्रणय को एक गम्भीर भावात्मक रङ्ग में रङ्गकर उपस्थित किया है। मालतीमाधव में उन्मुक्त प्रणय से प्रकरण का आरम्भ करते हुए भी भवभूति ने उसका लक्ष्य आदर्श दाम्पत्य-प्रणय ही माना है, जहाँ पति पत्नी को परस्पर एक दूसरे का सच्चा मित्र, सच्चा बान्धव बताया गया है। वे एक दूसरे के लिए सम्पूर्ण इच्छा, सम्पत्ति तथा जीवन का रूप लेकर आते हैं।[2] आदर्श

---

१. यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि चौर्यसुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ (शीला भट्टारिका)

२. प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥
(मालतीमाधव, ६.१८)

दाम्पत्य-जीवन के इसी बीज को भावुकता के करुण सरस-द्रव से सींचकर भवभूति ने उत्तररामचरित में पल्लवित कर दिया है। उत्तररामचरित के राम और सीता कालिदास के दुष्यन्त तथा उसकी 'तपोवनवासिनी' प्रेयसी से कहीं अधिक गम्भीर अनुभवों से सम्पन्न हैं। उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क में ही कवि ने आदर्श दाम्पत्य-प्रणय की सरसता चित्रित की है। यही इस प्रकार के प्रणय का जो आदर्श—दाम्पत्य-प्रणय का जो स्वरूप—भवभूति ने अङ्कित किया है, वह निःसन्देह उज्ज्वल भव्य रूप का परिचय देता है। दाम्पत्य प्रणय को कवि ने बड़े पुण्यों से प्राप्त सौभाग्य माना है—वह सौभाग्य, जिसमें प्रेम सुख-दुःख में सदा एकरस बना रहता है, जो सब स्थितियों में उसी प्रवाह में अनुगत रहता है, और हृदय को अपूर्व शान्ति (विश्राम) देनेवाला है। सच्चा प्रेम अवस्था-परिणति के साथ भी परिवर्तित नहीं होता, वह प्रौढावस्था (वृद्धावस्था) में भी समाप्त नहीं हो पाता। विवाह के समय से लेकर बाद तक वह सम्बन्ध प्रेम में स्थित रहता है, और यह प्रेम समय के व्यतीत होने से—लज्जा के पर्दे के हट जाने से—और प्रौढ रूप प्राप्त कर लेता है।[1] राम को विश्वास है कि सीता के इस प्रकार के प्रणय का असह्य वियोग अब नहीं होने वाला है, पर नियति की क्रूरता तो कुछ और ही चाहती है।

भवभूति की काव्य-प्रतिभा

भवभूति मूलतः कवि हैं। भावपक्ष की दृष्टि से कालिदास के बाद भवभूति का नाम बिना किसी सन्देह के लिया जा सकता है। भवभूति कोमल तथा गम्भीर दोनों तरह के भावों के सफल चित्रकार हैं। जहाँ वे एक ओर संयोग तथा विप्रयोग शृङ्गार तथा करुण की कोमलता को अङ्कित करने में पटु हैं, वहीं वीर, रौद्र तथा बीभत्स को भी कुशलता से चित्रित करते हैं। मालती-माधव में भवभूति ने एक ओर यौवन से सम्बद्ध उन्मुक्त प्रणय का वातावरण चित्रित किया है, तो वहीं दूसरी ओर माधव के विरह-चित्रण में विप्रयोग शृङ्गार की मार्मिकता चित्रित की है। यह दूसरी बात है कि भवभूति की अतिशय भावुकता भाव को इतना प्रकट कर देती है कि उनका चित्रण कालिदास की

१. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥ (१.३९)

तरह व्यग्य नही रह पाता, फलतः कही-कही अपनी कलात्मकता खो बैठता है। कालिदास के मेघदूत से प्रभावित होकर भवभूति ने मालतीमाधव के नवम अङ्क में एक छोटा-सा दो पद्यो का 'मेघदूत' भी निबद्ध किया है। कालिदास का यक्ष मेघ को यह बताता है कि वियोगिनी नायिकाओं के प्रेमपूर्ण हृदय को स्थिर करने मे पुष्पसदृश कोमल आशाबन्ध ही काम करता है (आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां, सद्य पाति प्रणयि हृदय विप्रयोगे रुणद्धि), तो भवभूति का माधव मेघ से यही प्रार्थना करता है कि कहीं उसे मालती मिले, तो वह उसके आशातन्तु को न तोडे।[1] दाम्पत्य प्रणय के सयोग तथा वियोग दोनों अवस्था वाले चित्रण उत्तररामचरित में बेजोड़ हैं, और वे संस्कृत साहित्य की महार्घ निधि हैं। उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क में संयोग शृङ्गार का सरस वातावरण है, जहाँ राम सीता को अपने पिछले अनुभूत प्रणय-व्यापारों की याद दिलाते हैं। जनस्थान का चित्र देखकर राम को पुरानी बातें याद आ जाती हैं। यही वह स्थान है, जहाँ राम और सीता पर्णकुटी मे रात के समय एक दूसरे के गाल से गाल सटाकर, एक-एक बाहु से परस्पर गाढ़ आलिङ्गन कर, रात भर पता नही क्या-क्या, बिना क्रम की बातें किया करते थे, इसी दशा मे सारी रात ही बीत जाती थी, उसके पहरो के बीतने का भी पता न चलता था। जागते ही जागते प्रातःकाल होने को आता था, पर उनकी बातें फिर भी पूरी न होती थीं।

> किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगादविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
> अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोरविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत् ॥
>
> (उत्तर० १. २७)

सीता को बनवास देने के बाद परम प्रेयसी सीता के वियोग मे राम की दशा अत्यधिक शोचनीय हो जाती है। उनका हृदय फट पड़ना चाहता है, पर फिर भी उसके दो टुकड़े नही हो पाते; व्याकुल शरीर मूर्च्छित हो रहा है, पर फिर भी संज्ञा को नही छोड पाता; हृदय मे सीता वियोग की जो अग्नि जल रही है,

---

१. देवादस्यदेर्जगति विचरन्निच्छया मद्प्रियां चे-
दाश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम्।
आशातन्तुर्न च कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः ॥ (९. २६)

और उसे वनवास देने का जो सन्ताप उठ रहा है, वह शरीर को जलाता तो है, पर उसे भस्म नही कर पाता; और इस तरह क्रूर विधाता राम के मर्मस्थल पर प्रहार तो कर रहा है, पर उनके जीवन का अन्त नही कर डालता। काश, जीवन का अन्त हो जाता। सीता के वियोग से जनित वेदना का वहन राम के लिए मृत्यु से भी बढ़कर दु:खदायी हो गया है।

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा न तु भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्॥ (उत्तर० ३.३१)

शृङ्गार तथा करुण मे भवभूति की भारती तदनुकूल कोमलकान्त पदावली का परिवेष लेकर आती है, तो वीर रौद्र रस मे उसमे गौड़ी की विकटबन्धता दिखाई पड़ती है। महावीर चरित मे तथा उत्तररामचरित की चन्द्रकेतु और लव की उक्तियों तथा उनके युद्धवर्णन मे वीररसोचित पदावली का प्रयोग पाया जाता है। निम्न उक्ति मे लव की वीरता का सुन्दर चित्रण है :--

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र-
मुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्र-
जृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम्॥ (उत्तर० ४.२९)

'यह मेरा धनुष प्राणियों को निगलने मे तत्पर हँसते हुए यमराज के मुखरूपी यन्त्र की जँभाई की नकल करता हुआ अपने भयङ्कर मध्यभाग को फैला ले। इसकी मौर्वी जीभ के समान दिखाई पड़े, और इसके दोनों मण्डलाकार किनारे डाढ़ों-से सुशोभित हों, तथा यह यमराज के मुँह के समान ही भयङ्कर घर्घर शब्द को उत्पन्न करे। जिस प्रकार यमराज का भयङ्कर मुख अनेकों प्राणियों के प्राणों का अपहरण करता है, ठीक वैसे ही मेरा धनुष भी युद्ध में अनेकों योद्धाओं का सहार करने में समर्थ हो।'

महावीरचरित की निम्न उक्ति मे एक साथ रौद्र और बीभत्स की व्यञ्जना होती है। परशुराम की निम्न रौद्रव्यञ्जक उक्ति उनकी क्रूर प्रकृति की परिचायिका है—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ यावद्विदलितयकृत्क्लोमवृक्कास्त्रगात्रः
स्नायुग्रन्थ्यस्थिशल्कव्यतिकरितजरत्कंधरादस्तखण्डः ।
मूर्धच्छेदादुदञ्चद्‌दलधमनिशिरासक्तडिण्डीरपिण्ड-
प्रायासृग्भारघोरं पशुमिव परशुः पर्वशस्त्वां भृणातु ॥
(महावीर० ३–३२)

परशुराम क्रुद्ध होकर जनक से कह रहे हैं—'यदि तुम युद्ध करना चाहते हो, तो उठो। यह मेरा परशु तुम्हारे शरीर के यकृत, अग्रमांस (वृक्क) तथा रक्त को शकलित कर डालेगा। यह तुम्हारी उस बूढ़ी गर्दन पर प्रहार करेगा, जो नसों और हड्डी के टुकड़ों का ढांचा है। गर्दन के कट जाने से गले से निकलते हुए धमनी तथा शिरा के रक्त के बुदबुदों से भयङ्कर तुम्हें यह मेरा परशु उसी तरह टुकड़े-टुकड़े काट डाले जैसे पशु को टुकड़े-टुकड़े काट डाला जाता है।

बीभत्स रस के चित्रण में भवभूति बड़े पटु हैं। संस्कृत साहित्य में बीभत्स रस का चित्रण बहुत कम पाया जाता है। उन अपवादरूप चित्रों में भवभूति के मालतीमाधव के पञ्चम अङ्क के कुछ पद्य उपन्यस्त किये जा सकते हैं। श्मशान के प्रेतों का निम्न वर्णन बीभत्स तथा भयानक की चर्वणा कराता है।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥
(मालती० ५.१६)

'अरे, यह दरिद्र प्रेत पहले तो शव से चमड़े को उखाड़ रहा है। चमड़े को उखाड़-उखाड़ कर कन्धे, कूल्हे, पीठ आदि के अङ्गों में मजे से प्राप्त, अत्यधिक फूले हुए, बड़ी तेज दुर्गन्ध वाले मांस को खा रहा है। उसे खाकर आँखें फैलाता हुआ यह दीन प्रेत, जिसके दाँत साफ दिखाई दे रहे हैं, गोदी में रखे हुए शव से हड्डी के बीच के मांस को भी नोच-नोच कर बड़े धैर्य और आनन्द के साथ खा रहा है।'

रस की भाँति ही भवभूति प्रकृति के भी कोमल तथा कठोर दोनों तरह के रूपों को देखने की पैनी निगाह रखते हैं। कालिदास का मन प्रकृति

के कोमल पक्ष की ओर ही रमता है, वे हिमालय की सरस तलहटियों, पर्वतों और वनों की हरियाली, उसमें विचरण करते मृगों, हाथियों या भौंरों तक ही सीमित रहते हैं। भवभूति जहाँ एक ओर कमलवनों को कम्पित करने वाले मल्लिकाक्ष हंसों या पादप-शाखाओं पर झूमते शकुन्तों की कोमल भङ्गिमा का अवलोकन करते हैं,[१] वहाँ प्रचण्ड ग्रीष्म में अजगर के पसीने को पीते हुए प्यासे गिरगिटों को भी देखने की शक्ति रखते हैं।[२] वे एक साथ दण्डकारण्य के 'स्निग्धश्याम' तथा 'भीषणाभोगरूक्ष' दोनों तरह के प्रकृति-सौन्दर्य का चित्र अङ्कित करते हैं।[३] भवभूति में प्रकृति के ध्वनि-पक्ष (Sound) का ग्रहण करने की अपूर्व शक्ति है। उनकी पदयोजना स्वतः प्रकृति के वर्ण्य विषय की ध्वनि को उपस्थित कर देती है, चाहे वह कलकलनादिनी निर्झरिणियों की ध्वनि हो, या श्मशान के पेड़ पर टंगे शवों के शिरों की माला के सरन्ध्र भागों में गूँजते हुए और श्मशान की पताका को हिला कर उसकी घण्टियों को बार-बार बजाते हुए वायु की भयङ्करता हो।[४] भवभूति में प्रकृति की हर बारीकी को देखने की तीव्र पर्यवेक्षण-शक्ति है। कालिदास के बाद पूरे संस्कृत साहित्य में प्रकृति का ऐसा कुशल चित्रकार कोई नहीं दिखाई पड़ता। भारवि, माघ, श्रीहर्ष या मुरारि प्रकृतिवर्णन में अप्रस्तुतविधान में फँस जाते हैं, पर भवभूति का प्रकृति-वर्णन अप्रस्तुतविधान से लद कर नहीं आता। कालिदास के प्रकृतिवर्णन के सम्बन्ध में हम एक पद्धति का सङ्केत कर आये हैं—अनलंकृत पद्धति का प्रकृतिवर्णन। भवभूति के प्रकृतिवर्णन भी इसी अनाविल नैसर्गिक सौन्दर्य को साथ लेकर आते हैं। भवभूति जो कुछ देखते हैं, उसे बिना किसी अलङ्कार की लाग लपेट के उपस्थित करते हैं, और भवभूति के चित्रण की ईमानदारी, वर्ण्य विषय की नैसर्गिकता, स्वतः उसमें प्रभावोत्पादकता को सन्नद्ध कर देती है। भवभूति का सङ्गीत भी इन चित्रों को जीवन-दान देता देखा जाता है। भव-

१. उत्तररामः १, ३१।   २. उत्तर०, २, १६।

३. स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षाः
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झाङ्कृतैर्निर्झराणाम्। (उत्तर० १. २४)

४. कर्ण्ठे धुनोति वायुर्विकृतशवशिरःश्रेणिषु जेषु गुञ्ज-
त्कुत्कारैः किंकिणीनामनवरतरणत्कारहेतुः पताकाम्। (मालती० ५.४)

भूति की प्रकृति का एक कोमल चित्र यह है। जनस्थान के सघन जामुन के निकुञ्जों के बीच से नदियाँ बहती हुई चली जा रही हैं। नदियों के तट पर उगे हुए वेतस पर मस्त पक्षी बैठे हैं, जिनके हिलाने से वेतस के पुष्प नदी के शीतल और स्वच्छ पानी में गिरकर उसे सुगन्धित बना रहे हैं। फलभार से झुके जामुन के पेड़ों से पके फल टप-टप गिर कर नदियों को मुखरित कर रहे हैं।

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥

(उत्तर० २.२०)

भवभूति की कला में पाण्डित्य और प्रतिभा का अपूर्व समन्वय दिखाई देता है। वे समासान्त पदसङ्घटना, आनुप्रासिक चमत्कार तथा गौड़ी रीति के भी सफल प्रयोक्ता हैं। पर भवभूति श्लेष, यमक या दूरारूढ़ कल्पनाओं में कभी नहीं फँसते। भवभूति की आरम्भिक कविताओं में फिर भी कवि का भावपक्ष अधिकतर कलापक्ष के अभिनिवेश से दबा-सा दिखाई पड़ता है, किन्तु ज्यों-ज्यों कवि में परिपक्वता आती गई है, वह भावपक्ष की ओर उन्मुख होता दिखाई पड़ता है। मालतीमाधव तथा महावीरचरित में भवभूति को समासान्त पदावली और आनुप्रासिक चमत्कार से बड़ा मोह है, और इसका अभिनिवेश उत्तररामचरित में भी यत्र-तत्र है। मालतीमाधव में ही कवि में कोमल तथा गम्भीर दोनों प्रकार के भावों और प्राकृतिक दृश्यों को चित्रण करने की क्षमता दिखाई पड़ती है। उत्तररामचरित में आकर कवि कोमल विषय के अनुरूप कोमल शैली का प्रयोग, तथा गम्भीर विषय के अनुरूप गम्भीर शैली का प्रयोग करता देखा जाता है। कालिदास की शैली गम्भीर भावों के उपयुक्त नहीं है, तो माघ की शैली प्रायः करुण जैसे अतिकोमल भावों को व्यक्त करने में असमर्थ है, पर भवभूति की भारती कभी करुण की कोमल रागिनी के रूप में स्पन्दित होती है, तो कभी गम्भीर और धीर सङ्गीत का सृजन कर उदात्त वातावरण का निर्माण करती है। भवभूति ही संस्कृत साहित्य में ऐसे अकेले कलाकार दिखाई पड़ते हैं, जो दोनों तरह की गीतसरणियों के सफल गायक हैं। भवभूति की दोनों प्रकार की शैलियों का एक-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। भवभूति की सानुप्रासिक समासान्तपदावली का एक रूप यह है :—

व्योम्नस्तापिच्छगुच्छावलिभिरिव तमोवल्लरीभिव्रियन्ते,
पर्यन्ताः प्रान्तवृत्त्या पयसि वसुमती नूतने मज्जतीव ।
वात्यासंवेगविष्वग्वितवलयितस्फीतधूम्याप्रकाशं
प्रारम्भेऽपि त्रियामा तरुणयति निजं नीलिमानं वनेषु ।।

(मालती० ५.६)

रात्रि के आरम्भ का वर्णन है। कपालकुण्डला रात्रि के आरम्भ मे चारों ओर फैलते अन्धकार का वर्णन कर रही है। 'आकाश के प्रान्तभाग तमालपुष्प के गुच्छों से लदी हुई, अन्धकार की लताओं के द्वारा आच्छादित हो रहे हैं, चारो ओर तमाल-पुष्प के समान हल्के काले रङ्ग का अंधेरा बढ़ता जा रहा है, ,थ्वी जैसे किसी नये पानी मे डूब रही है, रात्रि आरम्भमे अपने नीले स्वरूप को चारों ओर प्रकट कर रही है, और जैसे तेज हवा के चलने म धुआँ उठकर चारो ओर मण्डलकार फैल जाता है, वैसेही रात्रि के प्रारम्भ में ही अन्धकार आकाश तथा पृथ्वी पर चारो ओर मण्डलाकार फैल गया है।'

भवभूति की कोमल वैदर्भी का एक रूप निम्न पद्य मे मिलेगा।

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जड़े
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा ।
भवति च पुनर्भूयान् भेद. फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति पुनर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः ।। (उत्तर० २.४)

लव-कुश की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करती हुई अनुसूया कह रही है। 'गुरु तो विचक्षण तथा मूर्ख दोनों प्रकार के शिष्यों को एक-सी ही विद्या प्रदान करता है। वह न तो बुद्धिमान् शिष्य की ज्ञानशक्ति को उत्पन्न ही करता है, न मूर्ख शिष्य की ज्ञानशक्ति को कम ही करता है। पर इतना होते हुए भी गुरु की शिक्षा का दोनो को भिन्न-भिन्न प्रकार का फल प्राप्त होता है। विचक्षण शिष्य उसे ग्रहण कर लेता है, मूर्ख शिष्य उसका ग्रहण नही कर पाता। मणि किसी भी वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ होती है, पर मिट्टी का ढेला उस शक्ति से रहित होता है।'

नाटककार की दृष्टि से चाहे भवभूति को हम उच्चकोटि का न मानें, कवि के रूप मे भवभूति का स्थान निश्चित है। कवि के रूप में कालिदास के बाद भवभूति का नाम नि.सङ्कोच लिया जा सकता है। कवि-हृदय भवभूति में माघ से भी कहीं बढ़ा-चढ़ा है। भवभूति की प्रशंसा पुराने कवियों ने भी की

है, पर उन्होंने उनकी सानुप्रासिक गाढबन्धता तथा शिखरिणी छन्द[१] के सौन्दर्य की ही विशेष प्रशंसा की है। भवभूति के बाद आने वाले कवियों ने भी उनके इसी एक गुण की ओर दृष्टिपात किया है। भवभूति के साक्षात् उत्तराधिकारी मुरारि ने उनके पाण्डित्य पक्ष को ही अपनाया है, तथा भवभूति की प्रतिभा का थोड़ा-सा भाग भी मुरारि को प्राप्त नहीं हो सका है। भवभूति का व्यक्तित्व संस्कृत साहित्य में जीवन की मधुरता और कटुता, अन्तःप्रकृति तथा बाह्यप्रकृति के कोमल और विकट दोनों रूपों को ग्रहण करने की क्षमता रखता है, भवभूति वह 'श्रीकण्ठ' है, जिसने एक साथ चन्द्रकला की शीतल सरसता और विष की तिक्तता दोनों को—जीवन के उल्लासमय तथा वेदनाव्यथित दोनों तरह के पहलुओं को—सहर्ष अङ्गीकार किया है।

■

१. भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
रुचिरा घनसंदर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥ (क्षेमेन्द्र)

मुरारि

महाकवि भवभूति ने हमें दृश्यकाव्य में श्रव्यकाव्य के सरस भावात्मक वातावरण की सृष्टि दी, फलस्वरूप उनकी नाट्यकला शुद्धरूप में न आकर गीति नाट्य (Lyric-drama) का रूप लेकर सामने आई। भवभूति की इस गीति नाट्य-पद्धति पर भी उनके अनुगामी चलते तो गनीमत थी, नाटक न मिलता, तो कम से कम भावपक्ष की तरलता तो अक्षुण्ण बनी रहती, पर भवभूति के साक्षात् अनुगामी मुरारि ने भवभूति के केवल एक ही गुण को लिया, वह है भवभूति का पद-विन्यास, उनकी गौड़ी शैली वाला निबन्ध। माघ का पाण्डित्य और पदचिन्ता लेकर मुरारि नाटक के क्षेत्र में प्रविष्ट होते

और भवभूति जहाँ ओज में भावाभिव्यक्ति करते चले जाते हैं, जहाँ मुक्त-बन्ध भावानुरूप पदरचना होती जाती है—यदि कोमल भाव है, तो पदरचना कोमल, और गम्भीर भाव है, तो पदरचना गम्भीर—मुरारि सोच सोच कर पद रखते नजर आते हैं। सम्भवतः जिस तरह भारवि के कलापक्ष को नीचा दिखाने के लिए माघ उसी मार्ग में चलकर उनसे बढ़े-चढ़े सिद्ध होना चाहते हैं, उसी तरह मुरारि भी भवभूति के ही मार्ग पर चलकर उनसे अधिक यश प्राप्त करना चाहते हैं। पर कहाँ माघ और कहाँ मुरारि? माघ में भारवि की अपेक्षा कई गुना अधिक-कवि-हृदय था, और यही मुख्य कारण है कि माघ अपने लक्ष्य में क्या प्राचीन पण्डितों और क्या नव्य समीक्षकों, दोनों की दृष्टि में सफल हुए, किन्तु मुरारि के पास भवभूति को पराजित करने के लायक कवि हृदय तो दूर रहा, मध्यम श्रेणी का कवि-हृदय है। कला-पक्ष में भी मुरारि की कई कल्पनाएँ स्वयं भवभूति की ऋणी हैं, कई माघ की। मुरारि के पाण्डित्य में कोई सन्देह नहीं, पर काव्य या नाटक के क्षेत्र में वह गौण है। प्राचीन पण्डित चाहे मुरारि की पदचिन्ता को सोच सोचकर इतने मुग्धहृदय हो जायँ कि भवभूति की रसनिर्भर सरस्वती को रेगिस्तान की तरह सुखाने का प्रयत्न करने लगें,[1] सहृदय भावुक मुरारि को कवि के रूप

---

१. [illegible]—भवभूतिमनादृत्य मुरारिमुररीकुरु।

मे भी अधिक सफल नही मान सकता, नाटककार के रूप में तो वे बिलकुल असफल हुए हैं। मुरारी को जैसे यह पता ही नही कि दृश्यकाव्य और श्रव्य-काव्य में कोई भेद भी होता है। लम्बे-लम्बे अङ्क, कथावस्तु की विशृंखलता, नाटकीय कुतूहल का अभाव, कृत्रिम शैली और सवादो की प्रचुरता मुरारि की खास विशेषतायें हैं और ये वे गुण या दोष हैं, जो मुरारि के पश्चाद्भावी सभी कवियो (नाटककारो) कम या ज्यादा रूप मे पाए जाते हैं। जिस *नाटकीय परम्परा का निर्वाह भास, कालिदास, शूद्रक और विशाखदत्त ने किया* है, उसकी लीपापोती करना ही मुरारि के पाण्डित्य की खास पहचान है।

मुरारि के विषय मे जो कुछ परिचय मिलता है, उसका एक मात्र साधन अनर्घराघव की प्रस्तावना ही है।[1] अनर्घराघव के मतानुसार वे श्रीवर्धमानक

---

१. अनर्घराघवकार मुरारि पाखण्डविडम्बन नामक प्रहसन के रचयिता से भिन्न हैं। पाखण्डविडम्बन की हस्तलिखित प्रति जो १७४८ (वसुनिगमसप्तभू) शाके भी लिखी हुई है, चौखम्बा विद्याभवन के व्यवस्थापक श्रीकृष्णदासजी गुप्त ने मुझे दिखाई थी। इस प्रहसन में दो अङ्क हैं। प्रस्तुत हस्तलिखित प्रति २३ पत्रों की है, जिसमे ७ पत्र (१६ से २२ तक) खो गए हैं। यह प्रहसन किसी मुरारि की रचना है—

श्रीमन्मङ्गलपत्तनाम्बुधिसुधाधाराभिरामाशयः
शर्वाणीचरणारविन्दमधुपः स श्रीमुरारिः कविः।
वाचो यस्य रतप्रमत्तवनितालङ्कारझङ्कारव-
द्वीणानादसहोदराः श्रवणयोरातन्वते निर्वृतिम् ॥ (पत्र २)

ये मुरारि किसी मङ्गलपुर के रहने वाले हैं, जब कि अनर्घराघवकार माहिष्मती के निवासी माने जाते हैं। प्रहसनकार को अनर्घराघवकार से भिन्न मानने के दो कारण हैं—(१) महाकवि मुरारि विष्णुभक्त थे, प्रहसनकार मुरारि शिवभक्त। (दे. भगवतः पुरुषोत्तमस्य यात्रायामुपस्थानीयाः सभासदः–अनर्घराघव तथा–'तदद्य भगवतो वैद्यनाथस्य यात्रायां परिमिलितमेव नानादिगन्तवास्तव्येन सकलकलाविलासलालसेनाशेषभुवनवाञ्छासमधिकदानदक्षविरूपाक्षपादारविन्दवन्दारुकेण।'—(प्रहसन पत्र २) (२) प्रहसनकार की शैली उन्हें १७ वीं शती का संकेतित करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रहसनकार मुरारि मैथिल थे। पाखण्डविडम्बन में एक साधु की विलासिता पर व्यंग्य कसा गया है। साधु के मुख से नैयायिकों, वेदान्तियों, मीमांसकों, छान्दसों और पौराणिकों की निन्दा कराई गई है—

(१) घटपटादिसामान्यविचारणातारतम्यतिरोहितहृदयास्तार्किकाः कर्कशचेतसोऽसंजातरामानुरागा एव देवकीतनयभवनमाकाङ्क्षन्तो लज्जन्ते। (पत्र ४)

(२) एते च वेदान्तिनः प्रत्यक्षाणामपि मिथ्यात्वं प्रतिपादयन्तः सन्तोभिधीयन्ते। (पत्र ४)

तथा तन्तुमती के पुत्र थे, और मौद्गल्य गोत्र में उत्पन्न हुए थे।[१] यहीं यह भी संकेत मिलता है कि मुरारि महाकवि तथा बाल वाल्मीकि की उपाधि से विभूषित थे।[२] मुरारि की तिथि के विषय में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु कुछ अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह जान पड़ता है कि मुरारि का समय ईसा की आठवीं सदी का उत्तरार्ध या नवीं सदी का पूर्वार्ध रहा होगा। मुरारि निश्चित रूप से भवभूति के बाद हुए हैं भवभूति के उत्तररामचरित का उद्धरण मुरारि के अनर्घराघव में देखा जाता है, साथ ही भवभूति के महावीरचरित तथा उत्तररामचरित के प्रति मुरारि अत्यधिक ऋणी हैं, इतने ऋणी, कि भवभूति के कई दोषों को मुरारि ने अपनी कृति में और अधिक बढ़ा दिया है। मुरारि का उल्लेख रत्नाकर के हरविजय महाकाव्य में स्पष्टतः किया गया है,[३] जो उन्हें रत्नाकर से पूर्व का सिद्ध करता है। रत्नाकर का समय ईसा की नवीं सदी का उत्तरार्ध माना जाता है। रत्नाकर ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के समसामयिक तथा काश्मीरराज अवन्तिवर्मा के राजपण्डित थे। बाद में भी

---

(३) आः कथममी दक्षिणतो मीमांसका लोकान्तरप्राप्तिफलाकाङ्क्षया गुरुतरामर्थक्षतिं विधाय वैश्वानरेऽपूर्वाख्यमनोकहमुत्पादयन्ति। (पत्र ४)

(४) अमी च वेदविद्यामोऽप्यशिक्षितवेदार्था गायत्र्युपासकाः शाकटाः पशुकल्पा एव। एते च पौराणिकाः पाखण्डरौरवाख्यकदर्थीकृतचेतसोऽस्मद्द्रोहका एव। दर्शनस्थानमपि न विद्यते। (पत्र ५)

आचार्यप्रवर 'अज्ञानराशि' महाराज का उपदेश निम्न है; जिसमें वे समस्त संसार को रमणीय समझने को कहते हैं।

किं यागेन किमस्ति वा सुरधुनीस्नानेन दानेन वा
किं वा देवसपर्ययाऽथ पितृभिः किं प्राप्यते तर्पितैः।
रे मूढाः शृणुताऽस्मदीयवचनं चेदिच्छथ स्वं हितं
हित्वा मोहपरंपरां जगदिदं रामात्मकं चिन्त्यताम्॥ (पत्र ५)

१. अस्ति मौद्गल्यगोत्रसम्भवस्य महाकवेर्भट्टश्रीवर्धमानतनूजन्मनस्तन्तुमतीनन्दनस्य मुरारेः कृतिरभिनवमनर्घराघवं नाम नाटकम्। (प्रथम अङ्क पृ० १९)

२. अस्य हि मौद्गल्यानां ब्रह्मर्षीणामन्वयमूर्धन्यस्य मुरारिनामधेयस्य बालवाल्मीकेर्वाङ्मयममृतबिन्दुनिष्यन्दि कन्दलयति कौतुकं मे। (प्रथम अङ्क पृ० २४)

३. अङ्कोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्।
आक्रान्तकृत्स्नभुवनः क्व गतः स दैत्यनाथो हिरण्यकशिपुः सह बन्धुभिर्वः॥

(हरविजय ३८. ६७)

मंख के श्रीकण्ठचरित में मुरारि का उल्लेख मिलता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् मुरारि को बाद का मानते हैं, किन्तु मुरारि राजशेखर से पुराने जान पड़ते हैं। जयदेव भी अपने प्रसन्नराघव में मुरारि के अनर्घराघव से अत्यधिक प्रभावित हैं। मुरारि के जन्मस्थान के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी पता नहीं चलता। डॉ० कीथ का मत है कि मुरारि माहिष्मती (नर्मदा के तट पर स्थित मान्धाता) के किसी राजा के सभापण्डित थे।[1]

मुरारि की केवल एक ही कृति उपलब्ध है—अनर्घराघव नाटक। यह सात अङ्कों का नाटक है, जिसमें भवभूति के महावीरचरित की भाँति सम्पूर्ण रामायण की कथा को लेकर नाटक की रचना की गई है। विश्वामित्र के आगमन से लेकर रावणवध, पुष्पक विमान से अयोध्यापरावर्तन एवं रामराज्याभिषेक तक की समस्त कथा को नाटकीय वस्तु का आधार बनाया गया है। महाकाव्य के अनुरूप इतनी बड़ी कथा को लेकर नाटक की रचना करने में नाटककार कभी कभी वस्तु को नहीं सँभाल पाता। भवभूति के महावीरचरित एवं मुरारि के अनर्घराघव दोनों में ही यह दोष देखा जा सकता है। इसी दोष से राजशेखर का बालरामायण तथा जयदेव का प्रसन्नराघव भी अछूता नहीं रहा है।

नाटकीय वस्तु

नाटक का प्रथम अङ्क अत्यधिक लम्बी प्रस्तावना के बाद आरम्भ होता है। इस अङ्क में दशरथ तथा वामदेव मञ्च पर प्रविष्ट होते हैं। कञ्चुकी विश्वामित्र के आने की सूचना देता है। विश्वामित्र के आने पर राजा उनकी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करता है तथा वे भी राजा की वैसी ही प्रशंसा करते हैं। तब वे राम को यज्ञ का विध्वंस करने वाले राक्षसों का वध करने के लिए माँगते हैं। राजा पहले तो हिचकिचाता है, पर बाद में राम को विश्वामित्र के साथ विदा कर देता है। राम को लेकर विश्वामित्र विदा हो जाते हैं। द्वितीय अङ्क के विष्कम्भक में शुनःशेप तथा पशुमेढ़ नामक दो शिष्य बाली, रावण, राक्षस, जाम्बवत् आदि के विषय में आवश्यक जानकारी देते हैं। इसी अङ्क में मञ्च पर राम तथा लक्ष्मण प्रवेश करते हैं, जो आश्रम और मध्याह्न

1. Keith : History of Sanskrit Literature. P. 226.

की गर्मी का वर्णन करते हैं।[1] इसी अङ्क मे एकदम शाम पड जाती है। ऐसा ज्ञात पडता है, कालान्विति की ओर नाटककार का ध्यान ही नही है। सारा अङ्क वर्णनो से भरा पड़ा है, जिसमे व्यापार का अभाव है। शाम के समय विश्वामित्र मञ्च पर प्रविष्ट होते हैं और सूर्यास्त का लम्बा वर्णन करते हैं।[2] इसी बीच नेपथ्य से ताडका के आने की सूचना मिलती है। राम स्त्री का वध करने से हिचकिचाते हैं, पर विश्वामित्र के समझाने-बुझाने पर प्रस्थान करते हैं। ताडका का वध करने पर राम पुनः रात्रि का वर्णन करते मञ्च पर प्रवेश करते हैं। तब विश्वामित्र मिथिला जाने का प्रस्ताव रखते हैं। द्वितीय अङ्क काव्य की दृष्टि से कुछ लोगो को भले ही सुन्दर दिखाई पडे, अनर्घराघव नाटक की उन धिज्जियो मे खास है, जिसने नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता को अवरुद्ध कर दिया है।

तीसरे अङ्क के विष्कम्भक मे जनक का कचुकी कलहंसिका के साथ बातचीत करते समय यह सूचना देता है कि रावण ने सीता के साथ विवाह करने का प्रस्ताव भेजा है। तीसरे अङ्क में जनक पुरोहित शतानन्द के साथ आकर राम का स्वागत करते हैं। इसी बीच रावण का पुरोहित शौष्कल आकर सीता के विवाह सम्बन्ध की बात करता है।[3] जनक इस शर्त को रखते है कि वह शिव के धनुष को चढ़ा दे। शौष्कल अपमान समझता है, और रावण की प्रशंसा करता है, जिसका उत्तर राम देते हैं। इसके बाद राम उठकर धनुषभङ्ग कर देते हैं। राम के साथ सीता के विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है और शौष्कल राम को चेतावनी देता बदला लेने की घोषणा करता हुआ मञ्च से चला जाता है।[4] चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक मे रावण का मन्त्री माल्यवान्

---

१. कथं गगनमध्यमध्यारूढो निदाघदीधितिः। (द्वितीय अङ्क पृ० ९६)

२. कथमुदयगिरिकाश्मीरर्कुकुमकेदारस्य प्रभातसन्ध्यालतायाः प्रथमस्तबको गभस्तिमाली हस्तहस्तितया कुतूहलिनीभिर्दिगंगनाभिर्वीक्षणी यावदुपनीतः।

(द्वि० अं० पृ० १०५)

३. कन्यामयोनिजन्मानं वरीतुं प्रजिघाय माम्।
पुरोधमा गौतमेन गुरुस्य भवतो गृहान्॥ (३,४२)

४. ममन्द्रदुत्तालैः सुरमहनरोचामरमरसरंगैरत्कीन्द्रभुजपरिपमीत्म्यत्धुजिना।
स्वयंपौल्स्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृतामरे रामत्वं मा जनयति पुनीशुनयथाः॥

(३.६१)

चिन्तामग्न-सा दिखाई पड़ता है। राम की वीरता ने उसकी योजना—रावण के साथ सीता का विवाह कराने की योजना—पर पानी फेर दिया है। इसी बीच शूर्पणखा आती है। वह यह खबर सुनाती है कि राम और सीता का विवाह हो गया है। माल्यवान् यह चाहता है कि राम और सीता का वियोग हो जाय और सीता को रावण के लिए हस्तगत कर लिया जाय। वह शूर्पणखा को मन्थरा का वेष बनाकर अयोध्या जाने को कहता है, जहाँ वह कैकेयी को फुसलाकर राम को वनवास दिलवा दे।[1] राम के वनवास के समय माल्यवान् को अपनी योजना पूरी करने का पूरा अवसर मिलेगा। इसी विष्कंभक से यह भी पता चलता है कि परशुराम मिथिला पहुँच गये हैं। चौथे अङ्क में क्रुद्ध परशुराम तथा राम की बातचीत है। राम का व्यवहार अत्यधिक नम्र है, किन्तु राम के कुछ मित्र नेपथ्य से परशुराम को कटूक्तियाँ सुनाते हैं।[2] राम और परशुराम में युद्ध की घोषणा होती है, दोनों मञ्च से बाहर जाकर युद्ध करते हैं। अन्त मे राम की विजय होती है। परशुराम के निष्क्रमण के बाद दशरथ तथा जनक आते हैं। इसी अङ्क मे दशरथ राम को राज्य देना चाहते हैं, पर इसी समय कैकेयी के दो वरों की माँग को लेकर मन्थरा उपस्थित होती है। इसे सुनकर राजा दशरथ मूर्छित हो जाते हैं।

पञ्चम अङ्क के विष्कंभक मे जाम्बवन्त तथा श्रमणा की बातचीत से इस बात की सूचना दी जाती है कि राम वन मे चले गये हैं, और उन्होंने वहाँ रहते हुए कई राक्षसों को मार दिया है। इसी अङ्क में जाम्बवन्त तपस्वी के वेष मे सीताहरण के लिए आए हुए रावण और लक्ष्मण का संवाद सुन लेता है। रावण कोपावेश मे अपना नाम कह जाता है, पर उसे अन्यथा स्पष्ट कर देता है।[3] जाम्बवन्त उसे पहचान लेता है।[4] तब मञ्च पर जटायु का प्रवेश

---

१. अतस्त्वमप्यस्मदनुरोधेन हनूमत्प्रत्यवेक्षितस्वशरीरा परपुरुषप्रवेशविद्यया मन्थराशरीरमधितिष्ठन्ती मिथिलामुपेत्य प्रत्ययिना संविधानकमिदं दशरथगोचरीकरिष्यसि।
(चतुर्थ अङ्क पृ० १९१)

२. आः पाप क्षत्रियायाः पुत्र क्षत्रियभ्रूणहत्यापातकिन्, निसर्गनिष्प्राणं हि प्रहरणमिक्ष्वाकूणां ब्राह्मणेषु।
(चतुर्थ अङ्क पृ० २११)

३. आः लक्ष्मण सर्वविद्रावणः खल्वहम्। ···भो वाचोयुक्तिश सर्वेषां विद्रावणः खल्वहमिति।
(पञ्चम अङ्क पृ० २३६)

४. मन्ये पुनरेष परिव्राजकच्छलेन रावण एव कोपादुत्क्रमपल्प्य स्वं नाम द्रागपक्रान्तः।
(पृ० २३७)

होता है। वह जाम्बवन्त को वन मे रावण तथा मारीच के आने और भावी विपत्ति की सूचना देता है। जाम्बवन्त इसकी सूचना देने के लिए सुग्रीव के पास चला जाता है। इधर जटायु सीता को हरकर ले जाते हुए रावण को देखता है और सीता को बचाने के लिए दौड पडता है। पञ्चम अङ्क मे सीता-हरण से दुखी राम तथा लक्ष्मण वन मे घूमते हुए मञ्च पर प्रविष्ट होते हैं। वन मे घूमते हुए वे गुह को बचाने के लिए कबन्ध का वध करते हैं। इसी बीच बाली का मञ्च पर प्रवेश होता है। वह राम को युद्ध के लिए ललकारता है। मञ्च पर स्थित लक्ष्मण और गुह दोनों युद्ध का वर्णन करते हैं। बाली मारा जाता है और नेपथ्य से सुग्रीव के राज्याभिषेक तथा सीता के ढूंढने के लिए राम की सहायता करने की प्रतिज्ञा की सूचना मिलती है।[१]

षष्ठ अङ्क के विष्कम्भक मे रावण के दो गुप्तचर शुक तथा सारण माल्य-वान् के पास आकर इस बात की सूचना देते हैं कि राम की सेना ने समुद्र पर सेतु बांध लिया है। नेपथ्य से कुम्भकर्ण तथा मेघनाद के युद्ध के लिए प्रस्थान करने की सूचना मिलती है। इसी अङ्क मे दो विद्याधर रत्नचूड तथा हेमाङ्गद मञ्च पर प्रवेश करते हैं, और उनके सवाद से राम-रावण-युद्ध का वर्णन कराया जाता है। रावण मारा जाता है। सप्तम अङ्क मे राम, सीता, लक्ष्मण, विभीषण तथा सुग्रीव पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हैं। मार्ग मे सुमेरु, चन्द्रलोक आदि का वर्णन किया गया है तथा रघुवश के तेरहवें सर्ग और महावीरचरित के सप्तम अङ्क की तरह मार्ग मे नगरो, पर्वतो, नदियो, वन-उपवनो का वर्णन है। विमान अयोध्या पहुँचता है। वसिष्ठ तथा भरत राम का स्वागत करते है और राज्या-भिषेक के साथ नाटक सम्पन्न होता है।

मुरारि का नाटक कई नाटकीय दोषों से भरा पडा है। सबसे पहले तो अनर्घराघव की कथावस्तु मे प्रवाह तथा गत्यात्मकता का अभाव है। प्रत्येक अङ्क मे अनावश्यक लम्बे-लम्बे वर्णन हैं, जो श्रव्यकाव्य के लिए फिर भी उपयुक्त कहे जा सकते है, नाटक के लिए सर्वथा दोष हैं। इन वर्णनों के बाँध-बाँधकर कई स्थानों पर *कथा प्रवाह का अवरोध कर दिया जाता है।* प्रथम अङ्क का विश्वामित्र तथा दशरथ का परस्पर प्रशसात्मक सवाद बहुत लम्बा

---

१. 'मयमर्द सीतादेव्याः प्रवृत्तिमन्वेष्टुं प्रहित्य हनूमन्तमृष्यमूकाद्रिके लग्ने कुमार-मंगदमभिषेक्ष्यामि।' (पृ० २६५)

तया व्यर्थ जोड़ा हुआ है। दूसरे अङ्क के विष्कम्भक का प्रभात-वर्णन तथा इसी अङ्क का आश्रम-वर्णन, सन्ध्या वर्णन और चन्द्रोदय-वर्णन आवश्यकता से अधिक बढा दिये गये हैं। इसी तरह सप्तम अङ्क की विमान-यात्रा का वर्णन भी नाटक के अनुपयुक्त है। दूसरा दोष नाटक के अङ्कों के कलेवर की दृष्टि से है। अनर्घराघव के अङ्क बहुत लम्बे हैं, तथा कोई भी अङ्क ५०–६० पद्यो से कम का नही है, छठे और सातवें अङ्क मे क्रमशः ९४ तथा १५२ पद्य हैं। कालिदास के नाटकीय अङ्कों को देखने पर पता चलेगा कि उनके अङ्कों में ३० के लगभग पद्य पाये जाते हैं। मुरारि का लक्ष्य नाटक लिखना न होकर पाण्डित्य, वाचोयुक्ति और कलात्मकता का प्रदर्शन करना है। स्वयं उन्ही के शब्दो मे इस नाटक में उन्होंने अनेक मोतियो से हार को गूँथा है, उन मोतियों से, जिन्हे उन्होने अपनी चित्त-शुक्ति के द्वारा अनेक शास्त्रो के स्वाति-बिन्दुरूपी अमृत को पीकर अक्षर के रूप मे उगल दिया है। इन उज्ज्वल अक्षरों के मोतियो से गूँथी हुई माला को, जो सुन्दर नायक (रामचन्द्र तथा माला का मध्यमणिकरूप बड़ा मोती) के गुणग्राम (धागों) से रमणीय प्रौढ अहंकार से युक्त है, वे मित्रों या सहृदयों के गले मे इसलिए डालना चाहते हैं कि वह वहाँ आन्दोलित होती रहे।[1] मुरारि के नायक के गुणों की प्रौढाहकृत की तरह अनर्घराघव के प्रत्येक पदविन्यास से पाण्डित्य की प्रौढाहंकृति टपकती है। मुरारि की माला सुन्दर तो है, पर ऐसा मालूम होता है, मुरारि के मोती असली नही, कल्चर के मोती हैं। हाँ, मुरारि के चित्त की शुक्ति में वे ढलकर आये हैं, इसमे किसी को सन्देह नही, पर उनकी चित्त-शुक्ति मे स्वाति के कोमल अमृतद्रव को नही पिया था, कठोर काँच की उन गोलियों को खाया था, जिन्हें कल्चर मोती बनाने लिए सीपो को खिला दिया जाता है। मुरारि के मोतियों की बाहरी तडक-भड़क लाजवाब होते हुए भी मोती का सच्चा पानिप नही है, भाव की तरलता का वहाँ अभाव सा दिखाई देता है। मुरारि का स्वयं का लक्ष्य भी 'अक्षरमूर्ति' (पदविन्यास) तक ही है (उन्हे ही वे मोती मानते हैं),

---

१. चेतश्शुक्तिकया निपीय शतशः शास्त्रामृतानि क्रमा-
द्वान्तैरक्षरमूर्तिभिः सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिताः।
उन्मीलत्कमनीयनायकगुणग्रामोपसंवल्गन-
प्रौढाहङ्कृतयो लुठन्ति सुहृदां कण्ठेषु हारस्रजः॥ (१.५)

भाव की रमणीयता नहीं। मुरारि को यह मार्गदर्शन भवभूति से मिला है, पर भवभूति के भावपक्ष को मुरारि नहीं अपना सके हैं।

मुरारि पर भवभूति का प्रभाव

विषय-निर्वाचन, कथावस्तु सविधान तथा शैली सभी में मुरारि भवभूति से प्रभावित हैं। मुरारि के अनर्घराघव का आदर्श भवभूति का महावीरचरित रहा है, ठीक वैसे ही जैसे माघ का आदर्श किराता-र्जुनीय। विश्वामित्र के आगमन से लेकर विमान के द्वारा अयोध्या लौटने तक की घटना का सङ्केत महावीरचरित मे भी है। इतना ही नहीं, महावीरचरित के दूसरे अङ्क के विष्कम्भक से, जिसमे शूर्पणखा तथा माल्यवान् का संवाद और माल्यवान् की कूटनीति है, मुरारि को चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक की रचना में प्रेरणा मिली है। महावीरचरित के तीसरे अङ्क का राम-जामदग्न्य-संवाद का प्रभाव अनर्घराघव के चतुर्थ अङ्क के राम-जामदग्न्य-संवाद पर देखा जा सकता है। मुरारि ने यहाँ एक मौलिक उद्भावना की है। महावीरचरित के राम परशुराम के प्रति आदरभाव सम्पन्न होते हुए भी उन्हें बढ़ता देखकर कटु उत्तर देते हैं, जब कि अनर्घराघव के राम अत्यधिक नम्र हैं और परशुराम को उत्ते-जित करने के लिए मुरारि ने नेपथ्योक्तियों का प्रयोग किया है। आगे जाकर प्रसन्नराघवकार जयदेव ने एक और नई उद्भावना की। उन्होने लक्ष्मण तथा परशुराम का वाद-विवाद उपन्यस्त किया और परशुराम को लक्ष्मण के मुंह से खरी-खोटी सुनवाई। प्रसन्नराघव की पद्धति का ही अनुकरण महाकवि तुलसी-दास ने अपने मानस में किया है। पिछले खेवे के नाटककारों ने अपनी कथा-वस्तु के सविधान वाली कमजोरी को पहचान कर उसमे नाटकीयता लाने के लिए एक मार्ग ढूँढा था। इसका बीज रूप हम वेणीसंहार के कर्ण-अश्वत्थामा वाले वाद-विवाद मे देख सकते हैं। भवभूति के महावीरचरित के तृतीय अङ्क मे इसका पल्लवन हुआ, जिसे मुरारि ने भी अपनाया। प्रसन्नराघवकार ने परशुराम और लक्ष्मण के अतिरिक्त रावण और बाणासुर के संवाद में भी इसी तरह के सौम्य वातावरण की सृष्टि की है। आगे जाकर इस पद्धति का प्रभाव हिन्दी मे भी देखा जाता है। यद्यपि मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य मे किन्ही खास नाटकों की रचना नहीं हुई, पर केशवदास ने अपने महाकाव्य (?) राम-चन्द्रिका मे बाण-रावण तथा लक्ष्मण-परशुराम के संवादो की योजना की है, जो कुछ नहीं जयदेव की ही छाया है।

मुरारि शैली और भावों के लिए भी भवभूति के ऋणी हैं। भवभूति के उत्तररामचरित के आश्रमवर्णन तथा अनर्घराघव के द्वितीय अङ्क के आश्रम-वर्णन मे एक स्थल तो ठीक एक-सा ही है।[1] भवभूति तथा मुरारि दोनों की गम्भीर प्रकृति हास्य की अवहेलना करती है, किन्तु पादटिप्पणी के उदाहृत स्थल में 'वत्सतरी मडमडायिता' कहकर भवभूति की गम्भीर मुद्रा पर हास्य की सूक्ष्म रेखा फूट पडी है, जब कि मुरारि ने उसे पात्र के मुँह से न कहलाकर 'मेघ्या वत्सतरी विहस्य वटुभिः सोल्लुण्ठमालभ्यते' कह कर भवभूति के रहे-सहे व्यङ्ग को भी समाप्त कर दिया है। मुरारि ने एक साथ उत्तररामचरित तथा महावीरचरित दोनों से भावों को चुना है। महावीरचरित जैसा धनुर्भङ्ग का वर्णन अनर्घराघव मे भी मिलता है।[2] भवभूति का प्रकृति-वर्णन कई स्थलों पर मुरारि को प्रभावित करता है, पर मुरारि में वह पैनी

---

१. इन दोनों स्थलों को मिलाइये—

(क) नीवारौदनमण्डमुष्णमधुरं सद्यःप्रसूतप्रिया-
पीतादभ्यधिकं तपोवनमृगः पर्याप्तमाचामति।
गन्धेन स्फुरतामनागनुसृतो भक्तस्य सर्पिष्मतः
कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते॥

\+ \+ \+ \+

येनागतेषु वसिष्ठमिश्रेषु वत्सतरी विशसिता॥

(उत्तररामचरित ४.१)

(ख) सत्त्वद्विगुणपूलकोपनयनक्लेशाच्चिरद्वेषिभि-
र्मेध्या वत्सतरी विहस्य वटुभिः सोल्लुण्ठमालभ्यते।
अप्येष प्रननु भवत्यतिथिभिः सोच्छ्वासनासापुटै-
रापीतो मधुपर्कपाकसुरभिः प्राग्वंशजन्मानिलः॥

(अनर्घराघव २.१४)

२. शैली तथा भाव की दृष्टि से ये दोनों वर्णन कितने समीप हैं, किन्तु मुरारि पद-विन्यास में भी भवभूति की गम्भीरता तक नहीं पहुँच सके हैं :—

(क) दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति॥

(महावीर० १.५४)

दृष्टि नहीं है। राम तथा सीता की प्रणयलीला का स्मरण के रूप में उपन्यास भवभूति तथा मुरारि दोनों ने एक स्थल पर किया है। उत्तररामचरित में वासन्ती गोदावरी के तीर पर की गई लीलाओं को याद दिलाती है, अनर्घराघव में विमानयात्रा से गोदावरी के समीप से गुजरते हुए राम पूर्वानुभवों का स्मरण कर सीता को याद दिला रहे हैं। पर भवभूति का यह वर्णन अत्यधिक शालीनता से भरा है, मुरारि का वर्णन कामुक हो गया है। भवभूति का वर्णन निम्न है :—

> अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
>
> सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद्गोदावरीरोधसि ॥
>
> आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
>
> कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥
>
> (उत्तर० ३.१७)

आपको याद होगा, सीता गोदावरी तीर पर गई थी और आप इसी लताकुञ्ज में उसके आने की प्रतीक्षा करते हुए, उसके मार्ग की ओर आँखें टिका कर खड़े थे, उधर सीता हंसों के साथ मन बहलाने के लिए कुछ ठहर गई और उसे गोदावरी के तट पर विलम्ब हो गया था। जब वह लौटकर आई, तो उसने आपको अनमना सा देख कर कातरता से कमल-मुकुल के समान सुन्दर प्रणामाञ्जलि को क्षमा माँगने के लिए बाँध लिया था।

गम्भीर भवभूति के राम सीता को देर से आयी देखकर अनमने होते हैं, तो पण्डित मुरारि की सीता राम की 'बेजा हरकतों' से कौमारव्रतभङ्ग होने के कारण (मध्या होने के कारण) मन में गुस्सा करते हुए भी मुस्करा देती है :—

(ख) रुन्धन्नष्टविधेः श्रुतीर्मुखरयन्नष्टौ दिशः क्रोडयन्
मूर्तीरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलक्ष्माभृतः ।
तान्यह्ना बधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च संपादय-
न्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्द्रुमदलत्कोदण्डकोलाहलः ॥

(अनर्घराघव १.५४)

एतस्याः पुलिनोपकण्ठफलिनीकुञ्जोदरेषु स्रजं
कृत्वा किंशुककोरकैरकरजक्रीडासहिष्णुस्तने ।
दत्त्वा वक्षसि ते मयि प्रहसति प्रौढापराधे तदा
कौमारव्रतभङ्गरोषितमपि स्मेरं तवासीन्मुखम् ॥
(अनर्घ ७.९९)

इसी गोदावरी नदी के पास उगी हुई प्रियङ्गुलताओं के कुञ्ज में पलाश की (अर्धचन्द्राकार) कलियों की माला बनाकर हँसते हुए मैंने तुम्हारे उस वक्षस्थल पर मारा था, जिसके स्तन नखक्षत की क्रीडा को सहने में समर्थ न थे और मेरे महान् अपराध के किये जाने पर, तुम्हारा मुख नवोढावस्था (कौमारव्रत) के भङ्ग के कारण रुष्ट हो गया था, फिर भी तुम कुछ मुस्करा दी थी। (यहाँ पलाश की कलिका नखक्षत की व्यञ्जना कराती है।[1] भाव है, मैं इसी तरह तुम्हारे स्तनों पर नखक्षतो की माला बना दूँगा।)

दोनों चित्रो मे चिरविवाहित दम्पति का मान, हास-परिहास आदि है, किन्तु प्रथम चित्र उदात्त है, दूसरा उत्तेजक। भवभूति दम्पति-जीवन का भावुक वर्णन करने मे बेजोड हैं, यह हम भवभूति के सम्बन्ध में देख चुके हैं। कई स्थानो पर मुरारि कालिदास और माघ के भावो को भी लेते दिखाई पड़ते हैं, पर उनका वैसा सुन्दर निर्वाह नही कर पाते।[2]

मुरारि की परचिन्ता

मुरारि का नाम संस्कृत पण्डितों की सम्मति में भवभूति से पहले लिया

१. मिलाइये :—
'बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्योवसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥' (कालिदास)

२. कालिदास का भाव ही निम्न पंक्तियों मे है, किन्तु कालिदास वाली सहोक्ति का यहाँ अभाव खटकता है :—

(१) एतद् गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥
(रघुवंश १३)

(२) अस्मिन्माल्यवतस्तटीपरिसरे कादम्बिनीडम्बरः
स स्थूलकणो मदश्रुपयसामासीद्वर्षत्रपि ।
(अनर्घराघव ७.१००)

जाना चाहिए ।[1] इसका खास कारण मुरारि की 'अक्षरमूर्तियों' के चुने हुए मौक्तिक हैं। माघ की तरह मुरारि भी गम्भीर सङ्गीत, शब्दानुप्रास तथा जटिल व्याकरणसिद्ध पदों का प्रयोग करते हैं। सारे नाटक को पढ जाने पर यह धारणा होती है कि कवि ने सोच-सोचकर शब्दरचना की है। पाणिनीय प्रयोगों के प्रति मुरारि मे बहुत रुचि है, विशेषतः 'णमुल्' के प्रति, जिसके बीसों उदाहरण नाटक के पदों में मिल सकते हैं, यथा—उदरम्भरयश्चकोराः (२. ४४), गीर्वाणपाणिंधमाः (४. २०), प्रसभसुभगंभावुकमुजः (१. २४) नाडिंधमा. (४. ३), स्थूलंकरणः (७. १००)। इनके अतिरिक्त मध्येकृत्य (१. ३७), विजयसहृत्कृत्वा (१. २४), निर्गत्वरीभिः (४. ५०) जैसे पाणिनीय प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। मुरारि ने भवभूति की समासान्त शैली को आदर्श बनाकर उसे और आगे बढाया है। एक-सी ध्वनि वाले शब्दों का—वृत्त्यनुप्रास का—तथा श्लेष का मुरारि को बडा मोह है। मुरारि के अनेक पद्य इस सम्बन्ध मे उद्धृत किये जा सकते हैं।[2] यहाँ एक पद्य उदाहृत करना पर्याप्त होगा।

पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरजःस्वाजन्यजन्मोद्धताः
शीतांशोर्द्युतयः पुरन्दरपुरीसीम्नामुपस्कुर्वते ।
एताभिर्लिहतीभिरन्धतमसान्युद्ग्रन्थतीभिर्दिशः
क्षोणीमास्तृणतीभिरन्तरतमं व्योमेदमोजायते ॥ (२.७३)

ये चन्द्रमा की किरणें, इसलिए गर्वोद्धत होकर, कि इनका जन्म इन्द्राणी के कुचकुम्भों पर लगे कुङ्कुम चूर्ण के साथ हुआ है (अर्थात् ये उसके समान हल्के लाल रङ्ग की हैं—उदयकालीन चन्द्रमा की किरणें लाल होती हैं), इन्द्रपुरी की सीमा—पूर्व दिशा—को अलकृत कर रही हैं। आकाश का मध्य भाग पृथ्वी को आच्छादित करती हुई, सघन अन्धकार को चाटती हुई (नष्ट करती हुई) और पूर्वादि दिशाओं को पुनः अन्धकार की माला से निकालती हुई (उद्ग्रथन करती हुई) चन्द्रकिरणों से ओजोमय हो गया है। भाव यह है,

---

१. मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा ।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु ॥
भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया ।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः ॥

२. २. ४५, २. ६८, २.७७, २. ७८, ४. १८, ६. २८, ६. ३१ आदि ।

अन्धकार के कारण पूर्वादि दिशा का मान नष्ट हो गया था, ऐसा प्रतीत होता है कि अँधेरे ने सभी दिशाओ को एक साथ माला मे घिच-पिच गूंथ दिया था, चन्द्रमा की किरणें अब दिशारूपी फूलों को निकालकर अलग-अलग कर रही हैं, और अब कौन फूल कैसा है, कौन दिशा किधर है, इसका पता चलने लगा है।

मुरारि की काव्य-शैली और भावपक्ष

मुरारि मूलतः नाटककार न होकर, वह अलंकारवादी कवि हैं, जिसका मुख्य लक्ष्य श्रुतिमधुर पद्यों की रचना करना है। पर मुरारि की कविता उदात्त भूमि तक नही पहुँच पाती, उसमें कविता का जाज्वल्यमान रूप दिखाई न देकर, बुझते हुए काव्य-दीप की लौ है। मुरारि के कई पद्य प्रभावात्मकता से समवेत हैं, किन्तु कुल मिलाकर मुरारि प्रथम कोटि के कलाकारों की सीढ़ी तक नहीं पहुँच पाते। श्रवणमधुर पद, ललित दुरारूढ़ कल्पना तथा स्निग्ध लयमय पद्यों के निर्वाह में मुरारि नि.सन्देह सफल हुए हैं, किन्तु इतना भर ही काव्य को उदात्त नहीं बना सकता। उनके शब्द और अर्थ दोनों का प्रयोग 'अलङ्कारों के लिए अलङ्कार' का निर्वाह करते देखा जाता है, वे किसी महान् कल्पना या भाव की व्यञ्जना नहीं करा पाते। मुरारि के पास कोई मौलिक उपन्यास नहीं है और मुरारि के बाद के नाटककारों पर भी इस दोष का आरोपण किया जा सकता है कि वे मौलिकता से रहित हैं। पुराने ढङ्ग के विद्वान् मुरारि के अलङ्कार एवं रीति पक्ष को, रूढ अभिव्यञ्जना शैली के 'रिटोरिक' (Rhetoric) ढङ्ग को पाकर 'वाह-वाह' कर उठते हैं और यहाँ तक घोषणा कर देते हैं कि जिस तरह केवल मन्दराचल ही समुद्र की तह को पाने में समर्थ हो सका है, चाहे समुद्र को कई बन्दर ऊपर-ऊपर से पार कर गये हों, पर समुद्र की गहराई को वे क्या जानें, ठीक इसी तरह काव्य के अगाध समुद्र की तह तक तो मुरारि ही पहुँच पाये हैं, अकेले उन्हें ही उसकी गहराई का पता है, दूसरे कवि, जो बन्दर की तरह उछल-कूद मचाते हैं, केवल ऊपर-ऊपर ही घूमा करते हैं।[1] पर मुरारि को इतनी ख्याति देना और वह भी केवल रीति-पक्ष को ध्यान में रखकर, निष्पक्ष मत नहीं कहा जा सकता।

---

१. देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

मुरारि की शैली पर संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखकालीन राजप्रशस्ति काव्यों (Ballads) का प्रभाव देखा जा सकता है। अनर्घराघव के प्रथम अङ्क के कई प्रशस्ति पद्य इसके प्रमाण हैं। दशरथ की वीरता की प्रशंसा विश्वामित्र के शब्दों में यों है :—

नमन्नृपतिमण्डलीमुकुटचन्द्रिकादुर्दिन-
स्फुरच्चरणपल्लवप्रतिपदोक्तदोःसंपदा।
अनेन ससृजेतरां तुरगमेधमुक्तभ्रम-
त्तुरङ्गखुरचन्द्रकप्रकरदन्तुरा मेदिनी॥

(अनर्घ० १.३४)

जिसके बाहुबल (दोःसम्पत्) की घोषणा चरणों में झुकते हुए अनेक राजाओं के मुकुट के प्रकाश (चन्द्रिका) के द्वारा उत्पन्न दुर्दिन के कारण चमकते चरणपल्लवों ने बार-बार की है, उसी राजा दशरथ ने अश्वमेध के लिए छोड़े हुए, पृथ्वी तल पर घूमते हुए, घोड़े के खुरों से बने चन्द्रक-चिह्नों के द्वारा समस्त पृथ्वी को अत्यधिक निम्नोन्नत (दन्तुर) बना दिया है।

मुरारि ने भी अपने पाण्डित्य तुरङ्ग को काव्य की समतल वनस्थली में घुमाकर इतना 'दन्तुर' बना दिया है कि वह मन्द एवं कोमल पदसञ्चार वाले भावुक सहृदय-शिशुओं के विहार का क्षेत्र नहीं रही है।

अनर्घराघव की शैली राज-प्रशस्ति, वीर एवं रौद्र रस तथा युद्ध-वर्णन के अधिक उपयुक्त है। यही कारण है कि मुरारि के ये वर्णन कुछ सुन्दर बने हैं। शृङ्गार रस के कोमल वातावरण की सृष्टि करने में मुरारि उतने भी सफल नहीं हुए हैं। सप्तम अङ्क में शृङ्गार रस के वातावरण की सृष्टि करने का अवसर था, पर मुरारि की प्रकृति उस स्थल का लाभ नहीं उठा सकी है। वहाँ मुरारि या तो चन्द्रालोकादि के वर्णन में फँस गये हैं, या फिर शृङ्गारी चित्रों में कामशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान के प्रदर्शन में।

अभिमुखपतयालुभिर्ललाटश्रमसलिलैरवधूतपत्रलेखः।
कथयति पुरुषायितं वधूनां मृदितहिमद्युतिनिर्मलः कपोलः॥

(अनर्घ० ७. १०७)

हे सीते, यह काची नगरी है, जहाँ की रमणियों के कपोल, जो धुली हुई चन्द्र-कान्ति के समान निर्मल हैं, तथा जिनमें मुख की ओर ढुलकते हुए ललाट

के पसीने से पत्ररचना धुल गई है; उनके पुरुषायित (विपरीत रति) की सूचना दिया करते हैं।[1]

मुरारि ने शृंगारी चित्रों का प्रयोग प्रकृति वर्णन के अप्रस्तुत के लिए भी किया है। मुरारि के इन वर्णनों पर माघ का प्रभाव परिलक्षित होता है। चतुर्थ अङ्क के विष्कंभक का प्रभातवर्णन माघ के एकादश सर्ग के प्रभातवर्णन का 'मिनियेचर पिक्चर' (सूक्ष्म चित्र) कहा जा सकता है, पर माघ की जैसी पैनी सूझ; सङ्गीत, वर्ण (रङ्ग) तथा गन्ध को पकड़ने की माघ जैसी तीव्र दृष्टि मुरारि में कहाँ? प्रातःकाल के समय इधर सूर्य अपनी किरणों को फैलाकर पूर्व दिशा के अँधेरेरूपी हृदय को क्रमशः साफ कर रहा है, उधर प्रिय से बिदा लेती हुई (अभिसारिका अथवा मुग्धा) नायिका अभिनव नायक के (अथवा अपने ही) वक्षःस्थल को पोंछ रही है, जिसमें उसकी कस्तूरी की पत्ररचना के चिह्न हो गये हैं।

> इतः पौरस्त्यायां ककुभि विवृणोति क्रमदल—
> त्तमिस्रामर्माणं किरणकलिकामम्बरमणिः।
> इतो निष्क्रामन्ती नवरतिगुरोः प्रोञ्छति वधूः
> स्वकस्तूरीपत्राङ्कुरमकरिकामुद्रितमुरः ॥ (अनर्घ ४. ३)

तुल्ययोगिता के द्वारा व्यञ्जित उपमा अलंकार इस पद्य की विशेषता है, साथ ही वृत्त्यनुप्रास की छटा भी स्पृहणीय है, किन्तु माघ जैसी उदात्तता नहीं।

उत्तररामचरित के जनस्थान का प्रकृतिवर्णन संस्कृत साहित्य में अपना खास स्थान रखता है। मुरारि ने भी जनस्थान की प्रकृति का चित्रण किया है, पर मुरारि के केमरे में भवभूति के केमरे जैसी बिंब-ग्रहण की शक्ति नहीं दिखाई देती।

> दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्धूतचूताङ्कुर-
> प्राग्भारप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटोभूमयः।
> याः कृच्छ्रादतिलङ्घ्य लुब्धकभयात्तैरेव रेणूत्करै-
> र्धारावाहिभिरस्ति लुप्तपदवीनिःशंकमेणीकुलम् ॥ (५. ६)

---

१. इसी पद्य के भाव वाला निम्न पद्य है :—

> वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे।
> पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥

वे जनस्थान की नदियों के वे तटप्रदेश दिखाई दे रहे हैं, जहाँ पराग के चखने से (या बसन्त ऋतु के कारण) मस्त कोकिलाओं के द्वारा कँपाये हुए आम के बौरों से इधर-उधर बिखरकर फैलते हुए पराग की रेती इतनी सघन है कि वहाँ जाना बड़ा कठिन है। इन सघन आम्रपरागान्धकार से युक्त तटियों को बड़ी कठिनता से पार कर शिकारी के भय से डरी हुई हिरनियाँ धाराप्रवाह में बिखरे हुए पराग-समूह से सुरभित होकर इसलिए निःशङ्क विचरण कर रही हैं, कि उनके पदचिह्नों को आम्र-पराग की धूलि ने छिपा लिया है।

मुरारि के इस वर्णन में भी वास्तविक सौन्दर्य अभिव्यंजना पक्ष का ही है, केवल अतिशयोक्ति और वृत्त्यनुप्रास ही इस प्रकृति वर्णन की विशेषता है।

युद्ध के वर्णन का समाँ बाँधने में मुरारि का काव्यपरिवेश काफ़ी सहायता करता जान पड़ता है। रावण की वीरता के निम्न चित्र को देखिये—

कल्पान्तक्रूरसूरोत्कटविकटमुखो मानुषद्वन्द्वयुद्ध-
क्रीडाकण्डूयदूर्जस्वलसकलभुजालोकभूयोविलक्षः।
संभूयोत्तिष्ठमानस्वपरबलमहास्त्रसंपातभीमा-
मुर्वी गीर्वाणगोष्ठीगुरुमदनिकषो नैकषेयः पिधत्ते (६.३१)

यह निकषा का पुत्र (रावण), जो देवताओं की सेना के महान् गर्व की कसौटी है (जिसने देवताओं की सेना को पराजित कर दिया है), प्रलय-कालीन प्रचण्ड सूर्य के समान तेज वाले भीषण मुखों को फैलाता हुआ और मनुष्य (राम) के साथ द्वन्द्वयुद्ध करने की खुजली वाले ऊर्जस्वित भुजदण्डों को देख कर बार-बार लज्जित होता हुआ, एक साथ सारी शक्ति जुटाकर, अपनी सेना और शत्रुसेना के परस्पर आक्रमण में अस्त्र-शस्त्रों के पात से भीषण युद्धस्थल को आच्छादित कर रहा है।

शिव-धनुष के टूट जाने पर क्रुद्ध परशुराम की गर्वोक्तियाँ सुन्दर बन पड़ी हैं :—

येन स्वां विनिहत्य मातरमपि क्षत्रास्रमध्वासव-
स्वादाभिज्ञपरश्वधेन विदधे निःक्षत्रिया मेदिनी।
स्नानाचमनवर्त्मना किल रणः क्रोधस्य हंसच्छला-
द्वाम्यान्तिवक्षाः पतन्ति स पुनः क्रुद्धो मुनिर्भार्गवः॥ (४.५२)

जिस परशुराम ने क्षत्रियों के रुधिररूपी मध्वासव (शहद की शराब) के

स्वाद से अभिज्ञ परशु से माता को भी मारकर, (बाद में) समस्त पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाया था, जिसके बाणों के कारण जनित रन्ध्रवाले क्रौंच पर्वत के मार्गों से आज भी हड्डियों के समूह हंसों के व्याज से गिरा करते हैं, मुनि भार्गव (परशुराम) आज फिर से कुपित हो गया है।

महावीरचरित का ताडकावर्णन एक साथ भयानक और वीभत्स का मिश्रण लेकर उपस्थित होता है, मुरारि का ताड़कावर्णन भयानक की व्यञ्जना करता है :—

> निर्मज्जच्चक्षुरन्तर्भ्रमदतिकपिशाक्रूरतारा नरास्थि-
> ग्रन्थि दन्तान्तरालप्रथितमविरतं जिह्वया घट्टयन्ती।
> ध्वान्तेऽपि व्यात्तवक्त्रज्वलदनलशिखाजर्जरे व्यक्तकर्मा
> निर्माती गृध्ररौद्रं दिवमुपरि परिक्रीडते ताडकेयम्॥ (२५४)

यह ताड़का आकाश में ऊपर मँडरा रही है; इसकी गहरी आँखों में अत्यधिक पीले रङ्ग की कनीनिकाएँ घूम रही हैं और यह अपनी जीभ से दाँतों के बीच में गुँथी हुई मनुष्य की हड्डियों को घर्षित कर रही है। इसके फैले हुए मुँह में जलती हुई अनलशिखा से आकाश का अन्धकार भी लुप्त (जर्जर) हो गया है, तथा प्रकाश के कारण इसकी प्रत्येक क्रिया प्रक्रिया स्पष्ट प्रकट हो रही है। आकाश में मँडराती हुई ताड़का जैसे आकाश को गीध के आक्रमण से भयानक बना रही है।

मुरारि ने नाटक में संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी प्राकृत का भी प्रयोग किया है। सप्तम अङ्क में प्राकृत का एक पद्य (७.७६) भी है, जो शौरसेनी में ही रचित जान पड़ता है। मुरारि ने अनेकों छन्दों का प्रयोग किया है, उनका खास छन्द शार्दूलविक्रीडित है, जो विषय और शैली के अनुरूप है।

मुरारि के अनुयायी

मुरारि के बाद भी रामायण की कथा को लेकर नाटक लिखे गये हैं। मुरारि के साक्षात् अनुयायियों में राजशेखर (९०० ई०) हैं, जो अपने आपको स्वयं वाल्मीकि का ही अवतार घोषित करते हैं। दस अङ्क के बड़े नाटक 'बालरामायण' में समस्त रामायण की कथा को आबद्ध करने की चेष्टा ने नाटक को विशृंखल बना दिया है। मुरारि की भाँति यहाँ भी नाटकीय व्यापार अवरुद्ध-सा दिखाई पड़ता है और वर्णनों की भरमार है। मुरारि की भाँति ही

राजशेखर ने भी अन्तिम अङ्क में विमानयात्रा का लम्बा वर्णन किया है, जिसमें सौ से अधिक पद्य पाये जाते हैं। दूसरा नाटक जयदेव (१२०० ई०) का प्रसन्नराघव है, जो पूरी तरह अनर्घराघव को आदर्श बना कर लिखा गया है। मुरारि की भाँति जयदेव भी पण्डित हैं, वे तर्कशास्त्र तथा कविता में एक साथ दक्ष हैं। रीति-सौन्दर्य तथा अलङ्कारों की छटा प्रसन्नराघव में कम नहीं है, पर यहाँ भी नाटकीय समन्वय का अभाव है। याज्ञवल्क्य के द्वारा दो मक्खियों की बातचीत का सुनना और मञ्च पर रावण तथा बाणासुर का अनावश्यक वाद-विवाद अनाटकीय दिखाई देता है। प्रसन्नराघव में विवाह से पूर्व उपवन में राम तथा सीता की परस्पर दर्शन करने की कल्पना का समावेश किया गया है; जिसका प्रभाव तुलसी के मानस में भी देखा जा सकता है। सीताहरण के बाद राम का विक्रमोर्वशीय के पुरूरवा की तरह पागल-सा बन जाना सहृदय सामाजिक को खटकता है। जयदेव ने विरहदशा के इस चित्रण में कुछ अतिशयोक्ति पद्धति अपना कर प्रभावात्मकता को क्षुण्ण कर दिया है। इसी समय का एक और नाटक है, जिसके लेखक का पता नहीं — हनुमन्नाटक या महानाटक जो १४ अङ्कों का विशाल नाटक है। ये सभी नाटक मुरारि के ही पदचिह्नों पर चलते दिखाई देते हैं। नाटक के बहाने पाण्डित्य की धाक जमाना इनका प्रमुख लक्ष्य है, नाटकीय सघटनों के द्वारा प्रभाव की उत्पत्ति करना नहीं। इन नाटकों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि लेखकों ने मञ्च को ध्यान में रखकर भी नाटक नहीं लिखे थे, जब कि नाटक की रचना में मञ्चीय विधान को दृष्टि में रखना आवश्यक होता है।

गद्य कवि

सुबन्धु

संस्कृत गद्य काव्यों की जो शैली हमें सुबन्धु, दण्डी या बाण में उपलब्ध होती है, उसके पूर्व की परम्परा के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। पर इतना अनुमान किया जा सकता है कि संस्कृत गद्य काव्यों का विकास दुहरे स्रोत को लेकर हुआ है; एक ओर इसने लोककथाओं से उसके कथांश को गृहीत किया है, दूसरी ओर काव्यों से उनकी अलंकृत शैली को पाया है। इस प्रकार लोककथाओं के विषय और अलंकृत काव्यशैली के परिवेष (अभिव्यञ्जना शैली) को लेकर गद्यकाव्य आता है, जो हमें सबसे पहले छठी शती के अन्त या सातवीं शती के पूर्वार्ध में प्रस्फुटित होता दिखाई पड़ता है। संस्कृत साहित्य का गद्य पद्य के बहुत बाद का विकास है। ऐसा देखा जाता है कि प्रायः सभी भाषाओं का प्राचीन साहित्य पद्यबद्ध अधिक पाया जाता है। वैदिक काल में ही ऋग्वेद की भारती पद्य का आहार्यप्रसाधन सजाकर सामने आती है और गद्य का विकास याजुष मन्त्रों में सर्वप्रथम दिखाई पड़ता है। बाद में तो ब्राह्मणों और उपनिषदों में वैदिक कालीन गद्य विकसित हो चला है। पद्य का सम्बन्ध भावना से माना जाता है और गद्य का विचार से। गद्य की शैली विचार की वाहिका है और बौद्धिक ज्ञान के क्षेत्र को वाणी का मूर्त रूप देने में ही इसका प्रयोग अधिकतर पाया जाता है। सूत्रकाल से होती हुई संस्कृत गद्य की वैचारिक धारा पतञ्जलि के महाभाष्य और शबर के मीमांसाभाष्य में बहती दिखाई पड़ती है और इसका चरम परिपाक शङ्कर के शारीरक भाष्य में मिलता है। शङ्कर के बाद संस्कृत का दार्शनिक गद्य अत्यधिक कृत्रिम शैली का आश्रय लेने लगा था, जिसका एक रूप वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य आदि के वेदान्त-प्रबन्धों में और दूसरा रूप गङ्गेश उपाध्याय तथा उनके शिष्य—गदाधरभट्ट, जगदीश और मथुरानाथ—के नव्य नैयायिक शैली के वाद-ग्रन्थों में मिलता है। साहित्यिक के लिए इन गद्यशैलियों का अध्ययन यहाँ अप्रासङ्गिक है। साहित्य में भी हम दो तरह की शैलियाँ पाते हैं, एक गद्य की नैसर्गिक सरल शैली, दूसरी कृत्रिम अलंकृत शैली। नैसर्गिक सरल शैली का रूप सर्वप्रथम हमें पञ्चतन्त्र में मिलता है, और बाद में इस प्रकार के नीतिवादी

कथा-साहित्य का मार्ग बना रहा है। पञ्चतन्त्र की शैली ही हमें शुकसप्तति, सिंहासनद्वात्रिंशत्पुत्तलिका, वेतालपञ्चविंशतिका, भोजप्रबन्ध, पुरुष-परीक्षा मे दिखाई पडती है। अलंकृत गद्यशैली का रूप हमे सुबन्धु, दण्डी और बाण में और बाद के गद्यकाव्यो तथा चम्पूकाव्यो मे उपलब्ध होता है।

लोककथाओं का आरम्भ हम ऋग्वेद और ब्राह्मणो के आख्यानों में ही ढूंढ सकते हैं। ऋग्वेद के यम-यमी-संवाद, उर्वशी पुरूरवा-सवाद आदि आख्यानो के ही सवादात्मक रूप हैं। शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी ऐसे कई आख्यान मिल सकते है। लोककथाओं का विशाल सग्रह हमे महाभारत मे मिलता है, जिसे 'अनेक उपाख्यानों का सुन्दर वन' कहा गया है। महाभारत की ही विरासत पुराणो को प्राप्त हुई है। लोककथाओ मे किसी देश या जाति की सस्कृति तरलित रहती है। साहित्य सम्भ्रान्त वर्ग की चीज होती है, किन्तु लोककथाएँ अपना मूल जनता के अन्तस् मे रखती हैं। मानव का सच्चा रूप हमें इनमें कही अधिक मिलता है। किसी सस्कृति की भौतिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक मान्यताओं का प्रभाव हमें लोककथाओं में मिलता है। लोक-कथाओं में अप्सराओं, उड़नखटोलो, मानव के जीवन में हाथ बँटाती दिव्यशक्तियों, विघ्न डालती आसुरी शक्तियो, भवितव्यता और नियति का विचित्र वातावरण दिखाई देता है, पर यह न भूलना होगा कि लोककथाओं का आदर्शात्मक वाता-वरण भी अपनी जड़ें मानव-जीवन की यथार्थभित्ति में जमाये है। लोककथाओं के आसुरी पात्र दैत्य, राक्षस आदि पात्र— वस्तुतः असद् वृत्तियो के प्रतीक हैं। लोककथाओं मे ससार के कार्य-कारण वाद को समझने की भी एक कौतूहल वृत्ति पाई जाती है, जिसे भावात्मक रूप दे दिया जाता है। इनमें मानव-जीवन की वास्तविक स्थिति पर जो सटीक व्याख्या मिलती है, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हमे एक ओर प्रणय का रोमानी वातावरण दिखाई देता है, तो दूसरी ओर सपत्नी-ईर्ष्या, मातृ-स्नेह, पतिभक्त पत्नी का प्रेम, सच्चे मित्र का निष्कलुष सख्यभाव आदि का कौटुम्बिक वातावरण प्राप्त होता है, तीसरी ओर मानव के कार्य-व्यापार मे हाथ बँटाते पशु-पक्षी और अदृश्य शक्तियों का अद्भुत जगत् देखने को मिलता है। लोककथाओ मे मानव-जीवन की कटुता और मधुरता की एक साथ धूप-छाहीं तस्वीर होती ' और इनके द्वारा लोककथाकार अपने विशाल जीवन के अनुभवों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर मानव-जीवन पर कुछ निर्णय देता देखा जाता है। यह उपदेशात्मक निर्णय

कभी वाच्य रूप ले लेता है, कभी व्यङ्ग्य रूप। नीतिवादी कहानियों में कभी-कभी यह कुछ स्पष्ट हो उठता है। पता नहीं, वह कौन-सा दिन था, जब बूढ़ी दादी-नानी के मुँह से सबसे पहली लोककथा वाणी के फलक पर चित्रित की गई थी। यह एक अखण्ड परम्परा है, जो मौखिक लोक-साहित्य से लोकभाषा के साहित्य में भी स्थान पाती रही है। बौद्धों की जातक कथाएँ, गुणाढ्य की बृहत्कथा और पञ्चतन्त्र ने इसी दाय को लिया है। लोककथाओं के इसी दाय को प्रणय के रोमानी चित्रों को चुनकर संस्कृत के गद्य-कवियों ने स्वीकार किया है। यह तो हुई लोककथाओं की बात।

अब हमें दो शब्द संस्कृत गद्य शैली के विकास पर कहना है। हम देखते हैं कि अश्वघोष तथा कालिदास में ही हमें संस्कृत की अलंकृत काव्यशैली दिखाई पड़ती है। कालिदास के पहले गद्य की अलंकृत शैली चल पड़ी थी। आरम्भ में यह अलंकृत गद्य शैली प्रशस्तियों और चरितकाव्यों के लिए चली होगी और इसी शैली में इन 'रोमानी' गद्य-काव्यों को ढाल दिया होगा। पतञ्जलि ने वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी नामक कथाओं का सङ्केत किया है, पर हम कह नहीं सकते, क्या वे गद्य कृतियाँ थीं। भोज के 'शृङ्गार-प्रकाश' में वररुचि की 'चारुमती' से एक पद्य उद्धृत किया गया है, पर इसके विषय में भी हम कुछ नहीं जानते। रामिल-सोमिल की 'शूद्रककथा,' तथा श्रीपालित की प्राकृत कथा 'तरङ्गवती' का नाम भर ही सुना जाता है। बाण ने अपने पूर्व के गद्य लेखकों में भट्टार हरिचन्द्र का नाम आदर के साथ लिया है,[1] पर हरिचंद्र का भी कुछ पता नहीं चलता। कुछ विद्वान् इन हरिचन्द्र को धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचम्पू के रचयिता से भिन्न मानने की अटकलपच्चू लगाते हैं। जैन काव्यों के रचयिता हरिचन्द्र माघ के भी बहुत बाद के हैं और इनका समय दसवीं शती के लगभग है, इसे नहीं भूलना होगा। हरिचन्द्र का नाम तो वाक्पतिराज के 'गउडवहो' में भी आदर के साथ लिया गया है। तो हरिचन्द्र सुबन्धु और बाण के पूर्व कोई गद्यलेखक रहे होंगे, जिन्होंने अलंकृत समासान्तपदावलीवलित, श्लेष, विरोध और परिसंख्या के अलंकाराडम्बर वाली गद्यशैली को प्रौढ बनाया होगा। पर हरिचन्द्र भी इस शैली के जन्मदाता नहीं रहे होंगे। समासान्तपदावली वाली गद्यशैली का सर्व-

१. भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते (हर्षचरित १.१३ पृ० १०)

प्रथम रूप हमें क्षत्रप रुद्रदामन् के शिलालेख (१६० ई०-१७० ई०) में मिलता है। इस शिलालेख का रचयिता 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्य-पद्य (काव्यविधान) प्रवीणेन' विशेषण से विभूषित किया गया है। उसकी शैली में 'गिरिशिखरतरुतटाट्टालकोपतल्पद्वारशरणोच्छ्रयविध्वंसिना' जैसे लम्बे समासान्त पद, तथा 'पर्वत-प्रतिस्पर्धी' 'मरुधन्व-कल्पम्' तथा 'पर्जन्येन [1]एकार्णव-भूतायामिव पृथिव्यां कृतायां' जैसे अर्थालङ्कार प्रयुक्त हुए हैं। इसके साथ ही एक स्थान पर तालाव के वर्णन मे 'अतिभृशं दुर्दर्शनम्' के द्वारा श्लेष का प्रयोग करने की चेष्टा भी की गई है, पर वह सफल नहीं हो सका है। सुबन्धु और बाण के समय तक आने में इस गद्य शैली को लगभग ४०० वर्षों को पार करना पड़ा है, पता नहीं, किन-किन कलाकारों ने इसे घनपद-सङ्घटना से निविड़ बनाकर प्रौढ रूप प्रदान किया। कुछ पाश्चात्य विद्वान् सुबन्धु और बाण के गद्य काव्यों पर ग्रीक गद्य का प्रभाव बताते हैं और उनके साथ संस्कृत गद्य काव्यों की घटना-विहित, कथानक रूढ़ियों और कलात्मक परिवेष की तुलना करते हैं,[2] पर दूसरे विद्वान् संस्कृत गद्य काव्यों का प्रभाव ग्रीक 'रोमैण्टिक स्टोरीज' में ढूंढते हैं।[3] पर इस तरह के परस्पर आदान-प्रदान के कोई ठोस प्रमाण नहीं दिये जाते।

भामह तथा दण्डी के पूर्व ही गद्य काव्यों में दो तरह की कृतियाँ पाई जाती थीं—आख्यायिका और कथा। भामह के मतानुसार आख्यायिका में तथ्यपूर्ण घटनाओं का समावेश होता है और कवि या नायक स्वयं अपनी अनुभूत कहानी कहता है। इसकी शैली सरस गद्य का आश्रय लेती है, तथा काव्य को उच्छ्वासों में विभक्त किया जाता है, जिसमें वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्द में पद्य भी अनुस्यूत रहते हैं। ये पद्य बहुत कम होते हैं और इनके द्वारा भावी घटनाओं की व्यञ्जना कराई जाती है। आख्यायिका में कवि-कल्पना का भी पुट हो सकता है और काव्य का विषय कन्याहरण, युद्ध, वियोग तथा नायक की विजय से सम्बद्ध होता है। आख्यायिका की रचना संस्कृत में ही

---

१. व्याकरण की दृष्टि से 'एकार्णवभूतायां' पद अशुद्ध है, शुद्ध रूप 'एकार्णवी-भूतायां' होगा; पर शिलालेख में यहला ही रूप मिलता है।

२. दे० Weber : Indische Studien XIII, P. 456 f.

३. दे० L. H. Gray Vasavadatta (Introduction) P. 35 f.

होती है। कथा की कथावस्तु कल्पित या निजन्धरी होती है। इसका वक्ता नायक से भिन्न कोई और व्यक्ति होता है। कथा को आख्यायिका की तरह उच्छ्वासों में विभक्त नहीं किया जाता, साथ ही इसमें वक्र या अपरवक्त्र पद्य भी नहीं होते। कथा संस्कृत या अपभ्रंश में निबद्ध की जा सकती है। इस विभाजन से स्पष्ट है कि यह विभाजन सुबन्धु या बाण की गद्यकाव्य कृतियों को देखकर नहीं हुआ होगा, यद्यपि बाण की दोनों कृतियाँ भी इस अन्तर को स्पष्ट करती हैं। दण्डी ने तो आख्यायिका तथा कथा के इस भेद को, वक्ता या शैली की दृष्टि से किये गये भेद को नहीं माना है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि दोनों को एक ही गद्य काव्य के अन्तर्गत मानने की धारणा थी और कोई निश्चित विभाजक रेखा स्वीकार नहीं की जाती थी। दण्डी के अनुसार इनका एकमात्र भेद यह है कि एक की कथावस्तु ऐतिहासिक या अर्धैतिहासिक होती है, दूसरी की कथावस्तु कल्पित या निजन्धरी। अमरकोष में भी आख्यायिका को 'आख्यायिकोपलब्धार्था' तथा कथा को 'प्रबन्धकल्पना कथा' कह कर इसी ओर सङ्केत किया गया है।

यद्यपि आख्यायिका तथा कथा वाला संस्कृत गद्यकाव्य लोककथाओं की वर्णनात्मक सामग्री को लेकर आता है, उसकी ही मानवी तथा अतिमानवी कथारूढ़ियों को अपनाता है, पर इसका ढाँचा अपना होता है, जो काव्य की देन है। वस्तुतः गद्य कवि का लक्ष्य सुसंस्कृत श्रोताओं का मनोरञ्जन होता है, यही कारण है कि काव्यों की तरह ही यहाँ उदात्त अलंकृत आहार्य दिखाई पड़ता है और उसी की तरह कथावस्तु को गौण बनाकर वर्णनों को प्रधानता दे दी जाती है। काव्योपयुक्त लम्बे-लम्बे समास, श्लेष-वैचित्र्य, अनुप्रास और अर्थालङ्कार-प्राचुर्य की ओर गद्य कवि विशेष ध्यान देता देखा जाता है। वह प्रकृति—बाह्यप्रकृति तथा अन्तःप्रकृति—के वर्णन करने की ओर अधिक ध्यान देता है। काव्योपयुक्त वातावरण की सृष्टि के ही लिए इन कवियों ने प्रायः प्रणयगाथा को चुना है। पर ध्यान देने की बात यह है कि प्रणयकथा के कथांश पर गद्य कवि इतना ध्यान नहीं देता दिखाई देता, जितना वर्णनशैली पर। संस्कृत गद्य काव्यों की यह शैली जिस काव्य में सर्वप्रथम दिखाई पड़ती है, वह है सुबन्धु की वासवदत्ता।

सुबन्धु की तिथि और वृत्त

वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु की तिथि का निश्चित ज्ञान नही है। कुछ विद्वानों ने सुबन्धु के समय को निश्चित करने की चेष्टा की है। सुबन्धु के दो श्लेष प्रयोगो मे 'उद्योतकर' तथा 'बौद्धसङ्गति' का सङ्केत मिलता है। उद्योतकर का सङ्केत—'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्' में मिलता है। इसी तरह 'बौद्धसङ्गतिमिवालङ्कारभूषिताम्' मे पाश्चात्य विद्वानो ने धर्मकीर्ति के 'बौद्धसङ्गत्यलङ्कार' नामक ग्रन्थ का सङ्केत माना है। इस नाम के किसी बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ का पता नही चलता और प्रो० सिलवाँ लेवी ने इस बात को स्वीकार नही किया है कि यहाँ सुबन्धु धर्मकीर्ति की कृति का संकेत करता है।[1] सुबन्धु का समय छठी शती का मध्य माना जाता है। बाण ने हर्षचरित में श्लेष के द्वारा सुबन्धु का सङ्केत किया है,[2] और कादम्बरी मे भी 'अतिद्वयी कथा'[3] पद से टीकाकार भानुचन्द्र-सिद्धचन्द्र ने 'गुणाढ्य की बृहत्कथा और सुबन्धु की वासवदत्ता से उत्कृष्ट कथा' यह अर्थ लिया है। बाण के बाद तो वाक्पतिराज ने सुबन्धु का स्पष्टतः नामोल्लेख किया है। सुबन्धु का दण्डी या बाण को पता था या नही, इस बारे मे विद्वानो के दो दल हैं। पिटर्सन बाण के उपर्युक्त सङ्केतों मे सुबन्धु का सङ्केत नहीं मानते,[4] हमे ऐसा प्रतीत होता है, बाण को सुबन्धु की कृति का पूरी तरह पता था और हर्षचरित से भी अधिक इस बात की पुष्टि कादम्बरी की कथानक रूढ़ियों के सजाने और शैली के प्रयोग से होती है। सम्भवतः दण्डी को सुबन्धु का पता न हो या दण्डी ने अपने रुचि-वैपरीत्य के कारण (जो विषय और अभिव्यञ्जना दोनों दृष्टियों से दशकुमारचरित में परिलक्षित होता है) सुबन्धु का सङ्केत करना अनावश्यक समझा हो। यदि दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरी कथा' पर बाण की

---

१. Sylvan Levi : Bulletin de l'Ecole francais, d' Fxtreme-Orient. (1903. P. 18.)

२. कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्॥ (१. १२. पृ० ९)

३. अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा।
(कादम्बरी, पद्य २० पृ० ७)

४. Peterson : Kadambari (Introduction) P. 71-73.

कादम्बरी का प्रभाव है, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं, तो दण्डी को सुबन्धु का अवश्य पता होना चाहिए। यह अनुमान करना असङ्गत न होगा कि सुबन्धु, दण्डी और बाण एक ही काल में कुछ बरसो के ही हेर फेर से हुए हैं। ये तीनों महान् व्यक्तित्व ५५० ई० से लेकर ६५० ई० के बीच के सौ साल मे माने जा सकते हैं। इनमे भी अवस्था क्रम की दृष्टि से सुबन्धु सबसे बड़े जान पड़ते है, दण्डी उनके बाद और बाण उनसे भी छोटे है। इस तरह भी सुबन्धु का काल छठी शती का मध्य है, तथा बाण पर उनका प्रभाव स्वाभाविक है, जो सातवी शती के पूर्वार्ध मे थे। सुबन्धु को कुछ विद्वान् काश्मीरी मानते हैं, हमे सुबन्धु मध्यदेशीय जान पड़ते हैं। सुबन्धु की केवल एक ही कृति उपलब्ध है, वासवदत्ता।

वासवदत्ता—कथावस्तु और कथानक रूढ़ियाँ

सुबन्धु की वासवदत्ता का संस्कृत साहित्य की प्रसिद्ध उदयन-कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके साथ सुबन्धु की कृति का केवल नामसाम्य है। सुबन्धु वाली वासवदत्ता की कथा संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कही उपलब्ध नही होती। *कथासरित्सागर या बृहत्कथामञ्जरी* मे यह कथा नही मिलती। ऐसा प्रतीत होता है कि सुबन्धु ने लोककथाओं की कथानक रूढ़ियों और 'मोटिफ' का आश्रय लेकर अपनी कल्पना से इस प्रणयकथा का प्रासाद निर्मित किया है। यह सुबन्धु की स्वयं की निजन्धरी कथा जान पड़ती है। पर कथावस्तु सविधान में सुबन्धु किसी कुशलता का परिचय नही देते। वासवदत्ता की कथावस्तु न तो समृद्ध ही है, न प्रभावोत्पादक ही। वासवदत्ता की कथा बहुत छोटी-सी है। राजा चिन्तामणि का पुत्र, राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न मे एक '*अष्टादश-वर्षदेशीया' कन्या को देखता है, जो मानो मन की आकर्षणमन्त्रसिद्धि, कामदेव* रूपी जादूगर की आँखों को बाँधने की महौषधि और प्रजापति की त्रिभुवन-विलोभनसृष्टि है।[1] उस अज्ञात सुन्दरी की खोज में वह अपने मित्र मकरन्द के साथ निकल पड़ता है। रात को वे विन्ध्य पर्वत की तलहटियों में एक वृक्ष के नीचे ठहरते हैं। रात में उसी वृक्ष पर बैठे शुक-दम्पति की बातचीत कन्दर्प-केतु को सुनाई देती है। सारिका के पूछने पर शुक अपने देर से आने का कारण बताते हुए पाटलिपुत्र की राजकुमारी वासवदत्ता का वर्णन

१. वासवदत्ता (पृ० ३१–५०)

करता है। वासवदत्ता भी एक दिन कन्दर्पकेतु को स्वप्न में ही सुन लेती है।[1] उसकी सारिका तमालिका कन्दर्पकेतु को ढूंढ़ने निकल [illegible] है। वृक्ष के नीचे विश्राम लेते [illegible] दोनों मित्र इसे सुनकर प्रसन्न [illegible] शुक-दम्पति की सहायता से दोनों नायक-नायिका एक दूसरे से मिलते हैं। वासवदत्ता का पिता शृङ्गारशेखर उसका विवाह कन्दर्पकेतु के साथ न कर किसी विद्याधर से करना चाहता है, इसलिए दोनों प्रेमी एक जादू के घोड़े पर विन्ध्याटवी को भाग आते हैं। प्रातःकाल के समय जब कन्दर्पकेतु सोया ही था, वासवदत्ता को जङ्गल मे घूमते देखकर किरातों के दो झुण्ड उसका पीछा करते हैं, उस पर अधिकार जमाने के लिए दोनों झुण्डों मे लड़ाई होती है और वासवदत्ता चुपके से खिसक कर एक आश्रम मे पहुँच जाती है। आश्रम मे वह एक ऋषि के शाप से शिला बन जाती है। इधर कन्दर्पकेतु दुःखी होकर आत्महत्या करने को उद्यत होता है, पर आकाशवाणी उसे साहस करने से रोक देती है।[2] अन्त में जङ्गल मे घूमते हुए वह वासवदत्ता को ढूंढ़ लेता है और उसके स्पर्श से वासवदत्ता पुनः मानवी रूप में आ जाती है, शाप का प्रभाव समाप्त हो जाता है। बाद मे मकरन्द भी मिल जाता है और अपने नगर जाकर कन्दर्पकेतु वासवदत्ता के साथ अलभ्य मनोवाञ्छित सुखो का उपभोग करते हुए बहुत समय व्यतीत करता है।

वासवदत्ता की कथावस्तु में हम जिस लोककथा की कथानक रूढ़ियों या 'मोटिफ' का ग्रहण कर पाते हैं, उन पर कुछ संकेत कर देना आवश्यक होगा। वासवदत्ता की ये रूढ़ियाँ निम्न हैं :—

१. नायक-नायिका के परस्पर स्वप्नदर्शन से प्रणयोद्बोध,

२. नायक-नायिका के मिलन मे शुक (पक्षी) का हाथ,

३. शुक के द्वारा कथा के कुछ अंश को वक्ता के रूप मे कहलवाना,

४. अत्यधिक तेजगति वाले (मनोजव) जादू के घोड़े के द्वारा दोनों प्रेमियो का चुपके से भाग जाना,

५. शाप की कल्पना तथा शाप के द्वारा वासवदत्ता का शिला बन जाना,

६. आकाशवाणी के द्वारा आत्महत्या करते नायक को रोकना।

---

१. वासवदत्ता (पृ० १३३-१३७)

२. वासवदत्ता (पृ० २४५)

स्वप्नदर्शन से प्रणयोद्बोध वाली कथानक रूढ़ि का प्रयोग [illegible] इ लोककथाओं मे पाते हैं। उषा तथा अनिरुद्ध की प्रसिद्ध प्र[illegible]। में भी इस 'मोटिफ' का प्रयोग किया गया है। इसी का प्रयोग कई [illegible]ककथाओं मे सुना जाता है। नायक-नायिका के रागोद्बोध के लिए कई तरह के हेतु माने गये हैं— साक्षात् दर्शन, गुणश्रवण, चित्रदर्शन या स्वप्न-दर्शन। वासवदत्ता मे कन्दर्पकेतु नायिका को स्वप्न में ही देखता है, नायिका भी नायक को स्वप्न मे ही देखकर मोहित होती है। नायक-नायिका के मिलन कराने मे भी कई कथाओ में पक्षी की 'मोटिफ' वाली योजना पाई जाती है। नल तथा दमयन्ती को मिलाने में हंस का हाथ है। बाद के अपभ्रंश एव हिन्दी के कवियो ने भी इस 'मोटिफ' को को अपनाया है। चन्द के रासो में पृथ्वीराज और पद्मावती को मिलाने में शुक का हाथ है, तो जायसी के पद्मावत में रत्नसेन और पद्मावती को मिलाने में हीरामन शुक का हाथ है। वासवदत्ता में नायक-नायिका को मिलाने में तमालिका नामक मैना का हाथ पाया जाता है। लोककथाओं की 'तीसरी' रूढ़ि मनुष्य की तरह बोलते हुए शुकशुकी की योजना है। वासवदत्ता में नायिका की विरहक्षाम स्थिति का वर्णन शुक-सारिका के संवाद के रूप में कराया गया है।[१] इतिवृत्त को गति देने के लिए इस प्रकार शुक के मुख से कथा कहलवाने की रूढ़ि का प्रयोग शुकसप्तति में भी मिलता है। कादम्बरी की कथा भी वैशम्पायन शुक के मुँह से कहलाई गई है। अपभ्रंश के एक काव्य 'करकण्डचरिउ' में भी इस रूढ़ि का प्रयोग किया गया है और यही रूढि एक ओर भृङ्ग-भृङ्गी के संवाद रूप में विद्यापति की 'कीर्तिलता' में प्रस्फुटित हुई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि इस रूढि का प्रयोग चन्द ने भी अपने 'रासो' में किया था। घोड़े या उड़नखटोले के द्वारा नायिका के साथ उसके घर से भाग निकलने की रूढ़ि का प्रयोग तो प्रणय सम्बन्धी लोक कथाओं का खास तत्त्व रहा है। उदयन भी प्रद्योत महासेन की पुत्री को लेकर घोड़े से भाग निकला था। शाप की कल्पना के द्वारा लोककथाएँ कुछ अति मानवीय तत्त्वों का सङ्केत करती हैं। शाप की रूढ़ि पौराणिक कथाओं मे पाई जाती हैं और उनका उपयोग कालिदास ने किया है। वासवदत्ता का शाप के कारण शिला बनना, एक ओर रामायण की अहल्या वाली घटना और दूसरी ओर कुमारवन

१. वासवदत्ता (पृ० ८५)

में प्रविष्ट उर्वशी के शाप के कारण लता के रूप में परिवर्तित होने[१] की कथानक रूढ़ियों की याद दिलाता है। आकाशवाणी के द्वारा नायक या नायिका को सान्त्वना दिलाना भी भारतीय लोककथाओं का एक खास 'मोटिफ' है। इन अन्तिम दोनों रूढ़ियों का प्रयोग तो बाण ने भी अपनी कादम्बरी में किया है।

इस प्रकार वासवदत्ता में सुबन्धु ने लोककथाओं की सभी वर्णनात्मक रूढ़ियों (मोटिफ) का प्रयोग करते हुए नायक तथा नायिका के परस्पर मिलन की 'रोमानी' कहानी कही है, जो कई विघ्नों पर विजय पाकर अन्त में सुख से जीवन यापन करते हैं। किन्तु साधारण लोककथाकार या बूढ़ी दादी-नानी की तरह सुबन्धु का ध्येय घटनावर्णन नहीं है, अपितु उसका ध्येय वर्णनों को कलात्मकता देना, नायक या नायिका के अङ्गों का पूरी बारीकी से अलंकृत वर्णन करना, उसके भावों का, उनकी एक दूसरे की प्राप्ति के लिए की गई चेष्टाओं, विरह एवं मिलन के प्रतिबन्धक रूप विघ्नों का विस्तार से वर्णन करना है। सुबन्धु लोककथाकार की तरह सीधा कथा कहता नहीं चला जाता; वह रुक-रुक कर आगे बढ़ता है और कथा के साथ नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, युद्ध आदि के अत्यधिक कलात्मक वर्णन साथ में चलते हैं, जिनके द्वारा वह अपने विशाल शास्त्रीय ज्ञान तथा समृद्ध कलाविता का परिचय देता जाता है। सुबन्धु की कथावस्तु को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि कथावस्तु की कल्पना और चरित्रचित्रण की दृष्टि से सुबन्धु समृद्ध नहीं जान पड़ता और यदि यह भी कह दिया जाय कि यह सुबन्धु के कथाकार की दरिद्रता का परिचय देती है, तो कोई बुरा न होगा, सुबन्धु की कथा के क्षुद्र कलेवर तथा उसकी अस्वाभाविकता के विषय में निःसन्देह आलोचक प्रश्न उठा सकता है और विषय की अवहेलना करते हुए अभिव्यञ्जना पक्ष को आवश्यकता से अधिक बढ़ाना अखरता है। सुबन्धु की कृति का अत्यधिक भाग कलात्मक वर्णनों से ही भरा पड़ा है, जिनके द्वारा वह अपने पाण्डित्य तथा 'प्रत्यक्षरश्लेषमय-प्रबन्ध' लिखने की क्षमता का प्रदर्शन करता है। स्वप्न में दृष्ट कन्या का इतना विस्तार से वर्णन कथा की दृष्टि से प्रवाहावरोधक हो गया है। आनन्दवर्धन ने कवियों के इस दोष की ओर संकेत करते समय एक बार

१. दे० कालिदास का विक्रमोर्वशीय।

कहा था कि कवि प्रायः इतिवृत्त तथा रस का ध्यान नहीं रख पाते और शाब्दी क्रीड़ा में ही अधिक फँस जाते हैं।[१] सुबन्धु के साथ (सुबन्धु ही नहीं अन्य संस्कृत गद्य कवियों के विषय में भी) यह बात पूरी तरह लागू होती है।

सुबन्धु की काव्य-प्रतिभा

कवि के रूप में सुबन्धु बाण की अपेक्षा निम्न कोटि का है। बाण के पास जहाँ अपार शब्द भण्डार, अलङ्कारों और कल्पनाओं की अपूर्व सूझ, वर्णन की तीव्र पर्यवेक्षणशक्ति, सङ्गीतात्मक भाषा तथा भावपक्ष की तरलता विद्यमान है, वहाँ सुबन्धु के पास केवल शाब्दी क्रीड़ा दिखाई पड़ती है। यद्यपि सुबन्धु ने भी प्रकृति वर्णन के सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं, पर वे बाण की भूमि तक नहीं उठ पाते। न सुबन्धु के पास दण्डी की भाँति यथार्थ जीवन को ज्यों का त्यों चित्रित करने की ही शक्ति है। भले ही दण्डी की शैली में सुबन्धु जैसी शाब्दी कलाबाजी न भी हो, पर उसमें एक ऐसा ओज विद्यमान है, जो सुबन्धु में नहीं मिलता। भाव पक्ष के चित्रण में सुबन्धु उत्कृष्ट कवित्व का परिचय नहीं दे पाते। वासवदत्ता के विरह वर्णन में सुबन्धु ने अनुप्रासिक चमत्कार का ही विशेष प्रदर्शन किया है :—

'सुकान्ते कान्तिमति, मन्दं मन्दमपनय बाष्पबिन्दून्। यूथिकालङ्कृते यूथिके, सञ्चारय नलिनीदलतालवृन्तेनार्द्रवातान्, एहि भगवति निद्रे अनुगृहाण माम्, धिक् इन्द्रियैरपरैः, किमिति लोचनमयान्येव कृतान्यङ्गानि विधिना। भगवन् कुसुमायुध, तवायमञ्जलिः अनुवशो भव भाववति मादृशे जने। मलयानिल सुरतमहोत्सवदीक्षागुरो वह यथेष्टम्, अपगता मम प्राणा., इति बहुविध भाषमाणा वासवदत्ता सखीजनेन समं समुमूर्च्छ।' (पृ० १४३-१४४)

'सखि कान्तिमति, मेरे आँसुओं को धीरे-धीरे पोंछ दे। यूथिका (जूही) के फूलों से अलंकृत सखि यूथिके, कमल-पत्र के पंखे से शीतल हवा कर। भगवति निद्रे, आओ मेरे ऊपर कृपा करो। अन्य इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं, ब्रह्मा ने मेरे शरीर में सब इन्द्रियों को नेत्र ही क्यों न बना दिया। भगवान् कुसुमायुध, यह प्रणामाञ्जलि है, प्रेम के अभिप्राय वाले इस व्यक्ति पर (मुझ पर) कृपा करो। सुरतमहोत्सवदीक्षागुरु मलयानिल, खूब बहो, मेरे प्राण निकल रहे हैं, इस प्रकार अनेक उक्तियों को कहती हुई वासवदत्ता अपनी सखियों के साथ ही मूच्छित हो गई।'

---

१. ध्वन्यालोक (पृ० १५१) निर्णयसागर संस्करण।

सुबन्धु के शैली मे एक विशेषता है, वह बाण की भाँति लम्बे-लम्बे वाक्यों के फेर मे अधिक नहीं पड़ता, न लम्बे-लम्बे समासान्त पदों का ही उसे अधिक अनुराग है। सुबन्धु में लम्बे-लम्बे समासान्त पद भी आते हैं, किन्तु कथोपकथन मे सुबन्धु छोटे-छोटे वाक्यो का ही प्रयोग करता है। ऊपर हम सुबन्धु की सरल शैली का एक रूप देख चुके हैं। बाण ने कथोपकथन मे इसी तरह की सरल वैदर्भी शैली को अपनाया है, पर बाण जहाँ वर्णनो मे उतरता है, उसकी शैली बिना किसी अवरोध के तेजी से आगे बढती जाती है और पाँच पाँच, छः छः पृष्ठों तक एक ही वाक्य चलता रहता है। वर्णनो मे सुबन्धु के वाक्य भी बड़े होते हैं और कहीं-कहीं उतने ही बड़े होते हैं जितने बाण के। उदाहरण के लिए स्वप्न मे दृष्ट वासवदत्ता का वर्णन पूरे २० पृष्ठों मे है।[1] नायक या नायिका के वर्णन मे सुबन्धु का ध्यान अधिकतर उपमा, उत्प्रेक्षा श्लेष की ओर पाया जाता है। उपमाएँ भी अधिकतर ऐसी होती हैं, जो शब्दसाम्य के साधारण धर्म पर आश्रित होती हैं। जब सुबन्धु नायिका को 'रक्तपाद' मान कर उसकी तुलना व्याकरण शास्त्र से करता है, तो सारा उपमानोपमेयभाव केवल शब्द साम्य पर ही आवृत है, *नायिका के पैर अलक्तक से रञ्जित रहते हैं, और व्याकरण मे 'तेन रक्त रागात्' इस सूत्र से अष्टाध्यायी का एक पाद आरम्भ होता है।* इसी तरह नायिका की तुलना छन्द.शास्त्र (छन्दोविचिति) से करना क्योकि नायिका का मध्य भाग बहुत सूक्ष्म है, वह 'भ्राजमानतनुमध्या' है, तथा छन्द.शास्त्र मे 'तनुमध्या' नामक छन्द पाया जाता है, केवल शाब्दी क्रीडा मात्र है। वासवदत्ता के निम्न वर्णन मे इसी तरह की श्लेष-योजना पाई जाती है:—

'उपनिषदमिवानन्दमेकमुद्योतयन्तीम् द्विजकुलस्थितिमिव चारुचरणाम्, विन्ध्यगिरिसिमिव सुनितम्बाम्, तारामिव गुरुकलत्रतयोपशोभिताम्, शतकोटिमुष्टिमिव मुष्टिग्राह्यमध्याम्, प्रियङ्गुश्यामासखीमिव प्रियदर्शनाम्, ब्रह्मदत्तमहिषीमिव सोमप्रभाम्, दिग्गजकरेणुकामिवानुपमाम्, रेवामिव नर्मदाम्, वेलामिव तमालपत्रप्रसाधिताम्, अश्वतरकन्यामिव मदालसां वासवदत्तां ददर्श।'

'उस कन्दर्पकेतु ने वासवदत्ता को देखा, जो ब्रह्मानन्द देने वाली उपनिषद्

---

१. स्वप्नदृष्टकन्या (वासवदत्ता) का यह वर्णन पूरे एक ही वाक्य में है 'अथ कदाचिदवसन्नायां यामवत्यां ···· अष्टादशवर्षदेशीयां कन्यामपश्यत्स्वप्ने ॥' इसी तरह विन्ध्याटवी का वर्णन, रेवा का वर्णन तथा वासवदत्ता के द्वारा स्वप्न में देखे हुए कन्दर्पकेतु का वर्णन भी लम्बे वाक्यों में ही पाया जाता है।

की तरह सदा आनन्द को प्रकाशित करती थी, सदाचारी ब्राह्मण की कुल मर्यादा की भाँति सुन्दर चरणों से युक्त थी, ढालू प्रदेशों से युक्त विन्ध्यगिरि की शोभा की भाँति सुन्दर नितम्बों से सुशोभित थी; बृहस्पति के स्त्री के रूप में सुशोभित तारा की तरह वह सघन नितम्ब से युक्त थी, वज्र की यष्टि की तरह उसका मध्य भाग मुष्टिग्राह्य (पतला) था, नरवाहनदत्त की रानी प्रियङ्गुश्यामा की सखी प्रियदर्शना की तरह वह प्रियदर्शना (सुन्दर दर्शनवाली) थी, ब्रह्मदत्त राजा की पत्नी सोमप्रभा की तरह वह सोमप्रभा (चन्द्रमा के समान कान्तिवाली) थी; दिग्गज की पत्नी अनुपमा के समान वह अनुपमा (जिसकी सौन्दर्य में कोई तुलना न कर सके) थी, नर्मदा नाम वाली रेवानदी की तरह नर्मदा (रतिक्रीडा का आनन्द देने वाली) थी, तमाल पत्र से विभूषित समुद्रवेला की भाँति तिलक से अलंकृत (तमालपत्र-प्रसाधिता) थी, अश्वतर नामक विद्याधर की कन्या मदालसा के समान वह यौवन-मद से अलसाई-सी थी।'

सुबन्धु की बुद्धि एक से एक बढकर श्लिष्ट प्रयोगों को उपन्यस्त करने में अत्यधिक विचक्षण है और इस दृष्टि से यह उक्ति कि उसकी बुद्धिमत्ता 'प्रत्येक अक्षर में श्लेष योजना वाले प्रबन्ध' की रचना करने मे समर्थ है, ठीक जान पडती है।[1] पर सुबन्धु की कला वहाँ अधिक सुन्दर दिखाई पड़ती है, जहाँ वह एक-से दो-दो अर्थ वाले श्लिष्ट पदों के पीछे नहीं पडता है। निम्न वर्णन हमें बाण की प्रकृति वर्णन वाली शैली का एक रूप देने में समर्थ है, जहाँ यद्यपि लम्बे-लम्बे समासान्त पद हैं, तथापि श्लेष वाली शैली से अधिक काव्यसौन्दर्य है। अनुप्रासिक निर्बन्ध सुबन्धु की शैली में यहाँ स्वतः कुछ प्रवाह ला देता है :—

'कन्दर्पकेलिसम्पल्लम्पटलाटीललाटतटलुलितालकभ्रमिहलभारबकुसुमपरिमललमेलनसमुद्भमधुरिमगुणः, कामकलाकलापकुशलबाणकर्णाटसुन्दरीरतनकलशघसृणधूलिपटलपरिमलामोदवाहो, रणरणकरसितापरान्तकान्तकुन्तलोल्लकनसंक्रान्तपरिमलमिलितालिमालामधुरतरझङ्काररवमुखरितनभःस्थलः, नवयौवनरागतरलकेरलीकपोलपालिपत्रावलीपरिचयचतुरः, चतुःषष्टिकलाकलापविदग्धमुग्धमालवनितम्बिनी-

---

१. सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः ।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम् ॥ (वासवदत्ता पद्य १३)

नितम्बबिम्बसंवाहनकुशलः, सुरतश्रमपरावशान्ध्रपुरन्ध्रपुरन्ध्रीनीरन्ध्रपीनपयोधर-भारनिदाघजलावर्णनकरशिशिरितो मलयमारुतो ववौ ।'

'उस समय मलयाचल से बह कर आता हुआ पवन चल रहा था। वह कन्दर्पवेलि मे आसक्त लाटदेश की रमणियो के ललाट पर बिखरे हुए बालो मे *लगे हुए मोलश्री के फूलो की सुगन्ध के सम्पर्क से और अधिक मधुर हो गया* था, कामकला मे विदग्ध कर्णाटक देश की मनोहर सुन्दरियों के स्तन-कलश पर लगे कुङ्कुम-चूर्ण की सुगन्ध लेकर बह रहा था, कामोत्कण्ठासे युक्त, अपरान्त देश की ललनाओं के केशो को हिलाने से उसकी सुगन्ध के कारण एकत्रित भौंरो की पक्ति के मनोहर झङ्कार से आकाश को शब्दायमान कर रहा था; नवयौवन के कारण चञ्चल हृदय वाली केरल युवतियो के कपोल-फलक पर पत्रावली रचना करने मे चतुर था; चौसठ कलाओ में निपुण मालव रमणियो के नितम्बबिम्ब का सवाहन करने मे कुशल था; तथा सुरतश्रम के कारण श्रान्त आन्ध्रकामिनियो के निबिड तथा पुष्ट स्तनो पर जमे हुए पसीने की बूँदों के सम्पर्क से शीतल हो रहा था।'

इतना होने पर भी सुबन्धु मे दो एक ऐसे वर्णन भी हैं, जो स्वभावोक्ति *की रमणीयता उपस्थित करते हैं। विन्ध्याटवी मे हाथी से लडते हुए शेर के* चित्र मे स्वभावोक्ति पा, जाती है। निम्न वर्णन एक ओर स्वाभावोक्ति, दूसरी ओर सुबन्धु की पद्यमय गौडी रीति का परिचय देता है :—

पश्योदञ्चद्वाञ्चदञ्चितवपु पूर्वार्धपश्चार्धभाक्
स्तब्धोत्तानितपृष्ठनिष्ठितमनाग्भुग्नाग्रलाङ्गूलभृत् ।
दंष्ट्राकोटिविशङ्कटास्यकुहर कुर्वन्सटामुत्कटा-
मुत्कर्णः कुरुते क्रमं करिपतौ क्रूराकृतिः केसरी ॥

'देखो, वह भयंकर आकृति वाला सिंह हाथी पर आक्रमण कर रहा है। उसके शरीर का अगला हिस्सा उठा हुआ और पिछला हिस्सा झुका हुआ है, पूँछ निश्चल और खडी हुई है, उसकी पूँछ का अग्रभाग कुछ मुडा हुआ है और पीठ को छू रहा है, उसका बडा-सा मुख दाँतो के किनारों से भयकर है, और उसने अपने अयाल उठा रखे हैं तथा कान खडे कर रखे हैं।'

सुबन्धु चमत्कारवादी कवि है। उसके अलकारो का प्रयोग केवल अलकार के ही लिए होता है, वह अलकार्य या रस का उपस्कारक बनकर नही आता।

ऐसा प्रतीत होता है कि सुबन्धु के मत से कोई कवि आर्थी क्रीडा या शाब्दी क्रीडा का आश्रय लिये बिना उच्चकोटि का कवि नहीं बन सकता। सुबन्धु की सरल स्वाभाविक शैली प्रस्तावना भाग की आर्याओं में यत्र-तत्र मिल जाती है तथा यह नहीं कहा जा सकता कि वे सुन्दर नहीं बन पाई हैं।

खिन्नोऽसि मुञ्च शैलं बिभृमो वयमिति वदत्सु शिथिलभुजः।
भरभुग्नविततबाहुषु गोपेषु हसन् हरिर्जयति॥

'हे कृष्ण, तुम थक गये हो, कुछ देर पर्वत को छोड दो, इसे हम सँभाल लें, इस प्रकार गोपों के कहने पर कृष्ण ने अपना हाथ कुछ शिथिल कर दिया। कृष्ण के हाथ को हटा लेने से पर्वत के बोझ के कारण गोपों के हाथ झुक गये और वे पर्वत को न सँभाल पाये। इसे देखकर कृष्ण हँसने लगे। उन हँसते हुए कृष्ण की जय हो।'

इस उदाहरण में कोई आर्थी या शाब्दी क्रीडा नहीं पाई जाती, किन्तु शैली की सरलता स्वतः सौन्दर्य का सञ्चार कर देती है। पर सुबन्धु को इस प्रकार की सरल शैली का निर्वाह करना पसन्द नहीं। उसकी श्लेष-योजना अभङ्ग तथा सभङ्ग दोनों तरफ की पाई जाती है, किन्तु प्राय. वह अभङ्ग श्लेष में ही अधिक पटु है वैसे सभङ्ग श्लेष का एक नमूना यह है—

सा रसवत्ता विहिता न बका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

'जिस प्रकार तालाब मे पङ्कमात्र शेष रह जाने पर सारस पक्षी भी अन्तर्हित हो जाते हैं, बगुले भी नहीं दिखाई पड़ते और न कङ्कपक्षी विचरण करते है, उसी प्रकार विक्रमादित्य के कीर्तिशेष रह जाने पर वह रसिकता नष्ट हो गई, नये-नये कुत्सित व्यक्ति (कवि और राजा) उत्पन्न होने लगे और कौन किसे कष्ट नहीं देता।'

सुबन्धु श्लेष पर आधृत विरोध तथा परिसंख्या का भी प्रयोग करने मे पटु है। इनका एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

(१) यस्य च रिपुवर्गः पार्थोऽपि न महाभारतरणयोग्यः, भीष्मोऽप्यशान्तनवे हितः, सानुचरोऽपि न गोप्रभूषित। (विरोध)

'उस राजा चिन्तामणि के शत्रु दल पार्थ (अर्जुन) होते हुए भी महाभारत युद्ध मे लड़ने मे असमर्थ थे--वस्तुतः वे धनशून्य थे तथा किसी महान्

कार्यभार को उठाने मे असमर्थ थे; भीष्म होते हुए भी शान्तनु (भीष्म के पिता) के शुभचिन्तक न थे—भयङ्कर होते हुए भी क्रुद्ध राजा चिन्तामणि को प्रसन्न करने के लिए उद्यत रहते थे; पर्वतों मे घूमते हुए भी पर्वतभूमि में नहीं थे—सेवकों के साथ रहते हुए भी अपने कुलनाम (गोत्र) से विख्यात नही थे।'

(२) शृङ्खलाबन्धो वर्णप्रयनासु, उत्प्रेक्षाक्षेपः काव्यालङ्कारेषु, लक्ष्यवानच्युतिः सायकानां, क्विपां सर्वविनाशः, कोषसङ्कोचः कमलाकरेषु न जनेषु, जातिविहीनता मालासु न कुलेषु, शृङ्गारहानिः जरत्करिषु न जनेषु दुर्वर्णयोगः कटकादिषु न कामिनीषु, गान्धारविच्छेदो रागेषु न पौरवनितासु। (परिसंख्या)

'उस राजा के राज्य में शृंखलाबन्ध (एक प्रकार का चित्रकाव्य), केवल काव्यों में ही पाया जाता था, प्रजा में किसी को जञ्जीर से नहीं बाँधा जाता था। काव्यालङ्कारों में ही उत्प्रेक्षा तथा आक्षेप (अर्थालङ्कार के दो प्रकार विशेष) पाये जाते थे, प्रजा मे असावधानी के कारण किसी की निन्दा नहीं होती थी। लक्ष्य को काटने का काम केवल बाण करते थे, प्रजा में कोई भी लाखों के दान से च्युत नहीं होता था। व्याकरणशास्त्र में क्विप् प्रत्यय का ही सर्वनाश होता था पक्षियों का सर्वनाश नहीं होता था। कमलाकरों में ही कलिका का सङ्कोच पाया जाता था, प्रजा मे कोष (खजाने) का सङ्कोच नहीं होता था। कुलों में कहीं जाति-विहीनता निकृष्ट (जाति) नहीं पाई जाती थी, केवल मालाओं में ही जातिविहीनता (मालतीपुष्पाभाव) पाया जाता था, बारहों महीने मालती के फूल नहीं मिलते थे। शृङ्गार (गजभूषण) का अभाव केवल वृद्ध हाथियों मे ही रहता था, मनुष्यों में शृङ्गाररस की कमी न थी। दुर्वर्ण (चाँदी) का सम्पर्क कटकादि भूषणों में पाया जाता था, स्त्रियों मे दुर्वर्ण (फीकी कान्ति) नहीं पाया जाता था। गान्धार राग का विच्छेद रागों में ही होता था, राज्य मे किसी भी स्त्री के सिन्दूर का विच्छेद न होता था (सभी स्त्रियाँ सौभाग्यवती थी)।'

इन कलाबाजियों को उद्धृत करने का एकमात्र कारण यह है कि सुबन्धु की कृति इन्हीं दोषों के कारण अपठनीय-सी हो गई है। सहृदय पाठक इस तरह का श्लिष्ट वर्णन पढ़-पढ़कर झुंझला उठता है और कभी-कभी तो टीका की सहायता के बिना आगे नहीं बढ़ पाता। इस प्रकार की काव्यक्रीडा निःसन्देह

भाषा के साथ अन्याय है तथा काव्य-शैली का दुरुपयोग है। यदि सुबन्धु स्थान-स्थान पर अपने वाक्यों की शैली न बदलता, तो सम्भवतः वासवदत्ता और अधिक ऊब पैदा करने वाली होती। सुबन्धु के इन्ही दोषों की विरासत बाण को मिली है। निःसन्देह बाण सुबन्धु की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का कवि है तथा भाषा पर उसका कही अधिक अधिकार है, किन्तु बाण की कथा का विषय और अभिव्यञ्जना सुबन्धु की कथा से भिन्न नही प्रतीत होती और एक ही प्रकार की गद्यशैली का सङ्केत देती है। बाण मे सुबन्धु की तरह श्लेषयोजना की जरूरत से ज्यादा दौड़-धूप नहीं मिलती, किन्तु बाकी सारी विशेषताएँ बाण में भी देखी जा सकती हैं। यहाँ तक कि सुबन्धु के कई शब्द तथा कल्पनाएँ भी बाण में पाई जाती हैं। पर सुबन्धु तथा बाण की कल्पनाओ मे एक भेद है, सुबन्धु की कल्पनाओ में काव्योचित तरलता का अभाव दिखाई देता है, वे शास्त्रीय या 'रिटोरिक' अधिक दिखाई पड़ती हैं, जब कि बाण इन्हें काव्योचित सौन्दर्य प्रदान कर देता है, पर इतना होते हुए भी दोनों की 'टेक्नीक' और काव्य-सामग्री एक ही जान पड़ती है। सुबन्धु मे हम उस गद्यशैली का खुरदरा रूप पाते हैं, जो बाण के हाथों से स्निग्ध हो गई है और बाण के बाद भी अन्य गद्य काव्यो तथा चम्पू काव्यों मे प्रयुक्त होती रही है।

———

दण्डी

सुबन्धु वाली अलंकृत गद्य शैली तथा पञ्चतन्त्र आदि कथा-साहित्य की गद्यशैली में बहुत बड़ा अन्तर दिखाई देता है। संस्कृत साहित्य की गद्य शैली प्रायः सुबन्धु के ही मार्ग का अनुसरण करती रही है, तथा बाण के व्यक्तित्व में इस शैली का चरम परिपाक परिलक्षित होता है। संस्कृत के गद्य लेखकों में केवल एक ही व्यक्ति—दण्डी—ऐसा दिखाई पड़ता है, जिसने अत्यधिक अलंकृत कृत्रिम गद्य शैली तथा पञ्चतन्त्रादि की स्वाभाविक गद्य शैली के बीच की एक मध्यम मार्ग की शैली देने की चेष्टा की। सुबन्धु तथा बाण की कल्पनालोक की आदर्शवादी कहानियों के लिए वैसी ही तड़क-भड़क की आदर्शवादी शैली चाहिए थी, किन्तु जीवन के कटु सत्यों का उद्घाटन करने वाला दण्डी अपनी शैली को विषय के अनुरूप यथार्थ शैली के विशेष समीप रखना चाहता था। खेद है, दण्डी की शैली के पथिक संस्कृत गद्य में न हो पाये। स्वयं दण्डी के काव्य को पूर्ण करने वाले पूर्वपीठिका के लेखक की शैली तथा दण्डी की शैली में ही जमीन-आसमान का अन्तर है। पूर्वपीठिका का लेखक जैसा कि हम आगे देखेंगे कला-प्रधान अधिक हो गया है। जिस प्रकार संस्कृत के नाटकों में अकेला मृच्छकटिक ही विषय तथा शैली का यथार्थोन्मुख वातावरण बनाये रखता है, उसी प्रकार सारे संस्कृत गद्य-साहित्य में इन दोनों दृष्टियों से एक ही यथार्थवादी कृति दिखाई पड़ती है, और वह है दण्डी का दशकुमारचरित।

दण्डी के समय तथा जीवन के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है। यह जानकारी उनके ग्रन्थों तथा किंवदन्तियों के आधार पर है। किंवदन्ती की परम्परा के अनुसार दण्डी ने तीन रचनाएँ की थीं।[1] इन तीन रचनाओं में एक कृति दशकुमारचरित है, दूसरी काव्यादर्श। तीसरी कृति कौन-सी थी, इसके बारे में विद्वानों ने कई कल्पनाएँ की हैं। पिशेल के मतानुसार दण्डी की तीसरी कृति 'मृच्छकटिक' है, जो शूद्रक की कृति के रूप में प्रसिद्ध है। मृच्छकटिक को दण्डी की कृति मानने में पिशेल का यह कारण जान पड़ता है कि मृच्छकटिक

---

१ त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः।

तथा दशकुमारचरित की कथावस्तु का विषय एक-सा है। इस मत की पुष्टि वे इस बात से करते हैं कि मृच्छकटिक की एक पंक्ति 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' आदि काव्यादर्श में बिना किसी कवि के नाम से उद्धृत है, किन्तु इतना भर दण्डी को मृच्छकटिक का रचयिता मानने में पर्याप्त नहीं। कुछ लोगों ने दण्डी की तीसरी कृति 'छन्दोविचिति' मानी है, जिसका संकेत काव्यादर्श में मिलता है। 'छन्दोविचिति' का संकेत तो सुबन्धु में भी मिलता है – 'छन्दोविचितिमिव रम्यतनुमध्याम्'। क्या सुबन्धु का तात्पर्य 'छन्दोविचिति' नामक ग्रन्थ से है, या छन्दःशास्त्र सामान्य से ? यदि सुबन्धु का तात्पर्य इस नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थविशेष से है, तो यह दण्डी की कृति कदापि नहीं हो सकती। कीथ के मतानुसार 'छन्दोविचिति' तथा 'कालपरिच्छेद' दण्डी के अलग ग्रन्थ न होकर काव्यादर्श के ही परिच्छेद रहे होंगे। पर क्या काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित के रचयिता एक ही हैं ? काव्यादर्श का दण्डी एक महान् आलङ्कारिक है, जो कवियों के लिए मार्ग-दर्शन देता है, जो काव्य के नियमों का आलेखन करता है, जब कि दशकुमारचरित का दण्डी उन नियमों का पालन करता नहीं देखा जाता। इस मत के प्रवर्तकों में श्री अगाशे हैं, जो दोनों को अलग-अलग व्यक्ति मानते हैं, एक नहीं। किन्तु ऐसा भी सम्भव है कि दशकुमारचरित दण्डी की युवावस्था की कृति हो और काव्यादर्श प्रौढावस्था की। यही कारण है कि दशकुमारचरित की कारयित्री प्रतिभा वाला रूप और काव्यादर्श की आलङ्कारिक मेधा वाला रूप मेल नहीं खाता और आलङ्कारिक दण्डी के ही सिद्धान्तों की अवहेलना कवि दण्डी में पाई जाती हो। कवि प्रौढावस्था में आकर कई सिद्धान्तों का कायल बन गया हो, प्रौढ मस्तिष्क की स्थिति में हो यह सम्भव भी है। दण्डी की एक तीसरी कृति का और संकेत मिलता है—अवन्तिसुन्दरी कथा।[१] इस कथा का पता मद्रास से मिले दो हस्तलेखों से चलता है। एक हस्तलेख गद्य में है, दूसरा ग्रन्थ पद्य में, जिसके आधार पर प्रथम ग्रन्थ का नाम 'अवन्ति सुन्दरी कथा' माना गया है तथा इसके रचयिता दण्डी घोषित

---

१. पद्यबद्ध अवन्तिसुन्दरीकथा का वह पद्य जिसके आधार पर यह मत प्रतिष्ठित है, यों है :—

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने॥

किये जाते हैं। अनुमान किया जाता है 'अवन्तिसुन्दरी कथा' दण्डी के दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका वाली राजवाहन तथा 'अवन्तिसुन्दरी कथा' पर बाण की शैली का प्रभाव बताने की चेष्टा की जा रही है। पद्यबद्ध 'अवन्तिसुन्दरी कथा' में दण्डी का परिचय भी है तथा एक श्लोक के आधार पर तो पहले दण्डी को भारवि का प्रपौत्र मान लिया गया था बाद मे इस मत का संशोधन कर भारवि को दण्डी के प्रपितामह दामोदर का मित्र माना गया, जो दोनों काञ्चीनरेश विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। अवन्तिसुन्दरी कथा को दण्डी की कृति मानने वाला मत कोई ठोस प्रमाण उपन्यस्त नहीं कर सका है। हमें अवन्तिसुन्दरी कथा को दण्डी की कृति मानने में आपत्ति है और सच बात तो यह है कि महाकवि दण्डी की तीसरी कृति का अभी हमें पता नहीं लग पाया है।

दण्डी की तिथि के विषय मे भी विद्वानों में मतभेद है। काव्यादर्श के ही आधार पर दण्डी की तिथि का कुछ अनुमान किया जा सकता है। कुछ विद्वान् दण्डी के काव्यादर्श को भामह के पूर्व की रचना मानते हैं। दशकुमारचरित में वर्णित सामाजिक स्थिति ठीक वही है, जो हमे मृच्छकटिक में दिखाई पड़ती है और यह हर्षवर्धन के पूर्व के भारत की स्थिति का संकेत देती है। दण्डी निश्चित रूप में बाण से पुराने हैं, पर २५-३० वर्ष से अधिक पुराने नहीं। डॉ० कीथ तथा डॉ० डे के इस मत का हम समर्थन नहीं कर पाते कि दण्डी सुबन्धु से भी पुराने हैं। सम्भवतः दण्डी की शैली तथा सुबन्धु की शैली की विभिन्नता देख कर यह मत उपन्यस्त किया गया हो। पर सुबन्धु दण्डी से एक-दो पीढी पुराने ही जान पड़ते हैं। जैसा कि हम सङ्केत कर चुके हैं सुबन्धु, दण्डी और बाण सभी ५५० ई० तथा ६५० ई० के बीच पैदा हुए हैं तथा सुबन्धु इन सब में पुराने हैं। भोजप्रबन्ध के कवि-प्रशस्ति-लेखक ने दण्डी को भी नहीं छोड़ा है और उन्हें भी भोज के दरबार में ला घसीटा है। पर भोज-प्रबन्ध इस दृष्टि से प्रामाणिक न होकर किंवदन्तियों (गपोड़ों) का संग्रह है।

सम्भवतः दण्डी को अपनी कृति मे गुणाढ्य की बृहत्कथा से प्रेरणा मिली हो। गुणाढ्य की बृहत्कथा एक अमूल्य संग्रह थी और सुना जाता है कि वह पैशाची की रचना थी। बृहत्कथा गद्यमय थी या पद्यमय, इस पर भी अनुमान दौड़ाये जाते हैं और ऐसा अनुमान होता है कि वह पद्यबद्ध रचना थी। पर पैशाची प्राकृत की कृति होने पर एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, यह पैशाची प्राकृत कहाँ की भाषा थी। वररुचि ने प्राकृत प्रकाश में पैशाची के जो

लक्षण दिये हैं, वे दरद-वर्ग की बोलियों में मिलते हैं, अतः यह अनुमान होता है कि पैशाची से तात्पर्य उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की भाषा से था। पर कुछ लोगों का मत है कि पैशाची का नामकरण किसी एक निश्चित भाषा के लिए न कर प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा मागधी से इतर अनार्य तत्वों से मिश्रित बोलियों के समुदाय के लिए किया है। तभी तो मार्कण्डेय ने कई तरह की पैशाची मानी है। गुणाढ्य वाली पैशाची उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त की पैशाची नहीं जान पड़ती। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी तथा सोमदेव के कथासरित्सागर से जिस काश्मीरी बृहत्कथा का सङ्केत मिलता है, वह गुणाढ्य वाली 'वड्ढकहा' से भिन्न रही होगी। सम्भवतः लोककथाओं का संग्रह काश्मीर में भी किया गया था और मध्यप्रदेश मे भी और गुणाढ्य वाली 'बड्ढकहा' मध्यप्रदेश वाला संग्रह रहा होगा। किंवदन्तियों के अनुसार गुणाढ्य-शातवाहन के आश्रित थे तथा शाप के कारण विन्ध्याटवी में घूमते रहे थे, पिशाचों की बोली में उन्होंने कथाओं का संग्रह किया था, तो ऐसा जान पड़ता है कि गुणाढ्य की पैशाची विन्ध्याटवी के पिशाचो (कच्चा मांस खानेवाली असभ्य बर्बर जातियों), सम्भवतः भीलों की भाषा थी। हो सकता है, गुणाढ्य की कथाओं का संग्रह विन्ध्याटवी के यायावरों, इन्ही भीलों की बोली रही हो। यह बात अवश्य है कि काश्मीर वाले बृहत्कथा के संस्करण में भी गुणाढ्य के संस्करण की अधिकांश कथाएँ जान पड़ती हैं, क्योंकि लोककथाएँ तो प्रायः थोड़े से हेर-फेर से सारे देश में प्रचलित पाई जाती हैं। पर जब तक इस मत की पुष्टि मे कोई प्रमाण न मिले बृहत्कथा की पैशाची को दरद भाषा मानना ही होगा। बृहत्कथा ने संस्कृत के गद्यकाव्यों, नीति कथाओ तथा प्राकृत की भी कई कथा-कृतियों को प्रभावित किया है। प्राकृत के जैन काव्य 'वासुदेवहिण्डी' से गुणाढ्य की बृहत्कथा के अस्तित्व की पुष्टि होती है और बृहत्कथा का सङ्केत स्याम में मिले आठवी सदी के शिलालेख तक से मिला है। ऐसा जान पड़ता है, ईसा की नवीं या दशवीं सदी तक गुणाढ्य की बृहत्कथा उपलब्ध थी और दण्डी को भी उससे प्रेरणा मिली हो, तो कोई शक नही।

बृहत्कथा के नरवाहनदत्त तथा उसके साथियों की कहानियो ने, हो सकता है, दण्डी को राजवाहन तथा उसके साथियों की कहानियो का निबन्धन करने की उत्तेजना दी हो। राजवाहन तथा उसके साथी भी बृहत्कथा के नरवाहन-दत्त और उसके मित्रों की भाँति एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं, अलग-अलग देशों

मे जाकर नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं और बाद में सब मिल जाते हैं, मिलने पर वे अपने-अपने अनुभवों की बातें कहते हैं। एक कहानी में दूसरी तीसरी, चौथी कहानी की शृंखला को आबद्ध करने के लिए यह 'टेकनीक' निःसन्देह सुन्दर है, जो समस्त कथाओं को एक सूत्र में अनुस्यूत कर एक-प्रबन्धत्व की स्थापना करती है। ऐसा करने से कहानियों के व्यापार-वैचित्र्य के होते हुए भी विशृङ्खलता नहीं जान पड़ती। हर्तेल ने यहाँ तक कल्पना की है कि दण्डी की योजना केवल आठ उच्छ्वासों की आठ कुमारों की कथा कहने की ही न थी, अपितु वह गुणाढ्य की भाँति कहानियों का जाल फैलाना चाहते थे। हर्तेल ने इस सम्बन्ध में कुछ संकेत भी दिये हैं। राजा कामपाल तथा उसकी पाँचों रानियों के तीन-तीन जन्म को कथाएँ कहना भी सम्भवतः दण्डी की योजना में था, तथा उपलब्ध दशकुमारचरित उस विशाल योजना का एक अंशमात्र है। यह हो सकता है कि दण्डी की ऐसी योजना रही हो, पर हर्तेल के अनुमान के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है।

दशकुमारचरित का जो रूप आज हमें उपलब्ध है, उसमें आरम्भ में पाँच उच्छ्वासों की पूर्वपीठिका है, फिर आठ उच्छ्वासों की कथा है, जिनमें दस नहीं, केवल आठ कुमारों की कहानियाँ कही गई हैं, फिर पाँच-साढ़े पाँच पृष्ठ की उत्तरपीठिका है। इनमें पूर्वपीठिका तथा उत्तरपीठिका दोनों दण्डी की लेखनी से निःसृत नहीं हुई हैं और बाद के परिवर्धन हैं। दण्डी के आठ उच्छ्वासों को देखकर कृति को पूरा करने की कई कवियों की धुन हुई होगी। बाद में भट्टनारायण (वेणीसंहार नाटक के रचयिता से भिन्न व्यक्ति), विनायक, चक्रपाणि और गोपीनाथ ने दशकुमारचरित में समय-समय पर परिवर्धन किये हैं। दशकुमारचरित के प्रायः सभी हस्तलेखों तथा प्रकाशित मुद्रित प्रतियों में पूर्वपीठिका के पाँच उच्छ्वास मिलते हैं। इस भाग में राजवाहन तथा उसकी प्रेयसी अवन्तिसुन्दरी की कथा है तथा पुष्पोद्भव और सोमदत्त इन दो कुमारों की कथाएँ हैं, जो दण्डी के दशकुमारचरित के मूल कलेवर में नहीं हैं। प्रसिद्ध पद्य 'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः'[1] आदि दण्डी का मङ्गलाचरण न होकर इसी पूर्व-

---

[1] ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः शतधृतिभवनाम्भोरुहो नालदण्डः
क्षोणीनौकूपदण्डः क्षरदमरसरित्पट्टिकाकेतुदण्डः।
ज्योतिश्चक्राक्षदण्डस्त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डोऽङ्घ्रिदण्डः
श्रेयस्त्रैविक्रमस्ते वितरतु विबुधद्वेषिणां कालदण्डः॥ (१. १)

पीठिका का मङ्गलाचरण है। देखा जाय, तो मूल दशकुमारचरित का कोई मङ्गलाचरण नही मिलता। पूर्वपीठिका का यह रूप ग्यारहवी सदी से तो पुराना अवश्य है, क्योंकि भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे यह पद्य लेखक के नाम निर्देश के विना उद्धृत है। भट्टनारायण की पूर्वपीठिका भी मिलती है, जिसका प्रकाशन अगाशे के द्वारा सम्पादित 'दशकुमारचरित' के परिशिष्ट रूप में किया गया है।[१] उपलब्ध पूर्वपीठिका की शैली दण्डी की शैली की अपेक्षा कृत्रिम है तथा बाणोत्तर काल की ह्रासोन्मुखी काव्य-शैली की परिचायक है। अनुप्रास तथा शाब्दी क्रीडा का मोह दण्डी की सरल स्वभाविक शैली में अधिक नहीं जान पडता, जब कि पूर्वपीठिका के आरम्भिक वाक्य ही इस कृत्रिमशैली का संकेत दे देते हैं :—

'तत्र वीरभटपलीतरंगतुरंगकुञ्जरमकरभीपणसकलरिपुगणकटकजलनिधिमथनमन्दरायमाणसमुद्दण्डभुजदण्ड., पुरन्दरपुराङ्गणवनविहरणपरायणगीर्वाणतरुणगणिकागणजेगीयमानयातिमानया शरदिन्दुकुन्दघनसारनीहारहारमृणालमरालसुरगजनीरक्षीरगिरिशाट्टहासकैलासकाशनीकाशमूर्त्या रचितदिगन्तरालपूर्त्या कीर्त्याऽभितः सुरभितः, स्वर्लोकशिखरोरुरुचिररत्नरत्नाकरवेलामेखलावलयितधरणीरमणीसौभाग्यभोगभाग्यवान्, अनवरतयागदक्षिणारक्षितशिष्टविशिष्टविद्यासम्भारभासुरभूसुरनिकरः विरचितारातिसन्तापेन प्रतापेन सतततुलितवियन्मध्यहंसः, राजहंसो नाम घनदर्पकंदर्पसौदर्यसोदर्यहृद्यनिरवद्यरूपो भूपो बभूव। तस्य वसुमती लीलावती नाम सुमती लीलावतीकुलशेखरमणी रमणी बभूव।'

'उस पुष्पपुरी नामक नगरी में राजहंस नामक राजा था। उस राजा के समुद्दण्ड (प्रबल) भुजदण्ड शत्रुओं के सेनारूपी समुद्र का मन्थन करने मे मन्दराचल के समान थे, उस सेनारूपी समुद्र के, जिसमे पदाति-सेना की उत्ताल तरङ्गें उठ रही हों और जो हाथी तथा घोड़ों के भीषण जलजन्तुओं से भयानक हो रहा हो। वह राजा उस कीर्ति की सुगन्ध से सुरभित था, जो शरद् ऋतु के चन्द्रमा, कुन्दपुष्प, कपूर, तुषार, मुक्ताहार, मृणाल, हंस, ऐरावत, दुग्ध, शिवजी का अट्टहास, कैलाश या काश पुष्प के समान धवल है, जिसे इन्द्र की

---

१. इनके अतिरिक्त विनायक की पद्यबद्ध पूर्वपीठिका का सङ्केत एग्लिंग ने किया है, तथा प्रो० म० रा० कवि ने 'अवन्तिसुन्दरी कथा' को दण्डी की कृति घोषित कर उसे दशकुमारचरित की खोई हुई पूर्वपीठिका माना है।

पुरी मे वन-विहार करती हुई यौवनवती अप्सरायें बार-बार गाया करती हैं तथा जो समस्त दिशाओ के अन्तराल में व्याप्त है। वह राजहंस समस्त पृथ्वीरूपी रमणी के सौभाग्य का उपभोग करने वाला था; उस धरणी-रमणी का, जो सुमेरु पर्वत की चोटियों जितने बड़े-बड़े रत्नो से परिपूर्ण रत्नाकर (समुद्र) की मेखला से वेष्टित है। उसने अनवरत यज्ञ करके दक्षिणा के द्वारा अनेको विद्याओ से युक्त ब्राह्मणो को आश्रय दिया था। वह आकाश के मध्य मे स्थित सूर्य की भाँति अपने प्रताप से शत्रुओ को सन्तप्त करने वाला था, तथा समुद्धदर्प वाले कन्दर्प (कामदेव) के सौन्दर्य के समान रमणीय अनाविल रूप से सम्पन्न था। उसी राजा की पत्नी वसुमती थी, जो सुमती (सुन्दर बुद्धिवाली) थी तथा लीला से सम्पन्न सुन्दरियों के कुल की शेखरमणी (अग्रगण्य) रमणी थी।'

उपर्युद्धृत पंक्तियो मे एक साथ शाब्दी तथा आर्थी क्रीडा का संघात देखा जा सकता है, कीर्ति के एक, दो, तीन या चार उपमानों से कवि का मन नहीं भरा है, इसने जितने उसे याद थे वे सारे उपमान उपन्यस्त कर दिये हैं। आनुप्रासिक चमत्कार पद पद पर देखा जा सकता है, और 'वसुमती-सुमती' 'शेखरमणी-रमणी' वाली यमक की छटा भी पायी जाती है।

दण्डी के अपने मूल दशकुमारचरित में राजवाहन तथा उसके सात साथियों की कहानियाँ है। प्रथम उच्छ्वास में राजवाहन की कथा है तथा उसके साथी उसके पास आते हैं। अपने साथियों को बडे दिनो बाद पाकर वह उनसे अपने अनुभवों की कथा कहने का आदेश देता है। बाकी सात उच्छ्वासों में सात कुमारो की कहानियाँ हैं। सबसे पहली कहानी अपहारवर्मा का चरित है, जो सबसे लम्बा और सबसे जटिल एवं मनोरञ्जक है। इस कहानी मे हमारे सम्मुख अनेक विचित्र घटनाएँ और कई तरह के रोचक पात्र उपस्थित होते हैं। काममञ्जरी नामक गणिका नि सन्देह एक विचित्र पात्र है, वह तपस्वी मरीचि के आश्रम मे जाकर संन्यास लेने का ढोंग रचती है और स्वयं तपस्वी को अपने कर्तव्यमार्ग से च्युत कर देती है, इसके पहले वह वसुपाल नामक श्रेष्ठिपुत्र को भी ठग चुकी है और बेचारा वसुपाल जैन साधु बनने को बाध्य किया जाता है। जैन साधु के प्रसङ्ग में ही जैन धर्म की खिल्ली भी उड़ाई गई है। द्यूतगृह का अनुभव, चौरकर्म का वर्णन, जिसमे अपहारवर्मा ने दक्षता प्राप्त कर ली है,

चम्पा के कृपण श्रेष्ठियों का धन चुरा-चुरा कर उन्हें संसार की सम्पत्ति की नश्वरता का पाठ पढाना, आदि वर्णनो के द्वारा इस कथा में हास्य और व्यंग्य की अपूर्व विनियोजना की गई है। अपहारवर्मा गरीबों की सहायता के लिए धनवानों की चोरी करता है, प्रेमियों को परस्पर मिलाता है तथा नीचता, दुष्टता और धोखाधड़ी के शिकार बने लोगों को फिर से सुखी बना देता है। उपहारवर्मासे अगलीवाली कहानी इतनी रोचक नही है, पर उसमें भी घटनाओं और चरित्रों का अभाव नही है। इस कहानी में नायक के पिता के खोये हुए राज्य को प्राप्त करने की कहानी है। नायक चालाकी से राजा का वध कर देता है, रानी का विश्वासपात्र बनता है और मन्त्रसिद्धि से रूपपरिवर्तन का बहाना कर राजा बन जाता है। चौथी कहानी कुमार अर्थपाल की है, जो काशीराज के द्वारा पदच्युत पिता को पुनः मन्त्री बना देता है और राजकुमारी मणिकर्णिका के प्रेम को प्राप्त करता है। इस कथा मे सर्पविष को हटाने की योजना का प्रयोग किया गया है, जहाँ नायक राजकुमारी के सर्पविष को उतार देता है। अगली कहानी प्रमति की है, जिसमे स्वप्न में नायिका-दर्शन वाली कथानक रूढि का प्रयोग पाया जाता है। नायक श्रावस्ती की राजकुमारी नवमालिका को स्वप्न में देखता है। वह स्त्री की भूमिका धारण कर अन्तःपुर मे जाता है[१] और राजकुमारी से मिलता है। इसी कहानी में एक स्थान पर कुक्कुटों की लडाई का वर्णन किया गया है। इसके बाद छठी कहानी मित्रगुप्त की है, जो सुह्मदेव की राजकुमारी कन्दुकवती को प्राप्त करता है। इस कहानी मे अनेको समुद्रों और दूर देशों की यात्रा का वर्णन है। इसी में ब्रह्मराक्षस की कथानक रूढि (मोटिफ)[२] का भी प्रयोग किया गया है। एक ब्रह्मराक्षस उससे चार प्रश्न पूछता है[३] और अगर वह उसका उत्तर नही देगा तो वह उसे मार डालेगा। इन प्रश्नों के उत्तर में ही धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती तथा नितम्बवती

---

१. स्त्री की भूमिका में पुरुष को उपस्थित करने के 'मोटिफ' का प्रयोग मालतीमाधव में भी पाया जाता है।

२. यक्ष या ब्रह्मराक्षस के द्वारा प्रश्न पूछे जाने की कथानक रूढि बहुत पुरानी है, महाभारत में भी इस रूढि का प्रयोग हुआ है, यहाँ यक्ष युधिष्ठिर से प्रश्न पूछता है।

३. किं क्रूरं स्त्रीहृदयं किं गृहिणः प्रियहिताय दारगुणाः।
कः कामः सङ्कल्पः, किं दुष्करसाधनं प्रज्ञा ॥ (दश० षष्ठ उच्छ्वास पृ० २१७)

की कहानियाँ कही गई हैं। इन सभी कहानियों का साराश यही जान पडता है कि चालाकी से ही व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सकता है। सातवी कहानी मन्त्रगुप्त की है, जिसमे दण्डी ने चित्रकाव्य शैली का प्रयोग किया है। इस सारी कहानी मे मन्त्रगुप्त ओष्ठ्य वर्णों का उच्चारण नही करता, क्योकि प्रेयसी के रागोद्बोधक चुम्बनो तथा दन्तक्षतो ने उसके ओठो को विह्वल बना रक्खा है। इस कहानी की घटनाएँ कलिङ्ग तथा आन्ध्रप्रदेशो मे घटित होती हैं और आरम्भ मे मन्त्रगुप्त एक कापालिक सिद्ध से कलिङ्गराज कर्दन की पुत्री कनकलेखा को बचाता है।[१] कापालिक ने उसको यक्षों के द्वारा श्मशान में मँगवा लिया था और वह उसकी बलि देना चाहता था। इस कहानी में भी मन्त्रसिद्धि के द्वारा रूपपरिवर्तन वाली कथानक रूढि की योजना पाई जाती है,[२] जिसका प्रयोग उपहारवर्मा की कहानी मे भी है। अन्तिम कथा विश्रुत की है, जो दण्डी की अधूरी कहानी है। उत्तर पीठिका के लेखक ने इसे पूरा किया है इस कथा मे विश्रुत अपने आश्रयदाता विदर्भ के राजकुमार के खोये राज्य को पुन. प्राप्त करता है। वह भगवती दुर्गा की मूर्ति के रूप मे स्थित होकर अपनी इष्टसिद्धि करता है।

जैसा कि हम देखते हैं दशकुमारचरित मे भी मुख्य कथा मे कई अवान्तर कथाएँ पाई जाती हैं। जैसे अपहारवर्मा की कथा में एक ओर तपस्वी मरीचि तथा गणिका काममञ्जरी की कहानी है, तो दूसरी ओर जैन भिक्षु की आत्मकथा पाई जाती है। इसी तरह मित्रगुप्त की कथा मे धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती और नितम्बवती की कहानियाँ गूँथ दी गई हैं। इनके अतिरिक्त अन्य चरितकथाओं मे भी अन्य प्रासङ्गिक कथाएँ निबद्ध की गई हैं। दशकुमारचरित की कहानियो के तथ्यवादी वातावरण को देखकर कुछ विद्वानो ने तो यहाँ तक कल्पना की है कि इस कृति का लक्ष्य पञ्चतन्त्र आदि की कहानियों

---

१. कापालिक सिद्धों के द्वारा बलि के लिए नवयौवना कुमारियों के अपहरण की कथानक रूढि का प्रयोग कई कहानियों में मिलता है। भवभूति के मालती माधव में भी इसकी योजना पाई जाती है जहाँ कापालिक अघोरघण्ट मालती को बलि देने के लिए पकड़ ले जाता है।

२. मन्त्रसिद्धि के द्वारा रूपपरिवर्तन वाले 'मोटिफ' का प्रयोग कई लोककथाओं में मिलता है, इसके विवेचन के लिए दे० 'प्रोसीडिंग्ज आव् अमेरिकन फिलोसोफिकल सोसायटी' १९१७ पृ० १—४२ ब्लूमफील्ड का लेख।

की तरह कथा के व्याज से नीतिशास्त्र की शिक्षा देना है। पर यह मत अत्युक्तिपूर्ण होगा तथा दण्डी की कृति का लक्ष्य कोरी नीतिशास्त्र की शिक्षा को मानना स्वयं दण्डी के प्रति अन्याय होगा। कीथ के मत से दण्डी का एकमात्र लक्ष्य सहृदयों का अनुरञ्जन जान पड़ता है, भले ही उसने नीति-शास्त्र, राजनीति तथा कामशास्त्र का प्रकाण्ड अध्ययन इस कृति मे प्रदर्शित किया हो। दण्डी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने सामान्य लोक-कथाओं को लेकर काव्य की आभा से उद्दीपित कर दिया है और यह काव्य-शैली सुबन्धु और बाण तक में नहीं पाई जाती। सुबन्धु तथा बाण का खास ध्यान परिश्रमसाध्य रीति (शैली) की ओर अधिक है, पर दण्डी का ध्यान केवल अभिव्यञ्जना पक्ष की ओर नहीं है, वे कथा के विषय को कम महत्त्व नही देते। सुबन्धु ने एक छोटी-सी कहानी लेकर कला का आलवाल खड़ा कर दिया है, पर दण्डी के पास विषय की कमी नहीं है, और उनकी अभिव्यञ्जना शैली इतनी गठी हुई है कि वह विषय को साथ लेकर आगे बढ़ती है। सुबन्धु और बाण दोनों की कृतियों का रीतिपक्ष बड़ी तेजी से, बड़ी सज-धज से आगे बढ़ता है और विषय पीछे घसीटता रहता है, दोनों कदम-ब-कदम मिलाकर चलते नहीं दिखाई देते। दण्डी के दशकुमारचरित में कथा या विषय की यह दयनीय परिणति नहीं देखी जाती। सुबन्धु या बाण की तरह दण्डी किनरों या गन्धर्वों के अप्सरा-लोक, उडने वाले जादू के घोड़ों, आकाश से उतर कर पृथ्वी को चकाचौंध में डालती दैवी शक्तियों के आदर्श-लोक में नहीं घूमते, न वे महाश्वेता जैसी आदर्श नायिका या जाबालि जैसे त्रिकालदर्शी दिव्य महर्षि तक ही रहते हैं, वे इस जमीन पर चलते-फिरते हैं और यहां रहनेवाले अच्छे-बुरे; शिष्ट-अशिष्ट; पण्डित-मूर्ख, सब तरह के पात्रों से परिचय प्राप्त करते हैं और उन्हे उनके सच्चे रूप मे लाकर खड़ा कर देते हैं, वे काम के वशीभूत होते तपस्वी मरीचि, भोले तपस्वी को धोखा देने वाली काममञ्जरी,[१] पति को कुएँ में ढकेल कर विकृताङ्ग व्यक्ति के प्रति आकृष्ट होने वाली धूमिनी जैसी कुलटा पत्नी,[२] पतिव्रता नितम्बवती को धोखा-धड़ी से पातिव्रत्य

१. दशकुमारचरित द्वितीय उच्छ्वास (पृ० ७८–९१)
२. वही षष्ठ उच्छ्वास (पृ० २१८–२२०)

से च्युत कर उसका उपभोग करने वाले धूर्त कलह-कण्टक[1] की ही यथार्थता खुले रूप में नहीं रखते, अपितु चण्डवर्मा का वध करते अपहारवर्मा, यश को मगाने वाले तथा हत्या करने से नहीं डरने वाले मन्त्रगुप्त, समय पर चोरी, जुआरीपन सब कुछ करने वाले चरितनायकों के स्पष्ट रूप को रखने में भी नहीं हिचकिचाते। दण्डी की इसी यथार्थवादिता के कारण कुछ विद्वान् दशकुमारचरित को अश्लील घोषित करते हैं, पर भूलना न होगा कि दण्डी का 'मोटो' 'अश्लीलता अश्लीलता के लिए' नहीं है। यदि श्रीहर्ष और जयदेव अश्लील नहीं माने जाते, तो दण्डी अश्लील क्यों हैं? और देखा जाय तो जयदेव फिर भी अश्लील हैं, पर दण्डी का वर्णन भले ही अश्लील हो, उसका प्रतिपाद्य अश्लील नहीं है। संस्कृत साहित्य की यथार्थवादी शैली जो हमें दशकुमारचरित में मिलती है, वह छठी-सातवीं शती के भारतीय समाज का चित्र रखने में पूर्णतः समर्थ है, ठीक वैसे ही जैसे बालजाक, मोपासाँ या जोला के फ्रेंच उपन्यास या कहानियाँ उन्नीसवीं सदी के फ्रान्स का यथार्थवादी चित्र उपस्थित करने में समर्थ हैं। दण्डी की लेखनी बड़ी निर्ममता के साथ समाज के दोषों को अनावृत करती है और यदि इस दृष्टि से दशकुमारचरित का लक्ष्य किसी हद तक 'नीति' का उपदेश मान लिया जाय, तो अनुचित नहीं, पर उसे हर्तेल वाली सीमा तक बढ़ाना अनुचित होगा, और कीथ की तरह इसका लक्ष्य कोरा सहृदयानुरञ्जन भी घोषित करना ठीक नहीं जान पड़ता।

दण्डी की कथा का सच्चा रस मध्य वर्ग के यथार्थपूर्ण जीवन में है, जिसमें जादूगर, चञ्चल तपस्वी, जैन क्षपणक, राजकुमारियाँ, राज्यभ्रष्ट राजा, वेश्याएँ और कुट्टिनियाँ, नर्मव्यापार के दूतीकर्म करने में प्रवीण भिक्षुणियाँ, मृच्छकटिक के शर्विलक जैसे सिद्धहस्त चोर, रागाविष्ट उत्सुक प्रेमियों के विविध चरित्रों का जमघट पाया जाता है। देवताओं और तपस्वियों, राजाओं और महारानियों के पात्रों को दण्डी ने चित्रित किया है, पर उनको वह अपनी लेखनी की सच्ची आवाज न दे सका। ऐसा जान पड़ता है, दण्डी को इन सामान्य धरातल से ऊपर रहने वाले लोगों के प्रति उतना मोह नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि दण्डी आचारात्मक भित्ति के विरोधी हैं; किन्तु इस दृष्टि से दण्डी का आदर्श सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा व्यावहारिक

१. दशकुमारचरित षष्ठ उच्छ्वास (पृ० २३०-२३४)

(Practical) अधिक है। मानव-जीवन के तीन लक्ष्यों—धर्म, अर्थ और काम—की प्राप्ति मे यदि वे तीनों का उपार्जन एक साथ नही कर पाते, तो किसी भी एक को छोड़ देने में नहीं हिचकिचाते। उनके चरित्र अपने पिता-माता को कैद से भगा देने तथा काम और अर्थ का उपभोग करने के लिए धर्म की उपेक्षा (कुछ समय के लिए) कर सकते हैं। अपहारवर्मा ता चारों का राजकुमार है, वन नगर को लूटने की योजना बनाता है और गणिका के द्वारा ठगे गये वसुपालित को आश्वासन देता है, वह इसे पूरी तरह जानता है कि नगर में अनेक कृपण श्रेष्ठी रहते हैं। मित्रगुप्त मूर्ख राजा कर्दन का विश्वास-पात्र बन कर उसे सरोवर मे स्नान करने को फुसला कर उसका वध कर देता है और स्वयं राजा बन बैठता है। विश्रुत भी अपने आश्रय को पुनः राजा बनाने के लिए देवी दुर्गा तथा उसके मन्दिर को बहाना बनाकर धोखे से प्रचण्डवर्मा का छुरी से वध कर देता है। दशकुमारचरित में अलौकिक दिव्य पात्रों का संकेत भी प्रायः इसी तरह के दुष्कर्मों की पुष्टि के लिए किया गया है। मरीचि को आकृष्ट करने के लिए काममञ्जरी पितामह ब्रह्मा, शचीपति इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, बृहस्पति, पराशर जैसे देवताओं और ऋषियों को प्रमाण स्वरूप उपन्यस्त करती है। दण्डी ने तपस्वी और ब्राह्मण, राजा और श्रेष्ठी, गणिकाओं और उनके दूतीकर्म मे नियुक्त बौद्ध संन्यासिनियों पर गहरी फब्तियाँ कसी हैं। दण्डी के पात्र भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ पर विशेष जार देते हैं, वे दैव की दुहाई देते नहीं दिखाई देते। वैसे चोरी करते समय पकड़ा गया अपहारवर्मा, डाकुओं के द्वारा पकड़ा गया पूर्णभद्र अपनी विपत्ति का कारण दैव को घोषित करते हैं, किन्तु वे भी अपने साहस तथा उद्यम (पुरुषकार) से दैव को चुनौती देते देखे जाते हैं।

दण्डी के दशकुमारचरित के यथार्थवादी दृष्टिकोण का पूर्वपीठिका के आदर्शवादी दृष्टिकोण से भी स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है। दण्डी ने देवताओं और तपस्वियों की भी दुर्बलताओं को व्यक्त किया है, पर पूर्वपीठिका के लेखक के देवता यज्ञादि का उपयोग करनेवाले हैं, ब्राह्मणों को उसने पृथ्वी के देवता कहा है। राजपुरोहित के वर्णन में पूर्वपीठिका के लेखक ने पूर्ण पवित्रता की अभिव्यञ्जना की है तथा मातंग ब्राह्मण की कहानी भी उसे राजवाहन के सहायक के रूप मे चित्रित करती है, जो शिव की कृपा से पाताल का

स्वामी बनता है। पूर्वपीठिका मे कुमारो की वीरता या पुरुषार्थ पर इतना जोर नही दिया गया है, जितना दैव पर। मालवराज राजहंस पर शिव से प्राप्त शक्ति के कारण विजय प्राप्त करता है। दण्डी स्वय मार्कण्डेय के उस शाप की हँसी उड़ाता है, जिसके कारण अप्सरा सुरतमञ्जरी की मुक्तामाला के अपने ऊपर गिरने से ऋषि रुष्ट होकर उसे रजतशृङ्खला बनने का शाप दे देते हैं।[1] पूर्वपीठिका मे जल-पक्षी के शाप से शाम्ब दो मास तक पत्नी से वियुक्त रहता है। पूर्वपीठिका के कुमार दैव के आधीन पात्र है तथा ऋषि वामदेव और उनके शिष्य, राजहंस तथा अन्य कुमारों की रक्षा करते हैं, इसी तरह राजवाहन की विजय भी मातंग नामक ब्राह्मण के कारण होती है। साराश यह है *कि जैसा यथार्थवादी स्वर दण्डी के मूल भाग में मिलता है, वह पूर्वपीठिका मे नहीं मिलता।*

चरित्रचित्रण के अतिरिक्त दशकुमारचरित की दूसरी विशेषता हास्य तथा व्यंग्य का पुट है, जो आज के पाठक को अधिक आकृष्ट करता है। समस्त कृति मे अथ से इति तक, कुमारों के विचित्र अनुभवो का हास्यात्मक वातावरण निर्मित होता है, वे अपनी इष्टसिद्धि के लिए दृढ़निश्चय हैं और उसे प्राप्त करने के लिए नैतिक नियमो की पर्वाह नहीं करते। काममञ्जरी *के द्वारा तपस्वी मारीच और श्रेष्ठिपुत्र वसुपाल के ठगे जाने मे गहरा व्यंग्य* है। प्रथम उच्छ्वास मे रजतशृङ्खला की अप्सरा सुरतमंजरी के रूप मे परिवर्तित हो जाना पाठक को अद्भुत लगता है और दशकुमारचरित की भौतिक ढंग की कहानी मे यह अलौकिक का समावेश कथा को कुतूहल युक्त बना देता है। चम्पा के कंजूस श्रेष्ठियो को उनका धन चुरा चुरा कर नया सबक सिखाने की अपहारवर्मा की योजना मे गहरा हास्य है, और *मित्रगुप्त के द्वारा चन्द्रसेना* को एक ऐसा मन्त्रसिद्ध अनुलेपन देने के प्रस्ताव मे, जिसके लगाने से वह बन्दरिया-सी दिखाई देने लगे—हास्य और व्यंग्य की अपूर्व योजना है, पर चन्द्रसेना इस प्रस्ताव को ठुकरा देती है। रानी का वेष बना कर राजा विकटवर्मा को धोखा देने की उपहारवर्मा की योजना मे सुन्दर व्यंग्य है और इसका चरम रूप वहाँ मिलता है, जहाँ राजा विकटवर्मा उसे विश्वास दिलाने के लिए

---

१. दे० *दशकुमारचरित, प्रथम उच्छ्वास पृ० ८७-९१।*

शपथ लेता है, पर रानी के रूप में स्थित अपहारवर्मा उसे झिडकता ही रहता है :—

"शंकापन्नमिव किंचित्सविस्मयं विचार्य तिष्ठन्तमब्रवम् — 'ब्रूहि सत्यं भूयोऽपि मे भगवन्तं चित्रभानुमेव साक्षीकृत्य। न चेदनेन रूपेण मत्सपत्नीरभिरमयिष्यसि, ततस्त्वयीदं रूप संक्रामयेयम्' इति। स तदेव-देव्येवेयम्, नोपधिः' इति स्फुटोपजातसंप्रत्ययः प्रावर्तत शपथाय स्मित्वा पुनर्मयोक्तम् — 'किं वा शपथेन ? कैव हि मानुषी मां परिभविष्यति। यद्यप्सरोभिः संगच्छसे, संगच्छस्व कामम्। कथय कानि ते रहस्यानि। तत्कथनान्ते हि त्वत्स्वरूपभ्रंश.' इति।"

'शकित तथा विस्मित-से स्थित राजा से मैंने कहा—'अग्नि देवता को साक्षी बनाकर तुम मुझसे सच सच कहना। यदि तुम इस रूप से मेरी सौतों के साथ रमण न करोगे, तो मैं तुम्हारे रूप का परिवर्तन कर दूँगी'। राजा ने समझा कि यह महारानी ही है और कोई कपट की बात नहीं है, उसने एकदम विश्वास करके शपथ लेना शुरू किया। उसे शपथ लेते देख कर मैंने हँस कर फिर कहा 'अरे शपथ लेना व्यर्थ है ? मुझे कौन मानुषी (सौन्दर्य में) जीत सकती है ? यदि तुम किन्ही अप्सराओं के प्रति आकृष्ट हो, तो इच्छानुसार सगमन करो। मुझे यह तो बताओ कि तुम्हारा रहस्य क्या है। उसे कहने पर ही तुम्हारे रूप का परिवर्तन हो सकेगा।' और बेचारा मूर्ख विकटवर्मा अप्सराओ के साथ सगमन का व्यग्यार्थ नही समझ पाता, और उसका सदा के लिए रूप परिवर्तन कर अप्सराओ के पास भेज दिया जाता है, महारानी की भूमिका मे स्थित अपहारवर्मा उसका वध कर घृत के साथ आग में होम देता है।[१]

दशकुमारचरित के विषय तथा अभिव्यंजनाशैली के निर्वाह में जो संतुलन पाया जाता है, वह सस्कृत के किसी गद्यकाव्य मे नही मिलता। दण्डी की शैली और उसका स्वर विषय के अनुरूप बदलता जाता है, द्वितीय तथा पञ्चम उच्छ्वास के हास्य के हलके-फुलके वातावरण मे उसका रूप दूसरा है, विश्रुतचरित (अष्टम उच्छ्वास) के करुण चित्र को गभीरता को उपन्यस्त करने में दूसरा। अलग-अलग प्रसग के अनुकूल उसकी शैली बदलती रहती है। षष्ठ

१. "इति च्छुरिकया द्विधाकृत्य कृतमार्गं तस्मिन्नेव प्रवृत्तस्फीतसर्पिषी हिरण्यरेतस्यजूहवम्। दशकुमारचरित, तृतीय उच्छ्वास पृ० १६५।

उच्छ्‌वास की धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती तथा नितम्बवती की कहानियों की शैली अत्यधिक सरस तथा स्वाभाविक सरणि का आश्रय लेती है। दण्डी निश्चित रूप में भाषा के अधिपति हैं। वे सरल प्रवाहमय भाषा के सिद्ध प्रयोक्ता हैं और उनके सवाद सूक्ष्म और तात्त्विक होते हैं। दण्डी वैदर्भी रीति के सफल कवि हैं। वैसे वर्णनों में दण्डी के भी वाक्यों में यत्र तत्र समासान्त शैली मिल जाती है, पर वे शाब्दी या आर्थी क्रीडा के फेर मे अधिक नहीं फँसते, अभिव्यंजना की स्वाभाविकता और अर्थ की स्पष्टता की ओर दण्डी का खास ध्यान रहता है, और कभी-कभी शाब्दी या आर्थी क्रीडाओं का प्रयोग किया जाता है, पर वे प्रभावोत्पादकता या अर्थप्रतीति मे बाधक नहीं होतीं। नखशिखवर्णन तथा प्रकृतिवर्णन के लिए बाण की बहुत प्रशंसा की जाती है, पर दण्डी के ये वर्णन उस पैमाने के न होने पर भी असुन्दर नहीं हैं। द्वितीय उच्छ्‌वास का राजकुमारी के सौन्दर्य का वर्णन[1] तथा षष्ठ उच्छ्‌वास का गोमिनी के सौन्दर्य का वर्णन[2] सुन्दर हैं।

'रक्ततलांगुली यवमत्स्यकमलकलशाद्यनेकपुण्यलेखालाञ्छितौ करौ, समगुल्फसंधी मासलावशिरालौ चांध्री, जंघे चानुपूर्ववृत्ते ·········समविभक्तचतुरस्रः ककुन्दरविभागशोभी रथांगाकारसंस्थितश्च नितम्बभागः, तनुतरमीषन्निम्नं गंभीरं नाभिमण्डलम्, वलित्रयेण चालंकृतमुदरम्, उरोभागव्यापिनावुन्मग्नचूचुकौ विशालारंभशोभिनौ पयोधरौ, धनधान्यपुत्रभूयस्त्वचिह्नलेखालाञ्छिततले स्निग्धोदग्रकोमलनखमणी ऋज्वनुपूर्ववृत्तताम्रांगुली संनतांसदेशे सौकुमार्यवत्यौ निमग्नपर्वसन्धी च बाहुलते ··· ··· इन्द्रनीलशिलाकाररम्यालकपंक्तिद्विगुणकुण्डलितम्लाननालीकनाललुलितलम्बश्रवणपाशयुगलमाननकमलम्, अनतिभंगुरो बहुलः पर्यन्तेष्वप्यकपिलरुचिरायामवानेकैकनिसर्गसमस्निग्धनीलो गन्धग्राही च मूर्धजकलापः।' (षष्ठ उच्छ्‌वास)

'इसके करतल लाल हैं और उसमें यव, मत्स्य, कमल, कलश आदि अनेक समृद्धि-सौभाग्यसूचक रेखाएँ हैं। इसके दोनों पैर मांस से भरे हुए हैं, उनकी नस नहीं दिखाई देती और टखने के जोड़ एक-से भरे हुए हैं। इसकी पिंडलियाँ एक-सी सुडौल हैं।········ इसका कटिपश्चाद्भाग चारों ओर से अच्छी तरह गठा है, उनके बीच में ककुन्दर (नितम्बस्थित गड्ढा) है, तथा वह नितंबभाग रथ

१. दशकुमारचरित, द्वितीय उच्छ्‌वास (पृ० १२८–१३१)

२. वही षष्ठ उच्छ्‌वास (पृ० २२१–२२३)

के चक्र के समान विशाल है। इसका नाभिमण्डल छोटा, कुछ झुका हुआ और गहरा है, तथा उदर त्रिवलि से विभूषित है। इसके स्तन समस्त वक्षःस्थल पर व्याप्त हैं, और उठे हुये एवं विशाल हैं। इसकी दोनों बाँहें कोमल हैं। अंगुलियाँ लाल हैं, कंधे झुके हैं, नाखून कोमल तथा चिकने हैं और जोड़ भरे हुए हैं, इनके तल धन, धान्य, पुत्र आदि की समृद्धि की सूचना देने वाली सामुद्रिक रेखाओं से अलकृत हैं।.......इसका मुखरूपी कमल नीलम के समान सुन्दर घनी काली अलकपट्टिका से युक्त है, तथा उसने लम्बे-लम्बे कानो में कमल नाल को दुहरा करके कुण्डल की तरह खोंस रक्खा है और उससे उसके दोनो कान सुन्दर दिखाई दे रहे हैं। उसका सुगन्धित केशकलाप अधिक घुँघराला नहीं है, वह सघन और किनारों पर भी पूरा नहीं हो कर स्वाभाविक स्निग्ध नीलिमा से युक्त है।'

दण्डी के प्रकृति वर्णन भी सुन्दर बन पड़े हैं। दशकुमारचरित में सूर्योदय तथा सूर्यास्त के रमणीय चित्र हैं, भले ही उनमें बाण जैसी कल्पना-प्रचुरता तथा विषय के तत्तदंग का ब्यौरेवार वर्णन करने की पर्यवेक्षण शक्ति न हो। अपहारवर्मा के द्वारा किया गया सूर्योदय वर्णन अद्भुत है—

'चिन्तयत्येव मयि महार्णवोन्मग्नमार्तण्डतुरंगश्वासरयावधूतेव व्यवर्तत त्रियामा। समुद्रगर्भवासजडीकृत इव मन्दप्रतापो दिवसकरः प्रादुरासीत्।'

(तृतीय उच्छ्वास)

'जब मैं ऐसा सोच ही रहा था, तभी रात्रि नष्ट हो गई, जैसे समुद्र से तेजी से निकलते हुए सूर्यरूपी घोड़े के श्वास वायु के वेग ने उसे एक ओर उड़ा दिया हो और सूर्य प्रकट हुआ जो मन्द प्रताप वाला इसलिए दिखाई दे रहा था कि समुद्र के जल में निवास करने से उसका तेज ठंडा पड़ गया था।'

उत्प्रेक्षा अलकार के परिवेश मे लिपटा सूर्योदयवर्णन सुन्दर बन पड़ा है। दण्डी ने राजमार्ग, राजमहल, श्मशान, निर्जन महाटवी सभी के वर्णनो मे अपनी दक्षता का परिचय दिया है। षष्ठ उच्छ्वास के धूमिनी वृत्तान्त के अकाल का करुण भयकर वर्णन दण्डी की पर्यवेक्षण शक्ति का सकेत करता है—

'तेषु जीवत्सु न ववर्ष वर्षाणि द्वादश दशशताक्षः, क्षीणसारं सस्यम्, ओषध्यो वन्ध्याः, न फलवन्तो वनस्पतयः, क्लीबा मेघाः, क्षीणस्रोतसः स्रवन्त्यः पङ्कशेषाणि पल्वलानि, निर्निस्यन्दान्युत्समण्डलानि, विरलीभूतं कन्दमूलफलम्, अवहीनाः कथाः,

गलिताः कल्याणोत्सवक्रियाः, बहुलीभूतानि तस्करकुलानि, अन्योन्यमभक्षयन्प्रजाः, पर्यलुठन्नितस्ततो बलाकापाण्डुराणि नरशिरःकपालानि, पर्यहिण्डन्त शुष्काः काकमण्डल्यः, शून्यीभूतानि नगरग्रामखर्वटपुटभेदनादीनि।'[1]

'उनके जीवन मे एक बार बारह बरस तक वृष्टि न हुई, सारी फसलें निःसार हो गईं, ओषधियां निष्फल (बाँझ) हो गईं, वनस्पतियों ने फल देना बन्द कर दिया, बादल नपुंसक (निर्जल) हो गये, नदियों मे जल कम रह गया, तालाबों मे केवल कीचड़ रह गया, झरने सूख गये, कन्दमूल मिलना कठिन हो गया, लोगों का कथा सुनना बन्द हो गया, उत्सवादि गल गये, चोरों के झुण्ड के झुण्ड बढ गये, लोग एक दूसरे को खाने लगे, बगुलों के समान सफेद नरकपाल इधर उधर लोटने लगे, कौवे पानी की खोज में इधर-उधर घूमने लगे, और नगर, गाँव, छोटी बस्तियां सभी शून्य हो गईं।'

कापालिक सिद्ध का भयंकर वर्णन प्रभावोत्पादक बना है:—

'इति विदूनान्तहृदयः, किंकरगतया दिशा किंचिदन्तरं गतस्तरलतरनरास्थिशकलरचितालंकाराक्रान्तकायम् दहनदग्धकाष्ठानष्ठाङ्गाररजःकृताङ्गरागम्, तडिल्लताकारजटाधरम्, हिरण्यरेतस्यरण्यचक्रान्धकारराक्षसे क्षणगृहीतनानेन्धनग्रासचञ्चदर्चिषि दक्षिणेतरेण करेण तिलसिद्धार्थकादीन्निरन्तरचटचटायितान्किरन्तं कञ्चिदद्राक्षम्।'[2]

'तब उस सिद्ध को देखने की इच्छा से मैं ठीक उसी ओर चल पड़ा जिधर वे नौकर गये थे, कुछ दूर जाकर मैंने अति उज्ज्वल नरास्थियों के आभूषणोंसे अलंकृत शरीर वाले, अग्नि के द्वारा जलाये गये काष्ठ की भस्म का अंगराग वाले, बिजली के समान पीली जटा वाले और बायें हाथ से वन के सघन अंधकार का भेदन करते हुए अग्नि में—जिसमें नाना प्रकार के इंधन के जलाने से ज्वालाएं उठ रही थीं—चटचट करते हुए तिल, सरसों आदि को गिराते हुए किसी व्यक्ति को देखा।'

विश्रतचरित का राजनीति वाला उपदेश चाहे कादम्बरी के शुकनासोपदेश की तरह बडे पैमाने का न होगा, किन्तु अपनी सरल स्वाभाविक शैली के

---

१. दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छ्‌वास (पृ० २१८)
२. वही सप्तम उच्छ्‌वास (पृ० २१७)

लिए बेजोड़ है। अनन्तवर्मा को वसुरक्षित नामक वृद्ध मन्त्री के द्वारा दिया गया उपदेश निम्न है :—

'तथाप्यनवप्रतिपद्यात्मसंस्कारमर्थशास्त्रेषु, अनग्निसंशोधितेव हेमजातिर्नातिभाति बुद्धिः बुद्धिशून्यो हि भूभृदत्युच्छ्रितोऽपि परैरध्यारुह्यमाणमात्मानं न चेतयते। न च शक्तः साध्यं साधनं वा विभज्य वर्तितुम्। अयथावृत्तश्च कर्मसु प्रतिहन्यमानः स्वैः परैश्च परिभूयते। न चावज्ञातस्याज्ञा प्रभवति प्रजानां योगक्षेमाराधनाय। अतिक्रान्तशासनाश्च प्रजा यत्किंचनवादिन्यो यथाकथंचिद्वर्तिन्यः सर्वाः स्थितीः संकरेयुः। निर्मर्यादश्च लोकादितोऽमुतश्च स्वामिनमात्मानं वा भ्रंशयते। आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा। दिव्यं हि चक्षुर्भूतभवद्भविष्यत्सु व्यवहितविप्रकृष्टादिषु च विषयेषु शास्त्रं नामाप्रतिहतवृत्ति। तेन हीनः सतोरप्यायतविशालयोर्लोचनयोरन्ध एव जन्तुरर्थदर्शनेष्वसामर्थ्यात्। अतो विहाय बाह्यविद्यास्वभिषङ्गमागमय दण्डनीतिं कुलविद्याम्। तदर्थानुष्ठानेन चावर्जितशक्तिसिद्धिरस्खलितशासनः शाधि चिरमुदधिमेखलामुर्वीम्।'[1]

'तात, (यद्यपि तुम समस्त कलाओं में प्रवीण हो और उस क्षेत्र में तुम्हारी बुद्धि और लोगों से बढ़कर है तथापि), जब तक वह अर्थशास्त्र (राजनीति) में अपना संस्कार नहीं कर लेती, तब तक आग में न तपाये हुए सोने की तरह सुशोभित नहीं होती। बुद्धिशून्य राजा उन्नतिशील होने पर भी दूसरों के द्वारा आक्रान्त होने पर अपने आपको नहीं सँभाल पाता। वह साध्य तथा साधन का विभाग कर किसी कार्य को करने में समर्थ नहीं होता। निश्चित व्यवहार में दक्ष न होने के कारण प्रत्येक काम में असफल होकर वह अपने और दूसरों से तिरस्कृत होता है। लोग उसका अनादर करने लगते हैं और उसकी आज्ञा प्रजा के योगक्षेम में असफल रहती है। उसकी प्रजा अनुशासन को भग कर चाहे जो बकने लगती है, मनमानी करने लगती है, और राज्य की सारी स्थिति बिगड़ खड़ी होती है। अनुशासनहीन उच्छृङ्खल प्रजा अपने आपको तथा अपने राजा को भी इस लोक तथा परलोक दोनों से गिरा देती है। शास्त्ररूपी दीपक के द्वारा देखे गये मार्ग पर बिना किसी कष्ट के सुख से यात्रा की जा सकती है। शास्त्र एक ऐसा दिव्य नेत्र है, जो भूत, वर्तमान और भविष्यत्, नजदीक और ओट में छिपे हुए या दूर के पदार्थ सभी को बिना किसी रोक-

१. दशकुमारचरित, अष्टम उच्छ्वास (पृ० २५५–५६)

ठीक के देख पाता है। शास्त्ररूपी दिव्य नेत्र से हीन व्यक्ति लम्बे-लम्बे भौतिक नेत्रों के होते हुए भी अन्धा ही माना जायगा, क्योंकि वह पदार्थों का वास्तविक स्वरूप देखने के सामर्थ्य से रहित है। इसलिए बाहर की विद्याओं में दिलचस्पी छोड़कर तुम अपनी कुलविद्या दण्डनीति (राजनीति) का सेवन करो। इसका सेवन करने से तुम्हें समस्त शक्तियों (प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति, उत्साह-शक्ति) और सिद्धियों (प्रभुसिद्धि, मन्त्रसिद्धि, उत्साहसिद्धि) की प्राप्ति होगी और फिर तुम विना किसी विघ्न के अस्खलितशासन होकर आसमुद्र पृथ्वी का पालन करो।'

दण्डी के दशकुमारचरित में महदायुध, महदभिख्या, महदाशा, नावीचि, शासन्, अदशि जैसे रूप असावधानी के सूचक हैं, पर सम्भव है ये हस्तलेखों के कारण हों, फिर भी 'आलिंगयितुं,' ब्राह्मणब्रुवः,' 'एनमनुरक्ता' जैसे प्रयोगों को दण्डी ने स्वयं काव्यादर्श में ठीक नहीं माना है। दण्डी की शैली सरल, स्वाभाविक एवं स्फीत है, फिर भी कई स्थानों पर दण्डी ने भाषा को कलात्मक कृत्रिमता से जकड़ दिया है। सप्तम उच्छ्वास में दण्डी ने शाब्दीक्रीडा का प्रयोग किया है, जहाँ मित्रगुप्त की कथा में ओष्ठ्यवर्णों को नहीं आने दिया है।[1] किन्तु दण्डी इन कलाबाजियों में कम दिलचस्पी लेते हैं, और सम्भव है दण्डी की नैसर्गिक गद्यशैली ने ही उन्हें बाण या सुबन्धु की तरह पुराने पण्डितों के हाथों पूरा सम्मान न दिलाया। दण्डी ने आत्मचरितरूप कहानियों में कहीं भी परोक्ष-भूते लिट् का प्रयोग नहीं किया है, और इसका प्रयोग बीच-बीच में आने वाली उपकथाओं में हुआ है, पर कुमारों की उक्ति में दण्डी ने लङ् तथा लुङ् का ही प्रयोग किया है। दण्डी को लुङ् के प्रयोग करने का विशेष शौक है, जो उसके व्याकरणविषयक ठोस ज्ञान का प्रमाण है।

कुल मिलाकर दण्डी का विषय-चयन, शैली और अभिव्यञ्जना 'अति' के दोष से मुक्त हैं, उन्हें संयम तथा अनुपात का सदा ध्यान रहता है। यद्यपि दण्डी की शैली पञ्चतन्त्र वाली शैली की तरह अतिसरल नहीं है, तथापि उनकी शैली में परिश्रमसाध्य उबा देने वाली गुत्थियाँ नहीं हैं, दण्डी की शैली में न तो असंयत समासान्तपदावली, लम्बे-लम्बे अनियमित वाक्य ही हैं, न जटिल श्लेष-योजना, निरर्थक वर्णाडम्बर या दूरारूढ कल्पनाएँ ही। सुन्दरियों के वर्णनादि

---

१. स किल करकमलेन किञ्चिदसंवृतानननो ललितवल्लभारभसदत्तदन्तक्षतव्यसन-विह्वलाधरमणिनिर्व्रणीकरणायेव नतं वदनमुन्नमय्य निमील्यमानलोचनम् … ‍ष्ठ्यवर्णमात्मचरितमाचचक्षे। (दशकुमारचरित पृ० २११)

के प्रसङ्ग में दण्डी समासान्त-पदावली वाले लम्बे वाक्यों की विनियोजना करते हैं, किन्तु वहाँ भी ऐसे वाक्य अधिक नहीं होते, वे एक मुद्रित पृष्ठ से अधिक नहीं बढ़ पाते। इसका अर्थ यह नहीं कि दण्डी की शैली अनलंकृत है, भाव यह है कि दण्डी की प्रभावोत्पादकता उनकी संक्षिप्त, सूक्ष्म और संयत वर्णन शैली पर निर्भर है, जो निरवरोध धारा की भाँति न तो असयत ही है, न महती विन्ध्याटवी की भाँति थका देने वाली है। 'दण्डी सशक्त स्फीत संस्कृत गद्य शैली के अधिपति हैं, इसी के लिए उनको संस्कृत साहित्य में आदर प्राप्त है और उनकी कृति, जो एक सामाजिक चुनौती है, निःसन्देह संस्कृत गद्य साहित्य को महान् देन है।'[1]

---

1. Dasgupta and De : History of Sanskrit Literature.

महाकवि बाण

सुबन्धु ने जिस कृत्रिम गद्य-शैली को पल्लवित किया, उसका प्रौढ़ एवं स्निग्ध-रूप हमें बाण की गद्य-शैली में उपलब्ध होता है। सुबन्धु के ही मार्ग के पथिक होने पर भी बाण में कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें मजे से कालिदास, माघ या भवभूति के साथ रख देती हैं। यद्यपि कालिदास जैसी उदात्त भाव-तरलता बाण में भी नही मिलती, तथा सरल कोमल शैली के द्वारा उच्च कोटि के प्रभाव की सृष्टि करने में कालिदास समस्त संस्कृत साहित्य में बेजोड़ हैं, तथापि माघ और भवभूति के समान सानुप्रासिक समासान्त-पदावली का जितना सुन्दर निर्वाह बाण कर पाते हैं, उतना कोई अन्य गद्य-लेखक नही कर पाता। इस दृष्टि से बाण माघ और भवभूति से भी बढ़ जाते हैं, क्योंकि बाण के लम्बे लम्बे वाक्यों के विस्तीर्ण फलक पर एक-सी रेखाएँ, एक-सा रंग, एक-सी कलादक्षता का परिचय देना और कठिन हो जाता है, जो पद्य के छोटे से 'कैन्वस' पर मजे से निभाया जा सकता है। माघ तथा भवभूति की भाँति ही बाण में तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति है। प्रकृति का जो ब्योरेवार वर्णन हमें बाण में मिलता है, वैसा माघ तथा भवभूति में उसी पैमाने पर दिखाई नही देता, यह दूसरी बात है कि यह प्रकृतिवर्णन वहीं तक सुन्दरता का निर्वाह कर पाता है, जहाँ तक कवि प्राकृतिक दृश्यों का बिम्बग्रहण कराता जाता है, ज्यों ही वह श्लेष या विरोधाभास के चक्कर में फँस जाता है, वर्णन अपनी रमणीयता खो बैठता है। बाण की शैली में कविता की अतीव उदात्तभूमि के दर्शन होते हैं, पर दुःख यह है कि कहीं-कहीं गई बीती शताब्दी क्रीडावाली सुबन्धु की दयनीय परिणति भी दिखाई देती है, जो बाण की 'कादम्बरी' को कहीं कहीं तीखा बना देती है और काव्य-चषक का पान करते रसिक का गला कुछ-कुछ जल उठता है, अन्यथा उसमें माधुर्य का वह अजस्र स्रोत है, जो भोक्ता को 'समद' कर देता है।

बाण, संस्कृत साहित्य का अकेला ऐसा कवि है, जिसके जीवन के विषय में हमें पर्याप्त जानकारी मिली है। बाण ने स्वयं हर्षचरित के प्रथम तीन उच्छ्-

वालों तथा कादम्बरी की प्रस्तावना के पद्यों में अपना परिचय दिया है। ये वत्स गोत्र के ब्राह्मण थे तथा इनके एक पूर्वज का नाम 'कुबेर' था। कुबेर कर्म-काण्डी तथा श्रुतिशास्त्रसम्पन्न ब्राह्मण थे।[1] इनकी विद्वत्ता का परिचय देते हुए बाण ने बताया है कि अनेक छात्र इनके यहाँ यजुर्वेद तथा सामवेद का पाठ किया करते थे और पाठ करते समय वे स्थान-स्थान पर गलत उच्चारण करने के कारण घर में पाले हुए पिंजरे में बैठे हुए शुक-सारिकाओं के द्वारा टोक दिये जाते थे।[2] इन्हीं कुबेर के चार पुत्र थे, अच्युत, ईशान, हर तथा पाशुपत। पाशुपत के पुत्र अर्थपति थे तथा अर्थपति के ग्यारह पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें एक पुत्र चित्रभानु थे। बाण इन्हीं चित्रभानु के पुत्र थे तथा उनकी माता का नाम राजदेवी था।[3] बाण की माता का देहान्त बचपन में ही हो गया था, पिता की मृत्यु भी उसी समय हो गई, जब बाण केवल १४ वर्ष के ही थे। पिता की मृत्यु के बाद बाण स्वतन्त्र प्रकृति के हो गये और उच्छृङ्खल बनकर आवारा जीवन बिताने लगे। कुछ ऐसे ही आवारा लोगों के साथ उनकी दोस्ती हो गई, जिसमें भाषा कवि ईशान विद्वान् वारबाण तथा वासबाण, प्राकृतकवि वायुविकार आदि हैं।[4] बाण के इन मित्रों में सभी तरह के लोग थे, कुछ विद्वान् थे, तो कुछ उठाउगीर, कुछ नर्तक या नट थे, तो अन्य जादूगर। इन तरह-तरह के दोस्तों के साथ बाण ने अनेक देशों का पर्यटन किया। बाद में घर लौटकर उन्होंने विद्याध्ययन किया और अपनी कुलोचित स्थिति को प्राप्त किया। एक दिन बाण के पास महाराज हर्षवर्धन के भाई कृष्ण का पत्र आया और पता चला कि कृष्ण ने बाण को बुलाया है। बाण दूसरे दिन घर से रवाना हो गये। राजद्वार पहुँच कर वे सभा में गये। हर्ष ने उन्हें देखकर पूछा 'क्या यही बाण हैं?' और फिर अपने पीछे बैठे हुए मालवराजपुत्र से कहा 'यह बड़ा धूर्त (विट) है' (महानयं विटः)।

---

१. कादम्बरी पद्य १०—११

२. जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यत्र शङ्किताः॥ (काद० पद्य १२)

३. अलभत च चित्रभानुः तेषां मध्ये राजदेव्यभिधानायां ब्राह्मण्यां बाणमात्मजम्।
([illegible] प १ [illegible])

बाण ने इसे सुनकर कहा 'स्वामिन्, ससार मे लोगों का स्वभाव विचित्र होता है, इसलिए सज्जनों को सदा यथार्थदर्शी होना चाहिए। यदि मैं सचमुच दोषी हूँ, तो महाराज मुझे ऐसा कह सकते हैं। बिना किसी कारण मुझे आवारा समझना ठीक नही। मैं ब्राह्मण हूँ, मैंने सामवेदो का अध्ययन किया है, अन्य शास्त्रों का भी यथाशक्ति अवलोकन किया है। फिर महाराज ने मुझ मे 'विटत्व' कैसे पाया? महाराज स्वयं समय पर मेरी वास्तविकता जान जायेंगे।' हर्ष ने इसका उत्तर केवल यही दिया कि उसने ऐसा सुना था। बाण को राजसभा मे कोई आदर न मिला। वे बडे दुःखी हुए, पर बाद मे हर्ष की राजसभा मे उन्हें समुचित आदर प्राप्त हो गया। धीरे-धीरे वे हर्ष के विश्वासपात्र तथा स्नेहभाजन बन गये।[१]

इस प्रकार बाण का समय सातवीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। बाण के अतिरिक्त अन्य कई कवि हर्ष की राजसभा मे विद्यमान थे। सूर्यशतक या मयूरशतक के रचयिता मयूर कवि तथा 'भक्तामरस्तोत्र' नामक जैन स्तोत्र काव्य के कर्ता दिवाकर मानतुङ्ग भी बाण के साथ हर्ष की राजसभा में थे। एक किंवदन्ती के अनुसार तो बाण मयूर के जामाता थे और सूर्यशतक तथा चण्डीशतक की रचना के सम्बन्ध मे एक घटना सुनी जाती है। वह यह है कि एक बार मयूर अपने जामाता से मिलने के लिए प्रातःकाल उसके यहाँ गये। बाण की पत्नी रात भर 'मान' किये बैठी थी और प्रातःकाल के समय भी वह प्रसन्न न हुई। बाण उसे मनाने के लिए एक पद्य बना रहे थे जिसके तीन चरण तो बन गये थे, चौथा चरण न बन पाया। मयूर ने ये तीन चरण सुने और झट से चौथा चरण बना दिया। पूरा पद्य यों है :—

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्तदपि न जहासि क्रुधमहो
स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि ! कठिनम् ॥

'रात बीत चुकी है, क्षीणकान्ति चन्द्रमा जैसे मन्द होता जा रहा है, यह दीपक भी जैसे नींद के वश होकर तन्द्रिल हो रहा है। रमणियो का मान तभी तक बना रहता है, जब तक उनकी मनौती नहीं की जाती। मैं तुम्हें प्रणाम

१. हर्षचरित द्वितीय उच्छ्वास।

कर-कर मना रहा हूं, पर फिर भी तुम क्रोध नहीं छोड़ती।...... ऐसा प्रतीत होता है, हे चण्डी, तुम्हारा हृदय भी इसलिए कठोर हो गया है कि वह कठोर स्तनों से सम्बद्ध है।' मयूर के मुँह से चतुर्थ पंक्ति को सुनकर बाण क्रुद्ध हो गये, उन्होंने मयूर को यह शाप दे दिया कि वह कोढ़ी हो जाय। मयूर ने भी बाण को शाप दे दिया। कहा जाता है कि मयूर ने शाप की निवृत्ति के लिए सूर्य की स्तुति में सूर्यशतक की रचना की, और सूर्य की कृपा से उसका कोढ दूर हो गया। बाण ने भी अपने शाप को मिटाने के लिए चण्डी की स्तुति में चण्डीशतक की रचना की।

बाण की तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं: हर्षचरित नामक आख्यायिका कादम्बरी-कथा तथा चण्डीशतक।[१] क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचारचर्चा में पद्यबद्ध कादम्बरी का एक पद्य उद्धृत किया है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि बाण ने कादम्बरी कथा की पद्यात्मक रचना भी की थी, किन्तु यह भी संभव है कि बाण की कादम्बरी के आधार पर किसी अन्य कवि ने इसकी रचना की हो। बाण के नाम के साथ पार्वतीपरिणय नामक नाटक को भी जोड़ने की चेष्टा की जाती है, जो बाण की रचना न होकर वामनभट्ट बाण की रचना है, जिनका समय १७वीं शताब्दी माना जाता है। इसके अतिरिक्त नलचम्पू की टीका में चण्डपाल ने बाण के एक और नाटक का भी संकेत किया है— मुकुटताडितक। बाण का यह नाटक उपलब्ध नहीं है। बाण के उपलब्ध तीन ग्रन्थों में बाण की ख्याति का आधार हर्षचरित तथा कादम्बरी है। कादम्बरी तो बाण की उत्कृष्ट कलात्मक कृति है। कादम्बरी की रचना में बाण को गुणाढ्य की बृहत्कथा तथा सुबन्धु की वासवदत्ता से प्रेरणा मिली है और इन्हें पीछे छोड़ना बाण का लक्ष्य रहा है।[२]

---

१. चण्डीशतक में बाण ने दुर्गा की स्तुति में सौ स्रग्धरा छन्दों की रचना की है। इसकी शैली गाढबन्ध का परिचय देती है। इसका एक नमूना यह है:—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे,
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥ (चण्डीशतक)

२. द्विजेन तेनाक्षतकण्ठकौण्ठयया महामनोमोहमलीमसान्धया॥

हर्षचरित आख्यायिका है, कादम्बरी कथा। आख्यायिका तथा कथा का भेद बताते समय भामह ने बताया है कि आख्यायिका की कथावस्तु वास्तविक होती है तथा उसका वक्ता स्वयं नायक होता है। कथा का वर्णन सरस गद्य में किया जाता है। आख्यायिका कई उच्छ्वासों में विभक्त की जाती है तथा प्रत्येक उच्छ्वास के आदि या अन्त में भावी घटनाओं के सूचक पद्य होते हैं, जो वक्त्र या अपरवक्त्र छन्द में निबद्ध होते हैं। आख्यायिका में कवि अपनी कल्पना का समावेश कर सकता है तथा कथावस्तु का विषय कन्याहरण, युद्ध, वियोग तथा अन्त में नायक की विजय से सबद्ध होता है। आख्यायिका संस्कृत मे निबद्ध की जाती है। कथा में कविकल्पित निजधरी कथावस्तु होती है, इसका वक्ता नायक से इतर कोई व्यक्ति होता है। कथा में उच्छ्वास-विभाग नही होता, न वक्त्र या अपरवक्त्र पद्यो की विनियोजना ही होती है। कथा संस्कृत या अपभ्रंश किसी मे भी निबद्ध की जा सकती है।[१] इससे यह स्पष्ट है कि भामह के पूर्व ही आख्यायिकाएँ तथा कथाएँ लिखी गई थीं और वे बाण की रचनाओं से कुछ भिन्न शैली की रही होंगी। भामह का आख्यायिका तथा कथा का वर्गीकरण संभवतः बाद के कवियों और आलंकारिकों ने पूरी तरह नही माना था और दण्डी ने अपने काव्यादर्श मे आख्यायिका तथा कथा का कोई विशेष भेद नही माना। दण्डी के मतानुसार कहानी का कहने वाला कोई भी हो, नायक हो या अन्य कोई व्यक्ति, वह उच्छ्वासों मे विभक्त हो या न हो, उसमे वक्त्र या अपरवक्त्र छन्दों की योजना हुई हो या न हुई हो, इससे कोई मौलिक अन्तर नही आ जाता। वस्तुतः आख्यायिका तथा कथा दोनों एक ही गद्यशैली के अन्तर्गत आते हैं, वे अलग-अलग प्रकार नही हैं।[२] दण्डी के इस

---

१. भामह–काव्यालंकार १.२५–२८।

२. अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः।
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदारणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम् ॥
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं चापि भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि ॥

मत से यह संकेत मिलता है कि दण्डी के समय तक आख्यायिका तथा कथा का भामह वाला भेद मिट चुका था तथा कवि इन रूढ़ नियमों की पाबन्दी नहीं करते थे। कथा का लक्षण रुद्रट ने भी काव्यालंकार में दिया है। उसके मतानुसार कथा के आरम्भ में पद्य में देवता और गुरु की वन्दना हो, तब कवि अपने कुल का संक्षिप्त परिचय दे, तब सरस सानुप्रास लघ्वक्षर गद्य के द्वारा कथा का वर्णन करे। सबसे पहले एक कथान्तर का उपन्यास करे, जो प्रधान कथा को प्रस्तुत करे। इस कथा का प्रधान प्रतिपाद्य कन्याप्राप्ति होना चाहिए। इस प्रकार संस्कृत में गद्य के द्वारा तथा अन्य भाषाओं में पद्य के द्वारा कथा कही जानी चाहिए।[1]

भामह दण्डी तथा रुद्रट के मतों के देखने पर हम एक निष्कर्ष पर मजे से पहुँच सकते हैं कि आख्यायिका तथा कथा का खास भेद एक ही है और वह उनकी कथावस्तु की प्रकृति से संबद्ध है। आख्यायिका एक तथ्यपूर्ण (भूतार्थ) कथा को लेकर चलती है, जिसमें ऐतिहासिक, अर्धऐतिहासिक कथा या आत्मकथा पाई जाती है, जब कि कथा कल्पित या निजंधरी कथा वस्तु को आधार बनाकर चलती है। यह दूसरी बात है कि कथा की वर्णन शैली में कवि उत्तम पुरुष की पद्धति का प्रयोग भी कर सकता है, पर उसका मूल कल्पित कथा होती है। कथा की वास्तविक प्रकृति उसके कल्पित इतिवृत्त में ही है। रुद्रट ने अपनी परिभाषा संभवतः बाण की दो भिन्न-भिन्न प्रकार की

आर्यादिवत्प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः।
भेदश्च दृष्टो लंभादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः॥
तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥ (काव्यादर्श १. २३-२८)

१. श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरून्नमस्कृत्य।
संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात्स्वं च कर्तृतया॥
सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन।
रचयेत् कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन्॥
आदौ कथान्तरं वा तस्यां न्यस्येत् प्रपञ्चितं सम्यक्।
लघु तावत् सन्धानं प्रक्रान्तकथावताराय॥
कन्यालाभफलां वा सम्यक् विन्यस्य सकलशृङ्गारम्।
इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन॥

(रुद्रट: काव्यालंकार १६.२०-२३)

कृतियों के आधार पर निबद्ध की हैं। रुद्रट ने बाण की ही कृतियों की विशेषताएँ देखकर तत्तत् गद्यकाव्य के भेद के लक्षण उपन्यस्त कर दिये हैं। रुद्रट ने आख्यायिका के लिए यह आवश्यक नहीं माना है कि उसका वक्ता स्वयं नायक ही हो (जैसा कि भामह ने माना है), साथ ही प्रथम उच्छ्वास से इतर अन्य उच्छ्वासों के आरम्भ में दो आर्या छन्दों की योजना आवश्यक मानी है। इन आर्या छन्दों में समस्त उच्छ्वास की कथा की व्यंजना कराई गई हो, साथ ही प्रथम उच्छ्वास में पद्यबद्ध प्रस्तावना हो। रुद्रट के ये सभी लक्षण बाण के हर्षचरित में देखे जा सकते हैं। इसी तरह रुद्रट की कथा सम्बन्धी परिभाषा कादम्बरी के आधार पर निबद्ध की गई प्रतीत होती है। हर्षचरित की कथा ऐतिहासिक है, जिसमें कुछ कल्पना का भी पुट है, यह उच्छ्वासों में विभक्त है तथा इसका वक्ता स्वयं बाण है। कादम्बरी की कथा कल्पित है, उसका विभाजन किन्हीं उच्छ्वासादि में नहीं किया गया है तथा इसका प्रतिपाद्य कन्याप्राप्ति है; कथा को प्रस्तुत करने के लिए आरम्भ में कथान्तर की योजना भी पाई जाती है।

हर्षचरित

हर्षचरित आठ उच्छ्वासों में विभक्त आख्यायिका है, जिसमें कवि ने स्थाण्वीश्वर महाराज हर्षवर्धन के जीवन से सम्बद्ध कथा निबद्ध की है। कुछ विद्वानों ने हर्षचरित को ऐतिहासिक काव्य मान लिया है। यद्यपि हर्ष के ऐतिहासिक व्यक्तित्व से सम्बद्ध होने के कारण इस कृति को ऐतिहासिक मान लिया जाता है, तथापि बाण ने जिस शैली में कथा कही है, उसे देखने से ऐसा पता चलता है कि इसमें तथ्य तथा कल्पना—फैक्ट और फिक्शन—दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है। साथ ही हर्षचरित में भी कई लोक कथात्मक रूढ़ियों (फोक-टेल मोटिफ्) का प्रयोग किया गया है। आरम्भ में दधीचि तथा सरस्वती के प्रणय की गाथा, तृतीय उच्छ्वास में पुष्पभूति की कथा तथा अष्टम उच्छ्वास वाली मन्दाकिनी एकावली की कहानी इन रूढ़ियों में से कुछ हैं। ऐतिहासिक काव्यों में इस तरह की अलौकिक काल्पनिक कथाओं और रूढ़ियों का समावेश ही उसे कल्पना का क्षेत्र बनाकर अर्धैतिहासिक रूप दे देता है। बाद के संस्कृत चरितकाव्यों में इस प्रकार की काल्पनिक रूढ़ियाँ बहुत प्रयुक्त होने लगी थीं। दूसरी वस्तु जो हर्षचरित को प्रमुखतः काव्य बना देती है, वह

उसकी वर्णन शैली है। कवि का प्रधान ध्येय कल्पना के रङ्गीन ताने-बाने के द्वारा हर्ष का जीवनवृत्त बुनना भर है, यही कारण है, उसके जीवन से सबद्ध कथा-सूत्र पर उसका इतना ध्यान नहीं जान पड़ता और जब बाण की कल्पना बहुत लम्बी उड़ान ले चुकती है, तो वह हर्षचरित को एक अनिश्चित स्थान पर ही अधूरा छोड़ देता है। कादम्बरी को अधूरा छोड़ देने में बाण की असामयिक मृत्यु ही कारण है, किन्तु हर्षचरित मे केवल यही कारण जान पड़ता है कि कवि की कल्पनावृत्ति तृप्त हो चुकी थी।

हर्षचरित का प्रथम उच्छ्वास २३ पद्यों की प्रस्तावना से आरम्भ होता है जिसमें बाण ने अपने पूर्व के श्रेष्ठ कवियों व गद्य लेखकों की प्रशंसा की है, इस प्रस्तावना में महाभारत के रचयिता व्यास; वासवदत्ता के रचयिता (सम्भवतः सुबन्धु) तथा हरिचन्द्र के गद्य प्रबन्ध का श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। इनके अतिरिक्त शातवाहन के प्राकृत पद्य-समूह, प्रवरसेन के सेतुबन्धु, भास के नाटक तथा कालिदास की 'मधुरसान्द्र' कविता और गुणाढ्य की बृहत्कथा का आदर से नाम लिया गया है। इसी सम्बन्ध में बाण ने यह भी बताया है कि उदीच्य लोग काव्य में श्लेष अलंकार को अधिक पसन्द करते हैं, पाश्चात्य लोग अर्थ पर ध्यान देते हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा को पसन्द करते हैं और गौड देश के कलाकार अक्षराडम्बर में ही काव्य की रमणीयता मानते हैं।[1] पर बाण स्वयं इन सबके समूह को काव्य का गुण मानते हैं, वे यह चाहते हैं कि काव्य में नवीन अर्थ, सुसंस्कृत स्वभावोक्ति (जाति), सरल (अक्लिष्ट) श्लेष तथा रसप्रवणता हो, साथ ही विकटाक्षरबन्ध भी हो। इन सभी गुणों का एक साथ काव्य में समावेश अत्यधिक दुर्लभ है।[2] ऐसा जान पड़ता है कि बाण की शैली का आदर्श यही रहा है और इस आदर्श का स्फुट रूप हमें कादम्बरी की शैली में परिलक्षित होता है। सुन्दर अक्षरों की घटना से युक्त आख्यायिका की तुलना बाण ने एक स्थान पर उस सुखमय ललित शय्या से की है, जिसमें सोने के सोपान मार्ग बने हों। दूसरे स्थान पर कादम्बरी की ही भाँति कथा की तुलना नववधू से की गई है, जो किसी तरह सलज्ज पदन्यास से शय्या की ओर

१. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥ हर्षचरितः (१. ८)

२. हर्षचरित (१. ९)।

अवसर होती है।[१] डॉ॰ कीथ के मतानुसार बाण ने निम्न पद्य में अपनी कृति की रचना का उद्देश्य भी स्पष्ट किया है :—

आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि ।
जिह्वान्तः कृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते (१. १९)

'अपने हृदय मे स्थित उस महान् राजा के उत्साहों का केवल स्मरण करने पर ही मेरी जिह्वा इतनी रुक जाती है कि जैसे वे इसे कवित्व मे प्रवर्तित नही होने दे रहे हैं।' इस पद्य के द्वारा बाण ने एक ओर हर्ष के अपार गुणों की प्रशंसा की है, दूसरी ओर इस बात का सङ्केत किया है कि उसकी जिह्वा मे उन गुणों का वर्णन करने की शक्ति नहीं।

प्रथम उच्छ्वास में बाण ने सर्वप्रथम अपने वंश का परिचय दिया है। इसमें बाण ने वात्स्यायन गोत्र के ब्राह्मणों की उत्पत्ति का सङ्केत करते समय दुर्वासा के द्वारा सरस्वती को शाप दिये जाने की कथा निबद्ध की है। शाप के कारण सरस्वती मर्त्यलोक मे अवतार लेती है तथा सरस्वती के साथ सावित्री भी पृथ्वी मे आती है। वे दोनो एक नद के किनारे लतामण्डप मे बैठी थीं कि उधर से एक अठारह वर्ष का युवक घोड़े पर सवार होकर निकला, उसके साथ कई सैनिक थे। उसने सरस्वती को देखा तथा वे दोनों एक दूसरे के प्रति मोहित हो गये। यह कुमार च्यवन ऋषि का पुत्र दधीचि था। सरस्वती तथा दधीचि की प्रणय गाथा को प्रथम उच्छ्वास मे बड़े विस्तार से वर्णित किया गया है तथा सावित्री और दधीचि के मित्र विकुक्षि के प्रयत्न से दोनों का मिलन हो जाता है। सरस्वती की वियोगक्लान्त दशा का वर्णन करने मे बाण की लेखनी ने कलात्मकता का पूरा परिचय दिया है।[२] इसके बाद दोनों मिलते हैं तथा सरस्वती गर्भवती होकर सारस्वत नामक पुत्र को उत्पन्न करती है। सारस्वत का लालन-पालन एक ऋषिपत्नी अक्षमाला करती है और उसका पुत्र वत्स भी

---

१ हर्षचरित (१. २१—२३)

२. स्वप्नासादितद्वितीयदर्शना च आकर्णाकृष्टकार्मुकेण मनसि निर्दयमताडयत मकरकेतुना। अतिदुःखाया मदनशरताडितायाश्च तस्या वार्तामिव चपलकुमारतिः आजगाम। तथा हि, ततः प्रभृति कुसुमधूलिधवलिताभिर्वनलताभिः अताडितापि वेदनामधत्त। मन्दमन्दमारुतविधुतैः कुसुमरजोभिः अदूषितलोचनाऽपि अश्रुजलं मुमोच। हंसपक्षतालवृन्तचयविधुतैः शोणशीकरैरसिक्ताऽपि आर्द्रतामगात्।

हर्षचरित (प्रथम उच्छ्वास)

सारस्वत के साथ ही खेलता-कूदता, लिखता-पढ़ता बड़ा होता है। इसी के वंश में बाण के पूर्वज कुबेर पैदा होते हैं, जिनके कई पीढी बाद चित्रभानु पैदा होते हैं और उनके बाण नामक पुत्र उत्पन्न होता है। इसी सम्बन्ध में बाण ने अपने आवारापन का भी सङ्केत किया है।

द्वितीय उच्छ्वास में बाण को कृष्ण का पत्र मिलता है और वह राजा के दर्शन के लिए अपने गाँव से रवाना होता है। द्वितीय उच्छ्वास के आरम्भ मे ग्रीष्म की प्रचण्डता का वर्णन[1] तथा बाद में राजद्वार का वर्णन[2] अत्यधिक अलंकृत और कलात्मक है। बाण की समासान्तपदावली का एक रूप यहाँ देखा जा सकता है। बाण को पहले तो राजसभा में कोई आदर नहीं मिला, किन्तु बाद मे वे राजा के विश्वासपात्र बन जाते हैं। तृतीय उच्छ्वास में यह वर्णन है कि बाण कुछ दिनों बाद अपने गाँव लौटते हैं, और उसके भाई उन्हें हर्ष का जीवनचरित्र कहने को कहते हैं। बाण हर्ष का चरित्र वर्णित करते हैं। इस उच्छ्वास से स्थाण्वीश्वर का विस्तार से अलंकृत वर्णन है,[3] तथा उसके राजाओ के कुल का वर्णन करते हुए एक काल्पनिक अर्धैतिहासिक राजा पुष्पभूति का सङ्केत किया गया है, जो हर्ष का पूर्वज था। यहीं पुष्पभूति तथा भैरवाचार्य नामक शैव योगी का सुन्दर वर्णन पाया जाता है।

हर्षचरित की वास्तविक कथा चतुर्थ उच्छ्वास से आरम्भ होती है। प्रभाकरवर्धन का वर्णन करते समय बाण ने उसके शौर्य और पराक्रम से संबद्ध घटनाओं को नहीं लिया है। आरम्भ मे राजमहिषी यशोवती के स्वप्न का वर्णन है, जिसमें वह सूर्यमण्डल से निकल कर आते दो कुमारों तथा एक कुमारी को उदर मे प्रविष्ट होते देखती है। बाद में यशोवती के प्रथम प्रसव

---

१. हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास पृ० ११६-१२८ (कलकत्ता संस्करण)

२. हर्षचरित द्वितीय उच्छ्वास पृ० १५२ १६३.

३. तत्र··· पद्मासनस्थितमक्षर्षिध्यानाधीयमानसकलकलाकुशलप्रशमः प्रथमोऽवतार इव ब्रह्मलोकस्य, कलकलमुखरमहावाहिनीशतसङ्कुलो विक्षेप इव उत्तरकुरूणाम्, ईश्वरमार्गणसन्तापानभिज्ञसकलजनो विजिगीषुरिव त्रिपुरस्य, सुधारससिक्तधवलगृहपङ्क्तिपाण्डुरः प्रतिनिधिरिव चन्द्रलोकस्य, मधुमत्तमत्तकाशिनीभूषणरवभरितभुवनो नाभाभिहार इव कुबेरनगरस्य स्थाण्वीश्वराख्यो जनविशेषः।

(हर्षचरित तृतीय उच्छ्वास पृ० १६७-१६८)

का संकेत मिलता है। राज्यवर्धन के जन्म के बाद हर्ष तथा राज्यश्री के जन्म का वर्णन तथा मौखरि गृहवर्मा के साथ राज्यश्री के विवाह की घटना निबद्ध की गई। इसी उच्छ्वास में राज्यवर्धन के हूण विजय के लिए प्रस्थान का वर्णन है, हर्ष भी उसके साथ जाता है, किन्तु वह बीच में मृगया के लिए रुक जाता है। इसी बीच हर्ष को अपने पिता की बीमारी की सूचना मिलती है। वह राजधानी को लौटता है, पर उस समय पिता की दशा अत्यधिक शोचनीय थी। इधर प्रभाकरवर्धन की मरणासन्न अवस्था को देखकर देवी यशोवती पहले से ही नदी के तीर पर चिता में सती होना चाहती है, *हर्ष उसे रोकना चाहता है, पर वह पति के वियोग के पूर्व ही इस* संसार से बिदा हो जाना चाहती है। हर्ष किसी तरह इस मातृवियोग को सहता है। *उधर प्रभाकरवर्धन भी पञ्चत्व को प्राप्त हो जाता है।* षष्ठ उच्छ्वास में राज्यवर्धन हूणों पर विजय प्राप्त कर वापस लौट जाता है, वह राज्यभार हर्ष को सौंपना चाहता है, पर इसी बीच यह समाचार मिलता है कि मालवराज ने गृहवर्मा को मार डाला है तथा राज्यश्री को बन्दी बना लिया है। राज्यवर्धन भण्डि को दश हजार घोड़ों को तैयार करने की आज्ञा देकर मालवराज पर चढ़ाई करने को प्रस्थान करता है। हर्ष घर पर ही रहता है। इसी बीच यह खबर मिलती है कि राज्यवर्धन ने मालवराज पर तो विजय प्राप्त कर ली थी, किन्तु लौटते समय वह गौडाधिप के द्वारा मारा गया। हर्ष उसी समय युद्ध घोषणा करना चाहता है, किन्तु सेनापति सिंहनाद के कहने पर वह कुछ समय के लिए रुक जाता है।

सप्तम उच्छ्वास में हर्ष के सेनाप्रयाण का विस्तार से वर्णन है।[१] प्राग्ज्योतिप (आसाम) के राजा का एक दूत हर्ष के पास आकर उसे दिव्य

१. अथ प्रस्थिते राजनिकलकलन्नस्तदिङ्नागत्कारव इव इतस्ततस्ततस्तारतारतरः तूर्याणां प्रतिध्वनिः आघातेषु। दिग्गजेभ्यः प्रकुपितानां त्रिमदनुननां करिणां मदप्रस्रवण-वीथीभिः अलिकुलकालिभिः कालिन्दीवेणिकासहस्राणि इव सस्यन्दिरे। सिन्दूररेणुराशिभिः अरुणायमानाबिम्बे रवौ अस्तमयसमयं शशङ्किरे शकुनयः। करिणां षट्पदकोलाहलमांसलैः कर्णतालनिःस्वनैः निरोदधिरे दुन्दुभिध्वनयः।......अश्वीयश्वासनिक्षिप्तैः शिशिन्दे सिन्धु-वारदामशुचिभिः निरन्तरं अन्तरिक्षं फेनपिण्डैः। पिण्डीभूतनगरन्लवकपाण्डुराणि पयुरिव परस्परसंघट्टनष्टाष्टदिशं दिवसं उच्चचामीकरदण्डानि आतपत्रवनानि। रजोरजनीनिमीलितो मुकुटमणिशिलावलीबालातपेन बिबकास चामरः॥ हर्षचरित (सप्तम उच्छ्वास) पृ०७४०-४१

आतपत्र भेंट करता है तथा इसी सम्बन्ध मे छत्र की दैवी उत्पत्ति की काल्पनिक कथा पाई जाती है कि वह छत्र वरुण का था, जिसे नरक नामक राजा ने वरुण से छीन लिया था। वही छत्र वंश-परम्परा से भगदत्त को प्राप्त हुआ और उसके कई पीढी बाद प्राग्ज्योतिषेश्वर को प्राप्त हुआ है। प्राग्ज्योतिष के राजा ने मित्रता के प्रतीक रूप मे उसे हर्ष को भेंट किया है। अष्टम उच्छ्वास में हर्ष विन्ध्याटवी पहुँचता है तथा निषाद के साथ राज्यश्री को ढूँढने के लिए वन मे निकल पडता है। वे दोनो ऋषि दिवाकरमित्र के आश्रम मे पहुँचते हैं। दिवाकर मित्र के तपोबल का वर्णन करने मे बाण ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है। दिवाकरमित्र के आश्रम-वर्णन की तुलना हम कादम्बरी के जाबालि ऋषि के आश्रम-वर्णन से कर सकते हैं।[1] हर्ष दिवाकरमित्र से राज्यश्री के विषय मे पूछता है। इसी बीच एक भिक्षु आकर किसी स्त्री की चिता में जलने की तैयारी की सूचना देता है। हर्ष दौडता है और ठीक समय पर जाकर राज्यश्री को चिता में जलने से बचा लेता है। राज्यश्री दुःखी जीवन का अन्त कर देना चाहती है, पर दिवाकरमित्र उसे समझा-बुझा देते हैं और राज्यश्री को लेकर हर्ष लौट आता है।

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हर्षचरित को 'ऐतिहासिक काव्य' कहना कुछ ठीक नही जान पड़ता। हर्षचरित की प्रकृति मूलत. गद्य काव्य की है तथा केवल ऐतिहासिक कथावस्तु के चुनने के ही कारण यह ऐतिहासिक इसलिए नही माना जा सकता कि हर्षचरित की शैली, आत्मा तथा 'टेकनीक' सभी एक 'रोमैण्टिक' कहानी का रूप लेकर आती है।

कादम्बरी

कादम्बरी की कथा पूर्णतः कल्पित और निजंधरी है तथा इसका प्रतिपाद्य कन्यालाभ है। इसे 'कथा' कोटि के गद्य काव्य मे माना जायगा, जिसका संकेत हम कर चुके हैं। हर्षचरित की ही भाँति कादम्बरी भी अधूरी ही छोड दी गई थी। मृत्यु के कारण बाण इसे पूरा न कर पाये और उनके पुत्र भूषण (अथवा पुलिंद) ने इसके उत्तरार्ध को पूर्ण किया। कादम्बरी इसीलिए दो भागो मे विभक्त है, पूर्वार्ध बाण की कृति है, उत्तरार्ध उनके पुत्र की उत्तरार्ध में भी अलग से पद्यमय प्रस्तावना है। अवशिष्ट भाग का निर्वाह

---

१. दे० हर्षचरित (अष्टम उच्छ्वास) पृ० ८९४–९१, कादम्बरी, पृ० ८३–८९,

करने में बाण किस शैली का आश्रय लेते इसका कोई संकेत हमे नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने तो उत्तरार्ध के उपसंहार को भी दोषपूर्ण माना है तथा कुछ लोगो का यह भी सन्देह है कि क्या बाण स्वय शूद्रक को चन्द्रापीड़ का इस जन्म का अवतरण मानना चाहते थे। पर जहाँ तक बाण की कथा के उपसहार का प्रश्न है, यह सदेह निराधार जान पडता है। बाण ने पहले से ही कथा की रूपरेखा अवश्य बना ली होगी और तीसरे जन्म मे पुराने प्रेमियों का मिलाप करा देना उनका ही प्रतिपाद्य रहा होगा। स्वय बाण-पुत्र ने इसका संकेत किया है।[1] जहाँ तक वर्णन शैली का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि बाण के पुत्र ने कथा को कुछ तेजी से समेट लिया है, संभवतः बाण प्रतिपाद्य तक मन्द गति से बढते, और पता नही कितने वर्णनो, कितनी कल्पनाओं, कितनी सानुप्रासिक समासान्त वाक्यततियो के बाद कथा कही अपने लक्ष्य की ओर मुडती। जहाँ तक अलंकृत शैली का प्रश्न है, बाण का पुत्र अपने पिता के कई गुणो का प्रदर्शन करता है, किन्तु बाण की कई शाब्दी कलाबाजियाँ भी यहाँ दिखाई पडती हैं, जिनमे पुत्र ने अपनी कलाबाजियो को और जोड़ दिया है। उत्तरार्ध के आरम्भ में उसने कादम्बरी को पूरा कराने का केवल एकमात्र कारण यह बताया है कि कादम्बरी को अधूरी देखकर सज्जन व्यक्ति दुःखी हो रहे थे और पिता उसे अधूरी ही छोड़ गये थे, अतः सज्जनों को प्रसन्न करने के लिए इस कथा को पूरा किया गया है, इसमें बाणतनय का कोई 'कवित्वदर्प' कारण नहीं।

> याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
> दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य प्रारब्ध एव स मया न कवित्वदर्पात्॥

बाणतनय के पास पिता की भाँति कल्पना का अपार भाण्डार, अनुप्रासों की लड़ी पर लड़ी, वर्ण्य विषय की हर बारीकी को देखने की पर्यवेक्षणशक्ति नही दिखाई पड़ती, बाण की शैली के साथ उत्तरभाग की शैली की तुलना करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इतना होते हुए भी कई स्थानों पर

---

१. बीजानि गर्भितफलानि विकासभाञ्जि। वप्त्रैव यान्युचितकर्मबलात्कृतानि॥
उत्कृष्टभूमिविततानि च यान्ति पुष्टिं। तान्येव तस्य तनयेन तु संहृतानि॥
(कादम्बरी उत्तरभाग ८)

बाण-तनय की शैली में कलात्मकता का चरम परिपाक दिखाई देता है।[१]

कादम्बरी की कथा में चन्द्रापीड तथा पुण्डरीक दोनों नायकों के तीन-तीन जन्म की कहानियाँ है। बाण की स्वय की रचना को देखते हुए पूर्व भाग इस कथा के पूर्णत. विकसित होते-होते ही समाप्त हो जाता है। आरम्भ मे विदिशा के राजा शूद्रक का विस्तार से वर्णन है, जिसके दरबार मे एक चाण्डालकुमारी मनुष्य के समान बोलनेवाले शुक को लेकर आती है, और वैशम्पायन नामक शुक के मुख से कादम्बरी की कथा कहलाई गई है। तोते के मुँह से कथा के कुछ अश को कहलवाने की कथानक रूढि का प्रयोग हमे वासवदत्ता मे मिलता है, तथा बाद मे भी लोककथाओ मे पाया जाता है।[२] कादम्बरी मे कथा में कथा की योजना करने की रूढि का प्रयोग मिलता है। शुक की कथा के अन्तर्गत जाबालि के द्वारा कही गई चन्द्रापीड तथा वैशम्पायन की कथा आती है और उसके बीच फिर महाश्वेता के द्वारा कही गई महाश्वेता तथा पुण्डरीक की प्रणयगाथा है। महाश्वेता से मिलने पर चन्द्रापीड कादम्बरी का दर्शन करता है, और कादम्बरी तथा चन्द्रापीड दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं।

---

१. बाणतनय की शैली के उत्कृष्ट स्थलों मे एक स्थल यह है :—

स तु मामुपसृत्यान्यदृष्टिरदृष्टपूर्वोऽपि प्रत्यभिजानन्निव, असंस्तुतोऽपि चिरपरिचित इव, असंभाविनोऽप्युपारूढप्रौढप्रणय इव, अस्तिग्धोऽपि परवानिव, प्रेम्णा शून्योऽपि किमप्यनुस्मरन्निव, दुःखिताकारोऽपि सुखायमान इव, तूष्णीमपि स्थितः प्रार्थयमान इव, अपृष्टोऽप्यावेदयन्निवात्मीयमेवावस्थाम्, अभिनन्दन्निव, अनुशोचन्निव, हृष्यन्निव, कुप्यन्निव, विषीदन्निव, विस्म्यदिव, अभिभवन्निव, हृत इव, अकांक्षन्निव, अनुस्मरन्निव विस्मृतम्, अनिमिषेण निश्चलस्तब्धपक्ष्मणान्तर्बाष्पपूराद्रेण कर्णान्तचुम्बिना विकसितेनेवामुकुलिततारकेण चक्षुषा मत्त इवाविष्ट इव विमुक्त इव पिबन्निवाकर्षन्निवान्तविशन्निव च सुचिरमालोक्याब्रवीत्। (कादम्बरी-उत्तरभाग पृ० ६१०—११)

२. अपभ्रंश में ऐसे कई बोलते पक्षी पाये जाते हैं, जो कथा के कुछ अंश के वक्ता के रूप में सामने आते हैं। मुनि कनकामर के करकण्डुचरिउ (करकण्ड चरित) में तो एक तोता ठीक बाण के वैशम्पायन की ही तरह दिखाई देता है। वैशम्पायन की तरह ही ऋषियों के आश्रम में भी रहा है तथा उसने शास्त्रों का अध्ययन किया है। बाण के शुक की भाँति वह भी राजसभा में आकर चरण उठा कर राजा को आशीर्वाद देता है।

(दे० कनकामर—करकण्डचरित परिच्छेद आठ पृ० ७४)

कादम्बरी तथा चन्द्रापीड का प्रणय, जो कथा का वास्तविक केन्द्र है, कादम्बरी कथा मे बहुत बाद उपन्यस्त किया जाता है, तथा इसके पहले कि उनका प्रणय सफल हो, चन्द्रापीड को उज्जयिनी लौट आना पड़ता है। ताम्बूलकरक-वाहिनी पत्रलेखा चन्द्रापीड के पास आकर कादम्बरी का सन्देश देती है और यही बाण का पूर्वभाग समाप्त हो जाता है। उत्तरभाग मे चन्द्रापीड कादम्बरी से मिलने रवाना होता है, वह महाश्वेता के पास पहुँचता है। महाश्वेता से उसे अपने मित्र वैशम्पायन की विपत्ति का पता चलता है। वैशम्पायन महाश्वेता को देखकर मोहित हो जाता है तथा एकान्त मे प्रणय का प्रस्ताव रखता है। तपस्विनी महाश्वेता उसे शाप दे देती है और वह तोता बन जाता है। इधर मित्र की विपत्ति को सुनकर चन्द्रापीड भी देहत्याग कर देता है। कादम्बरी आकर विलाप करती है। चन्द्रापीड का शरीर मृत्यु के बाद भी निर्विकार बना रहता है। तारापीड और देवी विलासवती पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर अत्यधिक उद्विग्न होते हैं। जाबालि की कथा यही समाप्त हो जाती है। बाद मे शुक (पुण्डरीक) को ढूँढ़ता हुआ उसका मित्र कपिञ्जल जाबालि के आश्रम मे आता है, तथा अपने मित्र को इस दशा मे देखकर बड़ा दुःखी होता है। एक दिन शुक जाबालि के आश्रम से उड़ निकलता है और किसी चाण्डाल के द्वारा पकडा जाता है, वह उसे अपनी पुत्री को दे देता है। यह चाण्डाल कन्या ही उसे शूद्रक के पास लेकर आती है। शुक स्वयं इसके बाद का वृत्तान्त नही जानता तथा वह उसे यहाँ क्यो लाई है, इसे भी नही जानता। तब चाण्डाल कन्या अपना वास्तविक परिचय देते हुए बताती है कि वह पुण्डरीक की माता लक्ष्मी है, तथा पुण्डरीक ही उस जन्म का वैशम्पायन तथा इस जन्म का शुक है। शूद्रक स्वयं पिछले जन्म मे चन्द्रापीड था और उसके पूर्व स्वयं भगवान् चन्द्रमा जिसे मदनज्वालादग्ध पुण्डरीक ने शाप दे दिया था। इतना कहकर लक्ष्मी अन्तर्धान हो जाती है। लक्ष्मी के जाने पर शूद्रक और शुक भी अपना यह शरीर छोड देते हैं। चन्द्रापीडका शव पुनर्जीवित हो जाता है, आकाश से पुण्डरीक उतरता हुआ दिखाई देता है। महाश्वेता तथा पुण्डरीक और कादम्बरी तथा चन्द्रापीड का मिलन होता है, और वे कभी चन्द्रलोक मे तथा कभी मर्त्यलोक में विहार करते विविध सुखों का उपभोग करते हैं।[1]

---

१. " न केवलं चन्द्रमाः कादम्बर्या सह, कादम्बरी महाश्वेतया सह, महाश्वेता पु

बाण को अपनी कथा की कल्पना बृहत्कथा के राजा सुमनस् (या सुमानस) की कहानी से मिली होगी, तथा उसी की भाँति शाप और पुनर्जन्म की कथानक रूढ़ियों का प्रयोग कादम्बरी मे किया गया है। किन्तु बृहत्कथा की कथा को ज्यों का त्यो नही लिया गया है तथा दोनो कथाओ का उपसंहार भिन्न-भिन्न प्रकार का है। कथा के अन्दर दूसरी कथा की योजना सम्भवतः बृहत्कथा की ही पद्धति है। इसी पद्धति का प्रयोग पञ्चतन्त्र की नीतिकथाओं में भी मिलता है। कथासरित्सागर में भी इस कथा-शृंखला की शैली पाई जाती है, जहाँ क के द्वारा ख की कथा, ख के द्वारा ग की कथा तथा ग के द्वारा घ की कथा सुनाई जाती है और एक कथा दूसरी कथा में इतनी घुल-मिल जाती है कि पाठक कभी-कभी तो खास कहानी को बिलकुल भूल जाता है। पञ्चतत्र मे इसी पद्धति में थोडा हेर-फेर पाया जाता है, जहाँ कहानियों के पात्र स्वयं कथा या अवान्तर कथा कहते हैं। दशकुमारचरित में दण्डी ने कहानी कहने की शैली में एक और नई योजना की है। यहाँ प्रत्येक राजकुमार अपने द्वारा अनुभूत घटनाओं का वर्णन उत्तम पुरुष की शैली में करता है। वेतालपञ्चविंशति में अनेक कहानियों को एक ही प्रतिपाद्य से सम्बद्ध कर दिया गया है। लोक-कथाओं में कई कहानियों में उत्तम पुरुष वाली शैली का प्रयोग करना इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि अन्य पात्र उसे उस वैयक्तिक अनुभव के रंग में नही रँग सकता। कादम्बरी में ही शुक तथा महाश्वेता की कहानियाँ उत्तम पुरुष की प्रणाली में कही गई हैं। जाबालि की कहानी मे अन्य पुरुष की शैली का प्रयोग मिलता है, पर जाबालि का त्रिकालदर्शी अलौकिक चरित्र, जो अपनी दिव्यदृष्टि से समस्त घटनाओं से परिचित है, तथा प्रत्येक घटना को करतलामलकवद् वर्णित कर सकता है, उनमें वैयक्तिक अनुभव की तरलता का संचार कर देता है।

बाण की कादम्बरी कथा में लोककथा की कई रूढियों का प्रयोग पाया जाता है; मनुष्य की तरह बोलता हुआ सर्वशास्त्र-विशारद शुक, त्रिकालदर्शी महात्मा जाबालि, मर्त्यलोक से दूर हिमालय के स्वर्गीय वातावरण में रहने वाले किन्नर, गन्धर्व और अप्सराएँ, शाप के कारण आकृतिपरिवर्तन, पुनर्जन्म

पुण्डरीकेण सह, पुण्डरीकोऽपि चन्द्रमसा सह, परस्परावियोगेन सर्व एव सर्वकालं सुखान्यनुभवन्तः परां कोटिमानन्दस्याध्यगच्छन्॥ (कादम्बरी उत्तरभाग पृ० ७११)

की धारणा, तथा पूर्वजन्म के जातिस्मरण से सम्बद्ध कई 'लोककथा रूढियों' (फोक-टेल मोटिफ) की बाण ने विनियोजना की है। बाण के पात्र मर्त्यलोक में चलते-फिरते दण्डी के यथार्थवादी पात्र नही हैं, बल्कि चन्द्रलोक, गन्धर्वलोक तथा मर्त्यलोक में निर्बाध गति से सचार करने वाले आदर्शपात्र हैं। कादम्बरी की कथा भी शाकुन्तल की भाँति 'पृथ्वी तथा स्वर्ग का सम्मिश्रण' कही जा सकती है। बाण की कथा तथा पात्रो के चरित्र-चित्रण की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी कथा कहने के ढङ्ग में है, पर इसका अर्थ नही कि बाण के चरित्र सर्वथा जीवनशून्य हैं। कादम्बरी के चरित्र भले ही आदर्शवादी बाण के हाथ की कठपुतली हैं, पर बाण ने उनका संचालन इतनी कुशलता से किया है कि उनमें चेतना सक्रान्त हो गई है। शुकनास का बुद्धिमान तथा स्वामिभक्त चरित्र, वैशम्पायन की सच्ची मित्रता और महाश्वेता के आदर्श प्रणयी चरित्र की रेखाओ को बाण की तूलिका ने स्पष्टतः अङ्कित किया है। पर बाण का मन तो नायक-नायिका की प्रणय-दशाओं, प्रकृति के विविध चित्रों और काव्यमय वातावरण की सृष्टि करने में विशेष रमता है।

कादम्बरी में बाण की कथा का खास आधार पुनर्जन्म की मान्यता है तथा इस कहानी मे दोनो नायकों (चन्द्रमा और पुण्डरीक) को तीन-तीन जन्म का भोग भोगना पडता है। नायिकाएँ (महाश्वेता और कादम्बरी) अपने इसी जन्म मे रहती हैं, उन्हे अनेक जन्मों का भोग नही भोगना पडता। इसके साथ ही कवि बाण ने जन्म-जन्मान्तर संगत प्रेम-भावना का सकेत किया है। इस दृष्टि से बाण का प्रेमसम्बन्धी दृष्टिकोण ठीक वही है, जिसे कालिदास ने अपने शाकुन्तल मे 'जन्मान्तरसौहृद भाव' के रूप मे माना है।[1] बाणतनय ने भी कादम्बरी के उत्तरभाग मे महाश्वेता के सौन्दर्य के प्रति वैशम्पायन के आकर्षण मे इस मान्यता का सकेत किया है, जिसका एक अश हम बाणतनय की शैली के सम्बन्ध मे पादटिप्पणी में उद्धृत कर चुके हैं। पुनर्जन्म मे विश्वास न करनेवालों को बाण की कादम्बरी की कथा गपोडा दिखाई पड़े,

---

१. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ (शाकुन्तल, पंचम अङ्क)

भारतीय संस्कृति मे पला व्यक्ति इस प्रकार की कहानियों में रस लेता है। मानव जीवन के कोमल प्रणय-चित्र का जो सरस वातावरण कादम्बरी में मिलता है, वह निःसन्देह बाण के सफल कलाकृतित्व का परिचायक है। प्रेम के रोमानी वातावरण के अतिरिक्त, मृत्यु के करुण तथा हृदय द्रावक दृश्य और प्रिय की मृत्यु के बाद भी उससे पुनर्मिलन की आशा, उन चित्रों को और अधिक गम्भीर बना देते हैं। महाश्वेता पुण्डरीक के पुनर्मिलन की आशा में अच्छोद सरोवर के पास तपस्या करती है और कादम्बरी चन्द्रापीड की मृत्यु के बाद भी उसके पुनर्मिलन की आशा को पाकर आत्महत्या नहीं करती। इतना ही नहीं, बाण ने तो चन्द्रमा तथा पुण्डरीक जैसे दिव्य पात्रों को भी पुनर्जन्म की धारणा के कारण मर्त्यलोक मे लाकर क्रमशः चन्द्रापीड और शूद्रक तथा वैशम्पायन और शुक की योनि मे चित्रित किया है।

बाण की काव्य-प्रतिभा

बाण का प्रणय चित्रण अत्यधिक उदात्त तथा रमणीय हैं। कादम्बरी और चन्द्रापीड के प्रथम मिलन के वर्णन में — राजकुमार को देखने के बाद कादम्बरी की उत्कण्ठापूर्ण भावनाओं तथा सात्त्विक भावों के वर्णन में—बाण ने कादम्बरी के अन्तस् में स्थित भावों को वाणी देने का सफल प्रयत्न किया है और इस चित्र में हमें प्रथम रागोद्बोध से युक्त युवक चन्द्रापीड और अभिनवयौवना कुमारी कादम्बरी के हृदयों की रङ्गीन धूपछाहीं झाँकी देखने को मिलती है :—

'अथ तस्याः कुसुमायुध एव स्वेदमजनयत्, ससंभ्रमोत्थानश्रमो व्यपदेशोऽभवत्। उत्कम्प एव गतिं रुरोध, नूपुररवाकृष्टहंसमण्डलमपयशो लेभे। निःश्वासप्रवृत्तिरेवांशुकं चलं चकार चामरानिलो निमित्ततां ययौ। अन्तःप्रविष्टचन्द्रापीडस्पर्शलोभेनेव निपपात हृदये हस्तः, स एव करः स्तनावरणव्याजो बभूव। आनन्द एवाश्रुजलमपातयत्, चलितकर्णावतंसकुसुमरजो व्याजमासीत्। लज्जैव वक्तुं न ददौ, मुखकमलपरिमलागतालिवृन्दं द्वारतामगात्। मदनशरप्रथमप्रहारवेदनेव सीत्कारमकरोत्, कुसुमप्रकरकेतकीकण्टकक्षतिः साधारणतामवाप। वेपथुरेव करतलमकम्पयत्, निवेदनोद्यतप्रतीहारनिवारण कपटमभूत्। तदा च कादम्बरीं विशतो मन्मथस्यापि मन्मथ इवाभूद् द्वितीयः, तथा सह यो विवेश चन्द्रापीडहृदयम्। तथा हि, असावपि तस्या रत्नाभरणद्युतिभिरपि तिरोधानममंस्त,

हृदयप्रवेशमपि परिग्रहमगणयत्, भूषणरवमपि संभाषणममन्यत, सर्वेन्द्रियाहरणमपि प्रसादमचिन्तयत्, देहप्रभासंपर्कमपि सुरतसमागमसुखमकल्पयत् ।'[1]

'चन्द्रापीड के सौन्दर्य को देखने पर कादम्बरी का हृदय कामदेव के बाण से विद्ध हो गया और उसके शरीर पर तत्तत् सात्त्विक भाव परिलक्षित होने लगे। लोगों को इन सात्त्विक भावों को देखकर कहीं चन्द्रापीड के प्रति कादम्बरी के आकर्षण का पता न लग जाय, इसलिए मुग्ध कादम्बरी की लज्जासुलभ स्थिति को छिपाकर कई उपकरणों ने उसकी सहायता की। देखने को तो ऐसा मालूम होता था कि कादम्बरी जैसी कोमलांगिनी को कुमार चन्द्रापीड का आदर करने में एकदम खड़े होने के श्रम के कारण पसीना हो आया है, पर पसीने (स्वेद) का सच्चा कारण कामदेव ही था, जिसने पुष्प के बाण से कादम्बरी का हृदय विद्ध कर स्वेद को उत्पन्न कर दिया था। चन्द्रापीड को देखकर रतिभाव के कारण कादम्बरी की जाँघें काँपने लग गई थी, उसकी चाल रुक-सी गई थी, पर कादम्बरी के मणिनूपुरों के झणत्कार को सुनकर पास आये हुए हंसों ने उसकी गति रोक ली थी, ऐसा समझ लिया गया। उसके श्वास के तेज चलने के कारण उपरिवस्त्र चञ्चल हो उठा, पर देखने वालों को असलियत का पता न लग सका, उन्होंने तो यह समझा कि चामर के द्वारा मन्दान्दोलित पवन से अंशुक चञ्चल हो रहा है। उसका हाथ एक दम वक्षःस्थल (हृदय) पर आ गिरा, मानो वह अपने हृदय में प्रविष्ट चन्द्रापीड का स्पर्श करने के लोभ के कारण उधर बढ़ रहा हो, वही हाथ पुरुष के प्रथम दर्शन से लज्जित कादम्बरी के स्तनों को ढँकने का बहाना बन गया। चन्द्रापीड के दर्शन से उत्पन्न आनन्द के कारण कादम्बरी के आँखों से आँसू ढुलक पड़े और इनका कारण कान में अवतंसित कुसुम का पराग बन गया। लज्जा के कारण उसके मुँह से कुछ भी शब्द न निकला, पर पद्मिनी कादम्बरी की मुखसुगन्ध के लोभ से मुँह के पास मँडराते भौंरों ने ही उसे नहीं बोलने दिया, ऐसा मान लिया गया। कामदेव के बाण की पहली चोट को खाकर उसने सीत्कार किया, पर फूलों के समूह में पड़ी केतकी के काँटे के गड़ने से वह सीत्कार कर रही है, ऐसी साधारण धारणा बन गई। कम्प के कारण उसकी हथेली काँपने लगी, पर इस कम्प का बहाना किसी बात को निवेदित करने के

---

१. कादम्बरी (पूर्वभाग) पृ० २९५-९६।

लिए उद्यत पास में खड़े प्रतिहारी का निवारण करना बन गया। जब चन्द्रापीड़विषयक कामदेव कादम्बरी के हृदय मे प्रविष्ट हुआ ठीक उसी समय वैसा ही कामदेव चन्द्रापीड के हृदय मे भी प्रविष्ट हुआ तथा कादम्बरी को देखकर वह भी आकृष्ट हो गया। चन्द्रापीड ने कादम्बरी के आभूषणरत्नों की प्रभा को ही छिपकर देखने का तिरोधान समझा, उसके हृदय मे प्रवेश करने को ही आवासस्थान गिना, कादम्बरी के भूषण की आवाज को ही सभाषण माना, समस्त इन्द्रियो के आकर्षण को ही प्रसन्नता समझा और उसकी देहकान्ति के संपर्क को ही पाकर सुरतसमागमसुख की कल्पना की।'

इस उद्धरण मे बाण ने एक साथ युवक नायक-नायिका ने परस्पर प्रथम-दर्शन में उत्पन्न रागोद्बोध की स्थिति चित्रित की है। अनग-कला से सर्वप्रथम परिचित मुग्धा नायिका की सलज्ज, सस्पृह भावना का जिस अपह्नुतिमय अलंकृत शैली मे वर्णन किया गया है, वह बाण की पैनी पर्यवेक्षण शक्ति की परिचायक है। इसी प्रकार अन्तिम वाक्य मे वर्णित चन्द्रापीड की उत्सुकता तथा कादम्बरी के दर्शन से उत्पन्न आनन्दावस्था का वर्णन अलंकृत होते हुए भी हृदय को उद्घाटित करता है। यद्यपि इन पंक्तियों में बाण ने अर्थालंकार की सहायता से भावो की व्यंजना कराई है पर अर्थालंकार की विनियोजना यहाँ कोरे अलंकारवैचित्र्य के लिए नही की गई है। वह भावपक्ष की उपस्कारक बनकर आती है। मुग्धा कादम्बरी की कुमारी-सुलभ लज्जा के कारण रागाविष्ट स्थिति को छिपाने के लिए बाण ने जिस अपह्नुति प्रणाली का प्रयोग किया है, वह कितनी कलापूर्ण है। नायक-नायिका के परस्पर प्रथम दर्शन का दूसरा चित्र हमें महाश्वेता और पुण्डरीक के प्रथम दर्शन मे मिलता है। महाश्वेता को पुण्डरीक के दर्शन के बाद ऐसा प्रतीत होता है, 'जैसे उसकी सारी इन्द्रियाँ उसे पुण्डरीक के पास फेंक रही हों, जैसे उसका हृदय खीच कर उसे उसके सामने ले जा रहा हो, कामदेव पीछे से आगे ढकेल रहा हो और महाश्वेता बड़ी कठिनता से अपने आपको रोक पाती हो।'[१]

विप्रलम्भ शृङ्गार का करुण मार्मिक पक्ष हमें महाश्वेताविलाप[२] *तथा*

---

१. उत्क्षिप्य नीयमानेव तत्समीपमिन्द्रियैः, पुरस्तादाकृष्यमाणेव हृदयेन, पृष्ठतः प्रेर्यमाणेव पुष्पधन्वना कथमपि मुक्तप्रयत्नमात्मानमधारयम्।

कादम्बरी (पूर्वभाग) पृ० ३०५

२. कादम्बरी (पृ० ३५२–३५७)

कादम्बरी के विरहवर्णन[1] में उपलब्ध होता है। जरद्द्रविडधार्मिक के वर्णन[2] मे हास्य का पुट भी पाया जाता है। स्त्रियों के सौन्दर्यवर्णन में बाण की तूलिका पटु है, चाण्डालकन्या, शूद्रक की स्नानक्रिया के समय मे उपस्थित वारविलासिनियों, महारानी विलासवती, ताम्बूलकरंकवाहिनी पत्रलेखा, तपःपूत महाश्वेता और गन्धर्वराजपुत्री कादम्बरी के रूपवर्णन में बाण की भावना और कल्पना राजोचित उदात्त गति से आगे बढ़ती है, शब्द संपत्ति, अलङ्कार तति, स्वभावोक्ति और रस की बटालियन अपने आप सेवा मे उपस्थित हो जाती है। काली-कलूटी चाण्डालकन्या का वर्णन जिस ढंग से किया गया है, वह सहृदय पाठक को चमत्कृत कर देता है और उसे सन्देह होता है कि यदि बाण की काल्पनिक चाण्डालकन्या सामने मूर्त-रूप में आकर खड़ी हो जाय, तो क्या वह 'मूर्च्छा के समान मनोहारिणी' (मूर्च्छामिव मनोहारिणी) हो सकेगी ? बाण को दुख तो इस बात का है कि 'वह चित्रगत सुन्दरी की भाँति (चण्डालकन्या होने के कारण) केवल दर्शन का ही विषय रह गई है, स्पर्श आलिङ्गनादि का नहीं, (आलेख्यगतामिव दर्शनमात्रफलाम्)।' बाण को उसके पतित जाति मे जन्म लेने का ठीक उसी तरह खेद है जिस तरह भगवान् अग्नि को और भगवान् अग्नि तो आभरणप्रभा के व्याज से उसका जातिसंशोधन करने तक को तैयार हैं, क्योंकि वे सौन्दर्य के पक्षपाती हैं और बाण की तरह वे भी प्रजापति को चुनौती दे रहे हैं (आशिञ्जरेणोपसर्पिणा नूपुरमणीनां प्रभाजालेन रञ्जितशरीरया पावकेनेव भगवता रूप एव पक्षपातिना प्रजापतिमप्रमाणीकुर्वता जातिसंशोधनार्थमालिङ्गितदेहाम्) और सौन्दर्य के पक्षपाती बाण ने नीचकुलोत्पन्न चाण्डालकन्या की उपमा भवानी, लक्ष्मी तथा कात्यायनी से देने मे कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई है।[3] काली चाण्डालपुत्री को भी बाण ने इस सलीके से सजा कर सामने रखा है कि वह सचारिणी 'इन्द्रनीलमणिपुत्रिका' (चलती-फिरती नीलम की बनी पुतली) दिखाई पड़ती है, उसके जघनस्थल पर रोमावलि के द्वारा वेष्टित करधनी सुशोभित है, जो मानो अनङ्गरूपी हाथी के शिर पर पहनाई हुई नक्षत्रमाला (२७ बड़े-बड़े मोतियों की माला) हो, वह शरद

१. कादम्बरी (पृ० ४४१–४४४)

२. कादम्बरी (पृ० ४६०–४६१)

३. ······'हरितकिरातवेषामिव भवानीम्, ······'प्रभाश्यामलितामिव श्रियम्, ···'महिषासुररुधिररक्तचरणमिव कात्यायनीम्।

ऋतु की तरह कमल के (समान) विकसित नेत्रों वाली है; वर्षा की तरह घने बालों वाली (बादलरूपी बालों वाली) है, मलयपर्वत की तटी की तरह चन्दनपल्लव के अवतंस से युक्त है और नक्षत्रमाला की तरह चित्रविचित्र कर्णाभूषणों से विभूषित है (चित्रा, श्रवण आदि नक्षत्रों से युक्त है)।[1]

महाश्वेता की तप पूत मूर्ति का चित्रण करते समय तो बाण ने ऐसा समाँ बाँधा है कि जैसे वेदत्रयी स्वयं ही कलियुग के धर्मलोप से दुःखी होकर वन-वासिनी बन गई हो (त्रयीमिव कलियुगव्यसनधर्मशोकगृहीतवनवासाम्), जैसे मुनियों की ध्यानसम्पत्ति स्वयं मूर्तरूप मे सामने आ खड़ी हो (देहवतीमिव मुनिजनध्यानसम्पदाम्), जैसे वह धर्म के हृदय से निकल कर आई हो (धर्महृदयादिव विनिर्गताम्)। काली चाण्डालकन्या से ठीक उलटे रूप-रंग वाली गौरवर्ण यथानाम्नी 'महाश्वेता' की गौर आकृति को उपस्थित करने मे बाण ने एक से एक उत्कृष्ट कल्पना उपस्थित की है, जैसे उसे शख से कुरेद दिया गया हो, जैसे वह मोतियो से निकाली गई हो, या फिर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग मृणाल के द्वारा बनाये गये हों, अथवा चन्द्रमा की किरणों के ब्रुश से उसे साफ किया गया हो, चाँदी के घोल से मार्जन किया गया हो और जब सारी कल्पनायें समाप्त हो जाती है पर बाण की भावना पूरी तरह स्फुट नहीं हो पाती, तो वह उसे धवलिमा की परमावधि—अन्तिम सीमा (ईयत्ता)—घोषित कर देता है।[2] महाश्वेता का वर्णन सहृदय पाठक के हृदय को चन्द्रापीड के मस्तक की तरह उस दिव्य तपस्विनी के आदर मे झुका देता है, पर कादम्बरी का रूपवर्णन तो सहृदय को क्षण भर के लिए चन्द्रापीड की ही तरह अचल बना देता है।[3] कादम्बरी के नखशिख वर्णन में बाण ने सारी कल्पनाओं की गठरी खोल दी है, सारी रस-गगरी को उस अनिन्द्य सुन्दरी गन्धर्वकुमारी के

---

१. '……अनंगवारणशिरोनक्षत्रमालायमानेन रोमराजिलतालवालकेन रसनादाम्ना परिवृतजघनाम्,… …शरदमिव विकसितपुण्डरीकलोचनाम्, प्रावृषमिव घनकेशजालाम्, मलयमेखलामिव चन्दनपल्लवावतंसाम्, नक्षत्रमालामिव चित्रश्रवणाभरणभूषिताम् ।

२. '……शंखादिवोत्कीर्णां, मुक्ताफलादिवाकृष्टाम्, मृणालैरिव विरचितावयवाम्, ……इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम् … - रजतद्रवेणेव निर्मृष्टां - इयत्तामिव धवलिम्नः ……।' (कादम्बरी पृ० २८०)

३. '… कादम्बरीदर्शनविह्वलोऽचल इव तत्क्षणमराजत चन्द्रापीडः। (पृ० ३९५)

अभिषेक के लिए उड़ेल दिया है। कादम्बरी की वयःसंधिगत दशा के लिए बाण ने यह कल्पना की है जैसे यौवन के लक्षण प्रेम से युक्त होकर उसके समस्त अंगों में आकर प्रविष्ट हो गये हों, वह बालभाव को उसी तरह छोड़ रही हो जैसे अकृत पुण्य (स्वतः प्राप्त पुण्य) को छोड़ रही हो और यौवन कामदेव के आवेश के वशीभूत होकर कादम्बरी के माता-पित्रादि के (अनुमति) न देने पर भी उसका उपभोग करने के लिए उसे पकड़ रहा हो।[1]

स्त्रियों के नखशिख के ब्योरेवार वर्णन की तरह पुरुषों की आकृति के वर्णन में भी बाण दक्ष हैं। शूद्रक और चन्द्रापीड जैसे राजाओं की पुरुषोचित आकृति का वर्णन ही नहीं, जाबालि और जाबालिपुत्र हारीत तथा पुण्डरीक और कपिञ्जल के तपस्विजनोचित वर्णन में भी बाण ने गहरी सूझ का परिचय दिया है, और शबरसेनापति मातंग की भीषण आकृति तथा जरद्द्रविडधार्मिक के भय, जुगुप्सा और हास्य के मिश्रित भाव को उत्पन्न करनेवाले विचित्र रूप का वर्णन करने में भी बाण की लेखनी कम सफल नहीं है। इन वर्णनों को देखने से पता चलेगा कि बाण के कलाकार ने इनमें तीन शैलियों का प्रयोग किया है; पहले तो वह 'जाति' (स्वभावोक्ति) का आश्रय लेकर वर्ण्य व्यक्ति के रूप की सारी रेखाएँ स्पष्ट खींच देता है, फिर उपमा या उत्प्रेक्षा के द्वारा उन रेखाओं में रंग भरता है, वे उपमाएँ या उत्प्रेक्षाएँ एक ओर उस पात्र के प्रति बाण की भावना को व्यक्त करती हैं, दूसरी ओर पात्र के स्वभाव का भी मनोवैज्ञानिक परिचय देती हैं। जब शूद्रक के लिए बाण 'हर इव जितमन्मथः' कहता है, तो इसके द्वारा वह यह भी व्यञ्जना कराना चाहता है कि शूद्रक के हृदय के किसी प्राक्तन संस्कार के कारण स्त्री के प्रति आकर्षण नहीं उत्पन्न होता था।[2] उपमा के प्रयोग में वह कभी-कभी ऐसे श्लिष्ट साधारण धर्म चुनता है, जो बाहर से शब्दसाम्य को लेकर चलती शाब्दी क्रीड़ा जान पड़ते हैं, पर ध्यान से देखने पर अन्त. साम्य की भी व्यञ्जना कराते हैं। रेखाओं में रङ्ग भर देने के बाद वह कोरी चटक-मटक, बाहरी नक्काशी को पसन्द करने

---

१. · · · लक्षणैरपि मन्मथावेशपरवशेनेव गृह्यमाणा यौवनेन · · · ·।

(कादम्बरी पृ० ३८७)

२. मिलाइये—

तस्य · · · च सुरतसुखस्योपरि द्वेष इवासीद्, सत्यपि रूपविलासोपहसितरतिविभ्रमे लावण्यवति · · · · हृदयहारिणी चावरोधजने (पृ० ११)

वालों के लिए चित्र पर कहीं-कहीं शाब्दीक्रीडा का सुनहरी पाउडर भी चिपका देता है और बाण के इन वर्णनो में यह सुनहरी पाउडर वर्णनों के अन्तिम अंश में दिखाई पडता है। सहृदय पाठक कभी-कभी इस सुनहरी चमक से ऊब भी जाता है, जो वर्णन के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वर्ण्य विषय रेखाओ, रङ्गों और भावभंगिमाओं की रमणीयता को छिपा देती है। काश, बाण के इन वर्णनों मे ये विकलियाँ न होती। पूरा वर्णन कर चुकने पर वह श्लेष, विरोधाभास या परिसंख्या के चक्कर में जा फँसता है, तो सहृदय पाठक का माथा कुछ ठनक पड़ता है। पर फिर विचार आता है, बाण को पुराने पण्डितों के शब्द-क्रीडा-कुतूहल को भी तृप्त करना था। शूद्रक का पूरा वर्णन कर चुकने के बाद बाण परिसंख्या की शाब्दी क्रीडा का आश्रय लेते हैं। शूद्रक के राज्यों में केवल चित्रों में रङ्गों का मिश्रण (वर्णसंकर) था, क्योकि उसके राज्य में धर्मविरुद्ध विवाह से उत्पन्न वर्णसंकर सतानें उत्पन्न नही होती थीं, छत्रो में ही कनकदण्ड (सोने के डंडियाँ) पाया जाता था, क्योंकि अपराध के न करने के कारण किसी को सुवर्णदण्ड नही देना पड़ता था, कोई व्यक्ति दुष्ट प्रकृति का न था, वक्रता (भङ्ग) केवल अन्तःपुर की रमणियों के केशकलाप में ही पाई जाती थी, और कोई व्यक्ति वाचाल नही था, वाचालता (मुखरता) केवल नूपुरों के झणत्कार के रूप मे ही सुनाई देती थी।

'यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकरा,.........छत्रेषु कनकदण्डाः.........न प्रजानामासन्। यस्य च.........अन्तःपुरिकाकुन्तलेषु भंग नूपुरेषु मुखरता......अभूत्।'

हारीत तथा जाबालि के वर्णन में भी बाण ने वर्णन के अन्तिम भाग मे विरोधाभास वाली शाब्दी क्रीडा उपस्थित की है, उन्हें हारीत 'सोया हुआ भी जगा दिखाई देता है (सुप्तोऽपि प्रबुद्धः); वास्तव में वह सुन्दर जटाओ (प्ता) वाला और ज्ञानशील है।' इसी तरह जाबालि के आश्रम के वर्णन में भी बाण ने परिसंख्या का प्रयोग किया है, जहाँ मलिनता केवल यज्ञधूमो की थी, चरित्र की नही; मेखलाबन्ध केवल यज्ञोपवीतादि व्रतों में होता था, कोई खण्डिता कृतापराध नायक को करधनी से नही बाँधती थी; स्तनस्पर्श केवल होमधेनुओं का होता था, कामिनियों का नहीं; जहाँ पक्षियों का कोई भी वध नहीं करता

था, केवल महाभारत की कथा मे शकुनि का वध होता था; कोई भी व्यक्ति वायु प्रकोप के रोग से पीडित न था, केवल पुराणों में वायुपुराण सुना जाता था, कोई भी ब्राह्मण (द्विज) अपने कर्तव्य से पतित नही होता था, केवल वृद्धावस्था के कारण दाँतों का पतन (द्विजपतन) होता था, और उस तपोवन मे कोई भी व्यक्ति गीत, नृत्य या भोगविलास का शौकीन न था, सगीत का व्यसन केवल हिरणो को था, नाचने का मोरो को और भोग (सर्पशरीर) केवल सर्पों के पास था।[1]

पर सुबन्धु की तरह बाण इन कलाबाजियों मे सदा नहीं फँसते और पहले वे वर्ण्य विषय को पूरी ईमानदारी से वर्णित कर देते हैं, तब श्लेष की जटिल पगडडो का आश्रय लेते हैं विन्ध्याटवी या अच्छोदसरोवर के वर्णन में भी कवि पहले वहाँ की भीषणता या रमणीयता को पूरा ब्योरेवार उपस्थित करा देता है—भले ही अर्थालङ्कारों के द्वारा ही; और उसके बाद विन्ध्याटवी के वर्णन मे 'क्रूरसत्त्वापि मुनिजनसेविता, पुष्पवत्यपि पवित्रा' जैसे विरोधाभास के प्रयोगो को उपस्थित करता है। प्रकृति के अलकृत वर्णनो मे बाण की कल्पना एक से एक रमणीय परिवेश का सहारा लेकर आती है। सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि के प्रकृतिक वर्णन कल्पना के रङ्गो मे निखर उठे हैं। सायङ्काल का यह वर्णन बाण के बेजोड़ प्रकृति-वर्णनो में से एक है।

'क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या तपोधनैरदृश्यत। अचिरप्रोषिते सवितरि शोकविधुरा कमलमुकुलकमण्डलुधारिणी हंसपतिदुकूलपरिधाना मृणालधवलयज्ञोपवीतिनी मधुकरमण्डलाक्षवलयमुद्वहन्ती कमलिनी दिनपतिसमागमव्रतमिवाचरत्। अपरसागराम्भसि पतिते दिवसकरे वेगोत्थितमम्भःसीकरमिव तारागणमम्बरमधारयत्। अचिराच्च सिद्धकन्यकाविक्षिप्तसन्ध्यार्चनकुसुमशबलमिव तारकितं वियदराजत।

---

1. यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु मेखलाबन्धो व्रतेषु नेर्ष्याकलहेषु, स्तनस्पर्शो होमधेनुषु न कामिनीषु। यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितम्, वयःपरिणामेन द्विजपतनम् · एणकानां गीताश्रवणव्यसनम्; शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः। (पृ० ८९—९०)

क्षणेन चोन्मुखेन मुनिजनेनोर्ध्वविप्रकीर्णैः प्रणामांजलिसलिलैः क्षाल्यमान इवागल-द्खिलः सन्ध्यारागः।'[1]

'तपोवनवासियों ने देखा कि दिनभर कहीं घूम-घामकर लाल तारों वाली रक्तिम सन्ध्या, लाल पुतलियों वाली कपिला तपोवनधेनु की तरह लौट आई है। कमलिनी अभी हाल में विदेश गये हुए सूर्य (नायक) के वियोग से दुःखी होकर कमल की बन्द कली के कमण्डलु को धारण करती हुई, हंसों के धौत वस्त्र को पहने, मृणाल श्वेत यज्ञोपवीत से सुशोभित होकर, भौरों के रुद्राक्ष का वलय पहनकर मानो सूर्य के पुर्नमिलन के लिए तपस्या कर रही थी। सूर्य के तेजी से पश्चिम-समुद्र में गिरने पर उछली हुई पानी की बूंदों की तरह आकाश ने तारागण को धारण किया। थोड़ी सी देर में सारे आकाश में तारे छिटक पड़े मानो सिद्धकन्याओं के द्वारा सन्ध्या पूजा के लिए प्रस्तुत पुष्प बिखेर दिये गये हों और क्षण भर में ही सारी सायंकालीन लालिमा इसी तरह लुप्त हो गई, मानों सूर्यास्त के समय दिये हुए मुनियों के अर्घ्यदान के जल से उसे धो दिया गया हो।'

बाण के इस वर्णन में कोरा उपमा, समासोक्ति और उत्प्रेक्षा का चमत्कार नहीं है, बल्कि यहाँ सन्ध्या का विस्तृत वर्णन उपन्यस्त किया गया है। सूर्य के समुद्र में गिरने पर ऊपर उछले हुए छीटों के द्वारा बाण ने सायङ्काल के समय छुट-पुट दिखाई देते तारों का सङ्केत दिया है, और बाद में सिद्धाङ्गनाओं के द्वारा विक्षिप्त पुष्पाञ्जलि की कल्पना से समस्त आकाश में तारों के छिटक पड़ने का। इसके बाद जाकर सन्ध्या की ललाई समाप्त होती है। दूसरी विशेषता इस वर्णन में अप्रस्तुतों के चयन की है। कवि ने जाबालि के आश्रम में सन्ध्या का वर्णन करते समय आश्रम के जीवन से ही अप्रस्तुतों को चुना है। सन्ध्या के लिए तपोधन धेनु की उपमा कालिदास की कल्पना की याद दिला देती है।[2] और कमलिनी को वियुक्त नायिका बनाकर नायक के समागम के

---

१. कादम्बरी (पृ० १०५)

२. मिलाइये—

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतंगस्य मुनेश्च धेनुः॥

(रघुवंश, द्वितीय सर्ग)

लिए व्रत करती तपस्विनी बना देना, क्या 'नाटकीय पताका-स्थानक' या 'ड्रैमेटिक आइरनी' नहीं है, जिसके द्वारा कादम्बरी मे महाश्वेता की वक्ष्यमाण दशा का सङ्केत कराना कवि को अभीष्ट है ?

रसप्रवणता, कलासौन्दर्य, वक्रोक्तिमय अभिव्यञ्जना प्रणाली, सानुप्रासिक समासान्त पदावली, दीपक, उपमा और स्वभावोक्ति की रुचिर योजना — जिसके बीच-बीच मे श्लेष, विरोधाभास और परिसंख्या को गूँथ दिया गया है— बाण की शैली की विशेषता है। बाण की कथा इतनी रसवती है कि वह स्वय पदशय्या से समन्वित हो जाती है और उनकी उक्तियाँ कलामय तथा कोमल हैं, भावपक्ष (रस) तथा कलापक्ष (कलालापविलास) का यह विचित्र समन्वय देखकर सहृदय ठीक इसी तरह चमत्कृत हो जाता है, जैसे कलापूर्ण उक्ति का प्रयोग करने वाली कोमल नवोढा के स्वयं ही रस से परिपूर्ण होकर शय्या की ओर आने पर नायक का हृदय इसलिए चमत्कृत हो जाता है कि वह अद्‌भुत का समावेश कर देती है।[1] चाहे नवोढा नायिका खुद कभी भी रस के वशीभूत होकर शय्या पर न आती हो, पर उसका काल्पनिक रूप हमे बाण की रसवती कथा मे मिलता है, जो मुग्धा सुलभ लज्जा को छोड़कर स्वय नायक के पास उपस्थित हो जाती है। इसका खास कारण बाण का उदात्त कलपक्ष है। कालिदास की कविता पार्वती की तरह भाव से भरी रहती है, पर फिर भी बाहर से इतनी सलज्जा है कि वह सामने आने से झिझकती है, वस्त्र के छोर के पकड़े जाने पर जाना चाहती है (गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका) पर बाण की कविता तो महाश्वेता की तरह स्वयं रसमग्न होकर नायक के पास अभिसरण करने को उद्यत है और इसका एक मात्र श्रेय बाण की शैली को है, जो उस सुन्दर चम्पे की माला के समान है, जिसमें उज्ज्वल दीपक-से चमकते फूल गूँथे गये हों, जिसमे चम्पा के फूलों को घना अनुस्यूत किया गया हो, बीच-बीच मे मालती की कलियाँ लगाई गई हों। बाण ने भी अपनी कथा मे उज्ज्वल दीपक तथा उपमा अलङ्कारों से युक्त पदार्थों से कथा की योजना की है, बीच-बीच मे श्लेष की सघन सघटना है और स्वभावोक्ति की रमणीयता से कथा मे सरसता का सचार किया है। भला बताइये तो सही, ऐसी सुन्दर चम्पे

१. स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥ (पद्य ८)

की माला और बाण की इतनी *कलामय शैली किसका मन न हरेगी ?*[1]

पर वेबर का मन अगर इस माला ने आकृष्ट न किया हो, तो इसमे माला का क्या दोष ? कहा जाता है, भौंरे चम्पा को पसन्द नहीं करते, पर एक कवि ने चम्पा के फूल से कहा था कि यदि मलिन हृदय वाले काले भौंरे ने उसका आदर न किया, तो उसे चिन्ता करने की कोई जरूरत नही, भगवान् करें 'कमलनयनी' रमणियों के भौंरे मे भी अधिक काले बाल कुशल रहे, जो चम्पा के फूलो का आदर करेंगे ।[2] वेबर ने बाण की शैली को उस सघन विन्ध्याटवी की तरह देखा था, जहाँ पद पद पर अप्रचलित क्लिष्ट शब्द, श्लिष्ट पद-योजना तथा समासान्त पदो एवं *लम्बे-लम्बे वाक्यो के भीषण जन्तु आकर* डराते हैं, और डॉ० डे को भी बाण तथा सुबन्धु की शैली में यदि कोई भेद दिखाई पड़ा था, तो केवल कविता की मात्रा का ही, गुण का नही । पर यह तो रुचिभेद है, जिस पर विवाद करना अनावश्यक है । बाण संस्कृत साहित्य *का वह 'पञ्चानन' है,*[3] *जो काव्य की विन्ध्याटवी के हर मार्ग पर 'सिंह* ठवनि' से चलता है । अलंकृत समासान्त पदयुक्त वाक्यों की निरर्गल धारा मे वह वर्षाकालीन सरिता को भी चुनौती देता है, तो रसमय छोटे-छोटे भावप्रवण वाक्यो मे वह वैदर्भी के अपूर्व रूप की व्यञ्जना करता है । बाण की शैली गौडी *नही है, वह कभी गौडी और कभी वैदर्भी के छोर छूता मध्यम मार्ग की* 'पाञ्चाली' सरणि का आश्रय लेता है । बाण के बाद संस्कृत गद्य में उसकी नकल करने का प्रयत्न 'तिलकमञ्जरी'-कार धनपाल (११ वी शती) ने किया, पर बाण की काव्य-रमणीयता उस सीमा तक पहुँच चुकी थी, जहाँ *कोई न पहुँच सकता था, बाद मे सभी गद्यलेखक ले-भग्गू निकले, उन्होने बाण* का ही उच्छिष्ट पाकर संतोष किया; बाण ने किसी क्षेत्र को नही छोड़ा था और सहृदय आलोचक ने सारे काव्य विषय, समस्त अभिव्यञ्जनापक्ष और भाव को बाण का उच्छिष्ट घोषित किया :—बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम् ।

——

१. हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः ।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव ॥ (पद्य ९)

२. यन्नादृतस्त्वमलिना मलिनाशयेन किन्तेन चम्पक ! विषादमुरीकरोषि ।
विश्वाभिरामनवनीरदनीलवेशाः केशाः कुशेशयदृशां कुशलीभवन्तु ॥

३. *आश्चर्ये गम्भीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-*
संचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः ॥

त्रिविक्रम भट्ट

वाण के व्यक्तित्व मे हमें सस्कृत गद्यकाव्यो का चरम परिपाक उपलब्ध होता है। वाण के उत्तराधिकारियों मे बाण की जैसी प्रतिभा नही दिखाई पडती। वाण जैसी गद्यशैली का निर्वाह करना उनके लिए बडा कठिन हो गया और बाद में बाण की होड करने के लिए जो दो-तीन गद्यकृतियाँ लिखी गई, वे इतना सम्मान न पा सकी। गद्य के फलक पर बाण जैसी प्रवाहमय शैली को बनाये रखना तथा वैसी वर्णनपटुता का परिचय देना बाण के बाद के गद्यकवियो से सम्भव न था। फलत: उन्होने गद्य के बीच बीच मे पद्य की छौंक डाल-डाल कर एक नई शैली को जन्म दिया। पद्य के छोटे-से 'केन्वस' पर शैली को निभा लेना फिर भी सम्भव था और धीरे-धीरे गद्यकाव्यों मे पद्यो की छौंक बढती गई और बाद के चम्पू काव्यो मे पद्यो का कलेवर गद्य-भाग से भी अधिक हो गया, जिसका रूप हम 'चम्पूभारत' जैसी बाद की चम्पू कृतियो मे देख सकते हैं। चम्पू काव्यो का सम्बन्ध जितना शैली से है, उतना विषय से नही। आख्यायिका या कथा की परिभाषा मे हम विषय का भेद भी देखते हैं, पर चम्पू का विषय निजधरी प्रणयकथा, पौराणिक इतिवृत्त या मिश्रित इतिवृत्त कुछ भी हो सकता है। 'नृसिंहचम्पू' जैसी रचनाओ मे शुद्ध पौराणिक इतिवृत्त पाया जाता है। साथ ही चम्पू के लिए यह भी आवश्यक नही कि उसका अङ्गी रस शृङ्गार ही हो, वह वीर भी हो सकता है। पिछले दिनो मे चम्पू शैली मे कई चरितकाव्य भी लिखे गये हैं। श्रीहर्ष ने भी 'नवसाहसाङ्कचरित-चम्पू' नामक चम्पूकाव्य की रचना की थी। चम्पू, काव्यों की वह शैली है, जिसमे एक साथ गद्य तथा पद्य का प्रयोग पाया जाता है। कवि अपनी इच्छा के अनुसार कथा के कुछ भाग को गद्य मे कहता है तथा उसके बीच-बीच के कई भागो को पद्य से सजा देता है। गद्य के बीच-बीच में पद्य का प्रयोग तो हम जातककथाओं तथा पञ्चतन्त्र की नीतिकथाओ मे भी पाते हैं, पर उनकी शैली मे एक भेद है। वहाँ कथा का मुख्य कलेवर गद्य मे ही निबद्ध होता है तथा सूक्तिरूप या नीतिरूप वाक्यों को पद्य में उपन्यस्त किया जाता है। कभी-कभी पद्य में समस्त कथा के सार को भी दे दिया जाता है।

चम्पू काव्यों में ठीक इसी तरह का पद्यप्रयोग नहीं होता। गद्य के साथ पद्य का प्रयोग तो आर्यशूर की जातकमाला मे भी मिलता है। हरिषेण के शिलालेख वाले काव्य में भी एक साथ गद्य-पद्य प्रयुक्त हुए हैं और उसे चम्पू का आदि रूप कहा जा सकता है। यह तो स्पष्ट है कि अलकृत गद्यशैली के साथ पद्यों का प्रयोग सबसे पहले प्रशस्ति काव्यो में ही आरम्भ हुआ है और उसी से यह शैली साहित्य मे एक स्वतन्त्र शैली के रूप मे आ गई है।

'चम्पू' शब्द दण्डी से भी पुराना है, पर चम्पू शब्द के उद्भव तथा व्युत्पत्ति का पूरा पता नहीं चला है। विद्वानो ने इस शब्द की व्युत्पत्ति चुरादिगण के गत्यर्थक 'चपि' धातु से उप्रत्यय से 'चम्पयति, चम्पति इति चम्पूः'[1] इस तरह मानी है। दण्डी ने ही गद्यपद्यमयी राजस्तुति तथा गद्यपद्यमयी कथा का भेद बताते हुए प्रथम को विरुद तथा द्वितीय को चम्पू कहा था। काव्यादर्श में दण्डी की परिभाषा यों है—

'गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते' (१.३१)

चम्पू शब्द का प्रयोग अग्निपुराण मे भी मिलता है[2] तथा काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने तो चम्पू की परिभाषा में यह भी जोड़ दिया है कि चम्पू उच्छ्वासों में विभक्त होता है तथा प्रत्येक उच्छ्वास के अन्त में किसी विशिष्ट पद का प्रयोग (सांका) पाया जाता है।[3] हेमचन्द्र का यह लक्षण चम्पू काव्यों को देख कर ही बनाया गया है, पर हेमचन्द्र ने जिस काव्य को चम्पू के उदाहरण के रूप मे उपन्यस्त किया है, वह सुबन्धु की वासवदत्ता है, जो चम्पू काव्य नहीं मानी जा सकती। यद्यपि सुबन्धु की वासवदत्ता में गद्य के बीच में दो-चार पद्य पाये जाते हैं; पर वह चम्पू नहीं है। साथ ही हेमचन्द्र का 'सांका' तथा 'सोच्छ्वास' वाला लक्षण भी वासवदत्ता में घटित नहीं होता। वस्तुतः हेमचन्द्र ने अपनी परिभाषा तो ठीक दी है, पर उदाहरण नहीं। चम्पू काव्य के लक्षणों से समन्वित सर्वप्रथम कृति, जिसमें गद्य-पद्य का प्रचुर प्रयोग मिलता है तथा

---

१. श्रीहरिदास भट्टाचार्य के मतानुमार 'सहृदयों को चमत्कृत करके पवित्र करने वाला विस्मित करके प्रसन्न करने वाला काव्य' चम्पू है।

(चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयतीति चम्पूः।)

२. मिश्रं चम्पूरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा। (अग्निपुराण ३३६-३८)

३. गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा चम्पूः। (हेमचन्द्र)

जो सात (हरिचरणसरोजपदांक) उच्छ्वासों में विभक्त है, त्रिविक्रम भट्ट की नलचम्पू या दमयन्तीकथा है। इसके पूर्व का कोई भी चम्पूकाव्य हमें उपलब्ध नहीं है।

त्रिविक्रम-तिथि व वृत्त

त्रिविक्रम भट्ट ने स्वयं ही नलचम्पू में अपना परिचय देते हुए अपके कुल-गोत्रादि का उल्लेख किया है। ये शाण्डिल्य गोत्र के ब्राह्मण थे तथा इनके पिता का नाम नेमादित्य या देवादित्य था। इनके पितामह का नाम श्रीधर था।[१] त्रिविक्रम ने अपने चम्पू के प्रथम उच्छ्वास में गुणाढ्य के साथ-साथ बाण का भी नाम लिया है, अतः स्पष्ट है त्रिविक्रम बाण से बहुत बाद के हैं। भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण में नलचम्पू का एक पद्य उद्धृत है,[२] अतः त्रिविक्रम भोज से पूर्व रहे हैं, यह भी निश्चित है। ईसवी सन् ९१५ का एक लेख बरार के नवसारी ग्राम से उपलब्ध हुआ है। इसमें राष्ट्रकूट राजा इन्द्रराज के राज्याभिषेक के समय सुवर्णतुलादान में कई गाँव ब्राह्मणों को दिये गये; इसका सङ्केत मिलता है। इस लेख का रचयिता कोई त्रिविक्रम भट्ट था, यह भी इसी से पता चलता है। यही त्रिविक्रम भट्ट नलचम्पू के रचयिता हैं।[३] इस प्रकार त्रिविक्रम का समय दसवीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। त्रिविक्रम की दो कृतियाँ

---

१. तेषां वंशे विशदयशसां श्रीधरस्यात्मजोऽभू—
नेमादित्यः (देवादित्यः) स्वमतिविकसद्वेदविद्याविवेकः।
यत्कल्लोलां दिशि दिशि जनाः कीर्तिपीयूषसिन्धुं
यस्याद्यापि श्रवणपुटकैः कूणिताक्षाः पिबन्ति ॥ (१.१९)
तैस्तैरात्मगुणैर्येन त्रैलोक्यास्तिलकायितम्।
तस्मादस्मि सुतो जातो जाड्यपात्रं त्रिविक्रमः ॥ (१.२०)

२. पर्वतभेदिपवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव वहति पयः पश्यत पयोष्णी ॥ (नलचम्पू ६, २९)

३. त्रिविक्रम भट्ट के संरक्षक इन्द्रराज तृतीय राष्ट्रकूट वंश के राजा थे। इनके पितामह कृष्णराज द्वितीय थे। राष्ट्रकूट राजाओं की राजधानी मान्यखेट (बरार) थी। मान्यखेट दसवीं शती में संस्कृत तथा अपभ्रंश कवियों का गढ़ था। इन्द्रराज के पौत्र कृष्णराज तृतीय के समय यशस्तिलकचम्पू के रचयिता सोमदेव सूरि तथा कविरहस्य के रचयिता हलायुध हुए थे। कृष्णराज तृतीय के समय ही प्रसिद्ध अपभ्रंश काव्य महापुराण के रचयिता जैन कवि पुष्पदन्त थे। त्रिविक्रम के वंशजों में भी सातवीं पीढ़ी में प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य उत्पन्न हुए थे।

प्रसिद्ध हैं—एक नलचम्पू या दमयन्तीकथा, दूसरी मदालसाचम्पू । मदालसाचम्पू इतनी प्रसिद्धि न पा सकी, पर नलचम्पू के कारण त्रिविक्रम बाण के परवर्ती गद्य लेखको मे प्रमुख माने जाते हैं, तथा विद्वानो ने इनके श्लेष-प्रयोग की बहुत प्रशंसा की है।

नलचम्पू उच्छ्वासो में विभक्त कथा है, जिसमे नल और दमयन्ती के प्रणय की कहानी निबद्ध की गई है। पर चम्पू मे सारी कथा नहीं पाई जाती और ग्रन्थ बीच में ही समाप्त हो जाता है। श्रीहर्ष का नैषध तो उनके मिलन तथा विहारादि के बाद समाप्त होता है, पर नलचम्पू की कथा ठीक वहीं समाप्त हो जाती है, जब नल दमयन्ती को देवताओ का सदेश सुनाता है और दमयन्ती अपनी सखी प्रियवदिका के द्वारा देवताओ का वरण करने से मना कर देती है। प्रियंवदिका दमयन्ती की रुचि का प्रदर्शन करती हुई कहती है कि भले ही देवता सुन्दर हो, समृद्धिशाली हों और भले ही नल दमयन्ती को स्वर्गोपभोग के योग्य मानें (अभूमिरसि मर्त्यलोकस्तोकसुखानाम्), पर कमलिनी तो सूर्य के तीव्र ताप को ही पसन्द करती है, उसे चन्द्रमा की अमृतस्यन्दिनी किरणों का समूह अच्छा नही लगता; मालती लता पानी के सेक से मुरझा जाती है। किसी विशेष व्यक्ति के लिए कोई विशेष वस्तु आकर्षण-केन्द्र बन जाती है। प्रेम मे कोई विशेषगुण कारण नही जान पड़ता। कोकिल को काकली से रमणीय समस्त वन वसन्त ऋतु में पल्लवित हो उठता है, पर मालतीलता पुष्पित नहीं हो पाती, इसमें कोई खास हेतु नही है। यह सब अपनी रुचि पर निर्भर है कि दमयन्ती देवताओ को वरण नही करना चाहती।

"तीव्रतपनतापप्रियाम्भोजिनी न सहते स्तोकमप्यमृतद्रवमुचो रुचश्चन्द्रस्य परिम्लायति मालतीमालिका सलिलसेकेन। प्रसिद्ध चैतत् —

भवति हृदयहारी क्वापि कस्यापि कश्चिन्न
खलु गुणविशेषः प्रेमबन्धप्रयोगे।
किसलयति वनान्ते कोकिलालापरम्ये
विकसति न वसन्ते मालती कोऽत्र हेतुः ॥"

(सप्तम उच्छ्वास)

प्रियंवदिका के द्वारा दमयन्ती के इस उत्तर को सुनकर नल वापस लौट जाता है। रात भर उसकी आँखो के आगे दमयन्ती की सुन्दर मूर्ति घूमती रहती है, कामदेव उसे सताता रहता है, रात बीतती नही, उसे नीद भी नही

आती और नाना प्रकार के तर्क-वितर्क के कारण जगते हुए, वियोगजनित दुःख के कारण आँखों मे आँसू भरे, राजा नल शिव के चरणकमलों मे चित्त लगाकर किसी तरह रात व्यतीत करता है।[1] नलचम्पू यही समाप्त हो जाता है।

नलचम्पू के अधूरे रहने के विषय में पुराने पण्डितों में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि त्रिविक्रम के पिता नेमादित्य अपने समय के प्रसिद्ध पण्डित थे। वे किसी राजा के सभापण्डित थे। उनका पुत्र त्रिविक्रम महामूर्ख निकला। एक समय त्रिविक्रम के पिता विदेश गये थे। पीछे से कोई विरोधी पण्डित राजा के पास आया और राजा से कहा कि वह सभापण्डित के साथ शास्त्रार्थ करना चाहता है। राजा ने त्रिविक्रम के पिता को बुलाया, पर वे थे नहीं। त्रिविक्रम को बड़ा कष्ट हुआ, उसने सरस्वती से प्रार्थना की कि पिता के पाण्डित्य की लज्जा रखने के लिए वह त्रिविक्रम को यह शक्ति दे कि वह उस विरोधी पण्डित को परास्त कर सके। सरस्वती ने त्रिविक्रम को तब तक के लिए अमोघ पाण्डित्य दे दिया, जब तक उसके पिता विदेश से न लौट आयें। त्रिविक्रम ने राजसभा मे जाकर विरोधी पण्डित को शास्त्रार्थ में हरा दिया। इसके बाद त्रिविक्रम ने सोचा कि जब तक पिता लौटकर न आयें, तब तक कोई यशस्य कृति की रचना कर दूँ। उसने नलचम्पू लिखना आरम्भ किया। पिता के आने के समय तक इसके सात उच्छ्वास लिखे जा चुके थे। पिता के आते ही सरस्वती के वचनानुसार त्रिविक्रम पुनः मूर्ख बन गया और नलचम्पू अधूरा रह गया। पर इस किंवदन्ती में कोई सार नहीं जान पड़ता। सम्भव है, त्रिविक्रम ने दमयन्ती के द्वारा देवताओं के वरण का निषेध करा कर भावी वृत्त की व्यञ्जना कराने के लिए काव्य को यहीं समाप्त कर देना ठीक समझा हो।

नलचम्पू तथा श्रीहर्ष के नैषध का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि श्रीहर्ष को नैषध की रचना की प्रेरणा नलचम्पू से ही मिली थी।

---

१. अपसरति न चक्षुषो मृगाक्षी रजनिरियं च न याति नैति निद्रा।
प्रहरति मदनोऽपि दुःखितानां बत बहुतोऽभिमुखीभवन्त्यपायाः॥
इति विविधवितर्कविरविघ्नस्तनिद्रः सकलजदिममीलत्पक्ष्मचक्षुर्दधानः।
हरचरणसरोजद्वन्द्वमाधाय चित्ते नृपतिरपि विदग्धः स त्रियामामनैषीत्॥
(७.४९-५०)

नलचम्पू के द्वितीय उच्छ्वास के उपवनविहार वर्णन ने नैषध के प्रथम सर्ग के उपवनविहार वर्णन को प्रभावित किया है। वनपालिका की भंगश्लेषोक्ति-कुशलता के द्वारा नलचम्पू मे तत्तद् वृक्षादि का वर्णन मिलता है, तो नैषध में भी वनपाल हाथ के इशारे से उपवनसौन्दर्य को निवेदित करता है।[1] इसी उच्छ्वास में राजा एक राजहंस को पकड लेता है। यहीं कलहंसों की श्लिष्ट नर्मोक्तियों की योजना की गई है। नलचम्पू मे हंस को छोड़ने के लिए आकाशवाणी का आदेश मिलता है, पर श्रीहर्ष ने नैषध मे हंस का करुण विलाप उपन्यस्त कर काव्य में एक सुन्दर स्थल की उद्भावना की है। नलचम्पू के द्वितीय तथा तृतीय उच्छ्वास मे लोककथा की रूढ़ि का प्रयोग किया गया है, जहाँ हंस कथा के कुछ अंश का वक्ता बनकर कथा को गति देता देखा जाता है। द्वितीय उच्छ्वास मे ही कवि दमयन्ती के जन्म की कथा कहने लगता है—'अस्ति विस्तीर्णमेदिनी ''' दक्षिणो देशः' और दमयन्ती के जन्म तथा सौन्दर्य की कथा तृतीय उच्छ्वास के अन्त में समाप्त होती है।[2] श्रीहर्ष ने भी द्वितीय सर्ग मे हंस के मुख से दमयन्ती जन्म का तथा नखशिख का वर्णन कराया है। चतुर्थ उच्छ्वास मे हंस दमयन्ती के पास पहुँचता है तथा उसे नल का वृत्तान्त सुना कर नल के प्रति आकृष्ट करता है। ठीक यही नैषध के तृतीय सर्ग का विषय है। पञ्चम उच्छ्वास के अन्त में नल के पास इन्द्रादि देवता आते हैं तथा उससे यह प्रार्थना करते हैं कि वह दमयन्ती के पास जाकर उनका यह सन्देश कह दे कि वह उन चारों में से किसी एक देवता का वरण कर ले। नैषध के पञ्चम सर्ग मे भी इसी विषय की योजना की गई है। षष्ठ उच्छ्वास में नल के कुण्डिनपुर जाने का वर्णन तथा मार्ग में विन्ध्याटवी का वर्णन है। सप्तम उच्छ्वास मे नल को आया पाकर कुण्डिनेश्वर भीम उसका स्वागत करते हैं और इसी उच्छ्वास मे नल दमयन्ती के पास देवताओं का सन्देश पहुँचाते हैं। श्रीहर्ष ने इस प्रसङ्ग की योजना दूसरे ही

---

१. इति भङ्गश्लेषोक्तिकुशलया वनपालिकया निवेद्यमानानि वनविनोदस्थानान्यवलोकयांचकार। (नलचम्पू; द्वितीय उच्छ्वास पृ० ३९)

निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननकामनीयकम् (नैषध; प्रथम सर्ग)

२. तदेष तस्या सकलयुवजनमनोमयूरवासयष्टेः समस्तसंसारसौन्दर्याधिदेवतायाः कथितो वृत्तान्तः। (नलचम्पू; तृतीय उच्छ्वास पृ० ८८)

ढङ्ग से की है, वहाँ नल छिपकर जाता है तथा दमयन्ती से बातें करते हुए अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है।

त्रिविक्रम की काव्य-कुशलता

संस्कृत साहित्य में त्रिविक्रम श्लेष प्रयोग के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। श्लेष का प्रयोग हम सुबन्धु में भी देखते हैं, सुबन्धु ने तो अपने आपको 'प्रत्यक्षर-श्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधि' घोषित किया था। पर सुबन्धु की श्लेष-योजना के विषय में विद्वानों को दो आपत्तियाँ हैं—प्रथम तो सुबन्धु के श्लेष दूरारूढ़ होते हैं, दूसरे उसकी श्लेष-योजना में प्रायः अभङ्ग श्लेष का ही चमत्कार रहता है। त्रिविक्रम की श्लेष योजना एक ओर सरल होती है, दूसरी ओर सभङ्ग भी। सभङ्ग श्लेष की सरल योजना करने में त्रिविक्रम के समान पटु कोई भी कवि नहीं दिखाई देता। सभङ्ग श्लेष का प्रयोग तो कई कवियों ने किया है, पर उनकी अर्थप्रतीति में पदों को इतना तोड़ना पड़ता है कि श्लेष-योजना कठिन हो जाती है तथा अर्थप्रतीति में सहृदय पाठक को दुःसाध्य परिश्रम करना पड़ता है। त्रिविक्रम के सभङ्ग श्लेषों में यह बात नहीं पाई जाती और पाठक थोड़े परिश्रम से दोनों पक्षों का अर्थ ग्रहण कर लेता है। त्रिविक्रम के विरोध तथा परिसंख्या भी इसी तरह सरल श्लेष पर आधृत होते हैं। त्रिविक्रम श्लेष के इतने शौकीन हैं कि उनके मतानुसार पुण्यशाली कवि ही सुन्दर, नाना प्रकार के श्लेष अलङ्कार से युक्त वाणी की रचना करने में समर्थ हो सकता है। ऐसा सौभाग्यशाली विरल ही होता है, जिसके घर में सदा प्रसन्न रहने वाली शोभा-सम्पन्न तथा नाना प्रकार की आश्लेष-कला में निपुण रमणियाँ तथा मुख में प्रसादगुणयुक्त, कान्तिनामक गुण से सुन्दर नाना प्रकार के श्लेष अलङ्कार तथा श्लेष गुण से सम्पन्न वाणी होती है।[१] छोटे-छोटे अनुष्टुप् छन्दों में सरल सभङ्ग श्लेष की योजना करने में निःसन्देह त्रिविक्रम की वाणी बड़ी विचक्षण है।

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव॥ (१.६)

---

१. प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥ (नलचम्पू १.४)

कुछ कवि तो बालकों की तरह होते हैं, जो सुप्-तिङ् आदि पदों के विन्यास करने में बहुत लापरवाह होते हैं तथा सहृदय पाठकों में कोई रुचि (राग) नहीं पैदा करते, ये लोग बिना कारण बहुत कुछ बका करते हैं। बालक भी पैरों को रखने में कुशल नहीं होते, माता के स्नेह को उत्पन्न करते हैं तथा उनके मुँह से बहुत सी 'लार' गिरा करती है। इस पद्य का सारा चमत्कार 'पदन्यासे', 'जननीरागहेतवः' तथा 'बहुलालापा.' के श्लिष्ट प्रयोग तक ही सीमित है।

स्पष्ट है, त्रिविक्रम का प्रधान लक्ष्य शाब्दी क्रीडा है। यही कारण है कि त्रिविक्रम को इतिवृत्त या कथा के निर्वाह की इतनी फिक्र नहीं है। प्रथम उच्छ्वास का मृगयावर्णन तथा षष्ठ उच्छ्वास का विन्ध्याटवीवर्णन इतने लम्बे हैं कि वे कथाप्रवाह को बिलकुल रोक देते हैं। त्रिविक्रम वर्णन तथा श्लेषयोजना के द्वारा ही अपना कवित्व प्रदर्शित करना चाहते हैं और सप्तम उच्छ्वास पर ही कथा को समाप्त कर देना भी इस बात की पुष्टि करता है कि कवि का ध्यान कथा की ओर बिलकुल नहीं है। शाब्दी क्रीडा की ही भाँति त्रिविक्रम प्रौढोक्ति या आर्थी क्रीडा में भी दक्ष हैं। त्रिविक्रम ने अपनी आर्थी क्रीडा से आकाश में गङ्गा और यमुना दोनों को बहाकर प्रयाग की सृष्टि कर दी है और इस अनूठी कल्पना से प्रसन्न हो पुराने पण्डितों ने त्रिविक्रम को 'यमुना-त्रिविक्रम' की उपाधि से से विभूषित कर दिया है, जैसे भारवि को 'आतपत्र-भारवि' तथा 'माघ' को 'घण्टा-माघ' की उपाधि से विभूषित किया गया था। त्रिविक्रम का वह प्रसिद्ध पद्य यों है :—

> उदयगिरिगतायां प्राक् प्रभापाण्डुतायां-
> मनुसरति निशीथे शृङ्गमस्ताचलस्य।
> जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये
> सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च॥ (नलचम्पू ६. १)

प्रातःकाल का समय होने वाला है। वैतालिक राजा नल को जगाने के लिए मङ्गल पाठ कर रहे हैं। वैतालिक प्रातःकाल का वर्णन करता हुआ गा रहा है। 'रात बीत चुकी है। प्रातःकाल होने वाला है। उदयाचल की चोटी पर अरुणोदय हो रहा है तथा उसका प्रकाश चमक रहा है। अस्ताचल की चोटी पर रात्रि का अन्धकार उतर चला है। आकाश के एक ओर प्रकाश है, दूसरी

ओर अन्धकार और आकाश के बीचों-बीच प्रकाश तथा अन्धकार दोनों की घुली मिली आभा दिखाई दे रही है। उस धूपछाहीं को देखकर ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे हल्के काले रङ्ग की यमुना का जल निर्मल श्वेत कान्ति वाली गङ्गा के जल से मिश्रित हो गया हो।'

त्रिविक्रम ने अपनी कल्पना से आकाश में यमुना की भी सृष्टि कर दी, गङ्गा (आकाशगङ्गा) की सृष्टि तो वहाँ पहले से थी ही। नलचम्पू के व्याख्याकार चण्डपाल ने इसलिए त्रिविक्रम की तुलना 'त्रिविक्रम' (विराट् रूप विष्णु) से की थी, जिसके पद ('यामुन' पद, विष्णु के पैर) ने निर्मल आकाश में यमुना की भी सृष्टि कर दी।[1]

भावात्मक स्थलों में भी त्रिविक्रम श्लेषप्रयोग से नहीं हटते। दमयन्ती के हृदय में नल के प्रति अनुराग उत्पन्न हो रहा है, उसके शरीर पर रतिभाव के सूचक सात्त्विकभाव दिखाई पड़ रहे हैं। त्रिविक्रम ने दमयन्ती की इस स्थिति का वर्णन करने में प्रौढोक्ति तथा श्लेषोक्ति की विचित्र चमत्कृति उत्पन्न कर दी है—

'अत्र विश्रान्तवाचि वाचस्पताविवोच्चारितानष्टविस्पष्टवर्णे वर्णितनिषधराजे राजहंसे 'अहं सेवार्थी' इत्यभिप्रायोपलक्ष्यमाना कृतोत्तरासङ्गेन द्विजन्मना श्रुतानुरागेण, 'वत्से चिरात्मिलितासि' इत्युक्त्वेवाश्लिष्टा हृदये प्रवृद्धया चिन्तया, 'पुत्रि,कथं कथमपि दृष्टासि' इति सभाष्येवालिंगिता सर्वांगेषूत्कम्पजनन्या रोमाञ्चावस्थया, तरलि, त्यज्यतामिदानीं शैशवव्यवहारः इत्यभिधायेव स्पृष्टा प्रमुखेण मुखे वयसा, 'मुग्धे मुच्यतां स्वच्छन्दभावः' इत्यनुशास्येव ग्राहिता निजाज्ञां गुरुणा मकरध्वजेन दमयन्ती।'

(नलचम्पू, चतुर्थ उच्छ्वास)

'जब बृहस्पति के समान राजहंस स्पष्ट वर्णों में निषधराज का वर्णन कर चुप हो गया, तो दमयन्ती के हृदय में नल के प्रति श्रुतानुराग (गुणश्रवणजनित प्रेम) उत्पन्न हुआ, मानो वह अनुराग, जो उस राजहंस के गुणकथन से उत्पन्न हुआ था, जो अब दमयन्ती के उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था, दमयन्ती से यह प्रार्थना कर रहा हो कि वह दमयन्ती की सेवा के लिए ठीक वैसे ही

१. प्राच्याद् विष्णुपदीहेतोरपूर्वोऽयं त्रिविक्रमः।
निर्ममे विमले व्योम्नि यत्पदं यमुनामपि॥ (चण्डपाल)

प्रस्तुत है जैसे वह पक्षी (राजहंस) प्रस्तुत था, अथवा जैसे वह कोई उत्तरीय-धारी वेदपाठी ब्राह्मण हो, जो दमयन्ती के पास आकर बार-बार उससे यह निवेदन कर रहा हो कि वह उसकी सेवा के लिए प्रस्तुत है। दमयन्ती के हृदय में अनुराग के कारण गाढ़ चिन्ता उत्पन्न हुई, जैसे चिन्ता कोई बूढ़ी पितामही हो, जो दमयन्ती को हृदय से लगाकर कह रही हो, 'बेटी, तुम बड़े दिनों बाद मिली हो'। रागोद्‌बोध के कारण दमयन्ती के शरीर में कम्प तथा रोमाञ्च उत्पन्न हो गया, जैसे काँपती हुई रोमाञ्चित माता दमयन्ती के पास आकर उसे सारे अङ्गों मे आलिङ्गन कर यह कह रही हो 'बेटी किसी तरह मैंने तुम्हें देख लिया।' दमयन्ती के मुख में वैवर्ण्य नामक सात्त्विकभाव उत्पन्न हो गया, जैसे भोली दमयन्ती को देखकर घर का कोई प्रमुख व्यक्ति मुख पर उसका स्पर्श कर यह कह रहा हो, 'तरुणि, अब तेरा बचपन निकल गया है, इसलिए बचपन के खेल छोड़ दे' उसके हृदय में कामदेव का अत्यधिक वेग उठ रहा था, जैसे कामदेवरूपी गुरु दमयन्ती को शिक्षा देकर अपनी इस आज्ञा को समझा रहा हो, 'भोली, स्वच्छन्दता को छोड़ दो।'

यहाँ तत्तत् सभङ्गश्लेष के द्वारा कवि ने दमयन्ती की अनुरागजनित अवस्था का वर्णन करते हुए, उसके कम्प, रोमाञ्च, वैवर्ण्य जैसे सात्त्विकभाव, चिन्तादि सञ्चारीभाव तथा चाञ्चल्याभावादि वयःसन्धिगत अनुभावों की ओर संकेत किया है, पर कवि का सारा चमत्कार शाब्दी क्रीडा तक ही रह जाता है, फलतः सहृदय पाठक को दमयन्ती की औत्सुक्य जनित प्रथम रागोद्‌बोध दशा का कोई अनुभव नहीं हो पाता। उक्ति का सारा सौन्दर्य सभङ्ग श्लेष या हेतूत्प्रेक्षा तक ही सीमित रह गया है।

दमयन्ती के नखशिख वर्णन मे भी कवि का खास ध्येय उसके सौन्दर्य का बिम्ब ग्रहण कराना न होकर साधर्म्यमूलक अर्थालङ्कार की माला उपस्थित कर देना भर रहा है। कवि की सारी शक्ति दमयन्ती का सरस चित्र उपस्थित करने में असफल रहती है और उसकी उक्ति का चमत्कार उत्प्रेक्षा के प्रयोग तक ही है।

'इतस्ततो निपतन्मण्डनमणिमयूखमञ्जरीजालच्छलेनामान्तमिव कांतिरसविसरमुत्सृजन्तीं, अशेषांगावयवेषु प्रतिबिम्बितैरासन्नचित्रभित्तिरूपकर्मायाविभिः सुरासुरैरिव विधीयमानाश्लेषां, अग्रस्थिते पद्मरागमणिदर्पणे कंदर्पातुरे रागिणि

द्यानिनीव करुणयार्पितच्छायां, अशेषजगद्विजयास्त्रशालामिव मन्मथस्य, सङ्केतवसतिमिव समस्तसौन्दर्यगुणानां, अधिदेवतामिव सौभाग्यस्य, विपणिमिव लावण्यस्य, शिल्पसर्वस्वपरिणामरेखामिव विधातुः, अनन्तससाररोहणैकरत्नकन्दलीं दमयन्तीमद्राक्षम् ।' (सप्तम उच्छ्वास)

नल के द्वारा दमयन्ती के पास भेजा गया पर्वतक वापस आकर दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है :—'तब मैंने प्रासाद के सातवें मञ्जिल पर पहुँचकर वातायन के पास बैठी हुई उस दमयन्ती को देखा जो अपनी आभूषण मणियों के इधर-उधर फैलते हुए प्रकाश-जाल के द्वारा मानो अपने ही शरीर में आवश्यकता से अधिक होने के कारण न माते हुए कान्तिरस का उत्सृजन कर रही हो। उसके समस्त अङ्गों पर चित्रभित्तियों मे चित्रित कल्पित देवताओं और दैत्यो के प्रतिबिम्ब प्रतिफलित हो रहे थे, जैसे वे दमयन्ती का आलिङ्गन कर रहे हो। वह अपने सम्मुख स्थित पद्मरागमणि के दर्पण की ओर देख रही थी, जैसे मदनातुर रागी (प्रेम से युक्त, लाल रङ्ग वाले) चन्द्रमा को करुणा से अपनी शोभा का दान कर रही हो। दमयन्ती मानो कामदेव की अस्त्रशाला है, जिसे उसने समस्त संसार का विजय करने के लिए सजा रखा है, वह मानो संसार के सारे सौन्दर्य गुणो की सकेत भूमि है सौभाग्य की अधिष्ठात्री देवता है, लावण्य की विपणि है, ब्रह्मा की समस्त शिल्प-कृति की चरम सीमा है, और समस्त संसाररूपी रोहणगिरि की रत्नशलाका है।'

त्रिविक्रम का प्रकृतिवर्णन भी इसी प्रकार प्रौढोक्ति या श्लेष से काफी लदा हुआ है। प्रकृतिवर्णन प्रायः उद्दीपन के रूप मे पाया जाता है। समस्त जगत् को भ्रम मे डालनेवाली दुग्धफेन-धवल चन्द्रिका का भ्रान्तिमान अलङ्कार की भंगिमा से किया गया वर्णन सुन्दर है। पर इसका सौन्दर्य कवि प्रतिमोत्थापित भ्रान्तिमान तक ही है।

मुक्तादाममनोरथेन वनिता गृह्णन्ति वातायने,
गोष्ठे गोपवधूर्दधीति भवितुं कुम्भीगतान्वाञ्छति ।
उच्चिन्वन्ति च मालतीषु कुसुमभ्रान्त्यालयो मालिकाः,
शुभ्रान्तिभ्रमकारिणः शशिकरान्पश्यन्न को मुह्यति ॥ (२.१७)

'लोगों को भ्रम में डाल देने वाली श्वेत चन्द्रकिरणों को देखकर कौन मोहित नहीं हो जाता ? झरोखों पर गिरती हुई किरणों को रमणियाँ मोती की लड़ें समझकर उनका ग्रहण करना चाहती हैं, गोपिकाएँ बाड़े में रखे हुए घड़ों में उन्हें देखकर दही समझ लेती हैं और उसे मथने की इच्छा करती हैं, मालती लता के ऊपर छिटकी हुई शशिकिरणों को मालिनियाँ मालती के फूल समझकर चुनने लग जाती हैं।'

पंचम तथा षष्ठ उच्छ्वास का विन्ध्याटवी वर्णन भी प्रकृतिवर्णन की दृष्टि से ह्रासोन्मुखी काल की प्रवृत्ति का परिचय देता है, जहाँ शृङ्गार के उद्दाम संकेतों के साथ, समासान्तपदावली और आनुप्रासिक चमत्कार की छटा देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए नर्मदा का निम्नलिखित वर्णन लीजिये—

> एषा सा विन्ध्यमध्यस्थलविपुलशिलोत्संगरंगत्तरंगा
> संभोगश्रान्ततीराश्रयशबरवधूशर्मदा नर्मदा च।
> यस्याः सान्द्रद्रुमालीललिततलमिलत्सुन्दरीसंनिरुद्धैः
> सिद्धैः सेव्यन्त एते मृगमुदितदलत्कन्दलाः कूलकच्छाः॥ (५.३५)

'यह वह नर्मदा नदी है, जो विन्ध्यपर्वत के मध्य भाग में स्थित विपुल शिलाओं के बीच से टकराती हुई शब्द करती हुई लहरों से सुशोभित है, तथा जो रतिक्रीडा के कारण थकी हुई और तीर पर विश्राम करती हुई भीलनियों को सुख देने वाली है। इस नर्मदा के किनारे के वे प्रदेश, जहाँ के कंदलों को हिरनों ने कुचल डाला है, सघन वृक्षों की पंक्तियों के नीचे अनुराग से मिलती हुई सुन्दरियों से युक्त सिद्ध जाति के देवताओं के द्वारा सेवित किये जाते हैं।'

निम्नलिखित प्रकृतिवर्णन एक साथ वर्षा तथा अभिसारिका का श्लिष्ट चित्र उपस्थित करता है—

'अथ स्फुरद्विद्युन्मत्पयोधरान्तरपतद्धारावलीविराजिताः, कमलदलकान्तनयनाः, सुरचापचक्रवक्रभ्रुवः, विद्युन्मणिमेखलालंकारधारिण्यः, निम्नगानामुन्मुक्तकलहंसकाः, प्रौढकरेणुसंचारहारिण्यः, कम्रकन्धराः, तिरस्कृतशशांककान्तिकलापोल्लसन्मुखमण्डलाः सकलजगज्जेगीयमानगुणमिममनुपमरूपलावण्यराशिराजितं राजानमिवावलोकयितुमिवावतरन्ति स्म वर्षाः।' (प्रथम उच्छ्वास)

'समस्त संसार के द्वारा जिसके गुणों का गान किया जा रहा है, ऐसे

अनुपम रूपलावण्य से युक्त राजा नल को मानों देखने के लिए वर्षा (रूपिणी स्त्रियाँ पृथ्वी पर) उतर आई। वर्षा पानी के भार से झुके हुए बादलों के बीच से गिरती जलधारा से उसी तरह सुशोभित हो रही थी, जैसे रमणियाँ उन्नत स्तनों के बीच हिलते हुए हारों से सुशोभित होती हैं। वे कमलपत्रों से सुन्दर थी, जैसे रमणियाँ कमल पत्र के समान सुन्दर नेत्रवाली होती हैं। इन्द्रधनुष ही उसकी टेढ़ी भौंहें इन्द्रधनुष के समान होती है। वर्षा बिजली की मणिमेखला धारण किये थी तथा पानी के वेग से युक्त थी जैसे रमणियाँ उज्ज्वल मणिमेखला तथा अन्य अलंकारों से युक्त होती हैं। वर्षा में शब्द करते हुए कलहंस मानस के प्रति उन्मुख होकर इस प्रदेश को छोड़ देते हैं, रमणियों के सुन्दर हंस (बिछुए) शब्द करते हैं। वर्षा में जल के गिरने के कारण धूल उड़ना बन्द हो जाता है अतः वह सुन्दर लगती है, रमणियाँ हंसिनी के समान मनोहर गतिवाली होती हैं। वर्षा में सुन्दर बादल (कम्रकन्धराः) दिखाई पड़ते हैं रमणियों की गर्दन लज्जा के कारण झुकी रहती है। वर्षा में अपने पिच्छ से चन्द्रमा की कान्ति को तिरस्कृत करने वाले मयूर मेघ की ओर ऊँचा मुँह किये दिखाई पड़ते हैं, रमणियाँ चन्द्रमा के सौन्दर्य को तिरस्कृत करने वाले मुख से सुशोभित होती हैं।'

इन क्लिष्ट श्लिष्ट उद्धरणों को देने का प्रयोजन यह था कि त्रिविक्रम की उन विशेषताओं की ओर संकेत कर दिया जाय, जिनके कारण संस्कृत पण्डितों ने उनकी प्रशंसा की है। इस प्रसङ्ग को समाप्त करने के पूर्व त्रिविक्रम की शैली से विरोध तथा परिसंख्या का एक-एक उदाहरण दे देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

(१) यत्र नीतिमत्पुरुषाधिष्ठितोऽप्यनीतिः, सवटोऽप्यवटसङ्कुलः, कारुपयुक्तोऽप्यपगतरूपशोभः।　　　　　　　　　　(प्रथम उच्छ्वास)

'जिस देश में नीतिमान् पुरुष रहते थे, फिर भी वहाँ अनीति (अकाल आदि का अभाव) थी, वहाँ वट (बरगद) के पेड़ थे, फिर भी वह अवटसङ्कुल (बरगद के पेड़ से रहित, गड्ढों से युक्त) था, वह कुत्सित रूप से युक्त था (चित्रकारों-कारुवरों से युक्त था) फिर भी उसका सौन्दर्य नष्ट न हुआ था।'

(२) यत्र च गुरुव्यतिक्रमं रागाय, मात्राकलहं लेखशालिकाः मित्रो-

दयद्वेषमुलूकाः, अपत्यत्याग कोकिलाः, बन्धुजीवविघातं ग्रीष्मदिवसाः कुर्वन्ति न जनाः। (प्रथम उच्छ्वास)

'जिस देश के निवासी न तो कभी गुरु की आज्ञा का उल्लङ्घन ही करते हैं, न माता के साथ कलह ही, वे मित्र के वैभव को देखकर द्वेष नहीं करते, न अपने पुत्रादि का त्याग ही करते हैं, न बान्धवों के जीवन का अपहरण ही। गुरु (बृहस्पति) का उल्लङ्घन केवल मेषादि राशियाँ करती हैं, मात्रा का प्रदर्शन केवल लेखिकाएँ करती हैं, केवल उल्लू ही सूर्य (मित्र) के उदय से शत्रुता करते हैं, कोयलें ही अपनी सन्तान का त्याग करती हैं, और ग्रीष्म के दिन में ही बन्धूक के फूल गिरते हैं।'

त्रिविक्रम की शैली से स्पष्ट है कि बाण के शाब्दी क्रीडा वाले पक्ष को त्रिविक्रम ने और बढ़ाया और इसका प्रभाव बाद के सभी गद्य काव्यों पर देखा जा सकता है। एक ओर धनपाल की तिलकमञ्जरी जैसे गद्यकाव्य दूसरी ओर सोमदेव सूरी के यशस्तिलकचम्पू तथा हरिचन्द्र के जीवन्धरचम्पू जैसे चम्पूकाव्यों में यह प्रभाव परिलक्षित होता है। त्रिविक्रम के बाद संस्कृत साहित्य में चम्पू-काव्यों की बाढ़-सी आ गई है, जो एक साथ संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखी गद्य तथा पद्य दोनों के परिचायक हैं।

—o—

मुक्तक कवि

अमरुक

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक की तुलना करते समय जिस उपमा का प्रयोग किया है, वह इन दोनों के अन्तर को बताने में पूर्णतः समर्थ है। प्रबन्ध काव्य को उन्होंने एक विस्तृत वनस्थली माना है, तो मुक्तक को एक चुना हुआ गुलदस्ता। समस्त वनस्थली के सौन्दर्य का परिशीलन करने के लिए हमें समय चाहिए, परिश्रम के बिना वह साध्य भी नहीं; पर सुन्दर गुलदस्ता हमारे समक्ष काव्य-वनस्थली के चुने हुए सूक्ष्म किन्तु रमणीय परिवेश को उपस्थित कर देता है। चाहे कुछ विद्वान् मुक्तक के रस-परिपाक को प्रबन्धकाव्य के रसपरिपाक से कुछ नीचे दर्जे का मानें, पर मुक्तक के एक-एक पुष्प-स्तबक में मन को रमाने की अपूर्व क्षमता होती है। यह दूसरी बात है कि रसपरक मुक्तक कविता का एकमात्र उद्देश्य रस-व्यञ्जना होता है। शुक्लजी जैसे पण्डित आनन्द की सिद्धावस्था के मुक्तक काव्यों को, इसलिए अधिक सम्मान देते नहीं दिखाई देते कि वहाँ आनन्द की साधनावस्था वाला, जीवन का गत्यात्मक (Dynamic) चित्र उपस्थित नहीं किया जाता जो प्रबन्धकाव्यों में उपलब्ध होता है। किन्तु जहाँ भावुक सहृदय की दृष्टि से विचार करने का प्रश्न उपस्थित होता है, मुक्तक काव्यों की भावतरलता बाजी मार ले जाती है। मुक्तक का रस चाहे (शुक्लजी के शब्दों में) कुछ छींटे ही हों, पर ये ही वे तुषार-कण हैं, जो हृदय की कलिका में पराग का संचार कर मानव-जीवन को सुरभित बनाते रहते हैं। मानव के घात-प्रतिघातमय कटु जीवन के फफोलों पर मलहम का काम कर ये मुक्तक काव्य ही, उन फफोलों की खुजली को, भले ही कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, शान्त कर देते हैं। चित्त को रमाने की जो अपूर्व क्षमता सफल मुक्तक काव्यों में देखी जाती है, वह प्रबन्धकाव्यों में नहीं और सम्भवतः यही कारण है कि आनन्दवर्धन ने अमरुक कवि के एक एक मुक्तक पद्य पर सैकड़ों प्रबन्ध काव्यों को न्यौछावर करने की घोषणा की थी।

संस्कृत साहित्य में अमरुक की छोटी-सी मुक्तक-मालिका, जिसमें पूरी १०८ भी मुक्तामणियाँ नही गुँथी हैं,[१] पता नही कब से सहृदय रसिकों तथा आलकारिक पण्डितो का एक साथ गले का हार बनी हुई है। इस माला की सबसे बडी विशेषता तो यह है कि इसका प्रत्येक मुक्तक सुमेरु है, प्रत्येक मणि 'नायकत्व' (मध्यमणित्व) को प्राप्त करती देखी जाती है, कौन पद्य किससे बढ चढ कर है यह निर्णय देना कठिन है, हर पद्य में अपनी अलग-से विशेषता है और उस विशेषता के लिए वह सारे संस्कृत मुक्तकों मे बेजोड है। अमरुक के मुक्तक वे मणिदीप हैं, जिन्होने भावी-मुक्तक कवियों का मार्ग-दर्शन किया है, ये वे उपरितन-सीमा-स्पर्शी जल चिन्ह हैं, जहां तक भावी मुक्तक रस की कोई बाढ नही पहुँच पाई है। शृङ्गार रस के विविध पक्षों को उपस्थित करने मे अमरुक की तूलिका अपनी सानी नही रखती, और उसके चित्रो का बिना तडक-भडक वाला किन्तु अत्यधिक प्रभावशाली रङ्ग-रस, उसकी रेखाओं की बारीकी और भगिमा अमरुक के कारुवर की कलाविदग्धता का सफल प्रमाण है।

अमरुक के जीवनवृत्त के विषय मे कुछ पता नही, यद्यपि किंवदन्तियो ने अमरुक को भी नही छोडा है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन (९५० ई०) ने अमरुक का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है और अमरुक के कई सरस पद्यों को उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है। ध्वन्यालोककार के बाद तो प्रायः सभी आलङ्कारिको ने अमरुक के पद्यों को रस-प्रकरण और नायक-नायिका भेद प्रकरण में उदाहृत किया है। आनन्दवर्धन के पहले से वामन (८०० ई०) ने भी अमरुक के तीन पद्यों को रचयिता के नाम का उल्लेख न करते हुए उदाहृत किया है। इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि अमरुक वामन के समय तक प्रसिद्धि पा चुके थे और उनका समय ७५० ई० से पहले रहा होगा। कुछ विद्वान् अमरुक की कृति को कालिदास के ही आसपास की चौथी-पाँचवी सदी की मानते हैं, किन्तु *अमरुक को इतना पुराना मानना ठीक नहीं।* *अन्य विद्वानों* का मत है कि अमरुक के मुक्तक भर्तृहरि के शृङ्गारशतक के मुक्तकों से प्रभावित जान पडते हैं, पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि अमरुक सातवी सदी के बाद रहे हैं। हमारा अनुमान है कि भर्तृहरि तथा अमरुक समसामयिक थे। यह सम्भव है कि अमरुक और भर्तृहरि मे एक पीढी का अन्तर रहा हो, अर्थात्

१. अमरुकशतक के अलग-अलग सस्करणों में अलग-अलग पद्य संख्या है, जो ९० से ११५ तक पाई जाती है, किन्तु इनमें समान पद्य केवल ५१ पाये जाते हैं।

अमरुक भर्तृहरि से २५-३० वर्ष छोटे हों। अमरुक को हर्ष, बाण, मयूर आदि का समसामयिक मानना ही हमें अभीष्ट है तथा हम उन्हें संस्कृत साहित्य के विकासकालीन मुक्तकों का प्रतिनिधि मानते हैं। वैसे तो अमरुक को काश्मीर का एक राजा मानकर शङ्कराचार्य के साथ जोड़ने की किंवदन्ती पाई जाती है कि किस प्रकार दिग्विजय के लिए निकले हुए ब्रह्मचारी शङ्कर शास्त्रार्थ में कामकेलि-सम्बन्धी शास्त्रीय प्रश्नों के पूछे जाने पर उत्तर देने की मुहलत माँग कर काश्मीर गये और वहाँ योगविद्या से, मरे हुए राजा अमरुक के शरीर में प्रवेश कर उसकी सौ रानियों के साथ विलास कर पुनः अपने वास्तविक स्वरूप में आकर प्रतिपक्षी (मण्डन मिश्र की पत्नी) को जीत सके। उसी काल में शङ्कराचार्य ने अमरुकशतक की रचना की थी। यद्यपि यह पूरा गपोड़ा चल पड़ा है, पर इन गपोड़े में भी एक तथ्य छिपा है, जो अमरुक के जन्मस्थान का सङ्केत करता है। अमरुक काश्मीर के निवासी थे और इस बात की पुष्टि उनके नाम से भी होती है, जो काश्मीरियों की खास पहचान है; कैयट, जैयट, मम्मट, कल्लट, वज्रट, विह्लण, कल्हण जैसे नामों की तरह शङ्कुक जैसे नाम भी काश्मीरियों में मिलते हैं। अमरुक और शङ्कुक के नामों में भी यही काश्मीरीपन की तुक दिखाई पड़ती है।

अमरुक के नाम से केवल एक ही रचना उपलब्ध है, अमरुकशतक। इसके कई संस्करण भारत तथा विदेश में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें पूर्ण समानता नहीं पाई जाती। अमरुकशतक के विभिन्न संस्करणों में पद्य संख्या ९० से ११५ तक पाई जाती है। जर्मनी में प्रकाशित स्यूकेर्त, श्रोएदर, तथा बोतलिङ्क के संस्करणों में अमरुक के कुछ ही पद्यों का संग्रह है। काशी से सम्वत् १९४४ में प्रकाशित अमरुकशतक में—जिसके साथ रविचन्द्रकृत टीका भी प्रकाशित हुई है—पूरे सौ पद्य हैं। अमरुकशतक के विभिन्न संस्करणों को देखने से पता चलता है कि इनमें ५१ पद्य समान हैं। कई पद्य जो एक स्थान पर अमरुक के माने गये हैं, अन्यत्र नहीं पाये जाते। उदाहरण के लिए 'निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि प्रसिद्ध पद्य अमरुक की कृति माना जाता है, किन्तु रविचन्द्र की टीका वाले उक्त प्राचीन संस्करण में यह पद्य नहीं मिलता। ऐसा जान पड़ता है कि कई संस्करणों ने अमरुक के वास्तविक पद्यों को छोड दिया है, और कई अन्य कवियों के पद्य भी अमरुक के शतक में समाविष्ट हो गये हैं। सम्भवतः विकट-

नितम्बा, शीलाभट्टारिका जैसी कवयित्रियों के भी दो-तीन पद्य इनमे मिल गये हो। इसी सम्बन्ध मे एक प्रश्न यह उठता है कि क्या अमरुक के पद्यो की सख्या पूरी सौ थी ? वस्तुतः 'शतक' शब्द का प्रयोग 'अनेक' के अर्थ मे प्रयुक्त होता रहता है, तथा अमरुक के पद्य सौ से कम या अधिक रहे होगे। अमरुक के समस्त प्रामाणिक पद्यों के विषय मे हम कुछ निर्णय नहीं दे सकते, तथापि प्राप्त पद्य उसकी महत्ता स्थापित करने मे अलम् हैं।

अमरुक का वास्तविक प्रतिपाद्य रस शृङ्गार है। शृङ्गार के संयोग तथा विप्रलम्भ दोनो पक्षों का वर्णन यहाँ मिलता है, तथा पण्डितो ने तत्तत् प्रकार के नायक-नायिकादि के चित्रो को उसके मुक्तक पद्यों मे ढूँढ़ा है। कुछ लोगों ने यहाँ तक घोषणा करने का साहस किया है कि अमरुक ने तत्तत् नायक-नायिकादि की विधा को ध्यान मे रखकर इन चित्रो का सृजन किया था। किन्तु यह मत मान्य नही। अमरुक के मुक्तको को कामशास्त्र की तत्तत् नियमसरणि को ध्यान में रखकर लिखा गया नहीं माना जा सकता। अमरुक ने स्वच्छन्द रूप में इन मुक्तकों की रचना की है, जिनमें तत्कालीन विलासी दाम्पत्य-जीवन तथा प्रणय-व्यापार का सरस चित्र है, बाद में आलङ्कारिकों ने इनमें अपने लक्षणो के अनुरूप गुण पाकर इन्हें लक्ष्य के रूप मे उदाहृत करना आरम्भ किया और इस प्रवृत्ति की अधिकता ने ही उपर्युक्त भ्रान्ति को जन्म दिया है। कुछ विद्वान् इससे भी आगे बढ़ गये हैं। वे अमरुकशतक के पद्यो से एक साथ शृङ्गार और शान्त दोनों रसों की व्यञ्जना मानते हैं। रविचन्द्र ने अपनी टीका मे अमरुक के प्रत्येक पद्य का शान्त रसपरक अर्थ भी बताया है। यह शान्तरस-परक अर्थ निकालने की कल्पना का कारण वही गपोड़ा है. जो अमरुक को शङ्कराचार्य से अभिन्न मानता है।[१]

अमरुक के पद्य मुक्तक काव्य हैं। मुक्तक काव्य वह है, जिसमें प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र होता है, वह एक छोटा-सा स्वत पूर्ण चित्र होता है, उसे प्रसङ्गादि के

१. ननु शृङ्गारशतकमित्यस्य प्रसिद्धेः कथं शान्तिरसोऽत्र, तत्र उच्यते भगवान् शङ्कराचार्यो दिग्विजयच्छलेन काश्मीरमगमत्। तत्र शृङ्गाररसवर्णनार्थं सम्यैरभ्यर्थितः शृङ्गारी चेत् कविः काव्यजातं रसमयं जगदिति वचनादित्यमरनाम्नो राज्ञो मृतस्य परवपुःप्रवेशविद्यया शरीरप्रवेशं कृत्वा स्त्रीशतेन सह केलिं विधाय ग्रन्थस्तथा कारयामास। पिशुनैः कापटिकोऽयमाजन्मब्रह्मचारीत्युपहसितः शान्तिरसमप्यव्याचष्टे इति किंवदन्त्यतः शान्तिरसमप्यव्याचक्षते शान्तस्य मोक्षसाधनत्वात्॥

रविचन्द्र. टीका पृ० १. (१९४४ सं०)

लिए किसी दूसरे पद्य की अपेक्षा नहीं होती। प्रबन्धकाव्य या खण्डकाव्य में प्रत्येक पद्य एक दूसरे से गुँथा रहता है, एक कड़ी की तरह दूसरी कड़ी में जुड़ कर प्रबन्ध की श्रृङ्खला का सृजन करता है। मुक्तक काव्य एक ही कृति के डोरे मे पिरोये हुए *अलग-अलग मोती हैं, जो एक दूसरे से सर्वथा विलग रहते* हैं। यही कारण है कि मुक्तक काव्य की रचना अत्यधिक कलाकृतित्व का परिचय देती है। स्वत.पूर्णता, का संचार करने के लिए उसमें भाव-पक्ष की परिपूर्णता, कला-पक्ष का सौष्ठव तथा भाषा की समासशक्ति अत्यधिक अपेक्षित है। प्रबन्धकाव्य की अपेक्षा ऊँचे दर्जे के मुक्तक काव्यों की रचना अधिक परिश्रमसाध्य मानी जा सकती है। संस्कृत के इन मुक्तक काव्यो को, जिनका प्रतिनिधित्व अमरुकशतक करता है, हम पूरी तरह तो 'लिरिक' नही कह सकते, *क्योंकि 'लिरिक' काव्यों में जो वैयक्तिकता प्रधानतया पाई जाती है,* वह इनमें स्वाभाविक रूप में न आकर अत्यधिक कृत्रिम रूप में आती है।

संस्कृत मुक्तकों का उदय हम वैदिक साहित्य के भावप्रवण सूक्तों से ही मान सकते हैं, पर उनकी अखण्डपरम्परा अमरुक तक नहीं मानी जा सकती। वैसे थेरीगाथा और थेरगाथा (पालि-साहित्य) में भी कई भावप्रवण मुक्तक उपलब्ध होते हैं, तथा इसी प्रकार के भावप्रवण मुक्तक लोकगीतों (लोक-साहित्य) में भी पाये जाते होगे। कुछ विद्वानों ने तो हाल की गाथाओं को लोकसाहित्य के मुक्तकों का ही संग्रह मान लिया है। किन्तु हाल की गाथाओं-के विषय में हम इस मत से सहमत नहीं हैं। हाल *की गाथाओं में भले ही* ग्राम-वातावरण का चित्र हो, चाहे उनके भाव और कल्पनाएँ ग्रामीण परिवेश को लेकर आती हों, किन्तु उनकी रचना किन्ही साहित्यिकों के मँजे हाथों ने *की है, लोक-साहित्य के कोमल भोले हाथों ने नहीं।* अमरुकशतक के पूर्व हाल के द्वारा संगृहीत 'सत्तसई' का यह रूप न भी रहा हो, उन प्राकृत कवियों की कई गाथाएँ अवश्य विद्यमान थी, जिनका संग्रह हाल या आढयराज ने किया है। इसके साथ ही सम्भव है, अमरुक को भर्तृहरि के श्रृङ्गारशतक से भी प्रेरणा मिली हो।

अमरुक का भावपक्ष

श्रृंगार की विविध स्थितियों का वर्णन करने में अमरुक बड़े दक्ष हैं। संयोग तथा विप्रलम्भ के उद्दीपन एवं आलम्बन विभाव, अनुभाव, सात्त्विक

भाव एव सचारीभावो की व्यजना कराने मे वे सफल हुए हैं। एक ही पद्य मे शृगार के विविध व्यञ्जकों का उपस्थापन कर वे रसचर्वणा कराने की अपूर्व क्षमता रखते हैं। नवोढा मुग्धा के साथ हास-परिहास करते प्रिय, खण्डिता प्रौढा के ताने और तर्जना सहते धृष्ट नायक, विदेश में जाते प्रिय को रोकने के लिए आँसू की नदी बहाने वाली प्रवत्स्यत्पतिका, नूपुर और काञ्ची से घन अन्धकार मे भी अभिसरण की सूचना देती कामिनियो के चित्र अमरुक के खास चित्र हैं। इनमें एक ओर परस्पर अनुरक्त दम्पतियो के प्रेमालाप, मान-मनोवल के पारिवारिक चित्र हैं, तो दूसरी ओर गुप्त प्रणय के चित्र भी हैं। अमरुक का लक्ष्य केवल सहृदय को शृङ्गार रस की चर्वणा कराना है और कारण है, वे न नीतिवाद के फेर मे ही पड़ते हैं, न कलापक्ष के घटाटोप में ही फँसते हैं। भर्तृहरि मूलतः नीतिवादी हैं, यही कारण है, भर्तृहरि का शृगारवर्णन शृगार के सामान्य रूप को, स्त्री-पुरुष के प्रणय के सामान्य वातावरण को, उपस्थित करता है, अमरुक के पद्य प्रणय के किन्हीं विशिष्ट दृश्यों की योजना करते हैं, जिनमे अपना निजी व्यक्तित्व (Individuality) दिखाई पड़ता है। अमरुक रसवादी कवि हैं, और परवर्ती शृगारी मुक्तक कवियो की तरह कला-पक्ष पर ज्यादा जोर नही देते। जयदेव तथा जगन्नाथ पण्डितराज अपनी मुक्तक कविताओ मे भाव से भी अधिक ध्यान शब्द-योजना पर, पद-लालित्य पर रखते हैं। अमरुक पद-विन्यास की सतर्कता के फेर मे नही फँसते। भाव स्वत. अपने अनुरूप वाणी मे ढलकर बाहर आ निकलता है। यद्यपि आलंकारिकों और टीकाकारों ने अमरुक के कई पद्यो मे पद-दोष ढूँढे हैं, पर उन्होंने यह भी घोषणा की है कि अमरुक की कविता में पद-दोष होने पर भी वह पद-दोष प्रकारान्तर से रसचर्वणा मे साधक ही बनता दिखाई देता है। इस सम्बन्ध मे एक प्रसिद्ध पद्य ले लिया जाय—

> गाढालिंगनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
> सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।
> मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
> सुप्ता किन्नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्॥

कोई नायक रति के आनन्द मे विभोर नायिका की अवस्था का वर्णन कर रहा है। इस नायिका को अत्यधिक गाढ आलिंगन करने के कारण इसके स्तन

दब गये और आलिंगनजनित सुख के कारण इसके रोमांच उद्बुद्ध हो गये हैं (फूट पड़े हैं), अत्यधिक स्नेह-रस के कारण इसका अधोवस्त्र नितम्ब से बार-बार खिसकता जा रहा है, आलिंगनजनित मर्दन की पीड़ा को न सह सकने के कारण यह टूटे-फूटे वचनों में 'हे प्रिय, नहीं नहीं, मुझे अधिक नहीं……' इस प्रकार कहती हुई निश्चेष्ट हो गई है। क्या वह सो गई ? यदि यह निद्रामग्न होती तो श्वास चलते रहते, पर इसके श्वास भी नहीं चल रहे हैं, तो क्या यह मर गई ? क्या यह मेरे मन में छिप गई ? या घुल-मिल गई है ?

आलंकारिकों ने इसे रति का वर्णन माना है। प्रस्तुत पद्य मे नायिका के रोमांच तथा प्रलय नाम सात्त्विक भाव, टूटे-फूटे वचनों का बोलना और नितम्ब के वस्त्र का खिसकना उद्दीपन विभाव तथा नायक के वितर्क नामक संचारीभाव की व्यञ्जना कराई गई है। इस पद्य में 'मा मा मानद माति माम-लमिति' इस अंश में न्यूनपदत्व दोष है, क्योंकि यहाँ वाक्य मे क्रिया की आकांक्षा बनी रहती है, पर यह दोष भी यहाँ गुण हो गया है। रति-सुख के कारण मोह को प्राप्त होती हुई नायिका के वचनों का अधूरे होना, वाक्य का पूर्ण न होना, 'औचित्य' का पालन बन गया है। साहित्यिक पण्डित इस पद्य की नायिका को 'मोहान्तसुरतक्षमा' प्रौढ़ा तथा नायक को अनुकूल मानेंगे।

पति के घर नई आई हुई मुग्धा नायिका की लज्जाशीलता का चित्रण करने में अमरुक दक्ष हैं। पति उसके आँचल के छोर को पकड़ कर उसे जाने से रोकना चाहता है और पति की इस चेष्टा को न चाहते हुए भी वह लज्जा से अपना मुँह झुका लेती है। जब पति जबर्दस्ती आलिंगन करना चाहता है तो वह अपने अंगो को एकदम हटा लेती है। हँसती हुई सखियों की ओर देखकर वह उन्हे मन से तो उत्तर देना चाहती है, पर मुँह से कुछ नहीं कह पाती। पति के घर पर जब नववधू का पहले पहल परिहास किया जाता है, तो वह लज्जा से हृदय में दुःखी होती रहती है, क्योंकि लज्जा के कारण वह इन परि-हास चेष्टाओं का कोई उत्तर नहीं दे पाती।

> पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
> हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम्।
> न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
> ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः॥

मुग्धा नायिका का कितना स्वाभाविक वर्णन है। इस पद्य में मुखनमनादि अनुभावों के द्वारा नायिकागत व्रीडा नामक संचारीभाव की पुष्टि कराई गई है और ये सब मिलकर सयोग शृंगार की व्यञ्जना कराते हैं। मुग्धा के पति ने पहले कोई परागनासक्ति सम्बन्धी अपराध किया है। वह खुद यह भी नहीं जानती कि पति से गुस्सा भी करे तो कैसे करे। आखिर इस तरह की नाराजी की भी तो शिक्षा मिलनी जरूरी है। उसे अब तक किसी ने पति से नाराज होने की कला ही नहीं सिखाई है, किसी सखी ने इस सम्बन्ध का कोई उपदेश नहीं दिया है। पति से क्रोध करने के समय जिस तरह की मुखाकृति आदि बनानी पड़ती है, जिस तरह की वक्रोक्ति का प्रयोग करना पड़ता है, उसे वह जानती ही नहीं। पर उसे यह पता लग चुका है कि प्रिय ने कोई अपराध अवश्य किया है और उसके मन को यह व्यवहार बुरा लगा है। उसे अपनी दशा पर कष्ट हो आता है, वह प्रिय पर तो गुस्सा नहीं करती पर स्वयं नेत्र की पँखुड़ियों को डालती हुई, निर्मल कपोल पर ढुलकते हुए स्वच्छ अश्रुकणों से — जिनमें चचल बाल छलकते दिखाई दे रहे हैं — केवल रोती हुई कोप की व्यञ्जना करा रही है।

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमांगवलनावक्रोक्तिसूचनम्।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः॥

किसी स्त्री का पति विदेश जा रहा है। जिस देश में वह जा रहा है वह इतना दूर है कि उसे पहुँचने में ही बहुत समय (दिन-रात) लगेंगे। पर बेचारी भोली-भाली नायिका को यह क्या पता कि वह बहुत दूर जा रहा है, साथ ही उसे तो प्रिय की क्षण भर की जुदाई भी सहन न हो सकेगी। इसीलिए वह यह जानना चाहती है कि उसका प्रिय विदेश तो जा रहा है, पर कब तक लौट आयगा। क्या वह एक पहर बाद लौट आयगा? यदि एक पहर बाद न आ सके तो मध्याह्न में तो आ ही जायगा ना? यदि मध्याह्न में भी नहीं आ सके, तो अपराह्न में तो अवश्य लौट आयगा? अथवा वह सूर्य के छिपने पर शाम तक लौट आयगा? इस प्रकार के वचनों को कहती हुई प्रिया बहुत दूर देश जाने की इच्छा वाले प्रिय के गमन को आँखों से आँसू गिराती हुई रोक रही है।

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ।।

नायिका को शाम तक का प्रिय का वियोग फिर भी सह्य हो सकेगा, इससे अधिक देर तक वह वियोग न सह सकेगी, इस भाव की व्यंजना कराई गई है । इस पद्य की नायिका प्रवत्स्यत्पतिका है ।

एक दूसरी प्रवत्स्यत्पतिका तो पति को इस बात का संकेत भी दे देती है कि यदि उसने जाने की मन मे पूरी तरह ठान ली है, तो वह भी मरने को तैयार हो चुकी है, क्योंकि प्रिय के वियोग मे उसका मरण अवश्यभावी है ।

याता किन्न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वयाऽस्मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ।।

'प्रिये, विदेश में गये लोग क्या फिर लौटकर नहीं मिलते ? विदेश में जाकर लोग वापस लौट आते हैं, इसलिए मेरे विषय मे तुम्हें कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं । साथ ही तुम अत्यधिक दुर्बल हो, चिन्ता करने में तुम्हें कष्ट होगा, अतः तुम्हें अपने शरीर का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है ।' नायक ने इस तरह कह कर प्रिया को समझाना चाहा । विदाई के कारण दुःखी नायक की आँखों में आँसू झलक आये थे, पर नायिका ने अपने आँसुओं को रोक रखा था, जैसे उसकी आँखें उन आँसुओं को पी गई थीं । नायक की तसल्ली दिलाने वाली बातें सुन कर नायिका ने लज्जा से निश्चल पुतलियों वाले नेत्र से उसकी ओर देखा और वह हँस दी । यह हँसी जाने की अनुमति न थी, बल्कि इस बात की सूचना थी कि प्रिय के वियोग से उपस्थित होने वाले भावी मरण के लिए वह हँसी-खुशी तैयार है और प्रिय को इस बात का सङ्केत था कि तुम जाना ही चाहते हो, तो जाओ मैं आँसू गिराकर तुम्हारे मार्ग को अमङ्गल नहीं बनाना चाहती, फिर भी यह न समझना की मैं तुम्हारे जाने के बाद जीवित रह सकूँगी । तुम्हारा वियोग हमारे लिए मरण से भी बढ़कर है, मौत का तो मैं हँसकर स्वागत कर सकती हूँ ।

अप्रस्तुतप्रशंसा के प्रकरण के विषय में आलंकारिकों का कहना है कि यह उक्ति विदेश जाने के लिए प्रस्तुत, किन्तु प्रिया की विरहदशा को देखकर जाने के प्रोग्राम को खत्म करते नायक के द्वारा किसी मित्र से कही गई है, जो यह जानना चाहता है कि वह विदेश जा रहा था फिर क्यों न गया। उपर्युक्त विप्रलंभ के दोनों चित्रों में एक भेद है— दोनों प्रवत्स्यत्पतिका के चित्र हैं, किन्तु पहला चित्र किसी भोली प्रेयसी का है, दूसरा किसी गंभीर प्रकृति की नायिका का चित्र है। वियोग-पीड़ा की दृष्टि से दूसरा पद्य अधिक तीव्र है, यद्यपि यहाँ नायिका ने एक भी बूंद आँसू नहीं गिराया है, पर उसकी हँसी हृदय में स्थित मर्मपीड़ा की व्यञ्जना कराने में पूर्ण समर्थ हुई है। पहला चित्र किसी मुग्धा प्रवत्स्यत्पतिका का है, दूसरा प्रौढ़ा या प्रगल्भा का। दूसरे पद्य में आलंकारिकों ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार माना है, जहाँ मित्र के द्वारा 'न जाने का कार्य' के विषय में पूछे जाने पर 'कारण' का कथन किया गया है। इस पद्य का रस विप्रलम्भ शृङ्गार है, नायक अनुकूल। नायिका का लज्जा से कनीनिकाओं को निश्चल कर देखना, हँसना आदि अनुभाव हैं।

यहाँ दो बातें मुक्तक पद्यों के अर्थग्रहण के विषय में कह दी जायें। जैसा कि स्पष्ट है, मुक्तक पद्य अपने आप में पूर्ण होते हैं। पर छोटे से पद्य में कवि समग्र वातावरण की सृष्टि तो कर नहीं पाता, इसलिए सहृदय पाठक को पद्य का प्रसङ्ग प्रकरणादि ऊपर से जोड़ना पड़ता है। कभी-कभी तो यह पद्य किस समय कहा गया है, किसकी उक्ति है, किसने कहा गया है आदि जोड़ना किये बिना अर्थप्रतीति स्फुट नहीं हो पाती। अतः सहृदय तदनुकूल प्रसङ्ग की योजना करने के बाद ही रसचर्वण कर पाता है। दूसरे, मुक्तकों के विषय में एक और कठिनता पाई जाती है, जो साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध रखती है। रस-निष्पत्ति के साधन विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव माने गये हैं, तथा ये सब मिलकर ('संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' से) रसचर्वण कराते हैं। प्रबन्धकार के पास इतना विशाल क्षेत्र रहता है कि वह किसी रस के अनुरूप विभावादि की सृष्टि पूरी तरह कर पाता है, पर मुक्तक कवि को तो एक ही पद्य में रस भर देना है और इस गागर में सागर भरने की क्रिया में वह विभावादि की सृष्टि पूरी तरह नहीं कर पाता, वह इनकी व्यञ्जना भर करा सकता है। साहित्य-

शास्त्री के सामने कई ऐसे मुक्तक पद्य आते हैं, जहाँ विभाव, अनुभाव, सात्विक-भाव, संचारी सभी का एक साथ निर्देश नहीं मिलता। ऐसे स्थलों पर रसचर्वणा कैसे होगी ?

कोई प्रिय विदेश से आ रहा है। उसके आने की खुशी में दरवाजा सजाया जाना चाहिए, पर आने की खुशी मे नायिका इतनी विभोर हो गई है कि उसके स्वागत की तैयारी करना वह भूल ही गई। वह स्वयं द्वार पर जाकर प्रिय के स्वागत के लिए खडी हो गई और उसने अपने अङ्गों से ही विदेश से आते प्रिय के स्वागतार्थ मङ्गल द्रव्यों की रचना कर दी। चाहे उसने नील कमलों की बन्दनवार दरवाजे पर न लगाई हो, उसकी आँखें—जो प्रिय के आने के मार्ग में बिछी पड़ी थीं—लम्बी बन्दनवार की सृष्टि कर रही थी; चाहे उसने प्रिय के मार्ग में कुन्द, चमेली आदि फूलों को न बिखेरा हो, पर प्रिय के आने की खुशी में उसकी मुस्कराहट ही फूलों के रूप में चारों ओर बिखरकर वाता-वरण को सुरभित बना रही थी। प्रिय को अर्घ्य देने के लिए उसने कोई घट या जलपात्र नही ले रखा था, किन्तु उसके पसीने से लथपथ दोनों स्तन (पयोधर—जल को धारण करने वाले) ही प्रिय को अर्घ्यदान दे रहे थे। इस प्रकार उस नायिका ने चाहे घर में आते प्रिय के स्वागत मे बाहरी दिखावा न दिखाया हो, पर मंगल की सारी सामग्री अवश्य (सजाई) थी।[१]

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्टयैव नेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः।
दत्तः स्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्याः कृतं मंगलम् ॥

इस पद्य में कवि ने स्पष्टतः आलंबन विभाव का ही वर्णन किया है। *सात्विक भावों में स्वेद का संकेत मिलता है, पर अन्य रसोपकरणों का स्पष्ट* निर्देश नहीं। तो ऐसे स्थल पर रसचर्वणा कैसे हो सकेगी। इस प्रश्न का समा-

---

१. हिन्दी के लेखक रायकृष्णदास की 'व्याजस्तुति' नामक गद्यकाव्य की एक नायिका से यह नायिका कितनी भिन्न है, वह तैयारी में ही विभोर रहती है, यहाँ तक कि प्रिय उसके नफीरी वाले की भूप कल्याण और 'निषाद' के लगाने की बारीकी की प्रशंसा कर पाता है, जब कि इस नायिका को न बन्दनवारों की फिक्र है, न किसी शहनाई वाले को दरवाजे पर बिठाने की। वह तो इतनी मुग्ध है कि इन बातों की ओर विचार ही नहीं जा पाता।

ध्यान करते हुए आलंकारिकों का कहना है कि ऐसे मुक्तक काव्यों मे सहृदय पाठक स्वानुभवजनित कल्पना के कारण अन्य रसोपकरणों का अध्याहार कर लिया करते हैं।[१] *यहाँ नायिका के रोमाञ्च खड़े हो गये होंगे, खुशी के कारण* उसकी पलकें ठहर (स्तब्ध हो) गई होंगी, उसका सांस कुछ क्षण के लिए रुक-सा गया होगा, वह प्रिय की ओर एकटक देख रही होगी, हर्ष, व्रीडा, उत्सुकता जैसे सञ्चारी भावों का *अनुभव कर रही होगी।*

विदेश मे जाते या विदेश से आते प्रिय के कारण दुःखी या सुखी नायिका के मार्मिक चित्रों के अतिरिक्त अमरुक नायिकाओं के मान के चित्र में हल्का गहरा कई तरह का रंग भरने में सिद्धहस्त हैं। मान के हल्केपन का एक चित्र हम ऊपर देख चुके हैं, एक दूसरा चित्र यह है, जहाँ नायिका मान करना ही नही चाहती। भला वह मान करे तो किससे, बस उसी से जो सदा उसके हृदय मे निवास करता है। सखी तो मान करने की शिक्षा दे रही है, पर क्या उसे यह पता नही कि वह मेरे हृदय मे छिपा है, कहीं उसने ये सारी बातें सुन लीं तो ?

> मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
> मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
> सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
> नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति॥

कोई सखी भोली-भाली नायिका को नायक के अपराध से रुष्ट होकर मान करने की सीख दे रही है। 'हे भोली सखी, क्या तुम इसी तरह भोलेपन के साथ जिन्दगी बिता दोगी। जरा मान करो, कुछ धैर्य धारण करो, अपने हृदय की सरलता को दूर करो।' पर नायिका पर इस सीख का कोई असर नही होता, वह डरकर सखी को उत्तर देती हुई कहती हुई कहती है—'सखी! जरा धीरे धीरे कहो, कहीं हृदय में बैठा हुआ प्राणेश्वर इन बातों को न सुन ले।'

---

१ एकस्य व्यभिचारादिभिर्मिलितानां व्यञ्जकत्वे स्थितेऽसाधारणेनापीतरद्वयमाक्षिप्यते। किं च रसस्य विभावादिसमूहालम्बनरूपत्वादेकैकस्मादसाधारणादपि व्यक्त्यभावान्मिलितानामेव व्यञ्जकत्वम्। अतोऽसाधारण्येऽपीतरद्वयमाक्षिप्यते ततो मिलितैस्तदभिव्यक्तिः, इति। काव्यप्रदीप (काव्यप्रकाशटीका पृ० १०५)

इस पद्य का 'प्राणेश्वर' शब्द अपूर्व व्यञ्जना लेकर आया है। अरे, वह मेरा ही नहीं, मेरे प्राणों तक का स्वामी है, तुम मुझे स्वामी से मान करने को कह रही हो, कहीं मैं ऐसा करने की कल्पना भी कर सकती हूँ? सखी, तुम्हारी चेष्टा व्यर्थ है, मुझे मान-मनौवल के झगड़े में नहीं फँसना है, मैं तो दासी हूँ *और दासी बनी रहना चाहती हूँ, अपने प्राणेश्वर की उपासिका।*

पर अमरुक की दूसरी नायिका तो सखियों की सीख में इतनी लिखी-पढ़ी है कि वह 'गुरु गुड़ और चेला शक्कर' वाली कहावत चरितार्थ करती देखी जाती है। वह अपराधी नायक को पकड़कर सखियों के सामने घर के अन्दर ले जाती है और उसे अपराध का दण्ड भी देने का साहस करती है और अमरुक का *'धन्य नायक' अपराधी होने के कारण लज्जित होकर दण्ड भोगता है* और हँसता रहता है।

> कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
> नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
> भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
> धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्॥

'नायक ने अपराध किया है। प्रिया शाम को उसे कोमल और चंचल बाहुओं की लता के पाश से अच्छी तरह बाँध कर, क्रोध से भरी हुई, क्रीडागृह में ले जाती है। वहाँ पर सखियों के सामने स्खलित वाणी के द्वारा उससे कहती है— 'ऐसा फिर करोगे' और इस तरह उसके अपराध को सूचित करती है। रोती हुई नायिका के द्वारा लज्जित तथा हँसता हुआ धन्य नायक पीटा जा रहा है।'

पर धृष्ट नायक इन ताडनाओं की परवाह थोड़े ही करता है, वह जहाँ कहीं मौका देखता है, ज्येष्ठा नायिका का अपराध कर ही बैठता है और कभी-कभी तो इतनी चालाकी करता है कि उसे विश्वास में डाल कर उसी के समक्ष कनिष्ठा से प्रणय-चेष्टा करता देखा जाता है।

> दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
> देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
> ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
> मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति॥

'नायक ने देखा कि ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा दोनो नायिकाएँ एक ही आसन पर बैठी हैं। इसलिए वह आदर के साथ (या कुछ भय से) धीरे-धीरे पीछे से वहाँ पहुँचता है, वहाँ जाकर वह क्रीडा करने के ढोंग से ज्येष्ठा नायिका के नेत्रों को दोनो हाथो से बन्द कर देता है। इसके बाद वह धूर्त नायक अपनी गरदन को जरा टेढी करके, रोमांचित होकर उस कनिष्ठा नायिका को चूम लेता है, जिसका मन प्रेम के कारण उल्लसित हो रहा है तथा जिसके कपोल फलक *आन्तरिक हँसी के कारण सुशोभित हो रहे हैं*'।

अमरुक की प्रकृति उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आती है। अमरुकशतक मे प्रकृति-चित्रण के तीन चार पद्य पाये जाते हैं, जो सुन्दर हैं। अमरुक के प्रकृति-वर्णन का एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

रामाणां रमणीयवक्त्रशशिनः स्वेदोदबिन्दुप्लुतो
व्यालोलालकवल्लरीं प्रचलयन् धुन्वन्नितम्बाम्बरम्।
प्रातर्वाति मधौ प्रकामविकसद्राजीवराजीरजो-
जालामोदमनोहरो रतिरसग्लानिं हरन्मारुतः ॥

'वसन्त ऋतु मे प्रात.काल के समय अत्यधिक शीतल, मन्द एव सुगन्धित पवन चल रहा है। पवन रमणियों के सुन्दर मुख-चन्द्र पर सुरतश्रम के कारण छिटके हुए स्वेदकणों मे नहाया हुआ है (स्वेदकण के जल के संसर्ग के कारण यह शीतल हो गया है), यह नायिकाओं की चंचल केश-वल्लरियों को हिला रहा है तथा उनके नितम्ब वस्त्र को कँपा रहा है (पवन-मन्थर गति से चलता हुआ नायिकाओं के केशों और अधोवस्त्रों को मन्द-मन्द आन्दोलित कर उनकी रमणीयता बढा रहा है), वह प्रात.काल के समय खिले हुए अनेक कमलो के पराग-समूह की सुगन्ध से मनोहर है और शीतल, मन्द तथा सुगन्धित होने के कारण नायिकाओं की सुरतजनित थकावट (ग्लानि) को दूर कर रहा है।

अमरुक मे ऐसे कई रस-निर्झर काव्य हैं, जिनके कारण अमरुक के एक-एक पद्य को सैकडों प्रबन्धकाव्यों से बढकर माना गया है। यही कारण है कि एक सहृदय आलोचक ने अमरुक के काव्य को वह डमरु माना था, जो किसी अपूर्व शृंगारभणिति को उत्पन्न कर धन्य सहृदयों के कर्णकुहरों को आप्यायित करता है।[१] किन्तु अमरुक का अभिव्यञ्जनापक्ष भी इसमें सहायता करता है। अमरुक

१. अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनिह्नुता जायति।
शृंगारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणविवरेषु ॥ (अर्जुनवर्मदेव)

की अभिव्यञ्जना में कलावादियोंकी-सी तड़क-भड़क न हो, उसमें अपूर्व समास-शक्ति, अपूर्व वक्रता, व्यञ्जनाशक्ति और ओज पाया जाता है। अमरुक की यह पैनी व्यञ्जनाशक्ति ही उसके पद्यों की गागर में रस के सागर को भरने की क्षमता रखती है।

अमरुक का कला-पक्ष

रसवादी कवि कलापक्ष की कृत्रिमता का मोह नहीं करता, वह भावपक्ष के प्रवाह में इतना बह जाता है कि अर्थ या शब्द को सोच-सोच कर रखने की ओर ध्यान नहीं देता। अमरुक ऐसे ही शृङ्गारी कवि हैं, जो अवचेतन मन में छिपी भावसतति को वाणी के द्वारा, सहज स्वाभाविक शैली के द्वारा, सहृदयों के समक्ष उपस्थित कर देना चाहते है। पिछले क्षेत्र के शृङ्गारी कवियों की भाँति न तो अमरुक कल्पना की उड़ान में ही फँसते हैं, न सुन्दर पद-योजना में ही। जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ में अर्थ एवं शब्द दोनों की रमणीयता देखी जा सकती है, किन्तु जो भावतरलता अमरुक के पास है, वह वहाँ ठीक उसी मात्रा में उपलब्ध नहीं होती। पर इतना होते हुए भी अमरुक मे अर्थालंकार तथा शब्दालंकार का स्वाभाविक निर्वाह मिल सकता है। अमरुक के अर्थालंकार प्रयोग के विषय में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

सालक्तकं शतदलाधिककान्तिरम्यं रत्नौघधामनिकराष्णनूपुरं च।
क्षिप्तं भृशं कुपितया तरलोत्पलाक्ष्या सौभाग्यचिह्नमिव मूर्ध्नि पदं विरेजे॥

किसी नायिका ने गुस्से में आकर अपराधी नायक के सिर पर चरण प्रहार किया है। चंचल कमल के समान नेत्र वाली नायिका के द्वारा तेजी से मारा हुआ चरण—जो महावर में सना हुआ था, कमल से भी अधिक कान्ति वाला था और रत्नसमूह के तेज से जाज्वल्यमान नूपुर वाला था—नायक के सिर पर इसी तरह सुशोभित हुआ, जैसे उसके सिर पर सौभाग्य-चिह्न स्थापित किया गया हो।

अमरुक मे साधर्म्यमूलक अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग मिलता है।

यद्यपि अमरुक में गाथासप्तशती या आर्यासप्तशती जैसी भाषा की कसावट नहीं मिल सकेगी, फिर भी अमरुक के फलक (केन्वस) को देखते हुए वे कम

सफल नहीं कहे जा सकते। गाथा, आर्या या दोहे जैसे छोटे से छन्दों में समस्त चित्र को उपस्थित कर देने की कला नि.सन्देह प्रशसनीय है, किन्तु अमरुक संस्कृत वर्णिक छन्दों को ही लेकर इन चित्रों को रखना चाहते थे। अनुष्टुप् छन्द जो प्राय- प्रबन्ध काव्यों के उपयुक्त है, मुक्तक काव्य में असफल सिद्ध होता है। यही कारण है कि, अमरुक ने वसन्ततिलका, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित जैसे बडे वर्णित वृत्तों को चुना। इनमे भी अमरुक का विशेष मोह शार्दूलविक्रीडित के प्रति है। शार्दूलविक्रीडित एक ऐसा छन्द है, जो एक साथ शृगार तथा वीर दोनों रसों की व्यञ्जना कराने मे समर्थ दिखाई देता है। इसमे जहाँ एक ओर विकट समासान्तपदावली वाली सघटना अपने गंभीर रूप मे व्यक्त होती है, वहाँ छ टे-छोटे पदों वाली ललित वैदर्भी भी गतिमय दिखाई पड़ती है। अमरुक के शार्दूलविक्रीडित वैदर्भी की सरणि पर चलकर शृङ्गार की व्यञ्जना कराते हैं।

अमरुक के शब्द-प्रयोगों मे बाद के कवियो जैसा बाहरी सौन्दर्य न भी हो, एक अपूर्व मगिमा पाई जाती है। उसके कई प्रयोग व्यञ्जनावृत्ति के बेजोड़ उदाहरण हैं। निम्नलिखित पद्य में कोई नायिका उसके प्रति रुक्ष व्यवहार वाले नायक की चेष्टा की व्यञ्जना कराती हुई जिन विशेषणो का प्रयोग कर रही है, वे नायिका के भाव की व्यञ्जना कराने में पूर्णत: समर्थ हैं।

> पुराभूदस्माकं नियतमविभिन्ना तनुरियं
> ततो नु त्वं प्रेयान् वयमपि हताशाः प्रियतमाः।
> इदानीं नाथस्त्वं वयमपि कलत्रं किमपरं
> मयाप्तं प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम्॥

पहले तो हमारा प्रेम इतना गहरा था कि हमारा शरीर एक था, लेकिन धीरे-धीरे वह व्यवहार समाप्त हो गया और तुम प्रिय बन गये और हम प्रियतमा। प्रेम की अद्वैतस्थिति का अनुभव करने के बाद जब तुम्हारा मन भर गया, तो हमारा मन (तुम्हारे ही कारण) एक न रह सका, पर फिर भी किसी तरह प्रिय-प्रेयसी वाला व्यवहार बना रहा तुम मुझे प्रेयसी समझते रहे, मैं तुम्हें प्रिय। अगर यह स्थिति भी बनी रहती तो गनीमत थी, पर मुझे तो इससे भी अधिक वज्रपात सहना था। तुम्हारा व्यवहार इससे भी च्युत हो

गया और तुम मुझे कलत्र समझने लगे। इस समय तुम मेरे लिए 'नाथ' हो गये हो, और मैं तुम्हारे लिए 'कलत्र'। अब हमारा वह प्रणय सम्बन्ध जाता रहा, तुम मेरे स्वामी (मालिक) हो, और मैं तुम्हारी 'खरीदी हुई दासी के समान पत्नी'। इससे बढ़कर मेरे लिए दुःख हो ही क्या सकता है, यह तो मेरे प्राणों का दोष है कि मैं इस व्यवहार परिवर्तन को सहते हुए भी जीवित हूँ। मैं अपने वज्रकठिन प्राणों का फल जो भोग रही हूँ।

इस पद्य मे 'नाथ' तथा 'कलत्र' शब्द के प्रयोग में अपूर्व व्यञ्जनाशक्ति है। 'कलत्र' शब्द का नपुंसक लिंग भी इस बात की व्यञ्जना कराता है कि नायक का व्यवहार नायिका के साथ ठीक वैसा ही हो गया है, जैसे खरीदी हुई अचेतन वस्तु के साथ।

पद-प्रयोग की व्यञ्जना का एक दूसरा सुन्दर निर्वाह अमरुक के निम्न-लिखित पद्य मे है, जहाँ नाटकीयता के परिवेश में नायिका के कोप की व्यञ्जना कराई गई है।

> बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतम्।
> खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि।
> तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
> नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते॥

नायक अन्य नायिका से प्रेम करने के कारण अपराधी सिद्ध हो चुका है। जब वह घर पर आता है, तो ज्येष्ठा नायिका को मान व रोष से युक्त पाता है। वह उसे मनाने के लिए कुछ कहना चाहता है इसीलिए उसे केवल संबोधित करता है—'बाले'! इसके पहले कि वह कुछ कह पाये नायिका—'क्या कहना चाहते हैं'—इस बात की व्यञ्जना कराती हुई केवल 'नाथ' इतना-सा उत्तर देती है। इस 'नाथ' के द्वारा वह यह भी व्यंजना कराना चाहती है कि अब आप मुझे प्रेम नहीं करते, इसलिए मैं आपको 'प्रिय' कहते हुए हिचकिचाती हूँ। आपका व्यवहार मेरे साथ ऐसा है कि मैं दासी हूँ, आप स्वामी। इसी तरह नायक का 'बाले' संबोधन भी नायिका के भोलेपन की व्यंजना कराकर इस बात का संकेत करता है कि वह बिना कारण कोप कर रही है। नायक उसे रोष को छोड़ने को कहता है—'मानिनि, रोष को छोड़ दो।' 'रोष करके

मैंने क्या किया है।' (आपका कोई अपराध तो किया नहीं।) 'तुम्हारे रोष करने से हमें दुख हो रहा है।' 'आपने तो मेरा कोई अपराध नहीं किया है, सारे अपराध मैंने ही किये हैं।' इस पर नायक कोई उत्तर नहीं दे पाता, और कहता है—'तो फिर तुम गद्गद वचनों से क्यों रोती हो?' 'मैं किसके आगे रो रही हूँ।' 'यह मेरे आगे रो रही हो ना।' 'मैं तुम्हारी क्या हूँ।' 'प्रिया।' नहीं, मैं तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ, इसीलिए तो रो रही हूँ।'

इस पद्य मे भाषा की अपूर्व समास-शक्ति पाई जाती है।

अमरुक के अनुयायी

अमरुक ने संस्कृत के कई भावी कवियों और कवयित्रियों को प्रोत्साहित किया है। सुभाषित संग्रह मे कई अज्ञातनामा तथा ज्ञातनामा कवियो के शृङ्गारी मुक्तक पद्य मिलते हैं। इनमे कुछ कवयित्रियाँ भी हैं। विज्जा (विज्जिका), विकटनितम्बा, शीलाभट्टारिका, जघनचपला जैसी लगभग ४० कवयित्रियो के शृङ्गारी मुक्तक मिलते हैं, जिनमे कई तो भावपक्ष की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। पर इन मुक्तक पद्यों मे अपने आप में ऐसी कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, जिसे 'स्त्री-कलाकार का निजी स्पर्श' कहा जा सके। डॉ॰ डे को तो इन्हें कवयित्रियो की रचना मानने तक मे सदेह हो आता है, क्योकि इस प्रकार की रचना कोई पुरुष कलाकार भी कर सकता है। कवयित्रियो के विकटनितम्बा जघनचपला जैसे नाम देखकर भी डॉ॰ डे की यह धारणा बन जाती है कि इस तरह के विचित्र नाम किन्ही पुरुष कवियो ने ही रख दिये हैं, तथा ये रचनाएँ भी इन नामवाली कवयित्रियों की नहीं। कुछ भी हो, इतना तो माना जा सकता है कि इनमें से कुछ कवयित्रियाँ अवश्य रही होगी। यदि कवयित्रियाँ मधुराविजय (विजय नगर के राजा कम्पन की पत्नी गंगा देवी की रचना) जैसे महाकाव्य और वरदाम्बिकापरिणय (विजयनगर के अन्य राजा अच्युतराय की पत्नी तिरुमलाम्बा की रचना) जैसे चम्पूकाव्य की रचना कर सकती हैं, तो उनके मुक्तककर्तृत्व को शंका की दृष्टि से क्यों देखा जाय? यह दूसरी बात है कि साहित्य की रूढ शृङ्गारी पद्धति प्रणय-चित्रण पर इतनी हावी हो गई थी, उन्हें उसी सरणि का आश्रय लेना पड़ा हो, फलतः उनकी वैयक्तिकता उनमें तरलित न हो सकी हो।

संस्कृत साहित्य में बहुत बाद में लिखे गये कई मुक्तक शृङ्गारी काव्य सग्रह मिलते हैं। जगन्नाथ पण्डितराज के भामिनीविलास के अन्तर्गत शृङ्गारविलास में शृङ्गारी मुक्तकों का संग्रह है। जगन्नाथ पण्डितराज के पद्यों का भावपक्ष तो वही रूढ नायक-नायिका-भेद से प्रभावित है, किन्तु पद-शय्या इतनी रमणीय है कि वैसी सस्कृत के कुछ ही कवियों मे दिखाई पडती है। सरस वैदर्भी शैली का प्रयोग करते हुए भी जगन्नाथ पण्डितराज इतनी सुन्दर अनुप्रास-योजना कर पाते हैं कि उनका कोई भी पद्य इससे रहित नही दिखाई देता। पण्डितराज के पद्यों पर भी अमरुक का प्रभाव लक्षित होता है तथा सस्कृत की विशाल मुक्तक काव्यपरम्परा में अमरुक का अपना निजी महत्त्व है।

———

जयदेव

अमरुक मे हमें शृगार का स्वाभाविक प्रवाह मिलता है जो कला पक्ष की कृत्रिमता के आलवाल से अवरुद्ध होकर नहीं आता। अमरुक के बाद के शृगारी मुक्तकों पर एक ओर वात्स्यायन के कामशास्त्र का प्रभाव पड़ा, दूसरी ओर साहित्यशास्त्र के नायक-नायिका भेद का, तीसरी ओर संस्कृत के ह्रासोन्मुख काल की रीति-निर्बन्धता ने भी मुक्तक काव्यों के स्वाभाविक परिवाह को रोक दिया। जयदेव में हमे संगीत और पद-लालित्य के अपूर्व गुण मिलते हैं किन्तु अमरुक जैसी भावतरलता नही। जयदेव की मुक्तक कविता कला के साँचे मे ढलकर अवश्य आती है पर ध्यान से देखने पर उसमें मौलिकता का अभाव दिखाई देता है और जयदेव को इतनी ख्याति जो मिल पाई है, उसका एकमात्र कारण जयदेव की अभिव्यञ्जना उसका काव्य-परिवेश ही माना जा सकता है। लेकिन इतना होते हुए भी जयदेव ने जितनी ख्याति प्राप्त की है, उसमे कई तत्त्व काम करते देखे जाते हैं। जयदेव के मुक्तकों को इतना आदर प्राप्त होने का एक कारण तो यह है कि जयदेव ने सगीत की तान मे काव्य को बिठाकर साहित्य और सगीत का अपूर्व समन्वय उपस्थित किया है। यही कारण है कि जयदेव की कृति एक ओर कवियों और साहित्यिकों के गले का हार बनी रही है, तो दूसरी ओर संगीतज्ञों की वीणा के द्वारा मुखरित हो उठी है। इतना ही नही, जयदेव ने अपनी कविता में जिन शृङ्गारी नायक-नायिकाओ को चुना वे चाहे जयदेव के लिए लौकिक मानवीय रूप मे ही आये हों, भावी माधुर्य-सम्प्रदाय के भक्तों के लिए अलौकिक रस की व्यञ्जना कराने वाले बन गये। इस अन्तिम तत्त्व ने जयदेव को कृष्ण-भक्त कवि के रूप में देखा और उसकी कविताओं को भक्ति-रस का उद्रेक घोषित किया। कुछ भी हो जयदेव संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखी कवियों मे एक प्रबल व्यक्तित्व हैं, जिन्हें कोई भी आलोचक अपने परिशीलन मे नहीं छोड़ सकता।

जयदेव की तिथि तथा जीवन वृत्ति के विषय मे किवदन्तियो एव परम्पराओं ने सत्य को अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। जयदेव भोजदेव तथा राधादेवी के

पुत्र थे।[1] ये बङ्गाल के सेन वंश के राजा लक्ष्मणसेन के राजकवि थे। लक्ष्मणसेन की सभा मे जयदेव के अतिरिक्त और भी कई कवि थे, जिसमे मुख्य उमापतिधर, आर्यासप्तशती के रचयिता गोवर्धन, पवनदूत नामक काव्य के लेखक कवि धोयी हैं। जयदेव ने स्वय अपने काव्य मे इन कवियों का वर्णन किया है और यह भी बताया है कि किस कवि मे क्या-क्या विशेषता पाई जाती थी। जयदेव के मत से उमापतिधर सुन्दर पदरचना मे दक्ष थे; गोवर्धनकवि शृंगार रस के अनुरूप लक्ष्य काव्यों की रचना मे निपुण और धोयी कवि कविताओं को स्मरण रखने मे दक्ष, किन्तु जयदेव एक साथ शब्द तथा अर्थ से गम्भीर काव्य-रचना करने मे पटु थे; जयदेव के आश्रयदाता लक्ष्मणसेन स्वयं भी कवि थे और उनके नाम से कुछ पद्य सुभाषितो में मिलते हैं। जयदेव के प्रसिद्ध पद्य 'मेघैर्मेदुरमम्बर' इत्यादि के ढग पर लक्ष्मणसेन का भी एक पद्य सुभाषितों मे मिलता है।

आहूताद्य मयोत्सवे निशि गृहं शून्य विमुच्यागता
क्षीबः प्रेष्यजन कथ कुलवधूरेकाकिनी यास्यति।
वत्स त्वं तदिमां नयालयमिति श्रुत्वा यशोदागिरो
राधामाधवयोर्जयन्ति मधुरस्मेरालसा दृष्टयः॥

'हे कृष्ण, मैंने उत्सव के समय राधा को बुला लिया था अब रात हो गई, उसका घर भी सूना है, जिससे उसके साथ कोई आ भी नही सका है। हमारे नौकर शराब के नशे में चूर पड़े हैं। ऐसी स्थिति में बताओ तो सही, यह अपने घर अकेली कैसे जा सकती है। अच्छा हो तुम ही इसे इसके घर पहुँचा दो। यशोदा के ये वचन सुनकर राधा और कृष्ण ने मुस्कराते हुए मधुर दृष्टि से एक दूसरे को देखा। प्रेम तथा आनन्द से अलसाई हुई राधा-कृष्ण की दृष्टि की जय हो।

ईसा की १२ वीं सदी में बंगाल मे कृष्ण तथा राधा की शृङ्गारी उपासना का उदय हो रहा था। यद्यपि इस काल के कृष्णपरक साहित्य को पूर्णतः भक्तिमय नही माना जा सकता, तथापि इस साहित्य मे आगे आने वाले कृष्ण सम्बन्धी शृङ्गारी एवं भक्तिमय साहित्य के बीज विद्यमान हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इस काल मे राधा कृष्ण की शृङ्गारी उपासना का विकास बौद्ध तान्त्रिक

१. श्रीभोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य।
पाराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु॥

पद्धति का प्रभाव माना जा सकता है। इन दिनों की सांस्कृतिक खोजों से पता चला है कि पूरब के पहाड़ी प्रदेशों (हिमालय की तराई) में आर्यों के आने के समय कुछ विलासी अनार्य जातियाँ रहती थी। इन्हीं अनार्य जातियो को गन्धर्व, यक्ष आदि नाम से अभिहित किया जाता है। ये जातियाँ वृक्षों का पूजन करती थीं तथा विलास एव मदिरा इनके जीवन के प्रमुख अङ्ग थे। इन्हीं अनार्य जातियो के देवता कामदेव तथा वरुण माने जाते है। यक्षों ने भारतीय सस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है और ऐसा जान पड़ता है कि आर्यों के साथ इन जातियों का विशेष सघर्ष नही हुआ था और शान्तिप्रिय यक्षो ने आर्यों के साथ समझौता कर लिया था। आर्यों ने भी यक्षो को अपने पुराणो में देवयोनियो मे स्वीकार किया और उनकी वृक्षपूजा, विलासिता आदि ने भारतीय सस्कृति मे प्रवेश पाया। बौद्ध धर्म के उदय के बाद यक्षों के देवता वज्रपाणि बोधिसत्व माने जाने लगे और यक्षो के श्रृङ्गारी जीवन के प्रभाव से बौद्ध साधना भी नहीं बच पाई। बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के उदय में विद्वानो ने इन्ही बीजो को ढूंढा है। वज्रयान की साधना मे स्त्री-संग और मदिरा आवश्यक अङ्ग माने जाने लगे और इसी का प्रभाव एक ओर शैवो और शाक्तों की साधना-पद्धति पर पड़ा, दूसरी ओर उसने कृष्ण की श्रृङ्गारी उपासना को जन्म दिया। ईसा की सातवी-आठवी सदी से ही बौद्ध तान्त्रिकों के वज्रयानी सम्प्रदाय का प्रभाव सारे बगाल पर छाने लग गया था। बंगाल के पालवंशी राजाओं के समय में बौद्ध धर्म को राजाश्रय प्राप्त हुआ था और बौद्धों की तान्त्रिक उपासना के साथ विलासिता ने अभिजात वर्ग को अभिभूत कर लिया था। पालों का पतन होने पर भी बौद्ध तान्त्रिकों की यह विरासत अक्षुण्ण बनी रही और उसने पौराणिक धर्म को प्रभावित करके शैव तथा वैष्णव दोनो तरह की उपासनाओं को नया रंग प्रदान किया। बगाल मे सेन वंश के राजाओं के साथ पौराणिक ब्राह्मण धर्म फिर से अपना सिर उठाने लगा और सेन राजाओ के राज्य मे पुनः सस्कृत भाषा को राज्य भाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। बौद्धों से मिली श्रृङ्गारी प्रवृत्ति को पौराणिक धर्म में ढालने के लिए कृष्ण के श्रृङ्गारी रूप की कल्पना तेजी से चल पड़ी। लक्ष्मणसेन के राज्य-काल में संस्कृत साहित्य की अत्यधिक उन्नति हुई, किन्तु इस काल का साहित्य विलासिता के रंग मे शराबोर है और उस काल के सामाजिक अधःपतन की सूचना

देता है। वस्तुतः उस काल के समाज का विलासी जीवन ही कृष्ण और राधा की अश्लील शृङ्गारी चेष्टाओं का बहाना लेकर प्रकट हो रहा था।

उपासना की पद्धति एवं साहित्य में राधा-कृष्ण के आविर्भाव का अपना अलग इतिहास है। इतिहासकारों का कहना है, कृष्ण तथा राधा आभीरों के देवता थे। महाभारत में राजनीति वाले कृष्ण का रूप हमें प्राप्त होता है, वह इन आभीरों के बाललीला वाले कृष्ण से भिन्न है। धीरे-धीरे महाभारत के कृष्ण का चरित्र आभीरों के कृष्ण से घुल-मिल गया, जो पशुचारण करने वाली जातियों के वनदेवता थे। राधा भी इन्हीं की देवी थी। राधा का समावेश भी कृष्ण के साथ ही साथ भागवत सम्प्रदाय में हो गया था। साहित्य में राधा का नामोल्लेख सर्वप्रथम हाल की सत्तसई की एक गाथा में हुआ है। इसके बाद लोक-साहित्य से राधा संस्कृत साहित्य में भी अवतीर्ण हुई और वेणीसंहार के एक मङ्गलाचरण (जिसे प्रायः प्रक्षिप्त माना जाता है) में तथा ध्वन्यालोक में उद्धृत एक पद्य में राधा का नाम मिलता है। ध्वन्यालोक का वह पद्य यों है :—

> तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां,
> क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
> विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
> ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥

'हे भद्र ! गोपियों के विलास के मित्र, राधा की एकान्त क्रीडाओं के साक्षी यमुना के तीर के लतागृह कुशल तो हैं न ? आज जब कि कामक्रीडोपयुक्त कोमल शय्या की रचना समाप्त हो गई है, उन लतागृहों के पल्लव, जिनकी नील कान्ति नष्ट होती जा रही है, (बिना तोड़े ही) पक जाते होंगे।'

यद्यपि साहित्य में राधा की प्रतिष्ठापना के बीज छठी-सातवीं सदी के आसपास ही माने जाते हैं, तथापि राधा के चरित्र को पूर्णतः पल्लवित करने में जयदेव के गीतगोविन्द का खास हाथ है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण की शृङ्गारी लीला का प्रचुर वर्णन होने पर भी राधा का नाम नहीं मिलता। वैसे तो श्रीमद्भागवत के रचनाकाल के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसकी शैली को देखकर इतना अनुमान किया जा सकता है कि वह ईसा की दसवीं या ग्यारहवीं सदी से पुरानी नहीं हो सकती। कई

विद्वानों ने तो जयदेव के ही बड़े भाई वोपदेव को श्रीमद्भागवत का रचयिता माना है। श्रीमद्भागवत का जयदेव के गीतगोविन्द पर भी पर्याप्त प्रभाव जान पड़ता है।

कृष्ण तथा गोपिकाओं के शृङ्गारी वर्णन की परम्परा का परिपाक श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में ही उपलब्ध होता है। जयदेव तथा बाद के कृष्णभक्त कवियों को यही विरासत प्राप्त हुई है। गोपिकाओं के साथ की गई रासक्रीडाओं और जलक्रीडाओं का बड़ा सरस वर्णन श्रीमद्भागवत में देखा जा सकता है। कृष्णभक्ति के परिवेश में विलास का यह चित्रण बाद के कृष्णभक्त कवियों का आप्त प्रमाण बन बैठा है :—

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥
(भागवत १०।२९।४६)

'बाहु-प्रसार, आलिंगन, केश, उरु, नीवी, स्तनादि का स्पर्श, कामोत्तेजक नखक्षत एवं लाला से युक्त अवलोकन और हास्यादि के द्वारा व्रजसुन्दरियों के कामदेव को उद्दीप्त कर कृष्ण उनके साथ रमण कर रहे थे।'

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः॥
(१०. ३३. २४)

'हँसती हुई गोपिकाओं के द्वारा प्रेम से देखे गये और इधर उधर जल से सींचे हुए आत्माराम कृष्ण—जो फूलों की वर्षा करते देवताओं के द्वारा संस्तुत हो रहे थे—यमुना के जल में उसी तरह रमण कर रहे थे जैसे हाथी हथिनियों के साथ जलक्रीडा करता है।'

परदाराओं के साथ की गई कृष्ण की क्रीडाओं के विषय में निःसन्देह अनैतिकता का आरोप किया जा सकता है। श्रीमद्भागवत का रचयिता स्वयं इस पूर्वपक्ष की कल्पना कर उसका उत्तर देने की चेष्टा करता है। परीक्षित के मुँह से ठीक ऐसा ही प्रश्न[१] करवा कर शुकदेव के मुँह से इसका समाधान

१. स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥ (भागवत १०।३३।२८)

करा देना'[1] कृष्ण के विषय मे पारदारिक प्रणय के चित्रण की छूट दे देता है। आज का आलोचक 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' के सिद्धान्त को बुर्ज्वा सिद्धान्त या अधिनायकवादी सिद्धान्त घोषित करेगा, किन्तु यही वह सिद्धान्त था जो समस्त विलासी साहित्य और उसके प्रेरक विलासी जीवन का *'मोटो' बन बैठा था।* बाद मे जाकर जब गौडीय सम्प्रदाय ने 'माधुर्य' रस की भक्ति का वितान पल्लवित किया, तो एक बार सस्कृत साहित्य के रससिद्धान्त की भी फिर से नाप-जोख करनी पडी कि कही उसमे कोई ऐसे प्रतिबन्ध तो न थे जो इस पारदारिक प्रणय को आगे न बढने देते हों। प्राचीन रसशास्त्रियों ने पारदारिक नैतिकता-विरोधी प्रणय को 'रस' की कोटि मे ही न रखा था, वे इसे रसाभास की कोटि में रखते थे, क्योंकि 'रस' में भी वे 'औचित्य' का सदा ध्यान रखते थे और अनौचित्य को रसभग का कारण मानते थे।[2] यह दूसरी बात है कि अंग रस मे वे कभी-कभी इस तरह के पारदारिक प्रणयचित्र का सकेत करते देखे जाते हैं। शृङ्गार के विषय में नई धारणा को खुली छूट देने के लिए इस मान्यता मे कुछ जोड़ना जरूरी था। फलतः माधुर्यवादी *आचार्यों ने यह सिद्धान्त बना दिया कि पुराने आचार्यों का यह मत कृष्ण तथा* गोपिकाओ के पारदारिक प्रणय के विषय मे लागू नही होता, क्योंकि वह तो आध्यात्मिक प्रणय का व्यजक है और उस सम्बन्ध में यह अंगी रस का विषय बन सकता है :—

नेष्टं यदंगिनि रसे कविभिः परोढा तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रतिविधेरवतारितानां कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥

और लौकिक पारदारिक प्रणयचित्र को साहित्यिक कृतियो मे अकित करने का सरल मार्ग मिल गया। भला जिस कृष्ण की बाँसुरी की तान को सुनकर गायें, पक्षी, मृग, यहाँ तक कि वृक्ष भी रोमाञ्चित हो उठते थे, उन कृष्ण के त्रैलोक्यसुन्दर रूप को देखकर संसार मे कौन स्त्री ऐसी होगी, जो नैतिकता के

---

१. धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥ (भागवत १०।३३।३०)

२. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्। (ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत)

आर्यपथ से विचलित न हो।[1] और फिर तो आर्यपथ से विचलित होना भी दूषण नही भूषण बन बैठा, पतियों को छोड़कर कृष्ण के साथ रमण (व्यभिचार ?) करती हुई गोपिकाओं के चरणों की धूलि का स्पर्श करने को उद्धव जैसे परम तपस्वी का हृदय लालायित हो उठा था।[2] बस कृष्ण और राधा के पारदारिक प्रणय-चित्र को अंकित करने वाले जयदेव को अपने पृष्ठ-पोषक मिल गये और इस लौकिक शृंगारी चित्रण के आध्यात्मिक अर्थ लगाये जाने लगे। विद्यापति का एक पद है जिसमे राधा-कृष्ण की विपरीत रति का वर्णन है। एक पंडित ने उसका अध्यात्मपरक अर्थ भी लगा दिया है, और राधा का पुरुषायित वहाँ प्रकृति (माया) की प्रधानता का व्यञ्जक बन बैठा है। पर हर एक चीज को अध्यात्म के चश्मे से देखने की प्रवृत्ति सचमुच बुरी है। हिन्दी के मान्य आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक ने इन चश्मों की आलोचना की थी। असल में जयदेव के काव्य में जो आध्यात्मिक अर्थ ढूंढने की चेष्टा की जाती है, वह ठीक नहीं, जयदेव अन्ततः से भक्त कवि नही हैं और उन्हें शुद्ध शृङ्गारी कवि के रूप मे ही लेना ठीक होगा, साथ ही गीतगोविन्द भी केवल शृगारी कृति है।

जयदेव की एकमात्र कृति 'गीतगोविन्द' ही उनके नाम को साहित्य में अमर बना देने के लिए पर्याप्त है। जयदेव ने गीतगोविन्द को जिस ढग से निबद्ध किया है, वह शैली एक ओर मुक्तक दूसरी ओर गेय गीतिकाव्य का छोर छूती है। वैसे तो जयदेव ने इस काव्य को महाकाव्य के लक्षणों से समन्वित करने की चेष्टा की है। पूरे काव्य को द्वादश सर्गों में विभक्त करने मे संभवतः यही धारणा काम कर रही हो और कुछ पुराने विद्वानों ने तो इसे महाकाव्य ही माना है। पर महाकाव्य के लक्षण इस पर पूरी तरह घटित नही होते, न यहाँ इतिवृत्त का निर्वाह ही देखा जाता है। जयदेव का गीतगोविन्द वस्तुतः भर्तृहरि

---

१. का स्त्र्यंग ते कलपदायतवेणुगीतसमोहितार्य्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥
(भागवत १०।२९।४०)

२. आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(भागवत १०,

तथा अमरुक की ही श्रृंगारी मुक्तक परम्परा का एक अभिनव रूप है। जयदेव के समय तक आचार्यों ने श्रृंगार के तत्तत् नायक-नायिकादि का सर्वांगीण वर्गीकरण कर दिया था और कई कवि नायक-नायिका-भेद को लक्ष्य बनाकर काव्यरचना करने में संलग्न थे। जयदेव ने भी यही किया, पर उन्होंने लोक-गीतों तथा संगीतशास्त्र से गीतितत्त्व को लेकर इन श्रृंगारी मुक्तको को एक नयी प्रभा प्रदान की। जयदेव ही संभवतः सर्वप्रथम कवि हैं, जिन्होने संस्कृत भाषा के काव्य को संगीत मे आबद्ध करने की चेष्टा की। जयदेव के चार सौ वर्ष पूर्व से ही लोकभाषा (अपभ्रंश) के कई कवि गीति-तत्त्व को अपना चुके थे। बौद्ध सिद्धों के चर्यापद प्रसिद्ध हैं। शरहस्तपाद, कृष्णपाद, भुसुकपाद जैसे कई बौद्ध सिद्धों ने संगीत की तत्तत् राग-रागिनियो को लेकर उनकी शैली में अपने भावों की अभिव्यञ्जना की। जयदेव के पूर्व गीति-तत्त्व केवल बौद्ध सिद्ध कवियो की रचनाओ मे ही नहीं, कई अबौद्ध देश्य भाषा-कवियों की रचनाओं में भी समाविष्ट हो गया होगा, जिनकी कृतियाँ आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। वस्तुतः गीति-तत्व का मूल स्रोत जनता का लोकसाहित्य रहा है। कृष्ण तथा राधा की श्रृङ्गारी भावना के प्रचार के साथ-साथ देश्य भाषा में भी इस विषय से सम्बद्ध गेय पदों की रचना होने लगी होगी। प्रसिद्ध जर्मन भाषाशास्त्री पिशेल का मत तो यहाँ तक है कि गीतगोविन्द के गेय पदों की रचना मूलतः देश्य भाषा (अपभ्रंश) मे ही हुई थी और जयदेव ने उसे संस्कृत में परिवर्तित कर दिया था। ये मूल देश्य पद जयदेव के ही रहे होंगे। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निर्णय देना सम्भव नहीं।

गीतगोविन्द में एक ओर संस्कृत के वर्णिक वृत्त तथा दूसरी ओर संगीत के मात्रिक पदो का विचित्र समन्वय दिखाई देता है। प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में एक या अधिक पद्यो के द्वारा कवि राधा या कृष्ण की तत्तत् चेष्टादि का वर्णन करता है। इसके बाद गेय पद होता है, जो किसी निश्चित राग में आबद्ध होता है। ये पद अलग-अलग सर्गों में अलग-अलग संख्या में हैं, किन्हीं सर्गों में एक-एक या दो-दो ही पद हैं, तो किन्ही में चार-चार पद हैं। पदों के बीच में भी एक या अधिक वर्णिक वृत्त हैं तथा सर्ग के अन्त में भी इनकी योजना की गई है। इस प्रकार गीतगोविन्द के सर्गों में पद सर्गों के मध्यभाग मे पाये जाते हैं। विषय की दृष्टि से भी पद्यों व पदों मे थोड़ा अन्तर है। पद्यों में कवि स्वयं

अपनी ओर से विषय का प्रस्तुत करता है। कवि की स्वयं की उक्तियाँ, प्रकृतिवर्णन तथा अन्य काव्य-परिपार्श्व के चित्रण के लिए इन पद्यों का प्रयोग किया जाता है। पदो मे प्राय: कृष्ण, दूती या राधा की उक्तियाँ निबद्ध हैं, वैसे ये उक्तियाँ कई पद्यो में भी पाई जाती हैं। आरम्भिक प्रसिद्ध पद 'जय जय देव हरे' तो स्वय कवि ही की उक्ति है।

जयदेव मूलत: शृङ्गार के कवि हैं। शृङ्गार में भी ये सयोग शृङ्गार के ही विशेष कुशल चित्रकार हैं। इसी सयोग शृङ्गार के अग रूप में मान विप्रलम्भ आ जाता है, जिसे शुद्ध विप्रलभ शृङ्गार नही कहा जा सकता। शुद्ध विप्रलम्भ शृङ्गार तो प्रवासात्मक कोटि का होता है तथा इसका चित्रण प्रोषितभर्तृका के ही सम्बन्ध मे पाया जाता है। खण्डिता तथा कलहान्तरिता वाला रोष, कलह और मान-मनौवन कुछ नही, सयोग की तीव्रता को बढाने के हथकडे के रूप मे कवि के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। शृङ्गार रस की मीमासा करते समय आचार्यों ने उसके नायक तथा नायिकाओ का विवेचन किया है। नायक को दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल इन कोटियों मे विभक्त किया गया है। नायक का यह विभाजन नायिका के साथ उसके व्यवहार को ध्यान मे रखकर किया जाता है। नायक पुन: दो तरह का होता है; या तो वह परिणेता (पति) हो या जार (उपपति)। जयदेव ने कृष्ण को प्रच्छन्न जार के ही रूप मे चित्रित किया है, ठीक यही धारणा श्रीमद्भागवत की है, तथा ब्रह्मवैवर्त मे भी कृष्ण को गोपिकाओ का उपपति-सा चित्रित किया है और राधा को किसी अन्य गोप से विवाहिता माना है। इस रूपक का आध्यात्मिक अर्थ कुछ भी हो, हमें उससे यहाँ कोई मतलब नही है। हाँ, इस सम्बन्ध मे इतना कह दिया जाय कि सूर आदि अष्टछाप के कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण को राधा का उपपति नहीं मानकर पति के रूप में चित्रित किया है। जयदेव के विविध-वरवर्णिनी विलासी व्रजमोहन अनुकूल नायक तो हो ही कैसे सकते है, हाँ वे कभी दक्षिण, कभी शठ और कभी धृष्ट के रूप मे सामने आते दिखाई देते हैं। एक ही नायक समय-समय पर विविध प्रकार के व्यवहार के कारण विविध लक्षणो से सम्पन्न होता है। कृष्ण दक्षिण नायक बनकर कभी तो राधा के चरणों को करकमलों से दबाकर उसके चलने के श्रम का निवारण

करते देखे जाते हैं,[१] तो कभी किसी अन्य सुनयना के साथ विहार कर राधा के प्रति अपने शठत्व का परिचय देते हैं,[२] और कभी-कभी अन्य नायिका के चरण कमलों में लगे महावर से आर्द्र हृदय-पटल से विभूषित होकर राधा के सामने आने की धृष्टता करते हैं।[३] जयदेव की नायिका राधा है, जो छिप-छिप अपने प्रिय कृष्ण से लोक और शास्त्र की आँखों से दूर 'रह केलि' किया करती है। वह कभी मुग्धा बनकर प्रिय के सामने जाने से झिझकती है, तो कभी मध्या बन कर रतिकेलि मे समुचित भाग लेती दिखाई जाती है, कभी धीराधीरा बन कर शठ या धृष्ट कृष्ण को तानें सुनाती है कभी उसका स्वाधीनभर्तृका वाला रूप दिखाई देता है,[४] तो कभी खण्डिता[५] या कलहान्तरिता वाला,[६] कभी अभिसारिका[७] या विप्रलब्धा[८] वाला। जयदेव ने राधा के इन विविध रूपों को चित्रित करने मे एक विशेष क्रम अपनाया है।

---

१. करकमलेन करोमि चरणमहमागमितासि विदूरम्।
क्षणमुपकुरु शयनोपरि मामिव नूपुरमनुगतिशूरम्॥ (१२।२।२)

२. रमयति सुभृशं कामपि सुदृशं खलहलधरसोदरे।
किमफलमवसं चिरमिह विरसं वद सखि विटपोदरे (७।८।७)

३. चरणकमलगलदलक्तकसिक्तमिदं तव हृदयमुदारम्।
दर्शयतीव बहिर्मदनद्रुमनवकिसलयपरिवारम्॥ (८।२।४)

४. रचय कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयोर्घटय जघने काञ्चीमञ्च स्रजा कवरीभरम्।
कलय वलयश्रेणीं पाणौ पदे कुरु नूपुराविति निगदितः प्रीतःपीताम्बरोऽपि तथाकरोत्॥
(१२।१२)

५. तवेदं पश्यन्त्याः प्रसरदनुरागं बहिरिव प्रियापादालक्तच्छुरितमरुणच्छायहृदयम्।
ममाद्य प्रख्यातप्रणयभरभंगेन कितव त्वदालोकः शोकादपि किमपि लज्जां जनयति॥
(८।२)

६. अथ तां मन्मथखिन्नां रतिरसभिन्नां विषादसम्पन्नाम्।
अनुचिन्तितहरिचरितां कलहान्तरितामुवाच सखी॥ (९।१)

७. सभयचकितं विन्यस्यन्ती दृशं तिमिरे पथि
प्रतितरु मुहुः स्थित्वा मन्दं पदानि वितन्वतीम्।
कथमपि रहः प्राप्तामङ्गैरनङ्गतरङ्गिभिः
सुमुखि सुभगः पश्यन् स त्वामुपैतु कृतार्थताम्॥ (५।८)

८. अथागतां माधवमन्तरेण सखीमियं वीक्ष्य विषादमूकाम्।
विशङ्कमाना रमितं कयापि जनार्दनं दृष्टवदेतदाह (७।५)

दूती के द्वारा कृष्ण का सौन्दर्य-श्रवण कर राधा उनके प्रति आकृष्ट होती है, दूती के ही कहने से वह कृष्ण के पास निकुञ्ज में अभिसरण करती है। यहाँ पंचम सर्ग के पदों में उसका अभिसारिका वाला रूप है। इसके बाद कुञ्ज में पहुँचकर वह कृष्ण को नहीं देख पाती, नायक के द्वारा ठगी जाती है, और उसका विप्रलब्धा वाला रूप सप्तम सर्ग में पाया जाता है। अष्टम सर्ग में धृष्ट नायक कृष्ण का प्रवेश कराया जाता है, जो परांगनोपभोग के चिह्नों से विभूषित होकर आते हैं। यहाँ राधा का खण्डिता वाला रूप है। नवम सर्ग में कलहान्तरिता वाला रूप है। एकादश सर्ग तक सखी व कृष्ण का मानमनौवल चलता रहता है, और द्वादश सर्ग का आरम्भ[१] राधा की प्रसन्नता का उपन्यास कर गीतगोविन्द की रतिनाटिका के निर्वहण की सूचना देने लगता है। रत्नावली नाटिका के यौगन्धरायण की भाँति 'अभिमत' को मिलाने के लिए यहाँ राधा की सखियाँ या कृष्ण और राधा की दूतियाँ सचेष्ट देखी जाती हैं। आरम्भ के चार सर्गों में इन्हीं सखियों की चेष्टाएँ चित्रित हुई हैं।

यद्यपि जयदेव एक कुशल कवि हैं, उनके भावपक्ष और कलापक्ष दोनों सुन्दर हैं—उनका कलापक्ष तो संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है—तथापि जयदेव के काव्य के सम्बन्ध में आलोचक को एक आपत्ति हो सकती है। जयदेव में मौलिकता का अभाव है। क्या भावना और क्या कल्पना दोनों दृष्टियों से जयदेव निजी मौलिकता का कोई परिचय नहीं देते। उन्होंने अपने पूर्वजों के दाय को ज्यों का त्यों लेकर ठीक उसी रूप में सामने रख दिया है। कालिदास, भर्तृहरि, अमरुक या अन्य कवियों के शृङ्गारी वर्णनों के पढ़ लेने पर पता चलता है कि जयदेव ने किसी भी नये भाव की व्यञ्जना नहीं कराई है। इसी तरह जयदेव की कल्पनाएँ भी पिटी-पिटाई हैं, उनकी उपमाएँ या उत्प्रेक्षाएँ रूपक या अतिशयोक्तियाँ भी परम्परामुक्त ही हैं। जहाँ तक जयदेव के समसामयिक सौहृर्य का प्रश्न है, चाहे वहाँ भावना की उदात्त तरलता न भी मिले, कल्पना की मौलिकता का अपूर्व प्रदर्शन मिलता है। बाद में भी

१. गतवति सखीवृन्देऽमन्दत्रपाभरनिर्भर-
स्मरपरवशाकूतस्फीतस्मितस्नपिताधराम् ।
सरसमनसं दृष्ट्वा राधां मुहुर्नवपल्लव-
प्रसवशयने निक्षिप्ताक्षीमुवाच हरिः प्रियाम् ॥ (१२।१)

पण्डितराज जगन्नाथ जयदेव से कही अधिक मौलिकता का प्रदर्शन कर सके हैं। पर जयदेव के पास एक ऐसी कला है, जो इस अभाव की पूर्ति कर देती है। जयदेव का पद-विन्यास, शब्द-शय्या और संगीत उनके काव्य में एक अभिनव रमणीयता संक्रान्त कर देते हैं, और सगीत के प्रवाह मे सहृदय श्रोता इतना बह जाता है कि उनको जयदेव की भावना या कल्पना की पूरी नाप-जोख करने का अवसर ही नही मिलता और मौलिकता का अभाव उसकी आँख से ओझल हो जाता है। पर इतना होते हुए भी चाहे जयदेव के काव्य मे सगीत और पद-शय्या, अनुप्रास और पद-लालित्य को छोड़कर कोई नवीनता न मिले, भावना पक्ष और कल्पना पक्ष किसी तरह निम्न कोटि का नहीं कहा जा सकता। जयदेव के कवित्व का परिचय देने के लिए कुछ पद्य उदाहृत करना पर्याप्त होगा।

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
नंक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिम राधे गृहं प्रापय।
इत्यं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह केलयः॥ (१. १)

'हे राधे, आकाश घने बादलो से छाया हुआ है, समस्त वनभूमि तमाल के निबिड वृक्षो से काली हो रही है, और रात का समय है। तुम तो जानती ही हो, यह कृष्ण बडा डरपोक है, इसे इस रात मे जगल मे होकर घर जाते डर लगेगा। तुम्ही इसे क्यो नही पहुँचा देती? नन्द की इस आज्ञा को सुनकर घर की ओर प्रस्थित राधामाधव के द्वारा मार्ग मे यमुना-तट के उपवन तथा लताकुञ्ज मे की हुई एकान्त क्रीडा सर्वोत्कृष्ट है।'

राधा माधव की 'रह केलि' का चित्रकार इतने से ही सन्तुष्ट क्यों होने लगा? यह तो उसका मङ्गलाचरण भर जो है। आगे वह नायक-नायिकाओं की रहःकेलि का कई स्थानों पर खुलकर वर्णन करता है। कही वह दूती के मुख से राधा को आकृष्ट करने के लिए रतिकेलि का वर्णन राधा को सुनाता है[१], तो कही स्वय राधा की रतिविशारदता व्यञ्जित करता है। पर उसे

१. आश्लेषादनु चुम्बनादनु नखोल्लेखादनु स्वान्तजा-
प्रबोधादनु सम्भ्रमादनु रतारम्भादनुप्रीतयोः।
अन्यार्थं गतयोर्भ्रमन्मिलितयोः सम्भाषणैर्जानतो-
र्दम्पत्योरिह को न को न तमसि व्रीडाविमिश्रो रसः (५. ७)

विश्वास है कि रतिविशारदा होने पर भी राधा आखिर है तो स्त्री ही तथा रतिकेलि के 'रणरंग' में विजय कैसे पा सकती है ? और वह राधा के पुरुषायित के बाद की श्रान्त क्लान्त स्थिति का सटीक वर्णन करने से नहीं हिचकिचाता।

> मारांके रतिकेलिसंकुलरणारम्भे तया साहस-
> प्रायं कान्तजयाय किञ्चिदुपरि प्रारम्भि यत् संभ्रमात् ।
> निष्पन्दा जघनस्थली शिथिलता दोर्वल्लिरुत्कम्पितं
> वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुत: सिद्धयति ॥ (१२. ५)

स्पष्ट है, जयदेव को संयोग शृङ्गार के चुम्बन, नखस्पर्शादि बाह्य सुरत ही नहीं, वास्तविक सुरत तक के वर्णन करने में दिलचस्पी है। ऐसा कवि भला विप्रलम्भ की सच्ची दर्दनाक आवाज को कैसे पैदा कर सकता है। मिलन के 'तराने' (संगीत) में मस्त झूमता हुआ कवि प्रिय-वियोग की पीड़ा के 'अफसाने' (कथा) क्यों कहने लगा। जयदेव में छुटपुट मिलने वाला विप्रलंभ शृङ्गार का वर्णन प्रभावोत्पादक से समवेत नहीं दिखाई देता और उसकी पद्धति रूढ़ है।

> श्वसितपवनमनुपमपरिणाहम् । मदनदहनमिव वहति सदाहम् ।
>
> × × ×
>
> नयनविषयमपि किसलयतल्पम् । कलयति विहितहुताशविकल्पम् ॥
> राधिका विरहे तव केशव माधव वामन विष्णो (४. ४)

'हे माधव, राधा आपके वियोग में दीर्घ निश्वासों को उष्ण कामाग्नि के समान धारण करती है × × × हे कृष्ण, आपके वियोग में राधा अपने सम्मुख बिछी किसलय-शय्या को अग्नि-शय्या समझती है।'

शृङ्गार के उभयपक्ष के चित्रण में जयदेव ने विशेष ध्यान आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव पर ही दिया है। अनुभावों का भी वर्णन मिलता है, किन्तु वह कवि की पैनी दृष्टि का परिचय कम देता है। ठीक यही बात संचारियों के विषय में है। शृङ्गार के चित्रण में विभिन्न संचारियों की मार्मिक व्यंजना करने में जयदेव विशेष सफल नहीं कहे जा सकते। वस्तुतः यह वह दुर्बल पक्ष है, जो सभी ह्रासोन्मुखी शृङ्गारी कवियों में पाया जाता है, और हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में भी अधिकांश इस दोष से मुक्त नहीं हो सके हैं। दरबारी

शृङ्गारी कवि का प्रधान लक्ष्य नायिका के अंशादि—नखशिख-वर्णन पर या प्रकृति के उद्दीपक तत्त्व पर ही अधिक रहता है, यह एक तथ्य है। प्रकृति का उद्दीपन विभाव वाला वर्णन भी उसका प्रायः नपा-तुला होता है। स्वयं जयदेव के ही प्रकृति वर्णनों में कोई नवीनता या मौलिकता नहीं मिलती। यमुना-तीर, कुञ्ज, चन्द्रोदय, रात्रि, वसन्त ऋतु आदि के वर्णन गीतगोविन्द में हैं, किन्तु उनका विषय पिटा-पिटाया है, हाँ, उनकी पदशय्या गजब की होती है। चन्द्रोदय का निम्नलिखित वर्णन लीजिये।

अत्रान्तरे च कुलटाकुलवर्त्मपातसञ्जातपातक इव स्फुटलाञ्छनश्रीः।
वृन्दावनान्तरमदीपयदंशुजालैर्दिक्सुन्दरीवदनचन्दनबिन्दुरिन्दुः ॥ (७. १)

'मानो अभिसरण करती हुई कुलटाओं के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने के पाप के कलंक से युक्त, दिशारूपी सुन्दरी के चन्दनबिन्दु चन्द्रमा ने इसी बीच अपनी किरणों के द्वारा वृन्दावन को प्रदीप्त किया।'

गीतगोविन्द का कलापक्ष निःसन्देह अनुपम है। जहाँ तक अर्थालंकार का तथा अप्रस्तुत-विधान का प्रश्न है, वे सब प्रायः परम्पराभुक्त हैं, किन्तु शब्दालंकार तथा पद-शय्या का सौन्दर्य अपना सानी नहीं रखता। संस्कृत साहित्य के ह्रासोन्मुखी कवियों का अनुप्रास की ओर विशेष ध्यान जाने लगा था। श्रीहर्ष का नैषध इसके लिए प्रसिद्ध है, ठीक यही विशेषता जयदेव की शैली की है। जयदेव की पदशय्या ने ही गीतों से इतर काव्यांश (पद्यों) में भी संगीत को संक्रान्त कर दिया है। पद-शय्या के ललित परिवेश का सहारा लेकर चित्रित किया गया यह वसंत वर्णन अतीव सुन्दर बन पड़ा है—

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर—
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण—
प्राप्तप्राणसमाः समागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥ (१. १२)

'पराग के लोभी भौंरों के द्वारा कँपाई गई आम की मंजरी पर कूजन करती कोयल की मधुर काकली को सुनकर प्रिया-वियुक्त पथिकों (विदेशियों) के कानों में जैसे पीड़ा हो उठती है। वसन्त के पीड़ादायक दिनों को वे किसी तरह बड़ी मुश्किल से इसलिए निकाल पाते हैं कि ध्यान में क्षण भर के लिए प्राण-प्रिया का समागम प्राप्त कर उसके आनन्द से उल्लसित हो उठते हैं।'

जयदेव के गेय पद संगीत की तत्तत् राग-रागिनी में आबद्ध हैं। वैष्णवों के यहाँ वे पद समय-समय पर गाये जाते रहे हैं। ऐसा अनुमान होता है कि यात्राओं और रासों में एक व्यक्ति छन्दबद्ध वर्णिक वृत्तों का पाठ करता होगा, और पदों का सहगान किया जाता होगा। आज भी जयदेव के पद सामूहिक रूप में गाये जाते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने जयदेव के पदों को विशेष महत्व दिया तथा वे उपासना और कीर्तन के एक अंग बन गये। जयदेव के पदों की ही पद्धति का प्रभाव चण्डीदास और विद्यापति पर पड़ा और बाद में सूर तथा अन्य अष्टछाप के कवियों की पद-रचना का प्रेरक बना।

परिशिष्ट

ग्रन्थ में आये हुए ग्रन्थकारों के नाम

ग्रन्थ में उद्धरित ग्रन्थ-सूची